कात्यायनयज्ञपद्धतिविमर्श

प्रणेता तथा सम्पादक

डॉ० मनोहरलाल द्विवेदी

अथर्ववेदाचार्य, साहित्याचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०

पू० अध्यापक, अथर्ववेद,

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली

प्रकाशक
निदेशक
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
राजा गार्डन, विशाल इन्क्लेव
नई दिल्ली

●

प्रथम संस्करण १९८८

●

मूल्य

●

●

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१०

KĀTYĀYANA
YAJÑAPADDHATIVIMARŚA

by
Dr. Manohar Lal Dwivedi
Atharvavedacharya, Sahityacharya, M. A. Ph. D.
Ex–Lecturer, Atharvaveda,
Sampurnananda Sanskrit University,
Varanasi

Rashtriya Sanskrit Sansthan
NEW DELHI
1988

Publisher
Director
Rashtriya Sanskrit Sansthan
Vishal Enclave
New Delhi

●

First Edition

●

Price

●

●

Printer
Babulal Jain Phaguli
Mahavir Press
Bhelupura, Varanasi-10

प्रकाशकीय

मुझे प्रसन्नता है कि "कात्यायनयज्ञपद्धतिविमर्श" नामक ग्रन्थ का प्रकाशन राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान दिल्ली द्वारा सम्पन्न हुआ है। इसके लेखक श्रौत विधान विषय के विशिष्ट एवं निष्णात विद्वान् डॉ० मनोहरलाल द्विवेदी हैं। श्रौत याग अत्यन्त प्राचीन समय से सकल मनोरथ सिद्धि का साधन माना गया है। बिना विधान तथा पारम्परिक प्रायोगिक ज्ञान के याग का फल प्राप्त नहीं होता। एक स्वर्णिम युग था जब श्रौत याग अत्यन्त लोकप्रिय थे और उनके ज्ञाता भी बहुसंख्यक थे। किन्तु आज के युग में परम्परागत ज्ञान धीरे-धीरे विलुप्त होता जा रहा है। यह हर्ष का विषय है कि इस परम्परा के ज्ञाता थोड़े से बचे हुए लोगों में डॉ० द्विवेदी हैं। उनके द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थ शास्त्रीय ज्ञान के साथ ही प्रायोगिक ज्ञान से भी संवलित है। यह अपने ढंग का एक आकर ग्रन्थ है।

राष्ट्र-भाषा हिन्दी में संस्कृत विद्वान् का यह योगदान इस दिशा में हिन्दी की श्रीवृद्धि में सहायक है। यह ग्रन्थ अनेक महत्त्वपूर्ण चित्रों से भी मण्डित है, जो ज्ञान के प्रकाशन में तथा प्रयोगों के सहज उपयोग में विशेष रूप से साधक है। यज्ञीय विधान के अतिरिक्त भारतीय स्थापत्य एवं पुरातत्त्व विभाग के मनीषियों के लिए भी इसमें विशिष्ट सामग्री सन्निहित है। इसलिए प्रागैतिहासिक एवं भारत के आदियुग काल पर कार्य करने वाले विद्वानों तथा अनुसन्धाताओं को भी इस ग्रन्थ से पर्याप्त सहायता मिलेगी। ऐसे महत्त्वपूर्ण आकर और लोकोपयोगी ग्रन्थ की रचना के लिए विद्वत् जगत् लेखक का ऋणी रहेगा। साथ ही ज्ञानराशि रूप यह ग्रन्थ अपने क्षेत्र में चिरस्थायी प्रकाश का प्रमुख साधक बनेगा।

नई दिल्ली,
स्वतन्त्रता दिवस
१९८८

मण्डन मिश्र
निदेशक
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली

भूमिका

श्रौतयाग और उसका विधान एक महत्त्वपूर्ण विषय है। प्राचीन काल से ही देवता और मनुष्यों के लिए ऐहिक और आमुष्मिक मनोरथों की पूर्ति का यह मुख्य साधन माना गया है। श्रौतयागों का आधार संहिताओं के मन्त्र हैं किन्तु केवल मन्त्रों की जानकारी मात्र से ही कोई याग सम्पन्न नहीं हो सकता। इसके लिए अनुष्ठान की पद्धति का भी पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है, जो कल्प की सहायता से ही उपलब्ध हो सकता है। इसी कारण से पाणिनि ने कल्प को वेद का हस्त स्थानीय कहा है। जिस प्रकार हाथ के बिना मानव का काम नहीं चल सकता, उसी प्रकार कल्प की जानकारी के बिना यज्ञानुष्ठान की साङ्गता नहीं हो सकती। किसी भी श्रौतयाग का अनुष्ठान इतना सरल नहीं है कि कोई भी साधारण व्यक्ति उसे विधान पूर्वक सम्पन्न कर ले।

श्रौतयागों में आर्त्विज्य करने के लिए संहिताओं का ज्ञान, अनुष्ठानों की प्रक्रियाओं का सूक्ष्मतम परिचय एवं गुरुपरम्परा से प्राप्त अनुभव किसी भी याज्ञिक के लिए अनिवार्य तो है ही साथ ही आजीवन यज्ञविद्याओं के अध्ययन और अध्यापन में लगे रहना भी उसके लिए नितान्त आवश्यक है। इतना होते हुए भी कोई भी याज्ञिक अकेला ही याग नहीं कर सकता। याग की प्रक्रिया समान योग्यताओं वाले निष्ठावान् ब्राह्मणों का सामूहिक अनुष्ठान है। साथ ही विविध प्रकार की सामग्रियों का संग्रह, यज्ञिय द्रव्यों की उपलब्धि, दक्षिणा के लिए धन आदि का एकत्र करना भी श्रौतयाग के आवश्यक अंग हैं।

किसी समय श्रौतयाग अत्यधिक लोकप्रिय थे। बहुलता से उनके अनुष्ठान होते थे। ब्राह्मणों के अतिरिक्त तीनों वर्ण उनमें तन, मन और धन से हाथ बँटाकर अपने को कृतार्थ मानते थे। समय की गति के अनुसार अब स्थिति आमूलचूल बदल चुकी है। अश्वमेध, वाजपेय, अग्निचयन प्रभृति बड़े यागों के अनुष्ठान तो क्वचित् ही होते हुए दिखाई पड़ते हैं। यहाँ तक कि प्रातःकाल और सायंकाल नियमित रूप से आहुति देने वाले और विधिपूर्वक दर्श-पौर्णमास-संज्ञक इष्टियों को करने वाले अग्निहोत्रियों के दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं। ऐसी विषम स्थिति में श्रौतयागों के विषय में जानकारी प्राप्त करने या तत्सम्बन्धी शङ्काओं का समाधान करने वाले आधिकारिक विद्वान् भी स्मृतिशेष हो रहे हैं।

जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं श्रौतयाग विषयक चर्चा के लिए शास्त्रीय ज्ञान के अतिरिक्त शुद्ध परम्परा में परिपालित होना भी नितान्त आवश्यक है। सौभाग्य से लेखक को मणिकाञ्चन योग का लाभ मिला है। उसके पूज्य पिताजी न केवल अथर्ववेद के प्रसिद्ध विद्वान् और वल्लभराम शालिग्राम साङ्गवेद विद्यालय रामघाट, वाराणसी के अथर्व वेदाध्यापक ही थे अपितु निष्ठा पूर्वक श्रौतस्मार्तानुष्ठान कर्ता अग्निहोत्री भी थे। अपने पूज्य पिताजी के चरणों में बैठकर एवं तत्कालीन श्रौतस्मार्तानुष्ठान निष्णात पण्डितप्रवर श्री गौरीनाथ दीक्षित दाऊजीभट्ट तथा उनके भ्रातुष्पुत्र श्री गणपति दीक्षित दाऊजीभट्ट आदि के सान्निध्य में लेखक को श्रौतानुष्ठान विद्या का जीवित परिचय प्राप्त करने का तथा इन आचार्यों के

निर्देशन में प्रचलित अनेक यज्ञों में स्वयं भाग लेने के भी सुअवसर प्राप्त हुए हैं। इसी विषय के आधार पर लेखक ने श्रौतयागों के समान जटिल विषय पर अपनी लेखनी उठाने का साहस किया है।

आज उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में श्रौतविद्या के जानकार विद्वान् अधिक संख्या में उपलब्ध हैं। परन्तु दक्षिणभारत में शुक्लयजुर्वेदियों की कात्यायनीय परम्परा के अनुसार यज्ञानुष्ठान नहीं होते। कात्यायन की परम्परा उत्तरभारत की देन है। सौभाग्य से लेखक को इसी कात्यायन की परम्परा का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ। यही कारण है कि उसने प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए कात्यायन श्रौतसूत्र कथित अध्वर्यु के विधान को मुख्यतः चुना। अन्य शाखाओं के अनेक श्रौतसूत्र होते हुए भी महर्षि कात्यायन की अपनी अलग विशेषता है। उनका श्रौतसूत्र स्वयं अपने में पूर्ण है। इसीलिए जब किसी जटिल विषय को स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ती है, तो कात्यायन का ही सहारा लिया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र का प्रमुख विषय अध्वर्यु संज्ञक ऋत्विज् के कार्यों का प्रतिपादन करना है। इसके सिवाय इसी आचार्य ने ब्रह्मा और होता नामक ऋत्विजों के कार्यों के विधानों को भी बताया है। हम ऊपर लिख चुके हैं कि चिरकाल से ही श्रौतयाग सम्बन्धी पठन-पाठन और अनुष्ठान का प्रायः उच्छेद हो गया है।

इस विषय से सम्बन्धित पठन-पाठन के सौकर्य को दृष्टि को ध्यान में रख कर प्रारम्भ से ही श्रौतयागीय विधानों के सोपानों के अनुसार विषय की स्थापना करना उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रथम अध्याय को विषय प्रवेश के नामसे प्रस्तुत किया है। इस प्रथम अध्याय में भारतीय सामाजिक जीवन में पुनर्जन्मवाद, उसकी आधारशिला कर्मयोग, तदर्थ प्रमाणवेद, वेद का स्थान, श्रौतपरम्परा, श्रौत के आचार्य, महर्षि कात्यायन और उनकी विशिष्ट रचना, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं पुराणों में याग तथा श्रौतयाग से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों को प्रस्तुत किया है।

कोई भी श्रौत याग अग्नि के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। इसीलिए विवेचनीय विषय का मूल आधार श्रौत अग्नि का परिग्रह है। श्रौत अग्नि के परिग्रह से पूर्व स्मार्त अग्नि का परिग्रह आवश्यक होता है। अतः इस पाकसंस्था संज्ञक द्वितीय अध्याय में स्मार्ताधान, श्रौताधान, पुनराधान और प्रवासविधि प्रभृति विषय समाविष्ट हैं। इस ग्रन्थ का तृतीयाध्याय हविःसंस्था नाम से प्रसिद्ध है। इसमें अग्नि परिग्रह के अनन्तर होने वाले अनुष्ठान जैसे अग्निहोत्र हवन, पौर्णमास याग, पिण्डपितृयज्ञ, दर्शयाग, दाक्षायणयज्ञ और सान्नाय्यवती दर्शेष्टि जैसे विषयों का विवेचन किया है।

चतुर्थ अध्याय भी हविःसंस्था को प्रस्तुत करता है। इसमें आग्रयणेष्टि, श्यामाकाग्रयणेष्टि, चातुर्मास्ययाग और चातुर्मास्य याग के अंगस्वरूप होने वाले यागों का वर्णन है। अवशिष्ट हविःसंस्थाको पञ्चम अध्याय में दिखाया है। इस में निरूढपशुबन्धयाग, काम्यपशुयाग और त्रामणीयाग का अनुष्ठान समाविष्ट है।

षष्ठाध्याय से सप्त सोमसंस्थाओं का प्रारम्भ होता है। इसमें सर्वप्रथम अग्निष्टोमयाग है। इस याग में उपयुक्त सोमलता, याग के अधिकारी, प्रधान सङ्कल्प, यज्ञिय दीक्षा विधान, प्रवर्ग्य और चमसभक्षण प्रभृति महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया है। अन्य सोमयागों की प्रकृति स्वरूप होने के कारण इस अग्निष्टोम याग का स्वरूप अपेक्षाकृत विस्तृतरूप में प्रस्तुत है। सप्तमाध्याय में अवशिष्ट सोमयाग जैसे—अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र तथा अप्तोर्याम जैसे विशिष्टयागों का वर्णन है। इनमें वाजपेय याग का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है। उसका प्रमुख कारण यह है कि वाजपेययाग में प्रयुक्त होने वाले वाजपेययाग की सप्तदश सङ्ख्या, सप्तदशरथ सज्जीकरण, चक्रारोहण, सप्तदश दुन्दुभिवादन, सप्तदशइषु प्रक्षेप, सप्तदशरथधावन, रथधावन में प्रतियोगिता, यूपारोहण, सम्राट्पदप्राप्ति प्रभृति विधानों का विवेचन श्रौतकालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को समझने में पूरा सहायक है।

अष्टमाध्याय में अग्निचयन याग का वर्णन है। इस याग में उत्तरवेदि के स्थान पर चितियों का चयन किया जाता है। ये चितियाँ अनेक प्रकार की होती हैं और उनके आकार भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। चितियों का चयन इष्टका द्वारा होता है। इनमें सुपर्णचिति के चयन के निमित्त चौदह प्रकार की इष्टकाएँ तैयार की जाती हैं। इसमें गार्हपत्य चयन के निमित्त उपयोग में आने वाली वक्रेष्टका भी सम्मिलित है। केवल अध्वर्यु ही इन इष्टकाओं का निर्माण नहीं करता, अपितु उखा एवं कुछ इष्टकाओं का निर्माण स्वयं यजमान और यजमानपत्नी को भी अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। प्राचीन समय में भी इष्टकाएँ बनाने के लिए साँचों का प्रयोग किया जाता था। साँचे द्वारा बनाई गयी इष्टकाओं के सूखने और पकने पर इष्टकाओं के नाप में न्यूनता का आना स्वाभाविक है। इसी लिए यदि १० × १० अङ्गुल नाप की इष्टकाएँ अपेक्षित हों तो साँचे के द्वारा १३ × १३ अङ्गुल नाप की इष्टकाओं का निर्माण करना जरूरी होता है। इष्टकाओं के निर्माण के समय अभीष्ट इष्टकाओं की अपेक्षा अधिक संख्या में इष्टकाओं का बनाना जरूरी है। उसका कारण यह है कि सूखने और पकने में कुछ इष्टकाएँ क्षतिग्रस्त हो जाती हैं। कुछ टूटती हैं और कुछ विवर्ण धारण कर लेती हैं। इसीलिए बनाने के समय बड़ी इष्टकाएँ चौगुनी और मझोली दुगुनी बनानी चाहिए।

यागसम्बन्धी इष्टकाओं के निर्माण में केवल मृत्तिका का ही उपयोग नहीं होता, अपितु मृत्तिका के साथ आवश्यक मात्रा में लौहचूर्ण, रेणुका तथा अजालोम का मिश्रण अपेक्षित होता है। इस प्रकार तैयार किये मृत्पिण्ड में पालाश क्वाथ और क्वाथ पकाते समय ऊपर आया हुआ फेन भी मिलाया जाता है। इस प्रकार की मिट्टी के द्वारा साँचों से बनायी और सुखायी गयी इष्टकाओं को पकाने के लिए आवाँ में अन्य इन्धनों के साथ-साथ धान की भूसी का सम्पुट दिया जाता है। इस तरह धीमी और अपेक्षित आँच में पकी इष्टकाएँ पूर्णतया मजबूत और टिकाऊ होती हैं। इष्टका एवं उखा के पक जाने पर उन्हें अजादुग्ध से शीतल किया जाता है। सभी इष्टकाओं को पहचानने के लिए सीधी रेखा और अर्ध चन्द्राकार चिन्ह भी बनाये जाते हैं। इन इष्टकाओं को विधान पूर्वक जमाकर प्रस्तार तैयार किये जाते हैं। एक चिति में पाँच

प्रस्तार होते हैं। प्रकृत ग्रन्थ में कात्यायन के अनुसार सुपर्णचिति और कृष्णयजुर्वेदोक्त श्येन-चितिका विस्तृत विवेचन किया गया है। अन्य चितियों के जो पट प्राप्त हो सके हैं उनके चित्रमात्र दिये गये हैं।

इस उपर्युक्त विधि से तैयार की गयी इष्टकाएँ और उन इष्टकाओं को जमा कर प्रस्तुत की गयी चितियाँ वस्तुतः प्राचीन काल के त्रिकालज्ञ ऋषियों के बुद्धिवैभव का शुभ्र प्रतिबिम्ब है। आज उत्खनन विभाग के द्वारा खोदाई में अनेक प्रकार की इष्टकाएँ और चितियाँ उपलब्ध होती हैं। और भविष्य में भी उपलब्ध होंगी। किन्तु श्रौत विद्या के तलस्पर्शी ज्ञान के बिना यह कहना कठिन है कि प्राप्त इष्टकाएँ शुक्लयजुर्वेदोक्त चितियों की हैं अथवा कृष्ण-यजुर्वेदोक्त साथ ही मिली इष्टकाओं के क्या नाम हैं। इस विषय के सही निर्णय के लिए उत्खनन विभाग के मनीषियों को श्रौतविद्या की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। इसी प्रकार स्थापत्य कलाविशेषज्ञों को भी इष्टकाओं की मजबूती, स्थायित्व और मृण्मय यज्ञपात्र पर की गई पालिश आदि के निमित्त यहीं से मालूम करना योग्य होगा।

नवम अध्याय में राजसूय याग का वर्णन किया गया है। यह एक विशिष्ट याग है। इस याग को सर्वप्रथम राजा हरिश्चन्द्र ने वरुण से प्राप्त किया था इसे केवल राजा ही कर सकता है। राजसूय याग करने वाले राजा के द्वारा पहले वाजपेय याग का अनुष्ठान न किया गया हो। यह इसलिए कि वाजपेय याग के अनुष्ठान से सम्राट् पद की प्राप्ति कही है। राजसूय याग के द्वारा राट् पद की उपलब्धि होती है। वाजपेय के द्वारा उच्च सम्राट् पद को पाकर राजसूय याग के द्वारा उससे निम्न राट् पद की प्राप्ति की अभिलाषा किसी को न होना स्वाभाविक है।

अश्वमेध याग से दशम अध्याय का प्रारम्भ होता है। इस याग का महत्त्व सुप्रसिद्ध है। चक्रवर्ती नरेश के द्वारा ही इस याग का अनुष्ठान संभावित है। इस याग का अश्व विशिष्ट लक्षण लक्षित होता है। एक वर्ष भर घूमने के लिए यह अश्व भूमण्डल पर छोड़ा जाता है। यह अश्व किसी विपक्षी राजा के द्वारा पकड़ा न जाना चाहिए। यदि किसी नरेश के द्वारा पकड़ा गया तो युद्ध में उसे परास्त कर अश्वका स्वायत्तीकरण करना आवश्यक होता है। उसकी रक्षा के लिए वीर योद्धा अश्वका अनुसरण करते हैं। इस याग में होने वाले अनेक अनुष्ठान बहुत ही रोचक हैं। जैसे अश्वमेध का अश्व, अश्वरक्षक, अश्व चिकित्सा, याग का विहार, चिति, यूप तथा ब्रह्मोद्य-कथनोपकथन आदि। इसमें होने वाले अवभृथ स्नान के समय जो व्यक्ति स्नान करता है, वह ब्रह्महत्या जैसे कठोर पाप से भी मुक्त हो जाता है। उसे अन्य किसी प्रकार के प्रायश्चित्त करने की अपेक्षा नहीं है। तदनन्तर पुरुषमेध, सर्वमेध और पितृमेध के वर्णन से यह अध्याय सम्पन्न होता है।

एकादशाध्याय में क्रतु का वर्णन है। इसमें एकाहक्रतु, व्रात्यस्तोम, द्वन्द्वस्तोम, गणक्रतु, श्येनयाग, श्येनयाग में ऋत्विजों की वेषभूषा, उद्भिद्-बलभिद्याग, द्वादशाह क्रतु और अहीन प्रभृति अनेक क्रतुओं का वर्णन है। द्वादशाध्याय में विविध सत्रों का स्वरूप दिखाया गया है।

इनमें गवामयन सत्र अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। इस सत्र में नाना प्रकार का वीणावादन, दुन्दुभिवादन, अभिगर और अपगर का कथनोपकथन, चर्माकर्षण, रथारोहण, लक्ष्यवेध तथा दासियों द्वारा मस्तक पर कलश रखकर रोचक नृत्य प्रभृति विधान विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। तदनन्तर महासत्र और सहस्र संवत्सर पर्यन्त अनेक सत्र और महासत्रों का परिचय इसी अध्याय से प्राप्त होता है।

त्रयोदशाध्याय में काम्य, नैमित्तिक और नित्य की जाने वाली अनेक प्रकार की इष्टियाँ दिखाई गयी हैं। श्री, राष्ट्र, मित्र और आयुष्य की कामना की पूर्त्ति करने वाली मित्रविन्दा संज्ञक इष्टि से इस अध्याय का प्रारम्भ होता है। आगे चलकर अनेक कामनाओं की पूरक विविध इष्टियों का वर्णन और अन्तमें अन्त्येष्टि दिखायी है। यहाँ आग्नेयीष्टि को कहकर महर्षि कात्यायन ने महत्त्वपूर्ण और सरल मार्ग को अपनाया है। यह कात्यायन की अपनी विशेषता है। बौधायन प्रभृति अनेक ऋषियों ने विभिन्न कामनाओं की पूरक अनेक इष्टियाँ कही हैं। कामनाएँ अनन्त हैं और इष्टियाँ सीमित हैं। इस प्रकार अन्य सूत्रकारों के यहाँ यह विषय अपूर्ण ही रह जाता है। इसकी पूर्ति के लिए महर्षि कात्यायन ने प्रत्येक कामना की पूर्ति में समर्थ आग्नेयीष्टि कही है। इस मार्ग से यह विषय सरल हो जाता है। यहाँ यह जानना जरूरी है कि किसी एक कामना की पूर्ति के लिए एकबार आग्नेयीष्टि करके दूसरी कामना की सिद्धि के लिए आग्नेयीष्टि की आवृत्ति करनी चाहिए।

वस्तुतः श्रौत यागों की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है। उनमें पदे-पदे उपयोग में आनेवाली साधन-सामग्रियों और विधानों में अनेक प्रकार की न्यूनता होना सम्भावित है। इस न्यूनाधिकता के कारण अदृष्टोत्पत्ति और फलसिद्धि दूर रहती है। इसकी पूर्त्ति के निमित्त विविध प्रकार के प्रायश्चित्त दिखाये हैं। उपर्युक्त न्यूनता की पूर्त्ति के लिए प्रायश्चित्तों का किया जाना अनिवार्य है। इन छोटे-बड़े बहुविध प्रायश्चित्तों को चौदहवें अध्याय के द्वारा प्रस्तुत किया है। पन्द्रहवें अध्याय में ग्रन्थोक्त समस्त विषयों का उपसंहार दिया है। इसमें वेदकालीन धार्मिक अनुष्ठान, वर्ण, आश्रम, श्रौत और स्मार्त्तयाग, श्रौतकालीन सामाजिक व्यवस्था, समय, नियम तथा ब्रह्मचर्य का पालन, श्रौतकालीन वेषभूषा और श्रृंगार, चिकित्सा, वनस्पति और शरीर विज्ञान, गीत, वाद्य और नृत्य, रथारोहण, रथधावन में स्पर्धा, लक्ष्यवेध, इष्टका निर्माण और चितियों का चयन, स्वयंपाक, जाति और व्यवहार जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों का सन्निवेश किया गया है।

पठन-पाठन में सौकर्य की दृष्टि से इस विषय से सम्बन्धित विषयों के विवेचन में बहुलतासे प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों की ओर सूक्ष्मरूप से ध्यान देना आवश्यक है। यदि इन शब्दों को श्रौतयागीय परम्परा में व्यवहृत होने वाले अर्थों के परिप्रेक्ष्य में न समझा गया तो कुछ भी हाथ लगना सम्भावित नहीं है। अतः हम अपने पाठकों का ध्यान उन पारिभाषिक शब्दों की ओर आकृष्ट करना चाहेंगे जिनका कोश के रूप में सङ्ग्रह कर परिशिष्ट में यथासम्भव स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है। अनुरोध है कि पाठक गण उसी कोश को

मुख्य संबल मान कर विषय परिग्रह की ओर चरण निक्षेप करें। श्रौतयागों में अनेक प्रकारके काष्ठ, पाषाण एवं धातुओं से निर्मित विविध आकार के पात्र भी काम में लिये जाते हैं। पारिभाषिक शब्दकोश के समाप्त होने पर पात्रानुक्रमणी दी गयी है। उन्हीं पात्रों में से लगभग साठ पात्रों के चित्र भी प्रस्तुत किये गये हैं। इतना होने पर भी अकारादिक्रम से विषयानुक्रमणी दिखायी गयी है। अन्त में अकारादि क्रमसे सहायक हस्तलिखित ग्रन्थसूची और तब सहायक मुद्रित ग्रन्थसूची के द्वारा ग्रन्थ की साङ्गता की गयी है।

इस कात्यायनयज्ञपद्धति में वर्णित अनेक यागों में से अग्निष्टोमयाग की एक झलक का इदम्प्रथमतया पाठकों को स्वरूप का परिचय हो जाय एतदर्थ इस ग्रन्थ के मुखपृष्ठ पर अग्निष्टोम याग विहार का चित्र अङ्कित किया गया है। श्रौतसूत्रों में वर्णित श्रौतयागों के अन्तर्भूत अनेक यागों का आरम्भ इसी प्रकृति स्वरूप अग्निष्टोम याग से होता है। सोमयाग के मूल में भी यही प्रथम याग के रूप में सन्निहित है। पाठकगण इस चित्र के विशेष विवरण का अवलोकन इस ग्रन्थ के दो सौ चौबीसवें पृष्ठ पर करें।

इस ग्रन्थ में हमने श्रौतयाग जैसे महनीय किन्तु अल्पचर्चित विषय के विवेचन का यथामति प्रयत्न किया है। वर्तमान समय में श्रौतयाग की परम्परा लुप्तप्राय हो गयी है। इसलिए इसकी निगूढता अस्वाभाविक नहीं है। यह विषय भारतीय इतिहास के एक विशिष्ट युग की संस्कृति का मेरुदण्ड है, जिसका सरल और सुबोध विश्लेषण वैदिक विद्वानों की चिरकाल से प्रतीक्षा कर रहा था। लेखक इस महासमुद्र में स्वान्तःसुखाय वर्षों तक अवगाहन करता रहा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि जो रत्न इससे प्राप्त किये हैं उनसे जिज्ञासुओं की परितृप्ति अवश्यमेव होगी और नीरक्षीरविवेकी विद्वज्जन प्रमुदित होंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन में उन विद्वानों के अतिरिक्त जिनका पुण्यस्मरण प्रारम्भ में ही किया जा चुका है, लेखक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के पूर्व कुलपति पण्डित-प्रवर डाक्टर सुरेन्द्र नाथ शास्त्री के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करता है, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रणयन में आरम्भ से अन्त तक अपनी अकृत्रिम रुचि दिखायी और समय-समय पर अनेक निर्देश दिये। खेद है कि इसे प्रकाशित रूप में देखने के लिए आज हमारे बीच में वे उपस्थित नहीं हैं। अतः उनकी पुण्यस्मृति को मैं हार्दिक कृतज्ञता पूर्वक कोटिशः प्रणाम करता हूँ।

सर्वतः प्रथम लेखक भारतीय संस्कृति की मर्मज्ञ विदुषी डाक्टर कपिला वात्स्यायन के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करना चाहता है। जिनके सत्परामर्श के कारण यह ग्रन्थ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत हो रहा है। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान दिल्ली के निदेशक स्वनामधन्य संस्कृत जगन्मण्डनायमान डाक्टर मण्डन मिश्र पुरोधा के रूप में अभिनन्दनीय हैं, जिनके सदनुष्ठान से इस ग्रन्थ ने साकारता प्राप्त की। जिनकी सदाशयता और संस्कृत-प्रियता सर्वत्र प्रसिद्ध है। डाक्टर मिश्र जी का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनके औदार्य के फलस्वरूप ही यह ग्रन्थ इस रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो पा रहा है।

सनातनधर्म सम्राट् पूज्यपाद स्वामी करपात्री जी महाराज, जगद्गुरु शङ्कराचार्य गोवर्धन पीठ पुरी, जगद्गुरु शङ्कराचार्य शारदापीठ श्रृङ्गेरी तथा जगद्गुरु शङ्कराचार्य काञ्चीकामकोटि पीठ के चरणों में अत्यन्त नम्र भाव से मैं प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ का मूल्याङ्कन किया और अपने अमूल्य सम्मतिपत्र प्रदान करने की कृपा की। विद्यासागर, पद्मभूषण, पण्डिताग्रगण्य पट्टाभिराम शास्त्री को मैं प्रणाम निवेदित करता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ का महत्त्व समझा और मुझे सम्मतिपत्र देकर कृतार्थ किया।

अन्त में, मैं अपने सतीर्थ्य पण्डित गोपालदत्त पाण्डेय, डाक्टर नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, डाक्टर भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री', पण्डित मूल शङ्कर शास्त्री, पण्डित उदयकृष्ण नागर, डाक्टर ब्रह्मानन्द त्रिपाठी एवं पण्डित शिवदत्त मिश्र प्रभृति सुहृद् वर्ग को धन्यवाद देना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ जिनसे प्राप्त प्रोत्साहन ने मेरे कार्य को अग्रगति प्रदान की। कात्यायनयज्ञपद्धतिविमर्श ग्रन्थ के अनुशीलन प्रसङ्ग में मुझे विभिन्न ग्रन्थालयों से हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थ प्राप्त करने पड़े। सर्वप्रथम सरस्वती भवन ग्रन्थालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, विश्वनाथ पुस्तकालय, जोखीराम मटरूमल गोयनका संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी, श्री गणेशदीक्षित दाऊजीभट्ट सङ्ग्रहालय तथा शिवराम त्रिपाठी सङ्ग्रहालय के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इनके ग्रन्थाध्यक्षों के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। इस ग्रंथ की आवरण सज्जा तथा चित्र निर्माण के कार्य में श्री बैजनाथ वर्मा से पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ तथा ग्रन्थमुद्रण कार्य में श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल ने प्रचुर तत्परता दिखायी। इस कार्य के लिए दोनों को मैं अपने आशीर्वाद अर्पित करता हूँ।

यद्यपि मैंने यथामति और यथागति इस दुरूह विषय की ग्रन्थ रचना एवं सम्पादन में यथासम्भव प्रयास किया है तथापि 'गच्छतः स्खलनं क्वापि' न्याय से मानव-सुलभ त्रुटि का होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। सीसकाक्षरों की विपर्यस्तता तथा परिभ्रंश के कारण यथाकथञ्चित् मुद्रणाशुद्धि भी सम्भावित है। कृपालु विद्वज्जनों तथा जिज्ञासु पाठकों से अनुरोध है कि इस प्रकार की त्रुटियों से अवगत कराकर लेखक को उपकृत करेंगे ताकि द्वितीय संस्करण में उसका परिमार्जन हो सके।

अक्षय तृतीया
वै० शु० २०४५ वै०
१९-४-१९८८

मनोहरलाल द्विवेदी

अध्यायानुक्रमणी

प्रथम अध्याय १–५६

विषय प्रवेश

द्वितीय अध्याय ५७–७४

पाकसंस्था

तृतीय अध्याय ७५–१३८

हवि:संस्था

चतुर्थ अध्याय १३९–१७६

हविःसंस्था

पञ्चम अध्याय १७७–२००

हविःसंस्था

षष्ठ अध्याय २०१–२६८

सोमसंस्था

सप्तम अध्याय २६९–२९४

सोमसंस्था

अष्टम अध्याय २९५–३४०

याग

नवम अध्याय ३४१–३५८

याग

दशम अध्याय ३५९–३८०

मेध

एकादश अध्याय ३८१-३९८

क्रतु

द्वादश अध्याय ३९९–४१४

सत्र

त्रयोदश अध्याय ४१५–४२२

इष्टि

चतुर्दश अध्याय ४२३–४३८

प्रायश्चित्त

पञ्चदश अध्याय ४३९–४५२

उपसंहार

परिशिष्ट ४५३-५८८

चित्रानुक्रमणी

संकेतसूची

अ. पु.	अग्निपुराण
अग्नि. प.	अग्निष्टोमपद्धति
अग्नि. हो.	अग्निहोत्रचन्द्रिका
अ. स. पै.	अथर्ववेदसंहिता पैप्पलाद
अ. स. शौ.	अथर्ववेदसंहिता शौनक
अ. शि. उ.	अथर्वशिरोपनिद्
अ. स सा. भा.	अथर्वसंहिता सायणभाष्य
अनु. सं.	अनुवाकसंख्या परिशिष्ट
अमरः	अमरकोश
आ. प.	आधानपद्धति
आ. श्रौ.	आश्वलायन श्रौतगसूत्र
आ. श्रौ. टी.	आश्वलायन श्रौत सूत्र टीका
आप. गृ.	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आप. ध.	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आ. शु.	आपस्तम्ब शुल्बसूत्र
आप. श्रौ.	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आ. गा.	आरण्यगान
आ. ब्रा.	आर्षेयब्राह्मण
इ. पू.	इष्टकापूरण परिशिष्ट
इ. पू. भा.	इष्टकापूरणभाष्य
इ. पू. श्लो.	इष्टकापूरणश्लोक परिशिष्ट
उ. प.	उञ्छशास्त्र परिशिष्ट
उ. नि. सू.	उपनिदान सूत्र
उप. ग्र.	उपग्रन्थसूत्र
ऊ. गा.	ऊहगान
ऊह. गा.	ऊह्यगान
ऋ. प्रा.	ऋक्प्रातिशाख्य
ऋ. सं.	ऋग्वेदसंहिता
ऐ. ब्रा.	ऐतरेयब्राह्मण
ऐत. आ.	ऐतरेयारण्यक
क. रु. उ.	कठरुद्रोपनिषद्
क. प्र.	कर्मप्रदीप
कपि. सं.	कपिष्ठल संहिता
का. सं.	काठक संहिता
का. दी.	कातीयेष्टिदीपक
का. शु.	कात्यायनशुल्बसूत्र
का. श्रौ. क. भा.	कात्यायनश्रौतसूत्र कर्कभाष्य
का. श्रौ. दे. भा.	कात्यायनश्रौतसूत्र देवयाज्ञिक भाष्य
का. श्रौ. स. वृ.	कात्यायन श्रौतसूत्र सरलावृत्ति
का. स्मृ.	कात्यायनस्मृति
का. पु.	कालिकापुराण
कू. पु.	कूर्मपुराण
कू. ल. प.	कूर्मलक्षणपरिशिष्ट
कृ. प्र. कौ.	कृष्णयजुर्वेदप्रकरणकौमुदी
कृ. य. भू.	कृष्णयजुर्वेद भूमिका
के. उ.	केनोपनिषद्
कौ. अ.	कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौ. ब्रा.	कौशीतकि ब्राह्मण
ग. उ.	गरुडोपनिषद्
ग. पु.	गरुडपुराण
गो. ब्रा.	गोपथब्राह्मण
गो. प.	गोभिलपरिशिष्ट
गौ. ध.	गौतमधर्मसूत्र
च. व्यू.	चरणव्यूहपरिशिष्ट
छा. प.	छागलक्षणपरिशिष्ट

छा. उ.	छान्दोग्योपनिषद्
छा. ब्रा.	छान्दोग्य ब्राह्मण
ज. वै. स्ट.	जर्नल आफ वैदिक स्टडीज़
ज. ए. सो. बं.	जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल
जै. गृ. सू.	जैमिनीयगृह्यसूत्र
जै. त. उ.	जैमिनीय तलवकार उपनिषद् ब्राह्मण
जै. सं.	जैमिनीयसंहिता
जै. सू.	जैमिनिसूत्र
जै. सू. भा.	जैमिनिसूत्रभाष्य
ता. ब्रा.	ताण्ड्य ब्राह्मण
ता. ब्रा. सा. भा.	ताण्य ब्राह्मण सायण भाष्य
ता. सा. उ.	तारसारोपनिषद्
ति. सू.	तित्तिरिसूत्र
तै. आ.	तैत्तिरीयारण्यक
तै प्रा.	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तै. ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. सं.	तैत्तिरीय संहिता
तै. सं. सा. भा.	तैत्तिरीय संहिता सायण भाष्य
त्रि. सू.	त्रिकण्डिकासूत्र
त्रि. म.	त्रिकाण्डमण्डन
दे. वि.	देवता विचार
दे. प.	देवयाज्ञिक पद्धति
दे. स्मृ.	देवलस्मृति
दे. भा.	देवी भागवत
दै. ब्रा.	दैवत ब्राह्मण
द्रा. श्रौ.	द्राह्यायण श्रौतसूत्र
द्रा. श्रौ. ध. भा.	द्राह्यायण श्रौतसूत्र धन्विभाष्य
ध. सि.	धर्मसिन्धु
ना. पु.	नारदपुराण
ना. स्मृ.	नारद स्मृति
ना. उ.	नारायणोपनिषद्
नि. प.	निगम परिशिष्ट

नि.	निरुक्त
नि. सि.	निर्णय सिन्धु
नृ. पू. उ.	नृसिंहपूर्वतापिनीयोपनिषद्
प. ब्रा.	पञ्चविंश ब्राह्मण
प. पु.	पद्मपुराण
प. ब्र. उ.	परब्रह्मोपनिषद्
पा. सू.	पाणिनिसूत्र
पा. शि.	पाणिनीय शिक्षा
पा. गृ.	पारस्करगृह्यसूत्र
पा. गृ. क. भा.	पारस्करगृह्यसूत्र कर्कभाष्य
पा. गृ. ग. प.	पारस्करगृह्यसूत्र गदाधरपद्धति
पा. गृ. ग. भा.	पारस्करगृह्यसूत्र गदाधरभाष्य
पा. गृ. व्या.	पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्या
पा. गृ. ह. भा.	पारस्करगृह्यसूत्र हरिहर भाष्य
पा. प.	पार्षदपरिशिष्ट
प्र. ग्र.	प्रकृतग्रन्थ
प्रति. प.	प्रतिज्ञा परिशिष्ट
प्रव.	प्रवराध्याय परिशिष्ट
प्रस. प.	प्रसवोत्थान परिशिष्ट
बृ. उ.	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ. जा. उ.	बृहज्जाबालोपनिषद्
बृ. दे.	बृहद्देवता
बौ. गृ.	बौधायनगृह्यसूत्र
बौ. शु.	बौधायन शुल्बसूत्र
बौ. श्रौ.	बौधायन श्रौतसूत्र
ब्र. पु.	ब्रह्मपुराण
ब्र. वै. पु.	ब्रह्मवैवर्तपुराण
ब्रह्मा. पु.	ब्रह्माण्डपुराण
भवि. पु.	भविष्यपुराण
भा. पु.	भागवतपुराण
भा. गृ.	भारद्वाजगृह्यसूत्र
भा. श्रौ.	भारद्वाजश्रौतसूत्र

म. पु.	मत्स्यपुराण
म. स्मृ.	मनुस्मृति
म. ब्रा.	मन्त्रब्राह्मण
महा. भा.	महाभारत
म. भा.	महाभाष्य
मा. शा. प्र.	माध्यन्दिन शाखाप्रकाश
मा. श्रौ.	मानव श्रौतसूत्र
मा. पु.	मार्कण्डेयपुराण
मी. न्या. प्र.	मीमांसान्यायप्रकाश
मी. प.	मीमांसापरिभाषा
मी. सू.	मीमांसासूत्र
मु. उ.	मुण्डकोपनिषद्
मू. प.	मूल्याध्यायपरिशिष्ट
मै. सं.	मैत्रायणीसंहिता
मै. उ.	मैत्रायण्युपनिषद्
य. पा.	यज्ञपार्श्व परिशिष्ट
या. स्मृ.	याज्ञवल्क्यस्मृति
या. स्मृ. मि.	याज्ञवल्क्यस्मृति मिताक्षरा
या. उ.	याज्ञवल्क्योपनिषद्
यू. प.	यूपलक्षण परिशिष्ट
यो. त. उ.	योगतत्त्वोपनिषद्
यो. उ.	योगसारोपनिषद्
रा. उ. उ.	रामोत्तरतापिनीयोपनिषद्
ला. श्रौ.	लाट्यायनश्रौतसूत्र
ला. श्रौ. अ. भा.	लाट्यायनश्रौतसूत्र अग्निस्वामी भाष्य
लि. पु.	लिङ्गपुराण
लौ. गृ.	लौगाक्षि गृह्यसूत्र
वं. ब्रा.	वंशब्राह्मण
वरा. पु.	वराहपुराण
वा. प्रा.	वाजसनेयी प्रातिशाख्य
वाधू. श्रौ.	वाधूल श्रौतसूत्र
वा. पु.	वामनपुराण
वायु. पु.	वायुपुराण
वा. श्रौ.	वाराहश्रौतसूत्र
वि. पु.	विष्णुपुराण
वे. भा. भू.	वेदभाष्यभूमिका
वे. गा.	वेयगान
वै. श्रौ.	वैखानसश्रौतसूत्र
वै. सू.	वैतानश्रौतसूत्र
वै. इ.	वैदिक इण्डेक्स
वै. क.	वैदिक कङ्कार्डेन्स
वै. प. को.	वैदिक पदानुक्रम कोश
श. ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
श. ब्रा. सा. भा.	शतपथ ब्राह्मण सायण भाष्य
श. ब्रा. ह. भा.	शतपथ ब्राह्मण हरिहर-भाष्य
शा. उ.	शाण्डिल्योपनिषद्
शा. दी.	शास्त्रदीपिका
शां. आ.	शाङ्खायन आरण्यक
शां. ब्रा.	शाङ्खायन ब्राह्मण
शां. श्रौ.	शाङ्खायन श्रौतसूत्र
शां. श्रौ. भा.	शाङ्खायनश्रौतसूत्रभाष्य
शि. वे.	शिक्षादिवेदषडङ्ग
शि. पु.	शिवपुराण
शु. य.	शुक्क्लयजुर्वेद
शु. य. उ. भा.	शुक्क्लयजुर्वेद उव्वट भाष्य
शु. य. म. भा.	शुक्लयजुर्वेद महीधर.
श्वे. उ.	श्वेताश्वतभाष्यरोपनिषद्
श्रा. का.	श्राद्धकारिका
श्रा. सू.	श्राद्धसूत्र परिशिष्ट
श्रौ. को.	श्रौतकोश
ष. ब्रा.	षड्विंश ब्राह्मण
स. श्रौ.	सत्याषाढ श्रौतसूत्र
स. श्रौ. वै.	सत्याषाढ श्रौतसूत्र वैजयन्ती टीका
स. श्रौ. ज्यो.	सत्याषाढ श्रौतसूत्र ज्योत्स्ना टीका
सा. ब्रा.	सामविधान ब्राह्मण
सा. पु.	साम्बपुराण
सा. सं.	सामवेद संहिता
स्क. पु.	स्कन्दपुराण
हि. गृ.	हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्र
हि. ध.	हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र
हौ.प.	हौत्र परिशिष्ट

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

विश्वसाहित्य में वेद का स्थान······वेद की महिमा······वेद का धर्म से सम्बन्ध······वेद की परम्परा और कर्मपरता······वेद की शाखा······ऋग्वेद······यजुर्वेद······कृष्णयजुर्वेद······सामवेद······अथर्ववेद······वेदसंहिता······ब्राह्मण······आरण्यक······उपनिषद्······षडङ्ग······कल्प······श्रौतसूत्र का प्रयोजन······कर्म का त्रैविध्य······प्रकृतिकर्म······विकृतिकर्म······उभयात्मक कर्म······श्रौत अनुष्ठान के चार प्रकार······अधिकारी······यजमान······ऋत्विज······परिग्रह······ऋत्विजों के गण······वेदों से सम्बद्ध श्रौतपरम्परा······श्रौत के आचार्य······महर्षि कात्यायन······महर्षि कात्यायन की विशेषता······महर्षि कात्यायन की रचना······कात्यायन श्रौतसूत्र पर भाष्य······कात्यायन श्रौतसूत्र पर पद्धतियाँ······याग का इतिहास······श्रौतयाग का स्मार्त्त यागों पर प्रभाव······यागभूमि······श्रौतयागों के ह्रास का कारण······आरण्यक, उपनिषद् एवं पुराणों में याग······इष्टि······याग······सत्र······यागसम्बन्धी विविध विषय······श्रौतयज्ञ की महिमा और समाज में उसकी मान्यता······।

विषय प्रवेश

भारतीय दर्शन की एक प्रधान मान्यता है पुनर्जन्मवाद। प्राणी जन्म, जरा एवं मृत्यु प्राप्त करता है। एक जन्म के बाद दूसरा जन्म लेता है। वह अपना भौतिक शरीर जीर्ण वस्त्रों की भाँति बदलता रहता है[1]। यद्यपि वह अपने स्थूल देह का परित्याग कर देता है तथापि उसका सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है जो जन्मान्तर में विविध संस्कार लिये उसके साथ जाता है। ये संस्कार क्रमशः भले और बुरे, पुण्य और पाप के कारण होते हैं। शास्त्र-विहित कर्मों के द्वारा पुण्य एवं निषिद्ध कर्मों के द्वारा पाप का संचय होता है। पुण्य बल से उत्तम जन्म तथा पाप के दुर्विपाक से हीन जन्म प्राप्त होता है[2]। अतः कर्मयोग ही पुनर्जन्म-वाद की आधारशिला है। कर्म से ही धर्म का संचय होता है। कर्म से ही उत्तरोत्तर उत्तम लोक की प्राप्ति होती है। कर्म का विधान करने वाला, धर्माधर्म का मुख्य निर्णायक वेद है। अतएव श्रेयः साधना के अभिलाषी मानव के लिये वेदविहित धर्मानुष्ठान ही एक मात्र उन्नति का साधन है। वेद 'स्वर्गकामो यजेत', 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः', स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत, इत्यादि वाक्यों के द्वारा ऐहिक एवं आमुष्मिक मनोरथ की सिद्धि के निमित्त विविध कर्मानुष्ठान के लिए प्रेरणा देता है। प्रत्येक अनुष्ठान को सम्पन्न करने के लिए फल के अनुरूप पृथक् पृथक् विधान हैं जिनका विवरण ब्राह्मण ग्रन्थों में सविस्तार दिया गया है। उन्हीं विधानों की विशद व्याख्या एवं पद्धति बताने का मुख्य श्रेय श्रौतसूत्रों को है। सूत्रकारों ने वेद के रहस्य को भलीभाँति आत्मसात् कर, ब्राह्मण ग्रन्थों के हृदय को ग्रहण कर मानव के कल्याण तथा लोक मंगल की साधना से अनुप्राणित हो कर्मानुष्ठान के कल्प का सांगोपांग विवेचन विविध ऊहापोह के द्वारा प्रस्तुत किया है। अतएव श्रौतविधान को समझने के लिए श्रौत सूत्र ही आधारभूत हैं। श्रौतसूत्रों की पद्धतियों में यजुर्वेदानुसारिणी कातीय पद्धति प्रमुख है जिसका अध्ययन न केवल श्रौतविधान का ही परिचायक है अपितु तत्कालीन भारतीय समाज के मनोयोग तथा गौरव का शुभ्र प्रतिबिंब है। इस दृष्टि से श्रौतविधान प्राचीन भारतीय संस्कृति का मुख्य स्तम्भ है और उसका गवेषणात्मक अध्ययन एक रोचक विषय है।

विश्वसाहित्य में वेद का स्थान

संसार में अनेक देश, जातियाँ और अनेक संस्कृतियाँ विद्यमान हैं। प्रत्येक की संस्कृति एवं साहित्य अलग अलग है। इतना होने पर भी भारतीय संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाले इस वेदरत्न की प्राचीनता सर्वोत्कृष्ट है। इस तथ्य की स्वीकृति वैदेशिकों ने भी मुक्तकण्ठ से की है।

---

१. वासांसि जीर्णानि .... भ० गीता, अध्याय २।

२. मैत्रायण्युपनिषद् ६।३६।

वेद की महिमा

भारतीय मान्यता के अनुसार किसी ऋषि, मुनि या विद्वान् ने वेद का निर्माण नहीं किया है। अपितु वेद अपौरुषेय हैं। इसे ब्रह्म का ही स्वरूप माना है। वह शब्दरूप ब्रह्म है। वेद की महिमा अवर्णनीय है। 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' यह उक्ति वेदब्रह्म के सम्बन्ध में सर्वथा चरितार्थ है। आज ही नहीं अपितु सृष्टि के आदिकाल से आज तक की मान्यता यही रही है।

वेद की संख्या

प्रथमतः शब्दब्रह्म स्वरूप वेद एक अर्थात् अखण्ड था। तत्पश्चात् ब्रह्मदेव के चतुर्मुख से आविर्भूत होने के कारण उसका स्वरूप चतुर्धा महर्षि व्यासदेव ने विभाजित किया। शब्द ब्रह्म के चार स्वरूप क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के नामों से प्रथित हुए। इनके ब्राह्मण भी अलग अलग हैं। और वे भी श्रुति हैं। संहिता और ब्राह्मण दोनों का मिश्रित स्वरूप वेद के रूप में स्वीकृत किया गया है।

श्रौतकर्म की आधारशिला वेद है। उसके उपकारक शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छहों वेदांगों में कल्प का प्रमुख स्थान है। कल्प के अन्तर्गत श्रौतसूत्र हैं। अतएव प्रमेय के प्रतिपादन से पूर्व प्रमाणभूत ग्रन्थराशि का विहंगम दृष्टि से अवलोकन यहाँ अनावश्यक न होगा।

वेद का प्रतिपाद्य

व्याकरण के अनुसार वेद शब्द की सिद्धि विद् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के उपाय जिससे जाने जायँ उसे वेद कहते हैं। चतुर्वर्ग ही वेद का प्रतिपाद्य विषय है। कृष्ण यजुर्वेद पर भाष्य करते हुए सायणाचार्य भूमिका में लिखते हैं—'इष्टलाभ और अनिष्ट निरसन का अलौकिक उपाय जो कहता है वह वेद[1] है। इसी प्रसंग में वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष या अनुमान से जो बातें न जानी जाती हों वे वेद से ज्ञात होती हैं।[2]

वेद का धर्म से सम्बन्ध

वेद का धर्म के साथ निकटतम सम्बन्ध है। भारत में जितने भी आस्तिक धर्म हैं उनका प्रादुर्भाव वेद से ही है। इस विषय में कहा गया है कि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' अर्थात् समस्त धर्म का मूल वेद ही है, वेद के द्वारा निर्दिष्ट इष्टसाधन को ही धर्म कहते हैं[3]। महर्षि जैमिनि के अनुसार 'वेदविहित प्रेरणा ही धर्म है[4]। आम्नाय अर्थात् वेदराशि की प्रवृत्ति

---

१. इष्टप्राप्त्यनिष्टनिरसनयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वदति स वेदः। कृ. य. भू. पृ. २।

२. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥ कृ. य. भू.

३. वेदबोधितेष्टसाधनताको धर्मः। मी. प.

४. चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः—मीमांसा सूत्र, १-१-२।

निमित्त ही मानव को धर्म की ओर प्रवृत्त करता है। अतएव धर्म सम्पादन के हेतु वेद विहित कर्मानुष्ठान ही मानव के लिये एक मात्र श्रेय का साधक है।

वेद की परम्परा और कर्मपरता

भारतीय मान्यता से वेद की परम्परा कब से प्रचलित हुई इसका निर्णय सृष्टि की उत्पत्ति के साथ है। परन्तु आधुनिक विद्वानों ने वेद के काल निर्णय के विषय में विभिन्न मत माने हैं। एतदर्थ इस विषय में यही मानना होगा कि जो काल मीमांसानुसार वेद का निर्णीत होता है वेद की परम्परा और उसमें प्रतिपादित कर्मानुष्ठान की प्राचीनता भी वेद के साथ है। वेदों में संहिताओं को देखें तो यज्ञ का नाम और बिखरी हुई सामग्री जैसे इध्मा, बर्हि, आज्य आदि वस्तु और अध्वर्यु प्रभृति ऋत्विजों के नाम देखने को मिलते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि याग में विनियुक्त मन्त्र जितने भी हैं वे सब संहिता के ही हैं। वहाँ कर्म के विधान का प्रकार नहीं है।

वेद की शाखा

किसी पुरुषविशेष द्वारा अनिर्मित मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेदब्रह्म की चार मूर्तियाँ हैं। जिसमें छन्दोबद्ध मन्त्र हैं वह ऋग्वेद है। अर्थविशेष से विभक्त होने वाला गद्यात्मक समुदाय यजुर्वेद है। जिन मन्त्रों का गान किया जा सके उनका संकलित रूप सामवेद है। छन्दोबद्ध और ऋग्वेद के मन्त्रों के समान जिनका उच्चारण होता है वह अथर्ववेद है।

इन चार वेदों की विभिन्न शाखायें हैं। प्रत्येक की शाखाओं की गणना चरणव्यूह में कही है। विविध शाखाओं के अस्तित्व का तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक शाखा अपूर्ण है और एक शाखा के अनुयायी का दूसरी शाखा के बिना काम नहीं चल सकता। प्रत्येक शाखा अपने में पूर्ण है। इसी कारण 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह शतपथ ब्राह्मण की उक्ति सर्वथा सार्थक है। वहाँ स्व पद से अपनी शाखा जानी जाती है। यदि वह अपूर्ण होती तो दूसरी शाखा का अध्ययन आवश्यक है यह कहा गया होता और उस परिस्थिति से 'स्व' पद निरर्थक होता।

ऋग्वेद

ऋग्वेद की शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकेय ये पाँच शाखायें प्रमुख हैं। महाभाष्य में इक्कीस[2] शाखाएँ कही गयी हैं। इस वेद की शाखाओं की गणना सत्ताईस तक पायी जाती है। जैसे १. शाकल में मुद्गल गालव शालीय वात्स्य और शैशिरि, २. बाष्कल में बौध्य अतिमाठर पराशर और जातूकर्ण्य, ३. शांखायन में आश्वलायन, शांखायन, कौशीतकि, महाकौशीतकि और शाम्बव्य। इसके सिवाय मांडुकेय, बाह्वृच, पैङ्ग्य, उद्दामक, शतवलाव, गजहास्तिक, बाष्कलि भरद्वाज की शाखा, ऐतरेय (महैतरेय) वसिष्ठ, सुलभ और शौनक। इन ऋषियों के नाम से ये शाखाएँ प्रचलित हुई हैं। वैदिक परम्परा के गृहस्थ आज भी इन नामों से प्रतिदिन तर्पण करते हैं। इस समय इस वेद की शाकल संहिता

---

१. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। मीमांसा सूत्र, २-१-४॥

२. एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् म. भा. १.५।

ही उपलब्ध होती है। इस संहिता में तीन प्रकार के अवान्तर विच्छेद मिलते हैं। पहले प्रकार में अष्टक, अध्याय वर्ग और मन्त्र हैं। इसमें आठ अष्टक, चौंसठ अध्याय, दो हजार चौबीस वर्ग और बालखिल्य सहित दस हजार पाँच सौ बावन मन्त्र हैं। दूसरे प्रकार में मण्डल सूक्त और मन्त्र से विभाग किया है। इस प्रकार में दस मण्डल एक हजार अठाईस सूक्त और दस हजार पाँच सौ बावन मन्त्र हैं। तीसरा प्रकार शौनक ने अपनी ऋग्वेदानुक्रमणी में मण्डल, अनुवाक, सूक्त और मन्त्र का कहा है। इन तीनों भेदों में आज की वैदिक परम्परा में प्रथम प्रकार प्रचलित है। चरणव्यूहकार ने दस हजार पाँच सौ अस्सी मन्त्र गिनाये हैं। ऋग्वेद के ऐतरेय और शांखायन दो ब्राह्मण उपलब्ध हैं। आयुर्वेद इसका उपवेद है।

यजुर्वेद

यजुर्वेद के दो भेद हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्णयजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद की काण्व, माध्यन्दिन जाबाल प्रभृति पन्द्रह शाखाएँ हैं। तथा कृष्ण यजुर्वेद की छियासी[1] शाखाएँ हैं। शुक्लयजुर्वेद की काण्व[2] और वाजसनेयी[3] दो संहितायें उपलब्ध हैं।

इन दोनों संहिताओं के ब्राह्मण पृथक् पृथक् बताये हैं। दोनों का नाम शतपथ ब्राह्मण ही है। शुक्ल यजुर्वेद की सामान्यतः समस्त शाखाओं का धनुर्वेद ही उपवेद है।

कृष्णयजुर्वेद

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय, कठ, मैत्रायणी और कपिष्ठल संहिताएँ उपलब्ध हैं। तैत्तिरीय में प्रतिपाद्य विषय बिखरे हुए हैं। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक मिलकर इसकी पूर्ति होती है। विषय इनका भेदक नहीं हो सकता।

सामवेद

इसकी संहिता का नाम आर्चिक है। इसके वेय, आरण्य, ऊह और ऊह्य चार गान हैं। इस वेद की सहस्र शाखाएँ कही हैं। वर्तमान समय में कौथुमी, राणायनी और जैमिनी ये तीन शाखाएँ प्रचलित हैं। इसकी मन्त्र संख्या ८८१४ है। गान्धर्ववेद इसका उपवेद है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद की नव शाखाएँ कही हैं। इस समय शौनक और पैप्पलाद दो शाखाओं की संहिताएँ उपलब्ध हैं। इसका ब्राह्मण एकमात्र गोपथब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध है। आंगिरस,

---

१. कृष्ण यजुर्वेदस्य षडशीति भेदा भवन्ति। चरणव्यूह, यजुर्वेद खण्ड। एकशतमध्वर्युशाखाः। म. भा. पस्प०।

२. काण्व संहिता का प्रकाशन सर्वप्रथम १८५२ में वेबर ने किया है। दूसरा प्रकाशन मद्रास के विद्वानों ने १९१५ में किया है। तीसरी औंध से प्रकाशित है।

३. वाजसनेयी संहिता अनेक स्थानों से प्रकाशित है।

तपस्या करने वाले याज्ञवल्क्य को वाजी रूप धारण करके सूर्य के द्वारा वरदान स्वरूप प्राप्त होने से इसे वाजसनेयी संहिता कहते हैं।

नक्षत्र, शान्ति, वैतान और संहिताविधि इस प्रकार इस वेद के पाँच कल्प हैं। अर्थशास्त्र इसका उपवेद है।

वेद-संहिता

मुण्डकोपनिषद् में दो प्रकार की विद्या कही है एक परा और दूसरी अपरा। जिस विद्या से अक्षरब्रह्म का ज्ञान हो उसे पराविद्या कहते हैं। दूसरी विद्या अपराविद्या के नाम से प्रसिद्ध है। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदः' के अनुसार वेद के दो अंश हैं। प्रथम संहिता और दूसरा ब्राह्मण। वेद के मन्त्र जो कि ऋग्वेद में पद्यात्मक और यजुर्वेद में गद्यात्मक हैं उन्हें संहिता कहते हैं। ये संहिताएँ प्रत्येक वेद की भिन्न भिन्न हैं। ये संहिताएँ अपौरुषेय हैं और ऋषियों द्वारा दृष्ट हैं। अतएव इन्हें श्रुति कहते हैं। परम आप्तवाक्य होने के कारण ये स्वतन्त्र रूप में प्रमाण हैं।[1]

ब्राह्मण

संहिता से अतिरिक्त जो वेद के मन्त्र हैं उन्हें ब्राह्मण कहते हैं। ये ब्राह्मण भी श्रुतिरूप हैं। प्रत्येक संहिता के साथ एक एक ब्राह्मण जुड़ा हुआ है। ब्राह्मण की शैली संहिता की शैली से भिन्न है। इनमें कहीं कहीं पद्यात्मक रचना होते हुए भी अधिकतर ब्राह्मण भाग की रचना शैली गद्यात्मक है। कारण इनका लक्ष्य संहिता में प्रतिपादित दुरूह कर्मविधान की प्रक्रिया आस्तिक जनता को सुबोध भाषा में समझाने की है। विशेष रूप से इनमें यज्ञ प्रक्रिया एवं विधान का वर्णन पाया जाता है। इनकी रचना का उद्देश्य यज्ञ की समस्त प्रक्रिया को विस्तार पूर्वक बताना नहीं है, अपितु विशिष्ट रूप से संक्षेप में प्रतिपादन करना है। फिर भी इनमें यज्ञप्रक्रिया के आख्यान प्रचुरता से भरे पड़े हैं। साथ ही विधि, अर्थवाद, विवरण, इतिहास और यज्ञविषयक संवादों की बहुलता है।

आरण्यक

ब्राह्मण साहित्य के अनन्तर आरण्यक का स्थान है। इनमें यज्ञविधि विरल है। कहीं है भी, तो वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण से है। प्रायः उसका उपदेश भी चतुर्थाश्रम के उपयोगी है। इनमें अन्य विषयों के होते हुए भी ईश्वरीय वैभव की प्रचुरता है। जिसका अनुसंधान सांसारिक झंझटों से विरक्त वानप्रस्थों के लिए ही संभव है। अरण्य के एकान्त परिसर में जीवन के परम रहस्य पर मनन करने योग्य विषय के प्रतिपादक ग्रन्थराशि को आरण्यक कहा है। वानप्रस्थाश्रमियों के उपयुक्त होने से इन्हें आरण्यक कहते हैं। ये भी प्रत्येक शाखा के लिए अलग-अलग हैं।

उपनिषद्

ब्रह्मानन्द की अवाप्ति के साधक ग्रन्थराशि को उपनिषद् कहते हैं। इनका प्रतिपाद्य आध्यात्मिक विषय है अतएव इन्हें वेदान्त भी कहते हैं। प्रत्येक शाखा के लिये अलग-अलग उपनिषद् हैं। समस्त उपलब्ध उपनिषदों की संख्या एक सौ बीस से अधिक है।

---

१. निरपेक्षो रव : श्रुतिः, मीमांसान्यायप्रकाश।

वेद का प्रयोजन

वेद के अर्थ को अच्छी प्रकार समझने में सहायक होना, समस्त वेद और उनके पदों का शुद्ध उच्चारण करने का मार्ग बतलाना, उच्चारण के समय स्वर का नियम बतलाना, किस व्यंजन, स्वर और शब्द का किस स्थान से उच्चारण करना आदि बतलाना षडङ्ग का काम है। संक्षेप में समस्त वैदिक ज्ञान प्रकाशन करने का उत्तरदायित्व इस षडङ्ग का है।

षडङ्ग

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये वेद के छ अंग हैं। इन अंगों की सहायता के बिना वेद का अर्थ नहीं जाना जा सकता। इसके सिवाय 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस वाक्य से इनका महत्त्व दिखाया है। यद्यपि वेदमन्त्र के पठन मात्र से अभिलषित प्राप्त होता है तथापि स्वर, वर्ण और अर्थ से रहित पाठ से अनिष्ट होना[1] भी कहा है। इन छहों अंगों में वेद का छन्द पैर, कल्प हाथ, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त कान, शिक्षा नाक, और व्याकरण मुख कहा है।

शिक्षा के द्वारा वैदिक मन्त्रों का स्वर सहित शुद्ध उच्चारण किस प्रकार करना, यह जानकारी प्राप्त होती है। चारों वेदों की क्रमशः पाणिनीय, याज्ञवल्क्य, नारदीय और माण्डूकी शिक्षा है।

व्याकरण के द्वारा शब्दों का शुद्ध अर्थ जानने में सहायता प्राप्त होती है। वेदविहित कर्मकाण्ड में प्रकृति कर्म के अनुरूप विकृति कर्मों के अनुष्ठान में यत्रतत्र अपेक्षित ऊह करने में में सहायता प्रदान करना व्याकरण का प्रयोजन है[2]। यह लौकिक व्याकरण और वैदिक व्याकरण इस तरह दो प्रकार का है। वैदिक व्याकरण का स्वरूप प्रतिशाख्यों में देखा जा सकता है।

निरुक्त

निरुक्त का मुख्य उद्देश्य वेद (संहिताओं) में प्रयुक्त दुरुह शब्दों का निर्वचन करना है। इसकी सहायता के बिना मन्त्रों का अर्थ समझना प्रायः दुःसाध्य है। निघण्टु इसकी आधारशिला है।

छन्द के द्वारा शब्दों की सीमा बाँध दी जाती है। इससे एक जातीय छन्दों में एकरूपता अक्षुण्ण रहती है। ये गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, जगती प्रभृति अनेक हैं। इन्हीं छन्दों में वैदिक मन्त्र ग्रथित हैं।

ज्योतिष के द्वारा भौगोलिक स्थिति, ग्रहगति और कर्मानुष्ठानों के उपयुक्त समय का ज्ञान होता है।

पाठविकृति

जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन इस प्रकार संहिता के मन्त्रों का आठ प्रकार का वैकृत पाठ होता है। इस विकृति पाठ का उद्देश्य यही है कि पद को आगे

---

१. मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा० । पा० शि० ५२ ।

२. रक्षोहागमलघ्वसन्देहा : प्रयोजनम्—महाभाष्य, १.१ ।

पीछे करके भी पढ़ा जाय। इस पाठ से प्रकृति पाठ में कभी भी परिवर्तन नहीं हो सकता। फलतः संहिता के मन्त्रों के स्वरूप की अक्षुण्णता आज तक सुरक्षित है।

कल्प

वेदांगों में कल्प का दूसरा स्थान है। 'हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते' कह कर पाणिनि ने इस कल्प को वेद के हाथ का स्वरूप दिया है। कल्प की चार शाखायें हैं। श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र धर्मसूत्र और शुल्बसूत्र। श्रौतसूत्र में श्रौतकर्म का विधान और गृह्यसूत्र में उपनयनादि संस्कारों का विधान है। धर्मसूत्र में मानव के लिए धर्म और नियमों का संकलन किया है। शुल्बसूत्र के द्वारा वेदकालीन वास्तुशास्त्र की जानकारी मिलती है।

कल्प का ब्राह्मण और आरण्यक से सम्बन्ध

संहिता की अपेक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों में श्रौतकर्म की जानकारी अधिक विस्तृत देखी जाती है। उनमें श्रौत की परम्परा, प्रयोग, यज्ञ के प्रकार, यज्ञ कब किये, किसने किये, आदि विषय देखने में आते हैं। इससे यही मानना चाहिये कि कल्प का मूल आधार संहिता और ब्राह्मण है।

वेदांगों की सहायता से भी वेदप्रतिपादित कर्म की प्रक्रिया कालक्रमानुसार दुर्बोध होती गई है जिसका मुख्य कारण भारतीय जनता में विविध जातियों का समय समय पर आवागमन है। अतएव कर्मकाण्ड की प्रक्रिया को व्यवस्थित रूप देने के उद्देश्य से श्रौतसूत्रों की रचना हुई है।

श्रौत काल से पूर्व गुरुमुख से उच्चरित मन्त्र को अध्येता सुनकर कण्ठ कर लेते थे। मन्त्र के विधान को भी समझकर स्वायत्त कर लेते थे। उनकी बुद्धि कुशाग्र थी और इस प्रकार उनके लिए श्रौतसूत्र की अपेक्षा नहीं थी। समय पाकर बुद्धि वैभव कम होने लगा। अथवा भविष्य में लोगों को क्रमबद्ध विधान मिल सके, एतदर्थ ऋषिगणों ने सूत्रग्रन्थ के निर्माण की आवश्यकता समझी। तदनुसार ऋषिगणों ने प्रत्येक वेद के सूत्र का निर्माण किया।

श्रौतसूत्र का प्रयोजन

श्रौतसूत्र में छोटे बड़े अनेक श्रौत याग और उन्हें करने का विधान बतलाया है। श्रौत याग का विधान अति जटिल है। प्रारम्भ से अन्त तक का श्रौतकर्म विधान नियमों से जकड़ा हुआ है। उदाहरणार्थ—"उदिते जुहोति"; उदिते सूर्ये ब्रह्मवरणाद्युपक्रमः दे० प० पृ० २५ अर्थात् सूर्योदय होने पर अग्निहोत्र हवन या याग के निमित्त ऋत्विजों का वरण करना चाहिये। पुरोडाश बनाने के लिए प्रत्येक पुरोडाश के निमित्त चार मुट्ठी आटा लेना चाहिये। उनमें भी प्रथम तीन मुट्ठी समन्त्रक और चौथी मुट्ठी मन्त्र रहित ग्रहण करनी चाहिये। याग करने के निमित्त स्रुचियों को लेकर अध्वर्यु जब जुहोतिस्थान से यजतिस्थान पर जाय तब उसे बायाँ पैर आगे रखते हुए जाना चाहिये। यजतिस्थान से लौटने के समय दाहिना पैर आगे रखते हुए लौटना चाहिये। साथ ही उसे यह भी स्मरण रखना चाहिये कि किसी भी समय वह अपना पैर वेदि में न रखे। इस प्रकार पद पद पर कही गयी विधान की जटिलता का निर्वाह श्रौतसूत्र के बिना नहीं हो सकता। श्रौतयाग विधान पूर्वक हो सके यही श्रौतसूत्र का प्रयोजन है।

श्रौतसूत्र

प्रत्येक वेद के श्रौतसूत्र पृथक् पृथक् रचे गये हैं। ऋग्वेद के शांखायन और आश्वलायन दो श्रौतसूत्र उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद के दो विभाग हैं। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी और कण्व इन दोनों ही शाखाओं के लिए केवल एकमात्र कात्यायन श्रौतसूत्र है। कृष्णयजुर्वेद के आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ, वाराह, वैखानस, मानव, भारद्वाज और वाधूल संज्ञक श्रौतसूत्र हैं। सामवेद के श्रौतसूत्र अनेक हैं। कुछ का प्रकाशन हुआ है और कुछ अभी अमुद्रित अवस्था में हैं। उनमें लाट्यायन, निदात, क्षुद्र, जैमिनि, पंचविध और द्राह्यायण मुद्रित हैं। कल्पसूत्र, कल्पानुपद, अनुपद और अनुस्तोत्र प्रभृति सूत्र अमुद्रित हैं। अथर्ववेद का एक वैतान श्रौतसूत्र है।

प्रतिपाद्य

श्रौतसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय देखा जाय तो साधारण रूप से यह कहा जाता सकता है कि इनके द्वारा श्रौतविधान का प्रतिपादन किया गया है। ये श्रौतकर्म के वस्तुतः कल्प हैं। फिर भी इन सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय में सूक्ष्म भेद भी हैं। उन भेदों की यदि कल्पना करें तो मुख्य रूप से इनके पाँच भेद हो सकते हैं। पहला याजमान कृत्य, दूसरा हौत्र, तीसरा आध्वर्यव, चौथा औद्गात्र और पाँचवाँ ब्रह्मत्व है। इन लोगों के कार्यों का प्रतिपादन विभिन्न श्रौत्रसूत्रों के द्वारा किया गया है। यह विभाग श्रुति के आधार पर होता है। गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ऋग्वेद से हौत्र, यजुर्वेद से आध्वर्यव, सामवेद से औद्गात्र और अथर्ववेद से ब्रह्मत्व करना चाहिये। उनमें अनेक कृत्य हैं और उनका भेद कई प्रकार से हो सकता है। एक याग करने में चारों वेदों की आवश्यकता होती है।

कर्म का त्रैविध्य

होम, इष्टि और याग ऐसे तीन प्रकार कहे हैं। उनमें कुछ प्रकृति, कुछ विकृति और शेष उभयात्मक हैं।

प्रकृति कर्म

जिस कर्म के वर्णन करते समय समस्त अंगों का सविस्तार विवरण किया जाता है उसे प्रकृति कर्म कहते हैं। वे प्रकृति होम, प्रकृति इष्टि या प्रकृति याग कहे जाते हैं। उदाहरणार्थ अग्निहोत्र हवन अन्य हवन की, पौर्णमासयाग अन्य इष्टियों की ओर अग्निष्टोमयाग अन्य यागों की प्रकृति है।

विकृति कर्म

जिनका वर्णन करते समय उसमें होने वाले विशेष कृत्यों का विवरण किया जाता है उन्हें विकृति कहते हैं। इनमें होने वाले समस्त सामान्य कृत्य प्रकृति के अनुसार होते हैं। उदाहरण के लिए उपयद्ढोम अग्निहोत्रहोम की, मित्रविन्दा इष्टि पौर्णमासेष्टि की ओर अग्निष्टोम के अनन्तर होने वाले याग अग्निष्टोमयाग की विकृति है। इसी कारण प्रकृत ग्रन्थ में पौर्णमासेष्टि और अग्निष्टोमयाग का विवेचन विस्तार से किया गया है।

उभयात्मक कर्म

प्रकृति कर्म और विकृति कर्म के सिवा कुछ कर्म ऐसे भी कहे गये हैं जो प्रकृति और विकृति उभयात्मक कर्म कहे जाते हैं। उदाहरण के लिए अग्निष्टोम याग उभयात्मक है। इसमें होनेवाला अग्निषोमीय याग पौर्णमास याग की विकृति होने पर भी अग्निष्टोम याग के अनन्तर होनेवाले यागों का यह प्रकृतिरूप है। फलतः अग्निष्टोम याग में प्रकृति और विकृति इन दोनों के लक्षण रहने के कारण इसे उभयात्मक कहते हैं।[1]

श्रौत अनुष्ठान के चार प्रकार

नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध इन भेदों से श्रौतकर्म चार प्रकार के माने जाते हैं।

नित्य—यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत और ताभ्यां यावज्जीवं यजेत, त्रिंशतं वा वर्षाणि, जीर्णो वा विरमेत्[2] इत्यादि प्रमाणों से जिस कर्म का अनिवार्य रूप से करना विहित है वे नित्य कर्म कहे जाते हैं। उनके न करने से प्रत्यवाय का भागी होना पड़ता है। जैसे—अग्निहोत्र-हवन, दर्शपौर्णमास याग प्रभृति।

नैमित्तिक—जिस अग्निहोत्री के घर में आग लग जाय वह अग्निदेवता-निमित्तक आठ कपाल का पुरोडाश इष्टि में करे[3], इत्यादि वाक्यों से विहित जो कर्म हैं वे नैमित्तिक कहे जाते हैं।

काम्य—किसी प्रकार की कामना से प्रेरित होकर जो कर्म किया जाता है वह काम्य-कर्म है। जिसको श्री, राष्ट्र, मित्र और आयुष्य की कामना हो वह मित्रविन्दा नामक इष्टि करे।[4] 'कारीर्या यजेत वृष्टिकामः' वृष्टि की आवश्यकता हो तो कारीरीनामक इष्टि करे[5]। उपर्युक्त किसी कामना विशेष से किया हुआ कर्म काम्य कर्म कहा जाता है।

शास्त्रों में जिन कार्यों का निषेध किया है वे निषिद्ध कर्म कहलाते हैं।[6] म्लेच्छ, अपवित्र और अधार्मिक व्यक्ति के साथ भाषण न करे[7]। पंखा, शूर्प और हाथ से अग्नि-प्रज्वालन कार्य न[8] करे, इत्यादि वाक्यों से कथित कर्म निषिद्ध कर्म कहे जाते हैं।

---

१. समस्त प्रकृति और विकृतियों को परिशिष्ट में देखें।

२. आप० श्रौ० ३. १४. ११।

३. यस्य गृहान्दहत्यग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्। तै० सं० २. २. २.।

४. मित्रविन्दा श्रीराष्ट्रमित्रायुष्कामस्य। का० श्रौ० ५.१२१।

५. का० श्रौ० ५. १२. १।

६. आ० श्रौ० १९. २७. २३।

७. न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह सम्भाषेत। गौ० ध० १. ९. १७।

८. न पक्षपेनोपधमेत्०। य० पा०श्लो० ६६–६७।

अधिकारी

श्रौतसूत्र में स्पष्टतया यह कहा गया है कि वेद के अध्ययन के अनन्तर वेद में प्रतिपादित अनुष्ठान को करने का अधिकार प्राप्त होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को वेद पढ़ने का अधिकार है। अङ्गहीन, अश्रोत्रिय और शूद्र को अधिकार नहीं है[१]। जो अङ्ग-हीन अन्धा होगा वह आज्यावेक्षण नहीं कर सकता। बहिरा व्यक्ति हवन के मन्त्र को न सुनने के कारण समय पर त्याग नहीं कर सकता। जो मूक होगा वह मन्त्रोच्चारण नहीं कर सकता। पङ्गु व्यक्ति विष्णुक्रमणादि कार्य करने में असमर्थ होता है। जो नपुंसक है वह सर्वदा अशुचि रहेगा। वेद जिसने नहीं पढ़ा है उसे अधिकार नहीं है। वेद न पढ़े रहने के कारण वह सर्वदा अनुष्ठानकार्य में असमर्थ रहेगा। शूद्र भी श्रौतानुष्ठान का अधिकारी नहीं है। कारण जब उसे वेदाध्ययन का ही अधिकार नहीं है तो श्रौतानुष्ठान का निश्चय रूप से उसे अधिकार नहीं है। 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' यह कहकर यद्यपि निषेध किया है, फिर भी श्रौतयाग में आज्या-वेक्षण आदि कार्य पत्नी के लिए विहित है। साथ ही यजमान के समान पत्नी भी दीक्षित होती है[२]। इस प्रकार यद्यपि स्वतन्त्र रूप से स्त्री को अधिकार नहीं है, फिर भी पति के साथ अनुष्ठान का अधिकार है[३]। रथकार को भी अनुष्ठान का अधिकार दिया गया है[४]। क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न माहिष्य कहा है। वैश्य पुरुष और शूद्रा स्त्री से उत्पन्न करिणी कही है। माहिष्य पुरुष और करिणी स्त्री से जो उत्पन्न होता है वह रथकार कहलाता है[५]। रथकार भी यजमान होने का अधिकार रखता है[६]।

यद्यपि उपर्युक्त रूप से सभी कथित व्यक्ति याग में यजमान होने के अधिकारी होते हैं किन्तु ऋत्विज का काम केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि हवि के शेष का भक्षण और सोमरस के पान का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही दिया गया है[७]। इस प्रकार भक्षण के निषेध करने से आर्त्विज्य का निषेध प्राप्त हो जाता है। क्योंकि याग में हविः-शेष का भक्षण नित्य है। इसी तरह श्रुति में देखा जाता है कि दो ही देवता हैं[८]। देव और

---

१. ब्राह्मणराजन्यवैश्यानां श्रुतेः, का० श्रौ० १. १. ६।

२. मेखलया यजमानं दीक्षयति, योक्त्रेण पत्नीम्। तै० सं० ६. १. ३।

३. नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
शुश्रूषयति भर्तारं तेन स्वर्गे महीयते॥ मनु० ५.१५५।

४. रथकारस्याधाने। का० श्रौ० १. १. ९।

५. माहिष्येण करिण्यान्तु रथकारः प्रजायते। याज्ञ० ४.९५।

६. वर्षा रथकारस्य। आप० श्रौत. ५. ३. १७।

७. तद्वै नाब्राह्मणः पिबेत्। श० ब्रा० २. ३. १. ३९।

८. द्वया वै देवा देवाः०, आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति, दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान्। श० ब्रा० २. १. ६. ६।

महीदेव। आहुति से देवता प्रसन्न होते हैं और दक्षिणा से ब्राह्मण प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार यज्ञ में दक्षिणा पाने के अधिकारी केवल ब्राह्मण ही हैं। बिना दक्षिणा के यज्ञ की सफलता नहीं है। फलतः ब्राह्मण ही यज्ञ में आर्त्विज्य के अधिकारी हैं। इस तरह यजमान और ऋत्विजों के द्वारा अनुष्ठेय कार्य श्रौतसूत्र का प्रतिपाद्य विषय है।

यजमान

यजमान के द्वारा किया जाने वाला अनुमन्त्रण, अभिमन्त्रण आदि प्रत्येक कार्य उसी श्रौतसूत्र के अनुसार होना चाहिए जो स्वयं यजमान का श्रौतसूत्र हो। यजमान के उसी श्रौत-सूत्र का अनुसरण ऋत्विजों के श्रौतसूत्र करते हैं।

ऋत्विज

'ऋत्विजि हि सर्वो यज्ञः प्रतिष्ठितः'[1] इस वचन के अनुसार किसी याग को व्यवस्थित और साङ्गोपाङ्ग करने का उत्तरदायित्व ऋत्विजों पर निर्भर है।[2] वे चाहें तो यजमान के अनुकूल और चाहें तो प्रतिकूल फल को देने वाले याग का विधान कर सकते हैं। इसलिए ऋत्विजों को बहुत सावधानी से याग के कार्यों को करना चाहिए। इन लोगों का लक्ष्य यही होना चाहिए कि जिस प्रकार हो सके, साङ्गोपाङ्ग और अनुकूल फलदायक याग हो। इतना ही नहीं, इन लोगों का एक याग में एक साथ आर्त्विज्य करने के कारण एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। याग में एक 'तानूनप्त्र' विधि है जिसमें ऋत्विजों के द्वारा आज्य को छूकर शपथ ग्रहण करना विहित है। अग्निष्टोम याग के तानूनप्त्र विधान में यही दिखलाया गया है। इस विधान के द्वारा ऋत्विज लोग आज्य का स्पर्श करके परस्पर मैत्रीपूर्ण व्यवहार-पुरस्सर याग को समाप्त करने का शपथ ग्रहण करते हैं। इस विधान का इतना अधिक महत्त्व है कि याग के समाप्त होने पर चाहे जितने भी वर्ष बीत गये हों, किन्तु एक साथ आर्त्विज्य करने-वालों में से यदि किसी एक का मृत्यु हो जाय तो उस उपलक्ष्य में दूसरों को अध्ययन का अनध्याय करना पड़ता है।

परिग्रह

यह पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक ऋत्विज का अपना-अपना वेद निश्चित है। इसी प्रकार श्रौतसूत्र भी निश्चित है। यद्यपि ऋग्वेद के शाङ्खायन और आश्वलायन दो श्रौत-सूत्र उपलब्ध होते हैं, किन्तु कात्यायन के अनुसार जहाँ आध्वर्यव हो रहा हो वहाँ आश्वलायन के अनुसार हौत्र नहीं हो सकता। उसे शाङ्खायन हौत्र का परिग्रह करना अनिवार्य है। इसी प्रकार उपर्युक्त स्थान में कौथुम शाखा के अनुसार ही औद्गात्र होना चाहिए। शौनकानुसारी ब्रह्मत्व होना चाहिए। इसकी तालिका इस प्रकार है।

---

१. ऐ० ब्रा० २. ९. ८।

२. अग्न्याधेयं पाकयज्ञान् अग्निष्टोमादिकान् मखान्।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते॥ मनु० २.१४३।
यः पाकयज्ञादिकं वृतः करोति स ऋत्विक्। या० स्मृ० मि० आ० २.३५।

यजमान	होता	अध्वर्यु	उद्गाता	ब्रह्मा
शाङ्खायन	शाङ्खायन	कात्यायन	लाट्यायन	वैतान
कात्यायन	शाङ्खायन	कात्यायन	लाट्यायन	वैतान
लाट्यायन	शाङ्खायन	कात्यायन	लाट्यायन	वैतान
वैतान	शाङ्खायन	कात्यायन	लाट्यायन	वैतान

ऋत्विजों की आवश्यक सङ्ख्या

किस याग में कितने ऋत्विज अपेक्षित हैं, इसकी भी जानकारी आवश्यक है। वह इस प्रकार है—

१. अग्निहोत्र-हवन	१	२. दर्शपौर्णमासयाग	४
३. चातुर्मास्ययाग	५	४. सौत्रामणीयाग	६
५. अग्निष्टोमयाग	१६	६. शेषयाग सत्र आदि	१६

यहाँ ऋत्विजों की जो संख्या दिखलाई है वह प्रमुख ऋत्विजों की है। इसके सिवा अग्निष्टोम प्रभृति यागों में अन्य ऋत्विज और याग के सहायक होते हैं। उन्हें उपर्त्विज कहते हैं। जैसे, उपोद्गाता, चमसाध्वर्यु प्रभृति।

ऋत्विजों के गण

छोटे यागों में विधान की न्यूनता रहने के कारण थोड़े ऋत्विजों से काम चल जाता है। वही विधान जिस अनुपात से बढ़ता जाता है उसी अनुपात से ऋत्विजों की संख्या में वृद्धि होती है। वह संख्या सोलह में समाप्त हो जाती है। श्रौतयाग चाहे जितना बड़ा हो ऋत्विजों की संख्या में इससे अधिक वृद्धि नहीं हो सकती।

इन सोलह ऋत्विजों में भी परस्पर गौण मुख्यभाव है। तदनुसार चार गण कहे गये हैं। प्रत्येक गण में चार व्यक्ति होते हैं। उस गण के नाम एवं उनका क्रम इस प्रकार है—

१. अध्वर्युगण	२. ब्रह्मगण	३. होतृगण	४. उद्गातृगण
१ अध्वर्यु	१ ब्रह्मा	१ होता	१ उद्गाता
२ प्रतिप्रस्थाता	२ ब्राह्मणाच्छंसी	२ मैत्रावरुण[1]	२ प्रस्तोता
३ नेष्टा	३ आग्नीध्र	३ अच्छावाक	३ प्रतिहर्ता
४ उन्नेता	४ पोता	४ ग्रावस्तुत्	४ सुब्रह्मण्य

उपर्युक्त क्रम से ही दक्षिणा का विभाग किया जाता है। एक संख्याङ्कित चार व्यक्तियों को पूरी दक्षिणा दी जाती है। तदनुसार उन्हें पूर्णी कहते हैं। दो संख्यावालों को प्रथम से आधी दक्षिणा देते हैं और उन्हें अर्धी कहते हैं। तीन संख्या वालों को प्रथम से तृतीयांश दक्षिणा देकर उन्हें तृतीयी कहते हैं। चार संख्यावाले चार व्यक्तियों को प्रथम की अपेक्षा चौथाई

---

१. प्रशास्ता इसका नामान्तर है।

दक्षिणा दी जाती है और उन्हें पादी कहा जाता है। उदाहरणार्थ, अग्निष्टोम याग में एक सौ गौ दक्षिणा देने का विधान है। दक्षिणा-विभाग का क्रम इस प्रकार होगा—एक संख्यावाले चार को बारह-बारह गौ देने से ४८ हुई। दो संख्यावाले चार को प्रथम से आधी छह-छह गौ देने से २४ हुई। तीन संख्यांकित चार व्यक्तियों को प्रथम से तृतीयांश ४-४ गौ देने से १६ हुई और चार संख्यावाले चार व्यक्तियों को प्रथम से चतुर्थांश तीन-तीन गौ देने से १२ हुई। इस तरह एक सौ गौ का वितरण करना चाहिए। इसी प्रकार वस्त्र, हिरण्य और अन्नादिक का विभाग अपेक्षित है। अश्वमेध याग में विजय द्वारा प्राप्त द्रव्य का दक्षिणा के निमित्त दिशापरक विभाग होता है। पूर्व से प्राप्त द्रव्य होता और उसके सहायकों को, दक्षिण से प्राप्त ब्रह्मगण को पश्चिम से प्राप्त अध्वर्युगण को और उत्तर से लब्ध द्रव्य उद्गातृगण को दिया जाता[1] है।

ऋत्विजों के कार्य

प्रत्येक वेद और श्रौतसूत्र के अनुसार ऋत्विजों के कार्य विभिन्न प्रकार से निश्चित किये गये हैं।

ब्रह्मा

यज्ञिय विधान के अनुसार यह प्रथम श्रेणी का ऋत्विज है। क्रिया करनेवालों की तुलना में यद्यपि यह उतना ऊँचा ऋत्विज नहीं है, तथापि इसका कार्य उत्तरदायित्वपूर्ण है। याग की सविधि समाप्ति का उत्तरदायित्व इसी पर है। अध्वर्यु जैसे प्रमुख ऋत्विज को भी इसकी अनुमति से कार्य करना पड़ता है। किसी भी ऋत्विज से जान में या अनजान में की गयी त्रुटि को सँभालने का काम इसीका है। जिस समय याग में त्रुटि हो उसी समय आगे होनेवाले कार्यों को वहीं रोक देता है। पहले प्रायश्चित्त के द्वारा उस त्रुटि का निराकरण कर लेने के बाद आगे के कार्य किये जाते हैं। उसे दत्तचित्त होकर याग में होनेवाले प्रत्येक कार्य की देख-रेख करनी पड़ती है। उसका आसन आहवनीय से दक्षिण में होता है और वह याग की त्रुटि को दूरकर याग को सम्पन्न करता है। उसके गण के तीनों सहायक ऋत्विज भी याग के विभिन्न कार्यों का सम्पादन करते हैं।

ब्राह्मणाच्छंसी—वास्तव में यह ब्रह्मा का सहायक ऋत्विज है। आवश्यकतानुसार याज्या और पुरोनुवाक्या पढ़ने में यह सहायता करता है। कदाचित् आवश्यकता पड़ने पर प्रतिनिधि के रूप में ब्रह्मा का कार्य भी यह करता है।

आग्नीध्र—यह ब्रह्मा का सहायक है। परन्तु कार्यरूप में इसे अध्वर्यु की सहायता करनी पड़ती है। याग के निमित्त अग्नि को प्रदीप्त करना इध्मा और बर्हि को लाकर यथा-स्थान रखना, पुरोडाश-निर्माण के निमित्त गरम पानी देना और पात्रों का सम्मार्जन प्रभृति कार्य इसे करने पड़ते हैं। यह याग के समय हाथ में वज्र लेकर आहवनीय से ईशान कोण में खड़ा रहता

---

१. विजयमध्याद्धोतुः प्राची० । का० श्रौ० २०.४.२७ ।

है। अग्निष्टोम याग में तो अध्वर्यु के आदेशानुसार इसे पुरोडाश-निर्माण के सिवा अन्यकार्य भी करने पड़ते हैं। पशु को जब शामित्रशाला में ले जाते हैं उस समय हाथ में अग्नि लिये हुए यह पशु का अग्रचारी होता है। वस्तुतः यह याग का प्रबन्धक और शस्त्रधारी ऋत्विज है।

पोता—यह ब्रह्मा का सहायक ऋत्विज होने पर भी इसकी सहायता का अधिकांश भाग होता को प्राप्त होता है। मैत्रावरुण के प्रैष के अनुसार यह याज्या का पाठ करता है।

होता

यह याग का प्रमुख ऋत्विज है। यह अपने गण का प्रथम है। इसके सहायक अन्य तीन ऋत्विज रहते हैं। अध्वर्यु को जिस देवता का याग करना अपेक्षित होता है वह होता को प्रैष देता है। तदनुसार होता पुरोऽनुवाक्या और याज्या पढ़ता है। याज्या के अन्त में जब "वौषट्" का पाठ हो तभी अध्वर्यु को अग्नि में हविर्द्रव्य छोड़ना चाहिए। यही देवता का आवाहन करता है और देवता की स्तुतिपरक सूक्तवाक का पाठ करता है। सोमसंस्था से पूर्व के यागों में होता का कार्य अधिक नहीं रहता। सोमयाग अथवा उसके बाद होनेवाले यागों में तो शस्त्र का पाठ करने में इसको अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। कई शस्त्रों में तो एक हजार से भी अधिक मन्त्र हैं। विहित स्वरों में अविच्छिन्न रूप से शस्त्रों का पाठ करना इसका कर्त्तव्य है। एतदर्थ इसका हृदय दृढ़ होना चाहिए। उच्च स्वर में सतत गति से इतने मन्त्रों का पाठ करना कोई साधारण काम नहीं है। इसके कण्ठ में सुरीलापन भी होना आवश्यक है। यह अपना कार्य ऋग्वेद के अनुसार करता है। मन्त्रों को पढ़ते समय बीच-बीच में रुकने के स्थान निश्चित हैं। तदतिरिक्त स्थान में रुकना अशास्त्रीय है और यह श्रौत का निजी विधान है।

उपर्युक्त नियम को न मानकर यदि वह अनिर्दिष्ट स्थान में अपना पाठ रोक देता है तो उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है। कहीं-कहीं पर तो रुकने का स्थान बहुत दूर रहता है। वहाँ तक का पाठ एक ही श्वास में होना चाहिये। प्रथम, मध्यम और उत्तम तीन सवन हैं। जहाँ जो सवन निर्दिष्ट है उसी सवन में उन मन्त्रों का पाठ होना चाहिए। पढ़ते हुए गले में खरखराहट पैदा न होनी चाहिए और न गला बैठना ही चाहिए। इसके सहायक तीन ऋत्विज और होते हैं। इस ऋत्विज को मन्त्रपाठ करने में बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता है। यदि याग को सभा का स्थान दिया जाय तो निश्चित ही इसका स्थान स्वागताध्यक्ष का है।

मैत्रावरुण—यह तीनों सहायकों में होता का प्रमुख सहायक है। सोमयाग के देवयजन में हविर्द्धान मण्डप से पश्चिम में सदोमण्डप रहता है। सदोमण्डप में दक्षिणार्द्ध में एक औदुम्बरी शाखा गाड़ी जाती है। यह शाखा यजमान के मुख तक ऊँची रहती है। मैत्रावरुण के हाथ में मुख तक ऊँचा औदुम्बर काष्ठ का एक दण्ड रहता है। दण्ड को हाथ में लिये हुए वह औदुम्बरी शाखा के निकट खड़ा रहता है। अध्वर्यु इसे मन्त्रपाठ करने का प्रैष करता है। तदनुसार वह स्वयं अपने मन्त्रों का पाठ करते हुए होता को मन्त्र पढ़ने की प्रेरणा करता है।

अच्छावाक—यह होता का द्वितीय सहायक ऋत्विज है। इसे पढ़ने के लिए शस्त्र के मन्त्र निश्चित हैं। उन्हीं मन्त्रों का पाठ करना इसका कर्तव्य है।

ग्रावस्तुत्—यह होतृगण का तृतीय सहायक ऋत्विज है। सोम कूटने के समय पत्थर की स्तुति करना इसका प्रमुख कार्य है। जिस समय यह मन्त्रों का पाठ करता है उस समय उसकी आँखों में पट्टी बाँध दी जाती है। प्राचीन संस्कृति ने सोमलता को राजा का स्थान दिया है। ग्रावस्तुत् की दृष्टि में राजा पर प्रहार करना कठोर कृत्य है। यह ऋत्विज अत्यन्त कोमल हृदय रखता है और यही कारण है कि वह इस कार्य को अपनी आँखों देखना नहीं चाहता। श्रौतविधान के द्वारा विहित कार्य से वह बाध्य है और इसीलिए वह अपनी आँखों में पट्टी बाँध लेता है। उसी हालत में मन्त्रपाठ करता है। सोमलता की पगड़ी उसे उपहार स्वरूप दी जाती है।

उद्‌गाता

यह अपने गण का प्रमुख और प्रथम श्रेणी का ऋत्विज है। यह सामवेद के श्रौतसूत्र का अनुसरण करता है। सामवेद के मन्त्रों का गान करते हुए वह देवता की स्तुति करता है। यह जिन मन्त्रों का गान करता है उसे 'स्तोत्र' कहते हैं। अग्न्याधान में भी इसके द्वारा मन्त्रों का गान होता है। सोमयाग के सामान्य स्थलों में गान करने के समय प्रस्तोता नामक ऋत्विज इसका सहायक होता है। यह पशु के अङ्गशेष का प्राशन नहीं करता। अपने साथियों के साथ सोमपान करने का यह विशेष प्रेमी है। अन्य ऋत्विजों की अपेक्षा इसका अधिक सम्मान रखना पड़ता है। उद्‌गाता साम का गायन करता है और सर्वप्रथम सोमरस का याग करता है। इन सब दृष्टियों से इस ऋत्विज का महत्त्व अधिक है।

प्रस्तोता—यह उद्‌गाता के सहायक ऋत्विजों में प्रमुख है। सोमयाग प्रभृति यागों की दीक्षणीया आदि इष्टियों में यही सामगान करता है। प्रवर्ग्य-विधान के समय सामगान करना इसका काम है। सोमयाग में देवता की स्तुति की जाती है। सामगान के मन्त्रों से जो स्तुति की जाती है उस गान के मन्त्र के पाँच अंश हैं। इनके नाम उद्‌गीथ, प्रस्ताव, प्रतिहार, उपद्रव और निधन[1] हैं। इनमें से प्रस्ताव के अंश का गान यही करता है। सामगान के मन्त्रों में मन्त्र की कई आवृत्ति की जाती है। इन आवृत्तियों को याद रखने के लिए औदुम्बरी के आगे वह एक कपड़ा बिछाता है। उस पर विष्टुतियों को यथाक्रम जमा कर रखते हैं। मन्त्र की आवृत्तियों का विस्मरण न हो, एतदर्थ ऐसा करना अनिवार्य हो जाता है।

प्रतिहर्त्ता—यह उद्‌गाता का सहायक है। मुख्य देवता के उद्‌देश्य से जिन मन्त्रों का गान होता है उन मन्त्रों का एक अंश प्रतीहार है। उस अंश का गान यही ऋत्विज करता है। प्रतीहार संज्ञक अंश का गान करने के कारण इसे प्रतिहर्त्ता कहते हैं।

सुब्रह्मण्य—यह उद्‌गाता का सहायक ऋत्विज है। सोमलता को खरीदने के बाद उसे छायादार रथ पर रखते हैं। रथ को हाँककर यह ऋत्विज प्राग्वंशमण्डप की ओर ले जाता है।

---

१. लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत। पृथिवी हिङ्कारः। अग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्‌गीथ आदित्य प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु। छा० उ० २.२.१।

सोमयाग में इन्द्र की स्तुति करना और इन्द्र को बुलाना इसी ऋत्विज का कार्य है। जिस समय यह सुब्रह्मण्य साम का गान करता है उस समय यजमान का तथा यजमान के पितृ, पितामह, प्रपितामह और पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र प्रभृति का नामोल्लेखपुरस्सर परिचय देता है कि अमुक व्यक्ति अमुक याग कर रहा है।

अध्वर्यु

श्रौतयाग का यह प्रमुख ऋत्विज है। कार्यकलाप की दृष्टि से इसका कार्य सभी ऋत्विजों से कठिन है। इसी ऋत्विज के कार्यकलाप को विशेषरूप से प्रस्तुत करना कात्यायन श्रौतसूत्र का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। यज्ञिय क्रियाकलाप को सफल बनाने में इसका हाथ प्रमुख है। यदि श्रौतयाग के दर्शनार्थ किसी विद्वान् को निमन्त्रित किया जाय तो वह पहले यही प्रश्न करता है कि 'कौन याग है और अध्वर्यु कौन है?' इसी प्रश्न के उत्तर से प्रश्नकर्ता याग का मूल्याङ्कन कर लेता है।

प्रतिप्रस्थाता—अध्वर्यु के सहायकों में यह प्रमुख है। यह सर्वदा अध्वर्यु के साथ रहता है। सोलह से कम ऋत्विजवाले यागों में भी जहाँ दो वेदियों में एक साथ याग होता है, जैसे चातुर्मास्ययाग और सौत्रामणीयाग प्रभृति। उनमें एक वेदि में अध्वर्यु और दूसरी में यही कार्य करता है। इस प्रकार ये दोनों ऋत्विज एक साथ याग करते हैं। इसे अध्वर्यु से कुछ कम और अपने कार्य की पूर्ण जानकारी अपेक्षित है।

नेष्टा—यह अध्वर्यु के सहायकों में दूसरा है। सोमलता कूटने में यह अध्वर्यु की सहायता करता है। पत्नीशाला से यजमान-पत्नी को देवयजन में उपस्थित करना भी इसका कार्य है।

उन्नेता—यह अध्वर्यु का तीसरा सहायक ऋत्विज है। यह कूटी हुई सोमलता को पात्र में छोड़ता है और पुनः कूटने के स्थान पर ले आता है। चमस-पात्रों को सोमरस से भरकर याग के निमित्त प्रस्तुत करना इसका प्रमुख कार्य है। अतिग्राह्य और हारियोजन संज्ञक याग की आहुतियाँ यही देता है। पहले कहा जा चुका है कि बड़े-बड़े यागों में ऋत्विजों की संख्या सोलह रहती है। इसके सिवा कुछ सहायक ऋत्विज और भी हैं जिनका नाम और कार्य इस प्रकार है—

सदस्य—याग में इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। वेदि के निकट बैठकर यज्ञिय कार्य का निरीक्षण करना इसका कर्त्तव्य है। यज्ञ के प्रत्येक कार्य को व्यवस्थित रूप से करना एक जटिल विषय है। उसे संभालना ब्रह्मा का काम है। यदि कहीं पर ब्रह्मा की निगाह से भी किसी ऋत्विज का प्रमाद चूक जाय तो उसे भी संभालने का कार्य इसी ऋत्विज का है। इस व्यक्ति का विशिष्ट विद्वान् होना आवश्यक है।

चमसाध्वर्यु—सोमयाग में चमसाध्वर्यु इस एक ही नामवाले दस ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। इन्हें उपर्त्विज कहते हैं। अध्वर्यु जब सोमरस का याग करके पात्र को

खाली कर देता है तो उसी समय सोमरस से उस पात्र को भर देना, सोमरस के पान के समय प्रत्येक ऋत्विज के पास उनके चमसपात्रों को पहुँचाना, सोमपान के अनन्तर चमसपात्रों को मार्जालीया शाला में धोकर उन्हें यथास्थान रखना आदि कार्य इन्हीं दसों ऋत्विजों का काम है। अध्वर्यु द्वारा किये गये सोमरस के याग के अनन्तर ये दसों चमसाध्वर्यु नामक ऋत्विज सोमरस का याग करते हैं। इनकी गणना सहायकों में की गयी है। ये चमसपात्र से सम्बद्ध कार्य करते हैं।

ध्रुवगोप—सोमयाग में हविर्धान के पूर्व में ध्रुवसंज्ञक एक ग्रहपात्र रखा जाता है। यह सोमरस से पूर्ण होता है। इसकी रक्षा करना इस उपर्त्विज का कार्य है।

पशुपाल—यज्ञ में हवि के रूप में, दक्षिणा के रूप में अथवा दूध, दही, वाजिन और आमिक्षा के निमित्त एवं स्वर्ण, स्वर्णाभूषण, अश्व, अज, गौ और हाथी प्रभृति अनेक पदार्थों की और पशुओं की आवश्यकता होती है। उनको संभालना, यथासमय दाना-पानी देते हुए उनकी देख-रेख करना और यथासमय आवश्यक वस्तु या पशु को उपस्थित करना इस व्यक्ति का कार्य है। यह वैश्य जाति का होना चाहिए।

दोग्धा—याग के लिए यथासमय दूध दूहना और याग के निमित्त उसे उपस्थित करना इसका काम है।

शमिता—यज्ञ के निमित्त पशु का संज्ञपन करना पड़ता है। तदर्थ शमिता अपेक्षित है।

हविष्कृत्—चावल, जव आदि हविर्द्रव्य को साफ करके उसे पीसकर हवि के निमित्त आटा तैयार कर देना प्रभृति इस ऋत्विज का प्रमुख काम है।

वेदों से सम्बद्ध श्रौतपरम्परा

सूत्रकाल में प्रत्येक श्रौतसूत्रों के अनुसार यज्ञ सम्बन्धि कर्म होते थे। यदि ऐसा न होता तो इस समय उपलब्ध जितने श्रौतसूत्र हैं, उन की आवश्यकता ही क्या थी। इस विषय में इस समय जिन श्रौतसूत्रों के अनुसार याग हो रहे हैं, वे इस प्रकार हैं। ऋग्वेद का शाङ्खायन श्रौत-सूत्र है। यह गुजरात में अथवा गुर्जर ब्राह्मणों में प्रचलित है। इसी वेद का आश्वलायन श्रौत-सूत्र है, जो प्रायः दक्षिण में महाराष्ट्र प्रदेश और महाराष्ट्र आदि जाति में प्रचलित है। शुक्ल-यजुर्वेद के कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार प्रायः गुजरात में और उत्तर भारत में याग होते हैं। कृष्णयजुर्वेद के आपस्तम्ब, बौधायन और वैखानस श्रौतसूत्र का अनुसरण करने वाले लोग प्रायः दक्षिण में हैं। सामवेद का द्राह्यायण प्रभृति श्रौतसूत्रों का उपयोग करने वाले लोगों का निवास भी प्रायः दक्षिण में है। यद्यपि यह व्यवस्था प्राचीन कालीन है, जिस समय आवागमन की सुविधा विरल थी। वर्तमान समय में अपने प्रान्त को छोड़ कर लोग दूसरे प्रान्त में रहने लग गये हैं। इस परिस्थिति में श्रौतसूत्रों के परिग्रह की शास्त्र सम्मत व्यवस्था वही है जो प्राचीन समय में थी। यहाँ ध्यान देने योग्य एक बात और भी है कि किसी भी ऋत्विज का श्रौतसूत्र यजमान के श्रौतसूत्र का ही अनुसरण करेगा।

किसी भी श्रौतसूत्र के अनुसार याग करने वाले यजमान को अन्य जिन ऋत्विजों की अपेक्षा है उनका श्रौतसूत्र भी यजमान के श्रौतसूत्र के अनुकूल रहेगा। इसका तात्पर्य यह है कि

यजमान ऋक्, यजुः, साम अथवा अथर्व चाहे जिस वेद का हो और उसका जो भी श्रौतसूत्र हो, उसी वेद और श्रौतसूत्र के अनुसार ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु या उद्गाता इन सभी के श्रौतसूत्र रहेंगे। उदाहरणार्थ–यदि यजमान ऋग्वेदी हो और उसका याजमान कृत्य शाङ्खायन श्रौतसूत्र के अनुसार हो रहा हो तो अवश्य ही उस याग में हौत्र भी शाङ्खायन श्रौतसूत्र के अनुसार होगा। आध्वर्यव कात्यायन के अनुसार और औद्गात्र लाट्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार विहित है। यजमान चाहे जिस श्रौतसूत्र का अनुयायी हो किन्तु अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण के प्रमाण से प्रत्येक यजमान के यहाँ ब्रह्मत्व करने वाला अथर्ववेदी, चतुर्वेदोक्त श्रौत विधान को जानने वाला और वैतान श्रौतसूत्र का अनुयायी होना चाहिए।

इतना होने पर भी आज जहाँ भी याग होते हैं, वहाँ ब्रह्मत्व करने वाला व्यक्ति यजमान के सूत्र का ही अनुसरण करता है। इसका कारण यही समझ में आता है कि अथर्ववेद की श्रौतपरम्परा प्रायः लुप्त हो चुकी है, क्योंकि अथर्ववेद के वैतान श्रौतसूत्र के अनुसार यजमान का कृत्य और ब्रह्मा का प्रयोग चल सकता है। उसमें याजमान कृत्य करने वाला तो आज पूरे भारतवर्ष में ढूंढ़ने पर भी प्रायः उपलब्ध नहीं है। रहा ब्रह्मत्व, सो जहाँ भी श्रौतयाग होता है वहाँ यजमान के श्रौतसूत्र का ही अनुसरण पाया जाता है। आश्चर्य और दुःख की बात तो यह है कि निन्यानबे प्रतिशत अथर्ववेदी अपने दैनिक आह्निक कृत्य को भी शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता और पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार ही कर रहे हैं। जब उनके आह्निक कृत्य की यह स्थिति है तो श्रौत विधान की बात तो कोसों दूर है। आवश्यकता इस बात की है कि अथर्ववेदीय श्रौत एवं स्मार्त्त कर्मकाण्ड प्रकाश में लाया जाय।

कात्यायन श्रौतसूत्र में दर्शपूर्णमास याग से अग्निष्टोम याग तक का ब्रह्मत्व सम्पादन करने का विधान किया गया है। उसी प्रकार कात्यायन के बनाये हुए हौत्र परिशिष्ट में अग्निष्टोम याग पर्यन्त याजुष प्रकृति से हौत्र का विधान है। परन्तु 'यज्ञं व्याख्यास्यामः' और 'स त्रिभिर्वेदैः' अर्थात् 'ऋचा हौत्रम्, यजुषाध्वर्यवम्, साम्नौद्गात्रम्' इस विधान के होते हुए भी कात्यायन ने ऐसा क्यों किया यह विचारणीय है। हो सकता है कि उन्हें कहीं उसका आधार मिला हो। इस विषय में साधक प्रमाण एक और भी है। जहाँ तक का हौत्र का प्रयोग कात्यायन ने कहा है उसके आगे के श्रौतयागों में आज भी कात्यायनमतानुसारी लोगों के यहाँ भी हौत्र का प्रयोग शाङ्खायन श्रौतसूत्र के अनुसार ही किया जाता है। उदाहरण के लिए, आज अप्तोर्याम, सर्वपृष्ठाप्तोर्याम अथवा साग्निचित् सर्वपृष्ठाप्तोर्याम जैसे श्रौतयागों में कात्यायनानुसारी यजमान के यहाँ भी शाङ्खायन श्रौतसूत्र के अनुसार ही हौत्र प्रयोग होता है। क्योंकि इन यागों का हौत्र प्रयोग कात्यायन ने याजुष प्रकृति से कहीं भी नहीं दिखाया है यह बात मानी जा सकती है कि कात्यायन श्रौतसूत्र में कहे हुए पूरे श्रौत अनुष्ठानों के हौत्र प्रयोग के बनाने की अभिलाषा कात्यायन की रही हो और ये अग्निष्टोम पर्यन्त ही बना सके हों। इस परिस्थिति में 'ऋचा हौत्रं' इस श्रुति का सामञ्जस्य बैठाना होगा। याग के ऋत्विजों में होतृगण के ऋत्विज ऋग्वेद और शाङ्खायन श्रौतसूत्र के अनुसार शंसन कार्य करते हैं। अध्वर्युगण के लोग अपना कृत्य

यजुर्वेद और यजुर्वेदीय कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार करते हैं। सामवेद और उस वेद के लाट्यायन प्रभृति श्रौतसूत्र के अनुसार उद्गातृगण का कार्य होता है। ब्रह्मा का समस्त कर्म अथर्ववेदानुकूल होना चाहिए। इस प्रकार यदि दृष्टिपात किया जाय तो श्रौतकर्म का सम्बन्ध चारों वेदों से है। यह विधान शाङ्खायन, कात्यायन, कौथुम और शौनकमतानुसारी यजमानों के लिए सार्वत्रिक अनुसरणीय है।

श्रौतपरम्परा

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रौतयाग की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में यज्ञ का नाम और उसका संक्षिप्त विवरण देखने में आता है। ऋग्वेद के कथनानुसार सर्वप्रथम देवताओं ने याग किया था। वहाँ यज्ञिय हविर्द्रव्य, यजमान और याग आदि का नाम देखने को मिलता है। उस यज्ञ से क्या उत्पन्न हुआ इसका भी वर्णन वहाँ है। प्राचीनता की दृष्टि से यहीं से श्रौतयाग की जानकारी का श्रीगणेश होता है। वहाँ याग का विशेष विवरण न मिलने के कारण यही प्रतीति होती है कि उन ऋषि लोगों ने इन श्रौतयागों का समस्त विधान ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के आधार पर कण्ठस्थ सुरक्षित रखा था।

श्रौतकर्मानुष्ठान के जटिल एवं श्रमसाध्य होने के कारण सामान्य जनता के लिए धर्मानुसन्धान के हेतु कतिपय यागों की प्रवृत्ति और विस्तार स्मृतिकल्प से भी हुई और स्मार्त्त और श्रौत नाम से याग के दो प्रकार हो गये। 'भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा' इस पारस्कर गृह्यसूत्र के वचन के आधार पर पाणिग्रहण संस्कार के साथ स्मार्त्ताग्नि का परिग्रह विहित है। स्मार्त्ताग्नि को आवसथ्याग्नि भी कहते हैं। इस अग्नि पर प्रतिदिन सायङ्काल और प्रातःकाल औपासन हवन किया जाता है। मध्याह्न के समय वैश्वदेव विहित है। प्रत्येक प्रतिपदा को ओदन से स्थालीपाक कृत्य होता है। सातों पाकसंस्था का अनुष्ठान इसी अग्नि पर किया जाता है। इसके अनन्तर 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्निमादधीत' इस वचन के आधार पर प्रथम पुत्र-जन्म होते ही श्रौताग्नि के परिग्रह का अधिकार मिलता है।

श्रौताग्नि परिग्रह से पूर्व उसे ऋत्विक्-सम्पत्ति एकत्र करनी चाहिए। उपर्युक्त ऋत्विक् सम्पत्ति के मिलने पर ही इस श्रौत अनुष्ठान में सफलता मिल सकती है। श्रौताग्नि पर किये जाने वाले याग ऋत्विजों पर ही निर्भर रहते हैं। श्रौताग्नि के परिग्रह के अनन्तर यजमान का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है। सर्वप्रथम तो जहाँ उसे एक स्मार्त्ताग्नि का संरक्षण करना पड़ रहा था वहाँ कम से कम दो श्रौताग्नि का संरक्षण और बढ़ जाता है। स्मार्त्ताग्नि पर होने वाले अनुष्ठानों को वह अकेले ही कर लेता था। परन्तु श्रौतानुष्ठान के लिए उसे ऋत्विजों पर निर्भर रहना पड़ता है। यथासमय दूसरों से अपने अनुकूल कार्य करा लेना कितना कठिन होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

श्रौतानुष्ठान

श्रौताग्नि के परिग्रह के अनन्तर श्रौतानुष्ठान प्रारम्भ होता है। अग्निहोत्री को प्रति-

दिन सायं प्रातः अग्निहोत्र हवन करना पड़ता है। प्रतिपक्ष दर्शपौर्णमासयाग, प्रतिमास अमावास्या को पिण्डपितृयज्ञ, प्रत्येक तीन महीने पर चातुर्मास्ययाग का वैश्वदेव प्रभृति एक-एक पर्वका अनुष्ठान प्रति अयनारम्भ पर पशुबन्धयाग, वर्ष में चार बार आग्रयणेष्टि और प्रतिसंवत्सर सोमयाग का अनुष्ठान करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। इसके सिवाय दूसरे नित्य, नैमित्तिक और काम्य अनुष्ठानों को भी वह करता है। इस प्रकार करते हुए सत्र के पूर्व के अनुष्ठानों को तो अग्निहोत्री यजमान ऋत्विजों के भरोसे कर लेता है। सत्र के अनुष्ठानों में उसका उत्तर-दायित्व पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि अब तक उसे केवल यजमान के ही कृत्यों का ध्यान रखना पड़ता था, पर सत्र में उसे ऋत्विज का भी काम करना पड़ता है। आर्त्विज्य करने का अधिकार केवल ब्राह्मण वर्ण को ही होने से सत्र में यजमान ही आर्त्विज्य करते हैं। सत्र का अनुष्ठान दीर्घकालीन होने के कारण सत्र के समाप्त होने तक वह किसी प्रकार का अन्य कार्य नहीं कर सकता है।

श्रौत के आचार्य

ऋषिगणों को समस्त ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के आधार पर श्रौतविधान कण्ठस्थ रहने के कारण किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। समय पाकर उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि श्रौतविधान की जटिलता बहुत अधिक है। भावी सन्तानों के सम्मुख यदि इन नियमों एवं विधानों को श्रृङ्खलाबद्ध न रखा गया तो श्रौतविधान का सुरक्षित रहना कठिन हो जायेगा। इस आवश्यकता की पूर्ति के हेतु उन ऋषियों ने श्रौतसूत्रों की रचना की। ये ही ऋषिगण श्रौतसूत्रों के निर्माता एवं श्रौत के आचार्य कहलाते हैं।

ऋग्वेद के अनुसार हौत्र विधान को कहने वाला शाङ्खायन श्रौतसूत्र है। इसके निर्माता शाङ्खायन ऋषि हैं। इसी ऋग्वेद का दूसरा आश्वलायन श्रौतसूत्र है और उसके रचयिता आश्वलायन ऋषि हैं। इसके बाद शुक्ल यजुर्वेद के श्रौतसूत्रों का विवेचन अवसर-प्राप्त है। उनमें सर्वप्रथम कात्यायन का स्थान है। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी की प्रमुखता होने के कारण उसका विवेचन अन्य श्रौतसूत्रों के अन्त में किया जायेगा। कृष्ण यजुर्वेद के श्रौतसूत्रों का क्रम इस प्रकार है। आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ, मानव, भारद्वाज, वैखानस, वाराह और वाधूल संज्ञक श्रौतसूत्र इस समय उपलब्ध हैं। सामवेद के श्रौतसूत्रों में लाट्यायन, द्राह्यायण और जैमिनि संज्ञक श्रौतसूत्र प्रमुख हैं। अथर्ववेद का एक मात्र वैतान श्रौतसूत्र है।

महर्षि कात्यायन

स्कन्द पुराण के नागर खण्ड के अनुसार महर्षि याज्ञवल्क्य को मैत्रेयी और कात्यायनी दो पत्नियाँ थीं। ब्रह्मवादिनी होने के कारण याज्ञवल्क्य का मैत्रेयी पर विशेष अनुराग था। इस कारण कात्यायनी विकल रहा करती थी। एक दिन उसने अपनी सहेली शाण्डिली (जैमिनि की पत्नी) से इस वृत्तान्त को कहा। शाण्डिली बोली, बहिन! घबड़ाओ नहीं। मैं तुम्हें एक व्रत का अनुष्ठान बतलाती हूँ। उसके आचरण से तुम्हारी कामना अवश्य पूर्ण होगी। उसने

मार्गशीर्ष शुक्ल तृतीया से आरम्भ करके एक वर्ष पर्यन्त गौरी के व्रत का अनुष्ठान करने को कहा। उस व्रत का विधान भी बतलाया। उसने गौरी के व्रत का अनुष्ठान किया और उस व्रत के प्रभाव से उसका मनोरथ पूर्ण हुआ[१]। याज्ञवल्क्य महर्षि को एक पुत्र लाभ हुआ। यही कात्यायन महर्षि हैं[२]।

कात्यायन महर्षि शुक्लयजुर्वेद के धुरन्धर विद्वान् एवं श्रौतविद्या के पारदृश्वा थे। इन्होंने शुक्लयजुर्वेदीय यागोपयोगी अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनके द्वारा रचित श्रौत विषयक प्रमुख ग्रन्थ का नाम कात्यायन श्रौतसूत्र हुआ। शुक्लयजुर्वेदीय ग्रन्थों के सिवाय ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद के ग्रन्थों के भी ये रचयिता हैं। वैदिक और श्रौत ग्रन्थों की रचना के सिवाय इन्होंने गृह्यसूत्र की भी रचना की है। 'पारक्यं करोतीति पारस्करः' इस व्युत्पत्ति से इनका पारस्कर यह नामान्तर भी है। आश्वलायन सर्वानुक्रमणिका में इन्हें बह्वृचाचार्य-सिंह पदवी से अलंकृत किया गया है। इन्हें वेदवेदाङ्ग और श्रौतविद्या में पारङ्गत वररुचि नाम का पुत्र प्राप्त हुआ है। इन्होंने वडनगर में वास्तुपद नामक तीर्थ की स्थापना की है[३]।

एक दूसरे कात्यायन का भी नाम देखने में आता है। यह कात्यायन और याज्ञवल्क्य पुत्र-कात्यायन पृथक्-पृथक् हैं। कारण कात्यायन शाखा के बहुत से श्रौत सिद्धान्त कण्व समाम्नाय से मिलते-जुलते हैं। शाखाप्रवर्तक कात्यायन कण्व की तरह अङ्गिरागण के कपिगणान्तर्गत का है। उसके प्रवर आङ्गिरस, बार्हस्पत्य और कापेय हैं। याज्ञवल्क्यसुत कात्यायन, विश्वामित्र गण के कतगण के अन्तर्गत हैं। इनके प्रवर विश्वामित्र, कात्य और आत्कील हैं। इस तरह ये दोनों कात्यायन भिन्न हैं।

पाणिनि सूत्र पर वार्तिककार कात्यायन इन दोनों कात्यायन से भिन्न हैं। इन्होंने भ्राजश्लोक की रचना की है। कथासरित्सागर में इस कात्यायन को वररुचि नाम से सम्बोधित किया गया है। इनके पिता का नाम सोमदत्त एवं माता का नाम वसुदत्ता था। इन्हें पुष्पदन्त संज्ञक शङ्कर का गण कहा है। इनका तीसरा नाम श्रुतधर था। पहले जो कात्यायन और वररुचि

---

१. ततः संजनयामास तस्यां पुत्रं गुणान्वितम्।
कात्यायनाभिधानं च यज्ञविद्याविचक्षणम्॥ ४८॥
पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागरः।
सर्वज्ञः सर्वकृत्येषु वेदवेदाङ्गपारगः॥ ४९॥
स्क० पु० ना० ख० अ० १३१, श्लो० ४८-४९।

२. कृत्वोपनिषदं चारु वेदार्थैः सकलैर्युतम्।
जनकाय नरेन्द्राय व्याख्याय च ततः परम्।
कात्यायनं सुतं प्राप्य वेदसूत्रस्य कारकम्। स्क० पु० ना० ख० अ० १२९, श्लो० ७०-७१।

३. तेन वास्तुपदं नाम तत्र तीर्थं विनिर्मितम्।
कात्यायनेन विप्रेण सर्वकामप्रदं नृणाम्॥
स्क० पु० ना० ख० अ० १३२.४।

नाम गिनाये हैं, उनमें परस्पर पिता-पुत्र सम्बन्ध है। यहाँ एक ही व्यक्ति का नाम कात्यायन और वररुचि है। यह कात्यायन कलि की दशम शताब्दि में और याज्ञवल्क्यसुत कात्यायन कलि की प्रथम शताब्दि में हुए हैं। वार्तिककार कात्यायन का समय दुर्गाप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य-दर्पण की भूमिका में स्पष्ट किया है। आचार्य मेक्समूलर तथा आचार्य गोल्डस्टूकर की भी यही मान्यता है। यहाँ साहित्यदर्पण पर दुर्गाप्रसाद की भूमिका द्रष्टव्य है।

प्रस्थानत्रय

श्रौत, स्मार्त्त और धर्म, यह प्रस्थानत्रय है। इन तीनों विषयों को ध्यान में रखकर सूत्रकारों ने सूत्रों की रचना की है। उनमें प्रथम श्रौतसूत्र, द्वितीय स्मार्त्तसूत्र अथवा गृह्यसूत्र और तृतीय धर्मसूत्र है। त्रेताग्नि पर होने वाले अनुष्ठानों का विधान श्रौतसूत्रों ने, जातकर्मादि गृह्यकर्मों एवं संस्कारों का विधान गृह्यसूत्रों ने और वर्णाश्रमोचित धर्म को धर्मसूत्रों ने प्रतिपादित किया है। इस प्रस्थानत्रय में किसी ऋषि ने तीनों प्रकार के सूत्रों की रचना की है, किसी ने दो की और किसी ने केवल एक ही की रचना की है। आपस्तम्ब, वाराह, बौधायन और मानव नाम से तीनों प्रकार के सूत्र मिलते हैं। जैसे आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र और आपस्तम्ब धर्मसूत्र इस प्रकार कहे जाते हैं। शाङ्खायन, आश्वलायन और हिरण्यकेशिन्, ऋषियों ने श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र इस तरह दो सूत्र बनाये हैं। इन लोगों ने धर्मसूत्रों का निर्माण आवश्यक नहीं समझा है। वशिष्ठ और गौतम ऋषियों ने केवल धर्मसूत्रों की रचना की है। इन लोगों ने श्रौत और गृह्यसूत्रों के निर्माण में किसी प्रकार का मनोयोग नहीं दिया है। शुल्ब सूत्रों की गणना श्रौतसूत्रों के साथ ही करना योग्य है।

महर्षि कात्यायन और उनका श्रौतसूत्र

महर्षि कात्यायन ने धर्मसूत्र न बनाकर केवल श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र का ही निर्माण किया है। महादेव का मत है कि पारस्कर गृह्यसूत्र के रचयिता पारस्कराचार्य और श्रौतसूत्र के रचयिता कात्यायन ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं।[1]

---

१. गुजराती प्रेस, मुम्बई से छपी पाँच भाष्यों से युक्त पारस्कर गृह्यसूत्र की भूमिका के अनुसार पारस्कराचार्य महर्षि कात्यायन का ही नामान्तर है। वे अपने मत की पुष्टि में कहते हैं कि महर्षि कात्यायन ने पहले श्रौतसूत्र का और तत्पश्चात् गृह्यसूत्र का निर्माण किया। प्रमाण यह है कि 'प्रोष्येत्य गृह्यानुपतिष्ठते पूर्ववत्' पा० गृ० १.१८.१। अर्थात् अग्नि का परिग्रही आवश्यकतानुसार जब प्रवास को जाय, तब वापस लौटकर सर्वप्रथम अग्नि का उपस्थान करे। इन नियमों का पालन त्रेताग्नि के परिग्रही और स्मार्त्ताग्नि के परिग्रही इन दोनों को समान रूप से करना चाहिए। इसी नियम को पारस्कर गृह्यसूत्र में प्रतिपादित करते हुए 'पूर्ववत्' इस शब्द का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह है कि श्रौतसूत्र में जिस प्रकार प्रवास से लौटकर अग्नि का उपस्थान आवश्यक है उसी प्रकार स्मार्त्ताग्नि का उपस्थान भी आवश्यक है। यही तो 'वत्' कहने का स्वारस्य है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि महर्षि कात्यायन ने प्रथम श्रौतसूत्र का और पश्चात् गृह्यसूत्र का निर्माण किया।

जैमिनि के मीमांसासूत्र के साथ कात्यायन श्रौतसूत्र का शब्दगत और अर्थगत साम्य देखा जाता है। उदाहरण के लिए यहाँ दोनों के कुछ सूत्र उद्धृत हैं।

शब्द सादृश्य

कात्यायन		जैमिनी सूत्र	
अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थसामान्यं तत्परत्वात्	१.४.१६ ।	अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थः	६.३.३९ ।
अहर्गणे सुब्रह्मण्यायाः सर्वोपलक्षणं प्रकृतिवत्	१.७.६ ।	सुत्याविवृद्धौ सुब्रह्मण्यायां सर्वेषामुपलक्षणं प्रकृत्यन्वयादावाहनवत्	११.४.२८ ।
उपगादर्शनाच्च	६.७.३ ।	उपगाश्च लिङ्गदर्शनात्	३.७.३० ।
कालान्तरेऽर्थवत्त्वं स्यात्	१.८.६ ।	कालान्तरेऽर्थवत्त्वं स्यात्	१२.३.१५ ।
चैत्र्यानन्तर्यात्	१३.१.६	आनन्तर्यात्तु चैत्री स्यात्	६.५.३१ ।
छागं मन्त्राम्नानात्	६.३.१८ ।	छागो वा मन्त्रवर्णात्	६.८.३१ ।
दध्नः सङ्घातात्	४.३.१२ ।	दधिसङ्घातसामान्यात्	८.२.२ ।
द्वादशाहः सत्रमहीनश्च	१२.१.४ ।	सत्रमहीनश्च द्वादशाहः	८.२.२४ ।
परार्थेष्वेकः कृतत्वात्	१२.१.१५ ।	परार्थान्येकः	१२.४.३२ ।
प्रकृतेर्वाऽनामत्वात्	५.४.५ ।	प्राकृतं वाऽनामत्वात्	७.३.२१ ।
माघी वा क्रयश्रुतेः	१३.१.८ ।	माघी वैकाष्टकाश्रुतेः	६.५.३२ ।
रथकारस्याधाने	१.१.९ ।	वचनाद्रथकारस्याधाने	६.१.४४ ।
विषये लौकिकमयुक्तत्वात्	४.३.७ ।	विषये लौकिकः स्यात्	७.३.३० ।
विष्णुर्वामावास्यायां हौत्राम्नानात्	३.३.२४ ।	विष्णुर्वा स्याद्धौत्राम्नानात्	१०.८.५३ ।
स तद्धर्मा कर्मयोगात्	१.६.१२ ।	स तद्धर्मा स्यात्कर्मसंयोगात्	६.३.२६ ।
सोमाच्चावभृथे	४.३.५ ।	तथावभृथः सोमात्	७.३.१२ ।
होता वा वचनमन्त्रवर्णकारणेभ्यः	९.११.१४ ।	होता वा मन्त्रवर्णात् । वचनाच्च । कारणानुपूर्व्याच्च	३.५.३७–३९ ।

अर्थ सादृश्य

कात्यायन सूत्र		जैमिनि सूत्र	
आहवनीययजतयो ध्रुवायाः	१.८.३९ ।	ध्रौवाद्वा सर्वसंयोगात्	१०.८.४८ ।
एवं प्रवृद्धौ समं विभजेत्	८.३.४ ।	विवृद्धिः कर्मभेदात्	५.३.१ ।
कालातिक्रमे नियतक्रियाप्राप्तकालत्वात्	७.१.२२ ।	दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात्	६.५.३८ ।

नित्यानुवादोऽनुयाजप्रतिषेधः ७.५.२६ ।	नित्यानुवादो वा कर्मणः स्यात् १०.७.३९ ।
पशोः सान्नाय्यस्य तदुक्तम् ४.३.१४ ।	सान्नाय्यं वा तत्प्रभवत्वात् ८.२.१३ ।
विक्रयी त्वन्यः शूद्रसंयोगात् ६.७.४ ।	विक्रयी त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ३.७.३१ ।
श्रुतिः क्रमादानुमानिकत्वात् १.५.६ ।	श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रधानत्वात् ५.१.१. ।
सङ्ख्याविकल्पो दानसंयोगे कृतत्वात् १.८.२० ।	सङ्ख्यासु तु विकल्पः स्यात् १२.४.९ ।
हिरण्यगर्भ इत्यृचा स्रुवाघारः १६.१.३५।	हिरण्यगर्भः पूर्वस्य मन्त्रलिङ्गात् १०.३.१३ ।

महर्षि कात्यायन की विशेषता

कात्यायन ने अपने श्रौतसूत्र में शास्त्रार्थ करके अपनी रचना को जटिल नहीं बनाया है। अपितु उन्होंने प्रथम अध्याय में ही श्रौत की परिभाषाओं का प्रतिपादन किया है। अनन्तर दूसरे अध्याय से प्रक्रिया रूप में ग्रन्थ की रचना की है। अन्त तक उसी क्रम का निर्वाह किया है। अपनी रचना में यह भी ध्यान रखा है कि जहाँ 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' कहने से प्रथम दर्श का ग्रहण होता है। तदनुसार प्रथम दर्शयाग का वर्णन करना चाहिए। किन्तु यदि ऐसा किया गया होता तो प्रतिज्ञा भङ्ग हो जाती। कारण, कात्यायन लिखित 'प्रतिज्ञा सूत्र' में पौर्णमासेष्टि को प्रत्येक इष्टियों की प्रकृति कही है। यह प्रसिद्ध है कि 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' अर्थात् प्रकृति में जो साधारण नियम कहे हैं वे ही विकृति में लागू होते हैं। उन्होंने यह भी ध्यान रखा है कि दर्श-पौर्णमासयाग के कथनानुसार प्रथम दर्श का ग्रहण है और तदनुसार प्रथम दर्श का प्रतिपादन होना चाहिए। किन्तु यहाँ यह तर्क दिया जा सकता है कि यह अनुचित किया है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। कारण, 'अल्पाच्तरम्' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार पौर्णमास और दर्श दोनों के कहने पर दर्श शब्द का पौर्णमास शब्द से प्रथम प्रयोग हो जायेगा। परन्तु अभ्यर्हित होने से पौर्णमास याग का ही प्रथम प्रतिपादन सार्थक हो जाता है।

इनकी रचना की विशेषता यह भी है कि इन्होंने अपने वर्णन में सर्व प्रथम, प्रथम अध्याय में श्रौत की परिभाषा का वर्णन किया है। इससे यह लाभ हुआ कि श्रौत जैसे जटिल विषयों की परिभाषाओं की जानकारी हो जाने के कारण याग की कठोर जानकारी सुलभ हो जाती है। इस अध्याय के बाद क्रमशः छोटे-छोटे यागों का प्रारम्भ किया है। २-४ अध्यायों में पौर्णमासयाग समाप्त करके छोटी-छोटी इष्टियों का वर्णन है। तत्पश्चात् क्रमशः बड़े यागों का निरूपण किया है। पञ्चम अध्याय में चातुर्मास्ययाग और तब मित्रविन्देष्टि और काम्येष्टि का वर्णन समाप्त किया है। छठे अध्याय में निरूढपशुबन्धयाग का, जो कि सबसे छोटा पशुयाग

है वर्णन किया है। ७–११ अध्यायों में अग्निष्टोम प्रभृति सोमयागों का प्रतिपादन किया है। यहीं पर कात्यायन श्रौतसूत्र का पूर्वार्द्ध समाप्त होता है।

उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ के बारहवें अध्याय में इन्होंने सत्रात्मक द्वादशाह का वर्णन किया है, जो कि सत्र और अहीन उभयात्मक है। तेरहवें अध्याय में गवामयन याग को और चौदहवें में वाजपेय याग को कहा है। पन्द्रहवें में राजसूय याग को कहकर सोलह से अठारह अध्याय तक चयनयाग का प्रतिपादन किया है। उन्नीसवें अध्याय में सौत्रामणी याग और बीसवें अध्याय में अश्वमेध को कहा है। इक्कीसवें में पुरुषमेध, पितृमेध और सर्वमेध का वर्णन किया है। बाइसवें में एकाह और तेइसवें में अहीन को दिखाया है। चौबीसवें अध्याय में सहस्रसंवत्सर सत्र पर्यन्त सत्रों का वर्णन किया है। पचीसवें अध्याय में श्रौत विषयक समस्त प्रायश्चित्तों का प्रतिपादन किया है। छब्बीसवें अध्याय में प्रवर्ग्य विधि को कहते हुए श्रौतसूत्र की समाप्ति की है।

महर्षि कात्यायन ने श्रौतसूत्र का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से अथ शब्द कहकर मङ्गलाचरण किया है। इतना ही नहीं, छब्बीसवें अध्याय में 'शान्तिकरणमाद्यन्तयोः स्वाध्यायदर्शनात् स्वाध्यायदर्शनात्' इस अन्तिम सूत्र को कहकर विश्व की शान्ति की कामना की है। इसके साथ-साथ 'स्वाध्यायदर्शनात्' इस अंश की आवृत्ति की है। किसी भी ग्रन्थ में अन्तिम वाक्य ही महत्त्व का माना जाता है। इन्होंने इस स्वाध्याय-दर्शनात् कहकर स्वाध्याय का महत्त्व प्रतिपादित किया है और स्वाध्याय को सर्वदा करते रहने पर जोर दिया है। इस श्रौतसूत्र में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भाग, छब्बीस अध्याय और ६११७ सूत्र हैं।

यद्यपि अन्य सूत्रकारों में से कुछ ने एक प्रकार की कामनाओं की सिद्धि के लिए, तो कुछ ने दूसरी तरह की कामनाओं की सिद्धि के लिए भिन्न-भिन्न अनेक इष्टियाँ एवं यागों को करने को कहा है। तथापि कामनाओं का अन्त नहीं है और इस प्रकार यह विषय अपूर्ण ही रह जाता है। यही देखकर कात्यायन ने एक ही आग्नेयीष्टि को सर्वार्थ चिन्तामणि स्वरूप कहा है। यह समस्त कामनाओं की सिद्धि करने वाली है। एक कामना की सिद्धि के लिए आग्नेयीष्टि करके दूसरी कामना के लिए पुनः आग्नेयीष्टि का अनुष्ठान करना चाहिए। समस्त कामनाओं की सिद्धि के लिए एक ही बार आग्नेयीष्टि का अनुष्ठान उचित नहीं है।

महर्षि कात्यायन की रचना

१. कात्यायन श्रौतसूत्र
२. प्रातिशाख्य
३. ऋक्सर्वानुक्रमसूत्र
४. शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्र
५. सामसर्वानुक्रमसूत्र
६. अथर्वसर्वानुक्रमसूत्र
७. त्रिकण्डिकासूत्र
८. वार्त्तिकपाठ
९. कर्मप्रदीप
१०. प्राकृतमञ्जरी
११. कात्यायनस्मृति
१२. उपग्रन्थसूत्र

कात्यायनोक्त अष्टादश परिशिष्ट

१. यूपलक्षण
२. छागलक्षण
३. प्रतिज्ञासूत्र
४. अनुवाक
५. चरणव्यूह
६. श्राद्धसूत्र
७. शुल्बसूत्र
८. ऋग्यजुषम्
९. पार्षदसूत्र
१०. इष्टकापूरण
११. प्रवराध्याय
१२. मूल्याध्याय
१३. उञ्छशास्त्र
१४. निगम
१५. यज्ञपार्श्व
१६. हौत्रिक
१७. प्रसवोत्थान
१८. कूर्मलक्षण

विविध

१. क्रतुसङ्ख्यासूत्र
२. भाषिकसूत्र

कात्यायन श्रौतसूत्र पर भाष्य

कात्यायन श्रौतसूत्र अन्य श्रौतसूत्रों की अपेक्षा अधिक गम्भीर, उपादेय, आदरणीय और समस्त आवश्यक अङ्गों से पूर्ण है। इन्हीं विशेषताओं को देखकर इस पर अनेक आचार्यों ने भाष्य एवं पद्धतियाँ लिखी हैं।

भर्तृयज्ञ

यह साङ्कृत्यायन गोत्र के निमि का पुत्र था। स्कन्दपुराणान्तर्गत नागरखण्ड के अध्याय ११३ से ११७ तक इस भाष्यकार का वर्णन पाया जाता है। उस पुराण के मत से भर्तृयज्ञ का मान बहुत अधिक था। जब किसी जटिल पाप का प्रायश्चित्त पूछना हो, तब इन्हीं के पास जाकर लोगों को अभिलषित निर्णय की प्राप्ति होती थी।[1] इसी खण्ड के अध्याय २०३ के श्लोक ११३–११९ से इनका नागर ब्राह्मण होना भी प्रमाणित होता है। इन्होंने कात्यायन श्रौतसूत्र पर भाष्य लिखा है। सम्भवतः यही भाष्य कात्यायन श्रौतसूत्र पर लिखित भाष्यों में सबसे प्राचीन भाष्य है। अनन्त ने स्वरचित कात्यायन श्रौतसूत्र के भाष्य में लिखा है— 'भर्तृयज्ञभाष्यमल्पव्याख्यानयुतं न दृढन्यायं निरूप्य वैकृतकर्मनिवृत्तिसमर्थम्।' इस उद्धरण से प्रमाणित होता है कि यह भाष्य संक्षिप्त एवं वृत्तिस्वरूप और केवल पदार्थ प्रदर्शन करने वाला होना चाहिए। इसी श्रौतसूत्र की पद्धति लिखते हुए देवयाज्ञिक ने अनेक स्थानों पर इनके मत

---

१. भर्तृयज्ञ इति ख्यातो यज्ञकर्मविचक्षणः।
यदेव वक्ति युष्माकं क्रियाकाण्डमशङ्कितः॥
स्क० पु० ना० अ० ११५. श्लो० ३६।

का सङ्ग्रह किया है।[1] शङ्कराचार्य कथित बृहदारण्यक भाष्यकार भर्तृप्रपञ्च और भर्तृयज्ञ ये दोनों एक ही व्यक्ति हो सकते हैं। यह भाष्य इस समय उपलब्ध नहीं है।

वृद्धयाज्ञिक यशोगोपी

कात्यायन श्रौतसूत्र का दूसरा भाष्य वृद्धयाज्ञिक यशोगोपी का है। यह भाष्यकार कर्काचार्य की अपेक्षा प्राचीन है। कात्यायन श्रौतसूत्र का भाष्य लिखते हुए कर्काचार्य ने अनेक स्थानों पर इनके वचन उद्धृत किये हैं।[2] इस भाष्यकार का भी नागर होना प्रतीत होता है। उसका कारण इनका उपनाम है।[3]

आचार्य पितृभूति

कात्यायन श्रौतसूत्र पर आचार्य पितृभूति ने एक भाष्य लिखा है। यह भाष्यकार कर्काचार्य से प्राचीन है। कर्क ने अपने भाष्य में अनेक बार इनका उल्लेख किया है।[4] कात्यायन श्रौतसूत्र का यह भाष्यकार भी अपना नागर होना स्वयं अपने शब्दों में स्वीकार करता है।[5] कात्यायन श्रौतसूत्र के पद्धतिकार देव याज्ञिक अपनी पद्धति में अनेक स्थान पर इनका उल्लेख करते हैं।[6] यह ग्रन्थ सरस्वती भवन ग्रन्थालय, वाराणसी में हस्तलेख के रूप में सुरक्षित है।

उपाध्यायपाद

कात्यायनश्रौतसूत्र के भाष्यकारों में उपाध्यायपाद का भी नाम उल्लिखित किया जाता है। कर्काचार्य ने अपने भाष्य में इनको उपाध्यायपाद नाम से व्यक्त किया है। इनके पूरे नाम

---

१. भर्तृयज्ञमते वपनं नियमेन, दे० प० पृ० २५।

२. कर्मभेदः स्यात्तत्र यशोगोपिप्रभृतिभाष्योपरोधः स्यात्। का० श्रौ० क० भा० २. १. ७

३. याज्ञिक और महायाज्ञिक यह उपनाम नागर जाति में पाये जाते हैं। जैसे द्विवेदी का अपभ्रंश दूबे और दवे हो गया है, वैसे ही याज्ञिक का जानी यह अपभ्रंश है। जानी उपनाम वाले लोग आज बहुशः पाये जाते हैं। उन्हींमें से बहुत लोग तो उसे सुधार कर याज्ञिक लिखने लग गये हैं। इन्हीं याज्ञिकों के विवाहकालीन गोत्रोच्चार के समय व्यक्ति की विशेषता दिखलाने के लिए याज्ञिक के स्थान पर महायाज्ञिक शब्द से आज भी सम्बोधित करते हैं। यही युक्ति वृद्धयाज्ञिक इस शब्द के विषय में भी होनी चाहिए।

४. यत्र पितृभूत्याचार्येण यथासङ्ख्यलक्षणं प्रकृत्य० का० श्रौ० क० भा० १.२.३।

५. इत्यानर्तीय पितृभूतिकृते कात्यायनसूत्रभाष्ये नवमोऽध्यायः। यहाँ वह अपने को आनर्त देश का रहने वाला बताता है। आनर्त यह नाम गुजरात के लिए प्रयुक्त होता है।

६. अत्राह पितृभूतिः 'ग्रावद्रोणकलशादिकम्' दे० प० पृ० २९२। इदं मे स्यादित्येवं ब्रवीतीति पितृभूतिः। तत्तु युक्ततरमिवाभाति। दे० प० पृ० ३१३। सर्वेऽपीति पितृभूतिः, दे० प० पृ० ३२३।

की जानकारी नहीं मिलती । हो सकता है इनका यही नाम हो अथवा ये कर्क के गुरु हों, जिससे कि कर्काचार्य ने इनके पूरे नाम का उल्लेख न किया हो । कात्यायन श्रौतसूत्र के पद्धतिकार देवयाज्ञिक ने अपनी पद्धति में स्थान-स्थान पर इनका उल्लेख किया है । यह भाष्य वर्त्तमान काल में सुलभ नहीं है ।

कर्काचार्य

कात्यायन श्रौतसूत्र पर एक प्रसिद्ध भाष्य कर्काचार्य ने किया है । यह प्रत्येक अध्याय के अन्त में "उपाध्यायकर्ककृतौ" यह उल्लेख करता है । यह ३२४ ई० में या इससे कुछ पूर्वकाल में विद्यमान था । दन्तकुशली के ताम्रपट के लेख से "धूम्रायणस् गोत्रक कर्काध्यापक" यह उल्लेख मिलता है । इस लेख का समय ३२४ ई० है । हेमाद्रि ने अनेक स्थानों पर कर्क का उल्लेख किया है । इससे यह सिद्ध है कि हेमाद्रि की अपेक्षा यह प्राचीन है । आज के याज्ञिक वर्ग में यह भाष्य बहुत मान्य है । यह भाष्यकार मीमांसा शास्त्र का प्रगाढ़ विद्वान् था । यह इसके भाष्य को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है ।[1]

हरिस्वामी

कात्यायन श्रौतसूत्र के भाष्यकारों में एक हरिस्वामी है । देवयाज्ञिक ने अपनी पद्धति में अनेक स्थान पर इनके मत को उद्धृत किया है ।[2] इस समय यह भाष्य अनुपलभ्य है ।

गर्ग

कात्यायन श्रौतसूत्र पर एक भाष्य गर्ग ने भी बनाया है । वर्तमान समय में यह भी अनुपलभ्य है ।

शङ्कर

कात्यायन श्रौतसूत्र पर एक भाष्य शङ्कर निर्मित था, यह सुना जाता है ।

अनन्तदेव

कात्यायन श्रौतसूत्र पर अनन्तदेव कृत अत्यन्त मार्मिक एवं सुन्दर भाष्य है । इन्होंने अपने भाष्य में गहन स्थलों पर अच्छा प्रकाश डाला है । अपने भाष्य के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण में अपने पिता के द्वारा किये गये यज्ञों के नाम गिनाये हैं ।[3] अध्याय के अन्त में स्वकृत यज्ञों

---

१. होमकर्तुः प्रथमं भक्षस्ततो वषट्कर्तुरिति कर्कसम्प्रदायकारयाज्ञिकादयः सर्वे । दे०प०पृ० ३३० ।

२. इदं मे कर्मेदं वीर्यं देवदत्तोऽहं सन्तनवानीति हरिस्वामिनः । दे० प० पृ० २६, ७१, १४९, २६९, ३०७, ३२३, ३२५, ३५०, ३५१, ३५३ ।

३. इति श्रीयज्ञविद्याकौमुदीकलानाथपञ्चाग्निचित् चतुर्दशकृत्वसम्राट्स्थपतिमहायाज्ञिकश्री-अनन्तकृते कात्यायनश्रौतसूत्रे पञ्चविंशोऽध्यायः । का० श्रौ० अ० भा० अ० २५ ।

का विवरण दिखलाया है ।[1] इससे यह स्पष्ट है कि इन्होंने याज्ञिक कुल में जन्म लिया था। इनके कुल में अनेक यज्ञ हुए थे और इन्होंने स्वयं अनेक यज्ञ किये थे। केशवामृत योगी और वासुदेव सरस्वती इनके गुरु थे। इस बात के साक्षी इनके मङ्गलाचरण के श्लोक हैं। यह भाष्य सरस्वती भवन, वाराणसी के हस्तलिखित विभाग में विद्यमान है। इनका उल्लेख देवयाज्ञिक ने स्वनिर्मित पद्धति में अनेक बार किया है ।[2]

देवयाज्ञिक

कात्यायन श्रौतसूत्र पर एक देवयाज्ञिक निर्मित भाष्य बहुत सुन्दर और सम्पूर्ण है। इनकी विशेषता यह थी कि ये स्वयं अग्निहोत्री थे। इन्होंने बड़े-बड़े अनेक याग स्वयं किये थे और अनेक यागों में आर्त्विज्य भी किया था ।[3] इनके भाष्य की विशेषता यह है कि इन्होंने पद्धति एवं प्रयोग की कठिन गुत्थियों को बहुत अच्छी तरह सुलझाया है। मार्मिक स्थलों का विवेचन बहुत अच्छे ढङ्ग से किया है। इनके भाष्य को देखने से प्रतीत होता है कि इन्हें छोटे से बड़े यागों के समस्त पदार्थ हस्तामलकवत् थे। इनके पिता का नाम प्रजापति और गुरु का नाम श्रीपति था ।[4] ये नागर ब्राह्मण थे। इनके जन्म का समय लगभग १५ सौ ईसवीय है।

कल्याण जी दीक्षित

कल्याण जी दीक्षित ने इस कात्यायन श्रौतसूत्र पर भाष्य किया है। यह भाष्य संक्षिप्त

---

१. भवाब्धिशोषणेऽगस्त्यान्केशवामृतयोगिनः ।
ग्राहयाञ्चक्रिरे पूर्वविद्यायाः सारतां मया ॥
दुर्दान्तश्चेतसो दोषान् वेदान्तैर्ये व्यजीगमन् ।
तथा पूर्वगुरून् नौमि वासुदेवसरस्वतीम् ॥
सरस्वत्येव मीमांसा यैर्दत्तापरमार्थतः ।
रविसङ्ख्यैरभिषिक्तो वाजपेयैः पञ्चाग्निचित् ॥
एकोनाशीति सोमान्य ईजे सौत्रामणित्रयम् ।
सम्राजां वंशजः सम्राट् स्थपतिर्याज्ञिकः सुधीः ॥
सम्राट्वाचस्पतिर्यस्य जनको ज्ञानसञ्चितः ॥ का० श्रौ० अ० भा० अ० १ ।

२. श्रीअनन्तयाज्ञिकमते च होमसाधनत्वम् दे० प० पृ० १४९, १५८ ।

३. इति श्री सम्राट् स्थपति महायाज्ञिक त्रिरग्निचित् प्रजापतिसुतयाज्ञिकदेवकृते कातीयसूत्र-भाष्ये प्रथमोऽध्यायः । का० श्रौ० दे० भा० अध्याय १ ।

४. कात्यायनं नमस्कृत्य गुरून् श्रीश्रीपतिस्तथा ।
पितरौ भाष्यकर्तृंश्च पितृभूत्यादि संज्ञिकान् ॥
कात्यायनप्रणीतेऽस्मिन् सूत्रे यज्ञप्रकाशके ।
प्रजापतेस्तनूजोऽहं कुर्वे व्याख्यामिमां स्फुटम् ॥ का० श्रौ० दे० भा० अ० १ ।

रूप में है। इसके सिवाय गङ्गाधर और गदाधर ने भी कात्यायन श्रौतसूत्र पर भाष्य किये हैं, ऐसा वृद्ध लोगों से सुना जाता है।

कात्यायन श्रौतसूत्र पर पद्धतियाँ

इस कात्यायन श्रौतसूत्र पर निम्नलिखित विद्वानों ने पद्धतियों की रचना की है—

१. पद्मनाभ—पद्मनाभ द्वारा रचित इस पद्धति को पद्मनाभी कहते हैं। समस्त श्रौतसूत्र पर इनकी पद्धति उपलब्ध है।

२. महादेव—इस पद्धति का नाम श्रौतस्मारणकर्म पद्धति है।

३. पितृभूति—यह पद्धति अत्यन्त संक्षिप्त है।

४. मिश्राग्निहोत्रिन्—इस पद्धति में अन्य यागों का विस्तार होते हुए भी इसका अग्निचयन याग संक्षिप्त है।

५. श्रीदेव—इस पद्धति का नाम यज्ञवल्लभा है।

६. सम्प्रदाय शर्मा—यह पद्धति समस्त श्रौतसूत्र पर है। इसमें अग्निचयन याग संक्षिप्त है। इसे सम्प्रदाय पद्धति कहते हैं।

७. भाणजी दीक्षित—इस पद्धति का कुछ अंश सरस्वती भवन ग्रन्थालय, वाराणसी में है।

८. देवयाज्ञिक—इन्होंने पूरे श्रौतसूत्र पर पद्धति की रचना की है। उपलब्ध पद्धतियों में यह सर्वोत्कृष्ट है। अग्निचयन याग की जानकारी इस पद्धति के बिना नहीं हो सकती। चौबीस अध्याय की छठी कण्डिका तक इस का प्रकाशन हुआ है। शेष हस्तलेख में विद्यमान है। इसके विषय में यह कहा जा सकता है कि यदि यह पद्धति आज उपलब्ध न होती तो कात्यायन श्रौतसूत्र के अनेक विषय अज्ञात ही रहते।

उपर्युक्त इन पद्धतियों के सिवाय कात्यायन श्रौतसूत्र पर ९ श्रीधर और १० हरिहर रचित पद्धतियाँ भी वृद्ध लोगों से सुनी जाती हैं।

यज्ञसंस्था की प्रौढावस्था का इतिहास देखना हो तो ऋग्वेद में उसकी झाँकी नहीं देखी जा सकती, अपितु उसके लिए यजुर्वेद एवं श्रौतसूत्र तक जाना होगा। याग कौन करे ? किस याग को किस प्रकार करना चाहिए ? कितने ऋत्विज होने चाहिए ? उन ऋत्विजों की प्राप्ति किस प्रकार की जा सकती है ? ऋत्विजों के मिल जाने पर याग कहाँ और कब प्रारम्भ करना ? याग का प्रारम्भ, मध्य और समाप्ति इत्यादि जितनी भी बातें हैं, उन सभी को हम यजुर्वेद और श्रौतसूत्रों में पा सकते हैं। एतदतिरिक्त श्रौत से सम्बद्ध अन्य वेद एवं अन्य श्रौतसूत्रों की जानकारी भी आवश्यक है[1]।

---

१. आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु ऋग्भिर्हौत्रं तथाऽकरोत्।
औद्गात्रं सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वभिः ।। अ० पु० अ० १५०, २४-२५ ।

याग का इतिहास

विकास

यदि हम वैदिक काल में देखें तो हमें अत्यन्त संक्षेप में श्रौत अनुष्ठान का स्वरूप देखने को मिलता है। यद्यपि ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में देवताओं द्वारा विहित याग देखने में आता है तथापि वहाँ भी याग का साङ्गोपाङ्ग स्वरूप अत्यन्त संक्षिप्त ही है। उस काल में प्रत्येक व्यक्ति श्रद्धा और विश्वास के साथ देवता की उपासना करते हुए अपनी अभिलषित वस्तु देवता से माँगता था।

प्राचीन काल में उपासक की अभिलषित वस्तु की संख्या में भी बहुत कमी थी। आज की तरह कामनाओं का ढेर नहीं था। उस समय पुत्र रहित व्यक्ति को स्वर्ग नहीं मिलता है, यह विश्वास था। जैसा कि अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में कहा है। "यच्च पुत्रः पुन्नामनरकमनेकशतं तारं तस्मात्त्रातीति पुत्रस्तत्पुत्रस्य पुत्रत्वम्" के आधार पर समाज में पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा बहुत ही अधिक थी। इस तरह कोई देवता से पुत्र माँगता था तो कोई अन्न। कोई ब्रह्मवर्चस्, तो कोई राष्ट्र की कामना करता था। कामनाओं की संख्या में आज की तरह इतना आधिक्य नहीं था। उन कामनाओं के विषय में भी ऐसा ही प्रतीत होता है कि ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस् की कामना करता था तो क्षत्रिय राष्ट्र की, इस प्रकार यह भी एक विशेषता देखने में आती है। वैदिक समय से ही अग्निहोत्र की उपासना चली है। यहाँ यह जान लेना उचित होगा कि अग्निहोत्र में एक ही ऋत्विज की अपेक्षा रहती थी और वह कार्य यजमान स्वयं अकेला ही कर लेता था। साथ में पत्नी भी रहती थी।

श्रौतयाग का स्मार्तयागों पर प्रभाव

यदि स्मार्त्तयागों के विधान को देखा जाय तो बहुत अंश में श्रौत के ही पदार्थ देखने को मिलते हैं[1]।

भेद इतना ही है कि ये पदार्थ श्रौत याग को अपेक्षा अधिक परिष्कृत हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन काल की झोपड़ी और आधुनिक इमारत।

पुराणों में अग्नि का स्पष्ट और विस्तृत स्वरूप देखने को मिलता है[2]। इसी काल में

---

१. स्मार्त्त हवन के लिए भी यज्ञ तथा याग शब्द का प्रयोग। भवि० पु० म० प० २०, श्लो० १।

२. पञ्चाग्नि—

	प्राण	अपान	व्यान	समान	उदान
	गार्हपत्य	आहवनीय	दक्षिणाग्नि	आवसथ्य	सभ्य

गार्हपत्यस्तदा प्राणः० दे० भा० ३. १२. ४८-५४।

वह्नेस्तु लक्षणं वक्ष्ये सर्वकामफलप्रदम्।
दीप्तं सुवर्णवपुषमर्धचन्द्रासने स्थितम्॥

श्रौतयागों के विषय में प्रश्न एवं उनके शास्त्रीय समाधान भी देखे जाते हैं ।[1]

यागभूमि

यागोचित स्थान में श्रौत का देवयजन बनता था ।[2] स्मार्त्त का मण्डप सोलह या बीस हाथ का बन सकता है । स्मार्त्त याग का मण्डप और स्मार्त्त याग का अग्नि, याग की समाप्ति तक ही विद्यमान रहता है । श्रौत खर की परिधि मिट्टी से पोती जाती है । स्मार्त्त की परिधि सङ्ख्या में तीन और सत्व, रज और तम के रूप में श्वेत, रक्त और काले रंग से रंगी जाती है । उनमें योनि बनायी जाती है और उसे कुण्ड कहते हैं । श्रौताग्नि की उत्पत्ति अरणि से मन्थन करके होती है । स्मार्त्ताग्नि लौकिक भी हो सकता है । पुराणों में अनेक प्रकार से अग्निहोत्र, हवन विविध याग, क्रतु, सर्पसत्र और चयनयाग का वर्णन देखा जाता है । साथ ही जो भी वर्णन पुराणों में पाया जाता है उसका सामञ्जस्य वैदिक सिद्धान्त के अनुसार ही करना चाहिए । पुराणों में स्मार्त्त कर्म, व्रत, उपवास और यौगिक कर्म भी प्रचुरमात्रा में देखने में आते हैं ।

श्रौत यागों के ह्रास के कारण

१. श्रौतकर्म की विधि बहुत कठोर है ।

२. यजमान के लिए अनिवार्य रूप में श्रौत के नियमों का पालन करना आवश्यक है ।

बालार्कसदृशं तस्य वदनं चापि दर्शयेत् ।
यज्ञोपवीतिनं देवं लम्बकूर्चधरं तथा ।।
कमण्डलुं वामकरे दक्षिणे त्वक्षसूत्रकम् ।
ज्वालावितानसंयुक्तमजवाहनमुज्ज्वलम् ।।
कुण्डस्थं वापि कुर्वीत मूर्ध्नि सप्तशिखान्वितम् ।

मत्स्य० पु० अ० २६०, श्लो० ९–१२

गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय का स्वरूप । ब्रह्म० पु० अ० १६१, श्लो० ३२–३३ ।

१. एक बार जनक से शुक पूछते हैं । शुक—याग में सोमपान करना, सौत्रामणी में सुरा पीना और पशुयाग करना निषिद्ध क्यों नहीं है ? ऐसे व्यक्तियों की सद्‌गति कैसे होती है ? पूर्वकाल में शशबिन्दु राजा ने इतने याग किये कि विन्ध्यपर्वत के समान पशु के चर्म का ढेर हो गया था । उसे भी स्वर्ग कैसे मिला ? जनक—यज्ञ की हिंसा उपाधि से आवृत है । वह रागियों के लिए हिंसा और निस्पृहों के लिए अहिंसा है ।

दे० भा० १.१८.४८-६२ ।

२. कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ।। मनु० २. २३ ।

३. श्रौतयागों में धन एवं गौ, अश्व आदि सामग्री की अधिक आवश्यकता होती है[1]।

साधारण जनता के लिए श्रौतयाग की अपेक्षा स्मार्त्त याग देखने में रोचक हैं।

श्रौतयाग की अपेक्षा स्मार्त्तयाग के आर्त्विज्य में कम विद्वत्ता से भी काम चल सकता है।

बड़े से बड़ा स्मार्त्तयाग श्रौतयाग की अपेक्षा कम दिनों में साध्य है। इसका प्रमुख कारण यह है कि स्मार्त्तयागों में ऋत्विजों की संख्या में यथेष्ट वृद्धि और कमी की जा सकती है।

स्मार्त्तयागों में दक्षिणा का कठोर बन्धन नहीं है। फलतः कम दक्षिणा से भी काम चल सकता है।

स्मार्त्तयागों में जनता को याग का प्रसाद मिल सकता है। श्रौतयागों में उसका अभाव है।

स्मार्त्तयाग में सभी ब्राह्मण एक साथ पढ़ते हैं जिससे दर्शकों को अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है।

स्मार्त्त याग के निमित्त द्रव्य खर्च करने वाला कोई भी यजमान बन सकता है।

स्मार्त्त याग का फल याग के निमित्त द्रव्य का व्यय करने वाला पाता है।

स्मार्त्त के मण्डप एवं कुण्ड के निर्माण में अनेक विकल्प हैं।

स्मार्त्त याग या अनुष्ठान में अग्नि परिग्रह की आवश्यकता नहीं है।

सम्भवतः इन उपर्युक्त कारणों से श्रौतयागों की कमी होने लगी हो और स्मार्त्तयाग अधिक रूप में चल पड़े हों, तात्पर्य यह है कि श्रौतयाग के नियमों की अपेक्षा स्मार्त्तयाग या स्मार्त्त हवन के नियमों में कठोरता की कमी है। जहाँ श्रौतयाग में अग्निहोत्री यजमान और उसकी पत्नी ही रहती है, वहाँ स्मार्त्त याग में यजमान या उसका प्रतिनिधि भी समाविष्ट हो सकता है। श्रौताग्नि परिग्रह के नियमों में त्रेताग्नि का संरक्षण कहा है। इन स्मार्त्त अनुष्ठानों में विकल्प भी है। श्रौत अनुष्ठानों के करनेवालों में जो इतने कठोर नियमों का पालन कर सके वह गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय इन तीनों का अपनी अग्निहोत्र शाला में संरक्षण करे और इन तीनों अग्नियों को जीवित रखे। इसी से इसका अजस्र पक्ष का नाम आज भी श्रौत-

---

१. जिसके पास एक वर्ष का अन्न हो वह सोमयाग से पूर्व के याग करे। तीन वर्ष का अन्न होने पर सोमयाग करना चाहिए। यह न हो तो वैश्वानरी इष्टि ही करे, किन्तु हीनकल्प याग न करे। ग० पु० ९७.३०-३३।

अश्वमेधादयो यज्ञा बहुसंभारविस्तराः।
न शक्यास्ते यतः कर्तुमल्पवित्तैर्द्विजातिभिः।।

भवि० पु० १५१-११।

यथा समय यदि दक्षिणा न दी जाय तो मुहूर्त बीतने पर दूनी, एक रात बीतने पर छ गुनी और एक वर्ष बीत जाय तो तीन करोड़ गुनी बढ़ जाती है।

ब्रह्म० वै० पु० प्र० ४२.५४-६४।

सूत्रों में मिलता है। इसके विकल्प में यह है कि जो इस नियम का पालन न कर सके और इससे सरल विधि चाहे उसके लिए उद्धरण पक्ष बताया गया है। इस पक्ष का तात्पर्य यह है कि केवल गार्हपत्य और सम्य में अग्नि का संरक्षण किया जाता है। सायङ्काल और प्रातःकाल दोनों ही समय उसी गार्हपत्य में से अग्नि लेकर आहवनीय और दक्षिणाग्नि में क्रमशः अग्नि रखकर उस पर अग्निहोत्र हवन किया जाता है। हवन के अनन्तर आहवनीय और दक्षिणाग्नि के अग्नि स्वयं शान्त हो जाते हैं। केवल एक गार्हपत्य के अग्नि का संरक्षण करना पड़ता है। प्रातःकाल और सायङ्काल दोनों ही समय हवन के निमित्त गार्हपत्य के अग्नि में से आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन दोनों स्थानों पर अग्नि रखने के कारण इस पक्ष की प्रसिद्धि "उद्धरण पक्ष" के नाम से हुई है। किसी भी परिस्थिति में कम से कम गार्हपत्य और सभ्य इन दो श्रौताग्नि और आवसथ्य संज्ञक स्मार्त्ताग्नि इन तीन अग्नियों का अखण्ड संरक्षण अनिवार्य रूप से करना ही पड़ता है।

श्रौतयज्ञ के इतिहास में यदि देखा जाय तो सात हविः संस्थाओं में अग्न्याधान नामक संस्था प्रथम है। इस संस्था का अर्थ है अग्नि का परिग्रह। स्मार्त्त अग्न्याधान के अनन्तर ही औपासन हवन किया जा सकता है। आज भी जो अग्निहोत्र करता है वह श्रौत अग्न्याधान संज्ञक संस्था के अनन्तर ही अग्निहोत्र हवन करता है। प्राचीनकाल में विवाह के समय से ही अग्नि की उपासना प्रारम्भ हो जाती थी। उसके बाद प्रथम पुत्र होते ही श्रौताधान विधान के द्वारा श्रौत अग्नि का परिग्रह करना और तब अग्निहोत्र करना यह नियम प्रचलित था। आज भी वही नियम और विधान है। इसमें प्रमाण भी देखा जाता है "जातपुत्रः कृष्णकेशः श्रौताग्निमादधीत"।

श्रौताग्नि के परिग्रह के अनन्तर ही अग्निहोत्री के रूप में द्विज की प्रसिद्धि होनी चाहिए। इसीलिए तो यह कहा है कि अग्न्याधान के अनन्तर एक वर्ष में अग्निहोत्री के रूप में यदि प्रसिद्धि न हुई तो उसे समझना चाहिए कि यह कार्य हमें लाभप्रद न होगा। उसे उस कार्य की वहीं पर समाप्ति कर देनी चाहिए। इसके सिवाय अग्नि परिग्रह करने पर एक वर्ष के अन्दर यदि धन, पुत्र, कलत्र या अपने किसी आप्त की मृत्यु या अन्य अनिष्ट हो जाय तो भी उसे परिगृहीत अग्नि का उसी समय विसर्जन कर देना चाहिए। तदनन्तर पुनः विधिपूर्वक अग्नि का परिग्रह करके तब आगे के कृत्यों को करना चाहिए। इसीलिए तो श्रौतसूत्रकारों ने पुनराधान का विधान किया है।

अग्निहोत्रहवन तक केवल यजमान की एक शाखा के अनुसार यज्ञिय कार्य होता है। इसके अनन्तर जब पौर्णमासयाग अथवा दर्शयाग का अवसर आता है तब अन्य वेदों का भी श्रौत के कार्यों में समावेश होता है। अब अग्निहोत्री को ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और आग्नीध्र इन चार ऋत्विजों की अपेक्षा है। इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए ही अन्य वेदों से गठबन्धन आवश्यक है। यद्यपि यज्ञसंस्था का इतिहास शुष्कविधि और कठिन नियमों से पूर्ण है, किन्तु उस परिधि को श्रद्धापूर्वक पार करने पर उसमें इष्टसिद्धि भी देखने में आती है। जिस प्रकार चक्र-

व्यूह में भटका हुआ आदमी उस चक्रव्यूह के बनाने वाले को बहुत ही कोसता है किन्तु किसी प्रकार फँसा हुआ व्यक्ति उससे बाहर निकल जाय तब उसे बनाने वाले की बुद्धि प्रशंसा करनी पड़ती है। ठीक उसी प्रकार यज्ञ संस्था की स्थिति है। उसके कठोर नियम और विधियों को देखकर यद्यपि उसमें नीरसता का अनुभव होता है तथापि यह बात तो अवश्य है कि इतने कठोर नियमों से जकड़े हुए यज्ञ को श्रद्धा सहित करने वाले अवश्यमेव प्रशंसनीय हैं और इष्टसिद्धि की प्राप्ति के पूर्व अधिकारी हैं।

मानवजाति अथवा समाज के हितसाधन के लिए संसार में जितने भी साधनों का निर्माण हुआ है उनमें यज्ञ संस्था के बराबर श्रेष्ठ साधन दूसरा नहीं है। हितकर अनुष्ठान की जितनी भी विधियाँ आजतक जगत् में देखी गयी हैं उनमें अग्निष्टोम, महाव्रत और सत्र का अनुष्ठान सर्वोत्कृष्ट है। हम यज्ञ के द्वारा कुछ विशेष बात को संसार के सम्मुख रखें, इस विषय में यद्यपि श्रद्धा और विश्वास भले ही न हो, जो कि परमावश्यक है, तथापि किसी बड़े से बड़े भारतीय नास्तिक के मनमें भी यज्ञकर्त्ता के प्रति आदर रहता ही है। इस कथन की सत्यता समस्त यज्ञों की विधि एवं नियमों की जानकारी होने के पश्चात् ही हो सकती है। वैदिककाल की आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक और सामाजिक परिस्थिति को जानने के लिए यज्ञ, उसकी विधियाँ और नियमों का जानना अनिवार्य है। इसके बिना वैदिककाल की वास्तविक स्थितियों का ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु यह जानना बहुत कठिन है और इसको न जानकर ही लोग यह मान लेते हैं कि ब्राह्मण वर्ग ने समाज में अपना सिक्का जमाने के लिए इस विषय को इतना दुरूह कर रखा है। वस्तुतः यज्ञ की विधि एवं नियमों को जानकर ही वैदिक रहस्य की जानकारी हो सकती है। इस बात पर अभी तक आधुनिक समाज नहीं आया है।

श्रौतयाग में आर्त्विज्य करना सरल काम नहीं है। यदि श्रौतयाग के अनुष्ठान में आर्त्विज्य के निमित्त सम्मिलित होना हो तो वर्षों पूर्व से अभ्यास करना अनिवार्य है। उसका कारण यह है कि महीनों या वर्षों तक जो याग अथवा सत्र सतत चालू रहते हैं, उनमें आर्त्विज्य करने के वर्षों पूर्व से अभ्यास करना आवश्यक है, यह बात अयुक्ति सङ्गत नहीं है। बड़े यागों को और सत्रों को छोड़ दें और केवल छोटे से दर्श या पूर्णमास याग में ही आर्त्विज्य करना चाहें तो यह अभ्यास भी छः महीनों से कम में किसी भी वैदिक विद्वान् को भी नहीं हो सकता। अभ्यस्त ऋत्विजों के द्वारा यह दर्श या पौर्णमास याग केवल तीन घण्टों में ही सम्पन्न होता है। साथ ही यह बहुत छोटा, प्रथम, सादा और प्रकृति याग है। फिर भी इसके आध्वर्यव कृत्य के अभ्यास में किसी व्युत्पन्न एवं वैदिक विद्वान् को भी छः महीनों का समय अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। इस प्रकार की वस्तु स्थिति को न जानकर ही पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मणवर्ग के द्वारा किया गया ढोंग कहा है। हमारे भारतीय विद्वानों का भी अनुसन्धान कार्य बहुत अंश में इन्हीं पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थों पर अवलम्बित रहता है। इसीलिए इस विषय की वास्तविकता अबतक अन्धकार में ही रही है। वस्तुतः इस उपर्युक्त विषय को ध्यान में रख कर यथार्थ स्थिति का यदि अवगमन किया जाय तो कुछ और ही स्थिति दिखाई देती है।

यज्ञ संस्था की वास्तविक स्थिति को जानने के लिए एक बात ध्यान में रखनी होगी। वह यह है कि ब्राह्मणवर्ग ने अपने महत्त्व को बढ़ाने के लिए यज्ञ के नियम और विधि की कठिनाइयों को कहा है। इस बात को मन से हटा कर इस विषय पर विचार करना होगा। उसमें यथार्थ स्थिति यह है कि जो सर्वसामान्य नियम थे उनमें केवल ब्राह्मणवर्ग को किसी प्रकार के हेरफेर करने का अधिकार नहीं था। यज्ञ संस्था पर तीनों वर्ण का अधिकार शास्त्र सम्मत था। तीनों वर्ण प्राचीनकाल से यज्ञ करते आ रहे हैं। जिस प्रकार एक वस्तु पर अनेक का अधिकार होने पर किसी एक को उस वस्तु के नियमों में या विधान में परिवर्तन और परिवर्द्धन करने का अधिकार नहीं होता, उसी प्रकार यज्ञ संस्था पर तीनों वर्णों के अधिकार से यह नहीं माना जा सकता कि ब्राह्मणवर्ग ने उसमें परिवर्द्धन या परिवर्त्तन किया हो। इसके सिवाय यदि ब्राह्मणवर्ग ने ऐसा किया होता तो वे समाज की सहानुभूति भी खो बैठे होते। किन्तु वे सहानुभूति खो बैठे हैं यह बात प्रमाणित नहीं है। प्रत्युत इसके विपरीत में यह प्रमाणित है कि क्षत्रियों ने यजमान बनकर अनेक यज्ञ किये और ब्राह्मणों ने क्षत्रियों पर कृपा करके उनके यागों में आर्त्विज्य किया और अपने कर्त्तव्य का पालन किया। अतएव ब्राह्मणों ने स्वार्थ सिद्धि के हेतु यज्ञ के विधान एवं नियमों में हेरफेर किया है अथवा कठोर बनाया है इस मिथ्या अंकुर को मन से निकाल कर इस विषय पर अन्वेषकों को विचार करना चाहिए। वर्त्तमान काल में कुछ यागों के अनुष्ठान प्रचलित हैं और शेष विरल हो गये हैं। यथामति उसकी तालिका इस प्रकार है।

प्रचलित श्रौतयाग

अग्निहोत्रहवन	सुपर्णचिति
पौर्णमासयाग	दर्शयाग
चातुर्मास्ययाग	निरूढपशुबन्धयाग
सौत्रामणीयाग	कौकिलसौत्रामणीयाग
अग्निष्टोमयाग	अत्यग्निष्टोमयाग
उक्थ्ययाग	षोडशीयाग
अतिरात्रयाग	वाजपेययाग
आप्तोर्यामयाग	मित्रविन्दायाग
सर्वपृष्ठाप्तोर्यामयाग	साग्निचित्सर्वपृष्ठाप्तोर्यामयाग
साद्यस्क	नक्षत्रसत्र
स्वर्गसत्र	विश्वजिदतिरात्र
पिण्डपितृयज्ञ	अग्निचयन
अग्निचयन	श्येनचिति

अप्रचलित श्रौतयाग

दाक्षायण	पौण्डरीक
महाव्रत	द्वादशाह
द्विरात्र	त्रिरात्र
चतूरात्र	व्युष्टिद्विरात्र
गर्गत्रिरात्र	जामदग्न
पंचरात्र	षड्रात्र
सप्तरात्र	अष्टरात्र
नवरात्र	दशरात्र
एकादशरात्र	त्रयोदशरात्र
चतुर्दशरात्र	पंचदशरात्र
सप्तदशरात्र	विंशतिरात्र
चतुर्विंशतिरात्र	त्रिंशद्रात्र
द्वात्रिंशद्रात्र	त्रयस्त्रिंशद्रात्र
षट्त्रिंशद्रात्र	एकोनपंचाशद्रात्र
संवत्सरसत्र	गवामयनसत्र
अश्वमेध	राजसूय
ब्राह्मणसव	गोसव
ओदनसव	पञ्चशारदीय
अग्निष्टुत्	इन्द्रष्टुत्
सूर्यष्टुत्	विघन
सर्वतोमुख	लोष्टचिति समुह्यपुरीषचिति

आरण्यकों, उपनिषदों एवं पुराणों में याग

पुराण निर्माताओं ने अनेक प्राचीन यज्ञों का इतिहास दिखलाया है। उन्होंने दिखलाया है कि प्राचीन समय से अनेक ऐहिक और आमुष्मिक फल प्राप्ति के निमित्त याग किये गये हैं। इस प्रसङ्ग में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण एवं उपपुराण आदि में इष्टि, याग, सत्र का क्या स्वरूप है उसका अत्यन्त संक्षेप में दिग्दर्शन प्रस्तुत है।

इष्टि

कोसल निवासी ब्राह्मण देवदत्त ने पुत्रेष्टि की। उस इष्टि में याज्ञवल्क्य अध्वर्यु और बृहस्पति होता थे।[1]

१. दे० भा० ३.१०.१८।

कश्यप ने प्रियव्रत से पुत्रेष्टि करवायी थी। दैवयोग से इस इष्टि के करने पर भी फलस्वरूप मृत पुत्र का जन्म हुआ। देवसेना ने आकर पुत्र को जीवित किया।[१]

राजा दशरथ ने पुत्रेष्टि की। परिणाम स्वरूप राजा दशरथ को राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न चार पुत्र हुए। जिनकी महिमा आज भी घर-घर में सुरक्षित है।[२]

यौवनाश्व ने पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि की थी। तदनुसार उसकी कामना पूर्ण हुई है।[3]

अङ्ग द्वारा विहित अश्वमेध याग का वर्णन है। इस याग में देवता लोग हविर्भाग लेने नहीं आये। यजमान के पूछने पर ऋत्विजों ने यजमान का पुत्र रहित होना ही देवताओं की अनुपस्थिति का कारण बतलाया। तब यजमान ने पुत्रेष्टि की और उसे पुत्र हुआ। अनन्तर देवों ने यज्ञ में पधार कर हविर्ग्रहण किया।[४]

राजा धर्मसख को एक सौ रानियाँ थीं। उनमें से किसी को भी पुत्र न था। अतः राजा धर्मसख का निर्विण्ण रहना स्वाभाविक था। परामर्श करने पर विद्वान् ब्राह्मणों ने पुत्रेष्टि करने को कहा। राजा ने श्रद्धा और विधान पूर्वक पुत्रेष्टि का अनुष्ठान किया। बड़ी रानी को दो पुत्र और शेष रानियों को एक-एक पुत्र हुआ। इस प्रकार पुत्रेष्टि करने से राजा को एक सौ एक पुत्र हुए।[५]

याग

शुक्लतीर्थ में भरद्वाज द्वारा विहित याग का वर्णन है। उसमें याग का हविर्भाग राक्षस ने खा लिया। भारद्वाज ने राक्षस पर कृपा करके जल सिञ्चित किया और इस प्रकार उस राक्षस की मुक्ति हुई।[६]

गोपगण द्वारा विहित गिरियज्ञ का वर्णन।[७]

राजा अश्वशिर ने अश्वमेध याग किया था।[८]

अगस्त्य ने एक सौ वर्ष तक याग किये थे।[९]

---

१. ब्रह्म० वै० पु० अ० ४३.८-३२।
२. दे० भा० ३.१२-२९।
३. दे० भा० ७.९.५०-६३।
४. भा० पु० ४.१३.२५।
५. स्क० पु० ब्र० ख० अ० १५. श्लो० ५०।
६. ब्रह्म० पु० अ० १३३.३-२७।
७. ब्रह्म० पु० अ० १८७.४९-५६।
८. वरा० पु० ४.१३-१४।
९. वरा० पु० ७०.३.।

वृहस्पति के कहने से देवताओं ने गोमेध याग किया था ।[1]

ब्रह्मदेव ने सोम को ब्राह्मण, ओषधि और नक्षत्रों का राजा बनाया । सोम द्वारा विहित राजसूय याग का वर्णन ।[2]

सोमकृत राजसूय याग का वर्णन इस याग में समस्त त्रैलोक्य दक्षिणा में दान दिया ।[3]

इन्द्रद्युम्न द्वारा विहित सहस्र अश्वमेध याग का वर्णन[4] ।

रामकृत अश्वमेघ याग का वर्णन । इस अश्मेध में अश्व की रक्षा के लिए शत्रुघ्न की नियुक्ति हुई । सुबाहु पुत्र दमन ने अश्व को रोक लिया । दमन और पुष्कल (शत्रुघ्न सेनापति) में घोर युद्ध हुआ । दमन पराजित हुआ । शत्रुघ्न और सुबाहु का आत्मसमर्पण । अश्व लेकर शत्रुघ्न का यज्ञशाला में आगमन और यज्ञ की समाप्ति ।[5]

बड़े ही उत्साह के साथ राजा हरिश्चन्द्र ने याग किया । विश्वामित्र ने याग की दक्षिणा माँगी । धनाभाव के कारण दक्षिणा देने के लिए हरिश्चन्द्र ने कुछ समय माँगा । निश्चित समय पर भी दक्षिणा द्रव्य की उपलब्धि न होने पर राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्नी बेच दी । फिर भी द्रव्य की न्यूनता के कारण हरिश्चन्द्र ने अपने पुत्र को भी बेच दिया । तब भी दक्षिणा का द्रव्य पूरा नहीं हुआ । अन्त में हरिश्चन्द्र ने अपने को चाण्डाल के हाथ बेच दिया और चाण्डाल की दासता भी स्वीकार कर ली । दुर्दैवयोग से हरिश्चन्द्र के पुत्र को सर्प ने काटा और वह मर गया । उसके मृत शरीर को लेकर उसकी माता श्मशान पर पहुँची । हरिश्चन्द्र ने शोकातुर होकर मृत पुत्र की चिता पर अपना दाह भी निश्चित किया । राजपत्नी ने भी पति के अनुसरण का निश्चय किया । इस दृढ़ निश्चय को देखकर वहाँ पर इन्द्रादि देव प्रकट हुए । इन्द्रादि देवों ने आशीर्वाद दिया । राजा का पुत्र जीवित हुआ । इस प्रकार हरिश्चन्द्र के दृढ़ सत्यप्रतिज्ञ होने के कारण पूरे परिवार का जन्म सफल हुआ ।[6]

राजा बलि ने अश्वमेध याग किया । उस याग में वामन रूप धारण कर भगवान् विष्णु पधारे । बलि के बहुत आग्रह करने पर वामन भगवान् ने केवल तीन पैर पृथ्वी की याचना की । शुक्राचार्य प्रभृति के मना करने पर भी बलि राजा अपने निश्चय पर दृढ़ रहे । राजा बलि द्वारा भूमिदान की स्वीकृति पाकर उसी समय वामन ने विराट् रूप धारण कर लिया । तीन

---

१. वरा० पु० १६.११-१२ ।

२. विष्णु० पु० ४.६.६ ।

३. ब्रह्म० पु० अ० ९, श्लो० १३ ।

४. स्क० पु० वै० उ० अ० १७ ।

५. प० पु० पा० ख० अ० ९-११ ।

६. मा० पु० अ० ८ ।

कदमों में समस्त पृथ्वी व्याप्त कर ली। अन्त में बलि ने वर प्राप्त किया। इस प्रकार बलि का जन्म सफल हुआ।[१]

सोम द्वारा विहित राजसूय याग का वर्णन। उस याग में अत्रि होता, भृगु अध्वर्यु, ब्रह्मा उद्गाता, विष्णु उपद्रष्टा, सनक सदस्य और विश्वेदेवा चमसाध्वर्यु थे। सोम ने दक्षिणा में त्रैलोक्य दान दे दिया।[२]

कार्त्तवीर्य ने दस हजार याग किये थे। प्रत्येक याग में प्रचुर दक्षिणा दी थी। उन्होंने अपने यागों में यूप और वेदि सुवर्ण की बनवायी थी। उन यागों में गन्धर्व और नारद ने गाथाएँ गायी थीं।[3]

विश्वामित्र ने ब्रह्मदेव से आज्ञा लेकर त्रिशङ्कु को सशरीर स्वर्ग में ले जाने के लिए त्रिशङ्कु से यज्ञ करवाया। उस यज्ञ में विश्वामित्र अध्वर्यु, शाण्डिल्य होता, गौतम ब्रह्मा, च्यवन आग्नीध्र, याज्ञवल्क्य उद्गाता, जैमिनि प्रतिहर्त्ता, शङ्कुकर्ण प्रस्तोता, गालव उन्नेता, पुलस्त्य ब्राह्मणाच्छंसी, अत्रि नेष्टा और भृगु अच्छावाक थे।[४]

पुत्र प्राप्ति की कामना से सीरध्वज ने यज्ञ प्रारम्भ किया। विहार निर्माण के लिए जब वह भूमि को परिष्कृत करने के लिए जोत रहा था तब हल के अग्रभाग से टकराकर उसे सीता नामक कन्या की प्राप्ति हुई।[५]

सौभरि मुनि संसार से विरक्त होकर गृह, पुत्रादि छोड़ कर वन में गये। अपनी मनोवृत्ति के राग-द्वेषादि से रहित होने पर, आहवनीय आदि वैतान अग्नि का अपने शरीर में समारोपण करके संन्यास ग्रहण किया।[६]

सृष्टि की रचना करने से पूर्व ब्रह्मदेव ने अपने को सृष्टि की रचना करने में असमर्थ पाया। आकाशवाणी के द्वारा उन्हें याग करने का आदेश प्राप्त हुआ। तदनुसार ब्रह्मदेव ने याग किया। उस याग का ब्रह्मगिरि में देवयजन हुआ। यज्ञ करके ब्रह्मदेव ने यज्ञपुरुष को तृप्त किया। तदनन्तर सृष्टि का प्रारम्भ हुआ।[७]

शोण क्षेत्र में अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध और सर्वतोमुख प्रभृति यागों के अनुष्ठान का वर्णन प्राप्त होता है।[८]

---

१. भा० पु० ८.१८.२०।
२. मत्स्य० पु० अ० २३.१९।
३. मत्स्य० पु० ४३।
४. स्क० पु० ना० ख० अ० ५।
५. विष्णु० पु० अं० ४ अ० ५.२८।
६. विष्णु० पु० अ० ४ अ० २।
७. ब्रह्म० पु० अ० १६१।
८. स्क० पु० मा० ख० अ० मा० अ० ६.३४-३६।

सोम द्वारा विहित राजसूय याग का वर्णन ।[1]

राजा श्वेत द्वारा विहित अनेक अश्वमेध यागों का वर्णन ।[2]

राजा वसुमनाकृत अश्वमेधयाग का वर्णन ।[3]

पुत्र प्राप्ति के लिए शतानीक शाण्डिल्य ऋषि के आश्रम में गये । शाण्डिल्य ने शतानीक को पुत्रप्राप्त्यर्थ याग करने को कहा । तदनुसार शतानीक ने याग किया और उसे सहस्रानीक नामक पराक्रमी पुत्र लाभ हुआ ।[4]

कुशाश्व के पुत्र सोमदत्त ने एक सौ अश्वमेध याग किये थे ।[5]

ब्रह्मपुत्र आदि मनु ने एक हजार राजसूय याग, तीन लाख अश्वमेध याग, तीन लाख नरमेध याग और चार लाख गोमेध याग किये थे । वहाँ पर उस याग में तीन करोड़ ब्राह्मण प्रतिदिन भोजन करते थे ।[6]

कंस द्वारा विहित धनुर्मख का वर्णन ।[7]

राजा शिवि ने एक सौ अश्व मेध याग किये थे और तामस मन्वन्तर में वह इन्द्र था ।[8]

सगर ने अश्वमेध याग किया । उनके पुत्रों से रक्षित होने पर भी अश्वमेध याग के अश्व की चोरी हो गयी । खोजते हुए पाताल में अश्व देखा गया । वहीं पर कपिल मुनि तपोलीन विराजमान थे । खोजने वाले लोग उन्हें अश्व का चोर मानकर मारने को उद्यत हुए । मुनि ने आँखें खोलीं । उनकी आँखों के खुलते ही सगर के सब पुत्र भस्म हो गये । सगर ने इस वृत्तान्त को सुनकर अंशुमान् को अश्व लाने को भेजा । अंशुमान् कपिल मुनि के निकट पहुँच कर उनकी स्तुति करने लगे । स्तुति से प्रसन्न होकर कपिल मुनि ने अश्व को ले जाने की अनुमति दे दी । साथ ही वर माँगने को कहा । अंशुमान् ने अपने पूर्वज, जो मृतक थे उनकी सद्गति होने का वर माँगा । कपिल मुनि ने कहा कि तुम्हारा पौत्र भगीरथ स्वर्ग से गङ्गा लाने वाला उत्पन्न होगा । उस गङ्गोदक का स्पर्श होने पर तुम्हारे सभी पूर्वजों की सद्गति हो जायेगी । अंशुमान् ने अश्व को ले जाकर देवयजन में उपस्थित किया और याग की समाप्ति हुई । अंशुमान् के पौत्र ने तप करके स्वर्ग से गङ्गा को पृथ्वी पर लाया और कपिल मुनि के कथनानुसार सभी पूर्वजों को सद्गति प्राप्त हुई ।[9]

---

१. ब्र० पु० अ० ९ श्लो० १३-१५ ।

२. पद्म० पु० सृ० अ० ३६. १०६-१११ ।

३. कू० पु० पू० अ० २०.२९.३५ ।

४. स्क० पु० ब्र० अ० ५.७० ।

५. वि० पु० ४.१.५६ ।

६. ब्रह्म० वै० पु० प्र० ख० अ० ५४.४५ ।

७. ब्रह्म० वै० पु० श्रीकृष्ण० अ० ६४ ।

८. वि० पु० अ० ३. अ० १.१७ ।

९. वि० पु० अ० ४ अ० ४. १६-३५ ।

एक बार ब्रह्मा ने यज्ञ किया। उस याग में भृगु होता, च्यवन मैत्रावरुण, मरीचि अच्छावाक, गालव ग्रावस्तुत्, पुलस्त्य अध्वर्यु, अत्रि प्रतिप्रस्थाता, रैभ्य नेष्टा, सनातन उन्नेता, नारद ब्रह्मा, गर्ग ब्राह्मणाच्छंसी, भरद्वाज आग्नीध्र, पाराशर होता, गोभिल उद्गाता, कौथुम प्रस्तोता, शाण्डिल्य प्रतिहर्ता और अङ्गिरा सुब्रह्मण्य इस प्रकार ऋत्विजों का वरण किया गया था। याग के अनुष्ठान में दीक्षा के समय पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य होती है। शृङ्गार और गृहमण्डनादि कार्य में व्यस्त सावित्री यज्ञिय दीक्षा के समय उपस्थित न हो सकी। दीक्षा का मुहूर्त्त बीता जा रहा था। यह देख ब्रह्मा ने गायत्री के साथ विवाह करके यज्ञिय दीक्षा प्रभृति अनुष्ठान का कार्य चालू कर दिया। सावित्री ने समझा कि दीक्षा का समय हो गया है और मेरी राह देखी जा रही होगी। सावित्री विलम्ब से यज्ञशाला में उपस्थित हुई। उसने वहाँ की स्थिति देखी और अत्यन्त क्रुद्ध हुई। इस कार्य के प्रवर्त्तक इन्द्र आदि को श्राप दिया।[1]

मरुत् का याग अपूर्व हुआ था। उसके याग में याग की समस्त सामग्री स्वर्णमयी थी। उस यज्ञ में इन्द्र सोमरस से और समस्त ऋत्विज और ब्राह्मण लोग दक्षिणा से तृप्त हो गये थे। मरुद्गण परोसने वाले और देवता लोग सदस्य थे।[2]

उशना ने एक सौ अश्वमेध याग किये थे।[3]

पुरुरवा ने अनेक याग किये और प्रचुर दक्षिणा दी थी।[4]

राजा पृथु ने एक सौ अश्वमेध याग किये थे।[5]

जनक द्वारा विहित बहु दक्षिण याग का वर्णन[6]

ब्रह्मचारी को वेदाध्ययन के अनन्तर समावर्तन संस्कार होने पर गृहस्थाश्रम धर्म का सेवन करना विहित है। विवाह के समय से ही स्मार्त्ताधान करने का विधान है। तदनन्तर पुत्रोत्पत्ति होने पर उसे श्रौताग्नि का परिग्रह करके अनेक याग करने चाहिए।[7]

अत्रि के पुत्र चन्द्रमा ने राजसूय याग किया। बृहस्पति की स्त्री तारा का अपहरण किया। इस पर सङ्ग्राम छिड़ गया। ब्रह्मदेव ने युद्ध शान्त किया। चन्द्रमा के पुत्र बुध हुए।[8]

राजा बलि द्वारा विहित अश्वमेध याग का वर्णन।[9]

---

१. स्कन्द पु० ना० ख० अ० १८१, १९२।

२. वि० पु० अं० ४. अ० १.३२।

३. मत्स्य० पु० अ० ४४.२३।

४. दे० भा० १.१३.१.५।

५. भा० पु० ४.१९.१।

६. बृ० उ० अ० ३.१।

७. क० रु० उ० अ० १।

८. वि० पु० अं० ४ अ० ६.८।

९. ब्र० पु० अ० ७३.१२-३४।

राजा जनक के पुत्र ने अनेक याग किये और प्रचुर दक्षिणा दी। पुत्र और राज्य का सुख भोग कर युद्ध में लड़कर वह वीरगति को प्राप्त हुआ।[१]

गया में पाण्डवों ने चातुर्मास्य याग किया।[२]

राजा प्रियव्रत द्वारा विहित अश्वमेध याग का वर्णन।[३]

पुरुरवा द्वारा विहित अग्निहोत्र एवं अन्य यागों का वर्णन।[४]

सत्र

चक्रतीर्थ में सप्तर्षि गण ने सविधि सत्र का अनुष्ठान किया। उस सत्र में राक्षसों ने खूब उपद्रव किया। विष्णु भगवान् ने चक्र से सब राक्षसों का वध किया और सत्र पूर्ण हुआ।[५]

मुनिगण द्वारा विहित महासत्र का वर्णन।[६]

सहस्रसंवत्सर साध्य सत्र का वर्णन। इसमें महर्षि तप ने गृहपति, ब्रह्मदेव ने ब्रह्मा, इडाने पत्नी और साक्षात् यम ने शामित्र का काम किया था[७]।

पुरुरवा के शासनकाल में नैमिषारण्य में ऋषिगण ने द्वादशवार्षिक सत्र का अनुष्ठान किया था।[८]

वैश्वानर, बालाखिल्य और मरीचि प्रभृति महर्षियों ने द्वादशवार्षिक सत्र का अनुष्ठान किया था।[९]

इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने सहस्रसंवत्सर साध्य सत्र का अनुष्ठान किया। उसमें वसिष्ठ ऋषि को हौत्र करने को कहा। इन्द्र के यज्ञ में पहले से निमन्त्रित होने के कारण वसिष्ठ ने इन्द्र के यज्ञ को सम्पन्न करके लौटने तक प्रतीक्षा करने को कहा। निमि ने तब तक प्रतीक्षा न करके गौतम ऋषि को निमन्त्रित करके याग प्रारम्भ कर दिया। इन्द्र के याग को समाप्त करके जब वसिष्ठ लौटे तो उन्होंने देखा कि उनके आने से पूर्व ही याग का प्रारम्भ हो चुका है। क्रुद्ध होकर उन्होंने निमि को विदेह होने का श्राप दिया। निमि ने वसिष्ठ के तेज को विश्वामित्र में प्रविष्ट होने की व्यवस्था की। निमि के याग में जब देवता लोग हवि लेने को आये तब उसने पुनर्जन्म न होने का वर माँगा। अनन्तर क्षेत्र से सीता की प्राप्ति हुई।[१०]

---

१. वि० पु० अं० ३. अ० १८.९० ।
२. म० भा० आर० प० अ० ९३. श्लो० १३ ।
३. ब्र० पु० अ० १०३.३-१२ ।
४. ब्रह्म० पु० अ० १०. श्लो० २ ।
५. ब्रह्म० पु० अ० १३४. ३-१५ ।
६. ब्रह्म० पु० अ० १७३.५ ।
७. ब्रह्माण्ड० पु० पू० १. अ० २ ।
८. ब्रह्माण्ड० पु० प्र० १. अ० २ ।
९. वायु० पु० अ० २. १२-१४ ।
१०. विष्णु० पु० अं० ४. अ० ५. १-२८ ।

कुलपति शौनक ने द्वादशवार्षिक सत्र का प्रारम्भ किया। उस समय सूतजी वहाँ उपस्थित हुए। उपस्थित ऋषिगणों ने सूतजी से महाभारत सुनाने की प्रार्थना की, उनकी प्रार्थना को सुनकर सूतजी ने महाभारत सुनाना प्रारम्भ किया। इस तरह सत्र का अनुष्ठान ही महाभारत के आविर्भाव का कारण हुआ।[१]

नैमिषारण्य में विहित द्वादशवार्षिक सत्र का वर्णन।[२]

जनमेजय ने सर्पसत्र के अनुष्ठान के लिए समस्त आवश्यक यज्ञिय सामग्री एकत्रित की। सर्पसत्र के अनुष्ठान की दीक्षा ली। उस सत्र में चण्डभार्गव होता, कौत्स उद्गाता, जैमिनि ब्रह्मा थे। शार्ङ्गरव ने अध्वर्यु का कार्य किया। जनमेजय ने अपने शत्रु तक्षक के विनाश के लिए यह सत्र प्रारम्भ किया था। ऋत्विजों द्वारा मन्त्र प्रयोग से जब तक्षक को आहूत किया गया तब भयभीत होकर तक्षक इन्द्र की शरण में जा बैठा। तदनन्तर बलात् आहूत करने पर भी तक्षक के उपस्थित न होने पर समस्त ऋत्विजों को महान् आश्चर्य हुआ। इस पर ऋत्विजों द्वारा प्रबलतम मन्त्रों का प्रयोग किया गया। अन्त में मन्त्र बल से विवश होकर यज्ञशाला में तक्षक उपस्थित हुआ। भय से काँपते हुए तक्षक ने प्रार्थना करना प्रारम्भ कर दिया। उसकी प्रार्थना को सुनकर प्रसन्न होकर ऋत्विजों ने उसे क्षमा कर दिया। इस प्रकार तक्षक के प्राण बच गये। तदनन्तर प्रसन्न वातावरण में सकुशल सत्र की समाप्ति हुई।[३]

याग सम्बन्धी विविध विषय

दो अग्नि के बीच से आवागमन नहीं करना चाहिए।[४]

अग्नि की उपासना का प्रकार बतलाते हुए याग का वर्णन।[५]

शूद्र को याग न करके यागविषयक सेवा करनी चाहिए।[६]

अग्नि को लांघना नहीं चाहिए।[७]

तैत्तिरीय आरण्यक में विस्तार से प्रवर्ग्य विधान प्राप्त होता है।[८]

गार्हपत्य ऋग्वेदस्वरूप, पृथ्वी स्थानीय और रथन्तर सामरूप है। दक्षिणाग्नि यजुर्वेदस्वरूप, अन्तरिक्ष स्थानीय तथा आहवनीय का सामवेदस्वरूप स्वर्गस्थानीय एवं बृहत् सामस्वरूप कहा गया है।[९]

---

१. महा० भा० आ० प० अ० १।
२. ब्र० पु० अ० १.१०-१५।
३. म० भा० आदि प० अ० ४७-५३।
४. कू० पु० उ० अ० १६.९२।
५. कू० पु० उ० अ० २४.१-२०।
६. स्क० पु० ब्र० अ० १०.३८।
७. कू० पु० उ० अ० १६.८०।
८. तै० आ० ४.२. ४.७।
९. महाना० उ० ख० २२।

सर्व प्रायश्चित्त का सविस्तर वर्णन ।[1]

यागों में उद्गाता नामक ऋत्विज सामगान करता है। इस सामगान की स्तोत्र संज्ञा है। प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन ये सामगान के पाँच अंश हैं ।[2]

अशास्त्रीय रूप से अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास आदि की उपासना हितकर नहीं है ।[3]

ब्रह्महत्यादि पापनिवृत्ति के लिए अश्वमेधयाग का विधान । यज्ञिय अवभृयाग के समय स्नान करने से समस्त पाप दूर हो जाते हैं ।[4]

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अग्नि, समित्, हवन, यजमान, यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा आदि की उत्पत्ति ।[5]

श्रौतस्मार्त्तकर्म का अनुसरण करने वाला शंकर का कृपापात्र होता है। उस व्यक्ति को धर्मज्ञ कहा है ।[6]

त्रेता युग में यज्ञविधान की प्रवृत्ति बढ़ी है ।[7]

सृष्टि के आदि में ईश्वर से आविर्भूत ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन चार पादों से युक्त वेद एक लाख मन्त्रवाला एक ही था। उसी से सकल मनोरथों को सिद्ध करने वाले अग्निहोत्रादि यज्ञों का प्रादुर्भाव हुआ ।[8]

ब्रह्माजी ने ऋक् से होता के, यजुः से अध्वर्यु के, साम से उद्गाता के और अथर्व से ब्रह्मत्व के कार्य की व्यवस्था की है ।[9]

समस्त कामनाओं की सिद्धि करने वाले अग्नि का वर्ण सुवर्ण-सा है। वे अर्द्धचन्द्रासन पर आसीन हैं। उन्होंने यज्ञोपवीत धारण किया है। उनकी लम्बी दाढ़ी है। उन्होंने बायें हाथ में कमण्डलु और दाहिने हाथ में माला धारण कर रखी है। उनका वाहन अज है ।[10]

गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय का स्वरूप इस प्रकार है। शुक्लरूप विष्णु स्वरूप आहवनीय, कृष्णरूप विष्णु स्वरूप दक्षिणाग्नि और पीतरूप विष्णुस्वरूप गार्हपत्य वर्णित है ।[11]

---

१. तै० आ० ४.२० ।
२. छा० उ० २.२-२० ।
३. मु० उ० १.२-३ ।
४. अ० पु० अ० १६९.३ ।
५. मु० उ० २.१.६ ।
६. लिं० पु० अ० १०.१-५ ।
७. मत्स्य० पु० अ० १४२ ।
८. वि० पु० अं० ३. अ० ४.१ ।
९. वि० पु० अं० ३. अ० ४.१२ ।
१०. मत्स्य पु० अ० २६०. श्लो० ९-१२ ।
११. ब्रह्म० पु० अ० १६१.५७ ।

अग्निचयन याग के प्रकरण में किस कामना में किस चिति का चयन करना चाहिए इसका अच्छा विवेचन किया है। जैसे पशु की कामना हो तो छन्दश्चिति, श्रेष्ठता प्राप्त करने की अभिलाषा हो तो कङ्कचिति, शत्रु के घेराव से मुक्ति पाने की अभिलाषा हो तो प्रउगचिति और रथचक्रचिति, पशु की अभिलाषा हो तो समूह्यचिति, ग्राम की कामना में परिचाय्यचिति, पितृलोक की प्राप्ति के निमित्त श्मशानचिति का चयन करके अपनी अभिलाषा की पूर्ति करनी चाहिए।[1]

आध्यात्मिक दृष्टि से अग्निहोत्र का वर्णन भी है। इसे प्राणाग्निहोत्र कहते हैं।[2]

आध्यात्मिक दृष्टि से याग और उसके अङ्गों का विस्तृत वर्णन।[3]

याग में होने वाली अनेकविध दीक्षा का वर्णन।[4]

अश्वमेध याग में की गयी रामचन्द्र की दीक्षा का वर्णन।[5]

परमहंस संन्यासी को अग्निहोत्रशाला में निवास करना चाहिए।[6]

अशुचि अवस्था में अग्नि की परिचर्या नहीं करनी चाहिए। एक अग्नि में दूसरा अग्नि मिलाना नहीं चाहिए। अग्नि को पानी से बुझाना भी वर्जित है। हाथ से अग्नि का स्पर्शन नहीं करना चाहिए।[7]

प्राणाग्नि होत्र विद्या का विशद वर्णन।[8]

जब देवताओं ने याग किया था, तब उनका देवयजन कुरुक्षेत्र था।[9]

किसी प्रकार की शङ्का से रहित होकर, अपनी इच्छा से कृष्णसार मृग जहाँ चरते हों, वह स्थान याग करने के उपयुक्त समझा गया है।[10]

कार्तिकेय महासेन के स्थान को याग के अनुकूल समझकर देवताओं ने वहाँ याग किया था। उसी समय से उस स्थान का नाम देवयजन हुआ। इस स्थान पर एक याग करने वाले को वही फल मिलता है, जो अन्यत्र एक सौ याग करने पर फल मिलता है।[11]

---

१. तै० सं० ५.४.११।
२. शां० आ० अ० १०।
३. महा० ना० उ० ख० २५।
४. तै० आ० २.८।
५. ब्रह्म० पु० अ० १५४.१५।
६. या० उ० १।
७. कू० पु० उ० अ० १६.७६, ९१. ८७।
८. दे० भा० ११.२२.२३।
९. तारसा० उ० १।
१०. मनुस्मृति २.२३।
११. स्क० पु० ना० ख० ७५.६-१०।

वाराणसी में जिस स्थान पर दस अश्वमेध का अनुष्ठान सम्पन्न हुआ था उन यागों के फलस्वरूप उस स्थान का नाम दशाश्वमेध हुआ, जो कि आज भी उसी नाम से प्रसिद्ध है।[१]

गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय की परिचर्या का सुन्दर वर्णन।[२]

वैश्वानर का हृदय गार्हपत्य, मन दक्षिणाग्नि और मुख आहवनीय है।[३]

जिस तरह तिल में तेल, दही में घी और नदी में जल रहता है, उसी तरह अरणी में सर्वत्र अग्नि व्याप्त रहता है।[४]

गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय का वर्णन है।[५]

जैसे तीन लोक, तीन सन्ध्या और तीन गुण हैं, वैसे ही गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय ये तीन वैतानाग्नि हैं।[६]

गार्हपत्य, ऋग्वेदस्वरूप और पीतवर्ण का है। बादलों के रंग का दक्षिणाग्नि है और सामवेद स्वरूप आहवनीय है[७]

अग्नि के नाम एवं अग्नि की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन।[८]

भगवान् विष्णु से यज्ञ की उत्पत्ति का वर्णन।[९]

महर्षि नारद कृष्ण भगवान् की परीक्षा लेने के लिए कृष्ण भवन में गये। उन्होंने वहाँ देखा कि एक भवन में कृष्ण भगवान् श्रौताग्नि की उपासना कर रहे हैं। दूसरे भवन में देखा कि कृष्ण भगवान् ब्राह्मणों को भोजन करा कर स्वयं भोजन कर रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक भवन में अलग-अलग लीलाएँ देखीं। इससे यह स्पष्ट है कि कृष्ण भगवान् भी स्वयं अग्निहोत्री थे।[१०]

सात्विक, राजस और तामस यागों का वर्णन।[११]

---

१. स्क० पु० का० ख० अ० ५२.६६।
२. छा० उ० ४.१०-१३।
३. छा० उ० ५.१८।
४. ब्रह्म० उ० अन्तिमांश।
५. मै० उ० प्र० ६.३४।
६. यो० त० उ० १३४-१३५।
७. पञ्चब्र० उ० २-७।
८. मत्स्य० पु० अ० ५१।
९. स्कन्द० पु० वै० ख० अ० ३५. श्लो० ५७।
१०. भा० पु० १०. ६९. २४।
११. दे० भा० ३. १२. ३४-३८।

लक्षण सहित जपयज्ञ, योगयज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ और दानयज्ञ का वर्णन। आमरणान्त इन यज्ञों का सेवन करना योग्य है।[१]

यज्ञोत्पत्ति का वर्णन।[२]

राक्षसों के उपद्रव से त्रस्त होकर विश्वामित्र ने दशरथ से यज्ञ की रक्षा के लिए राम को अपने साथ ले जाने की याचना की। दशरथ की स्वीकृति पाकर विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को लेकर देवयजन में आये। राम और लक्ष्मण ने राक्षसों को मार कर यज्ञ की रक्षा की।[३]

श्राद्ध के निमित्त उसी ब्राह्मण को निमन्त्रित करना योग्य है, जो अग्निहोत्र में रत, वेद-वेदाङ्ग पारङ्गत और न्यायशास्त्र आदि का जानकार हो।[४]

यज्ञ में आर्त्विज्य करने वाले को ही अपनी कन्या देनी चाहिए। उससे उत्पन्न पुत्र चौदह कुल का तारक होता है।[५]

दीर्घतपा को धन्वन्तरि नामक पुत्र हुआ। उसका शरीर एवं शरीर के सभी अङ्ग जरा प्रभृति विकारों से रहित थे। पूर्व जन्म में नारायण ने उसे वर दिया था कि तुम काशीराज के कुल में जन्म लोगे। अपने जीवन में आयुर्वेद को आठ विभागों में विभक्त करोगे और यज्ञ भाग के भोक्ता बनोगे।[६]

ग्राम्य और वन्य दोनों प्रकार की ओषधियों को मिलाकर कुल चौदह प्रकार की ओषधियाँ याज्ञिक हैं। यज्ञ ही इनके कारण हैं। औषधियाँ प्रजा की वृद्धि का कारण हैं। इसीलिए इहलोक और परलोक की लीला पर विश्वास रखने वाले महापुरुष यज्ञ का अनुष्ठान करते आये हैं।[७]

एक बार शुक ने जनक से पूछा कि यागों में सोम पीना, सौत्रामणी में सुरा पीना और पशु याग करना वर्जित क्यों नहीं है? ऐसे व्यक्ति की सद्गति कैसे हो जाती है? प्राचीन समय में राजा शशबिन्दु ने इतने अधिक पशु याग किये कि विन्ध्य पर्वत के बराबर चर्म का ढेर हो गया। उसे स्वर्ग कैसे मिला? जनक ने उत्तर दिया कि याग की हिंसा, उपाधि से आवृत है। वह रागियों के लिए हिंसा और निस्पृहों के लिए अहिंसा है।[८]

---

१. शाट्या० उ० १२-१६।
२. का० पु० अ० ३४. १४-१६।
३. पद्म० पु० उ० अ० २४२।
४. कू० पु० उ० अ० २१, ३-६।
५. स्क० पु० का० अ० ३८, ३।
६. वि० पु० अं० ४. अ० ८. ८-१०।
७. वि० पु० अं० १. अ० ६. २३-२९।
८. दे० भा० १. १८. ४८-६२।

अश्वमेध प्रभृति बड़े यागों में संभारकी प्रचुरता होने के कारण उनका अनुष्ठान साधारण जन साध्य नहीं है । अपितु तदर्थ दृढ़ संकल्पवान् समस्त यज्ञ संभार को एकत्र करने में समर्थ और चक्रवर्ती राजा होना परमावश्यक है ।[1]

वराहावतार के समय वराह भगवान् के शरीर में समस्त यज्ञपात्र, याग, क्रतु आदि का वर्णन ।[2]

नन्द द्वारा गोपियों को उत्साहपूर्वक इन्द्र यज्ञ करने का आदेश ।[3]

एक बार ब्रह्मदेव द्वारा विहित याग में प्रवर्ग्य विधान के समय किसी अभद्र वेषधारी व्यक्ति ने आकर सदोमण्डप में एक कपाल रख दिया । यज्ञ को अपवित्र होते देख एक ऋत्विज ने उस कपाल को उठा कर यज्ञशाला के बाहर फेंक दिया । उसी स्थान पर तुरन्त ही दूसरा कपाल देखा गया । उसे भी बाहर फेंका । इस प्रकार फेंकते-फेंकते कपालों का पहाड़ हो गया । किन्तु कपाल की क्रमशः उत्पत्ति बन्द नहीं हुई । अन्त में यज्ञ को अशुद्ध एवं अपूर्ण होते देख प्रार्थना की गयी । प्रार्थना को सुनकर शंकर भगवान् प्रकट हुए । उन्होंने वरदान दिया और यज्ञ समाप्त हुआ । इसीलिए आज भी पुरोडाश का श्रपण मिट्टी के कपाल पर ही होता है ।[4]

दक्ष द्वारा विहित अश्वमेध याग का वर्णन ।[5]

ब्राह्मणों द्वारा कर्तव्य रूप से अनेक श्रौतयागों का वर्णन ।[6]

ब्रह्मदेव द्वारा वर्णित यज्ञभूमि, यज्ञपात्र, याग के प्रकार और ऋत्विजों का विस्तृत विवेचन ।[7]

सगर प्रभृति बहुत लोगों ने याग किये किन्तु निर्विघ्नरूप से एक सौ अश्वमेध याग करने वाला ही इन्द्र पद का उपभोग कर सकता है ।[8]

रौहिताश्व ने मार्कण्डेय से पूछा—वेद, शास्त्र, स्त्री और धन की सार्थकता कैसे है ? मार्कण्डेय ने कहा—अग्निहोत्र से वेद, नम्रता से शास्त्र, पुत्र से स्त्री और दान एवं भोग से धनकी सार्थकता है ।[9]

---

१. भवि० पु० ब्रा० प० अ० १५१. श्लो० ११ ।
२. भा० पु० ३. १३. ३४-३९ ।
३. ब्र० वैव० पु० श्रीकृष्ण ज० ख० २१. १-२ ।
४. स्क० पु० ना० अ० १८२ ।
५. वा० पु० उ० अ० ३०. श्लो० ११० ।
६. कू० पु० उ० अ० २४. १-४ ।
७. स्क० पु० ना० ख० अ० १८० ।
८. स्क० पु० का० ख० अ० १०. २२-२३ ।
९. स्कन्द० पु० ना० ख० अ० २१५. १८-१९ ।

जब पृथ्वी पर दानव बहुत हो गये और धर्म लुप्त होने लगा, तब धर्म को व्यवस्थित करने के लिए विष्णु ने वराह अवतार लिया। इस अवतार के लेते ही मन से यज्ञ प्रादुर्भूत हुआ।[१]

यज्ञक्रिया स्वरूप ही विष्णु भगवान् हैं। यज्ञ के द्वारा उन्हीं का यजन होता है। यज्ञ के साधन स्वरूप स्रुक्, स्रुव प्रभृति विष्णु के स्वरूप से भिन्न नहीं है।[२]

सर्पसत्र के प्रकरण में आस्तीक और जरत्कारु के आख्यान देखने में आते हैं। उसके फलस्वरूप आस्तीक और जरत्कारु के आख्यान को सुनने या स्मरण करने से सर्प का भय नहीं होता।[३]

जो ब्राह्मण अथर्वशिरस् उपनिषद् का पाठ करता है, उसे समस्त यागों के करने का फल होता है।[४]

बृहज्जाबालोपनिषद् का जो पाठ करता है, वह अग्नि के समान पवित्र होता है। वह अग्नि का स्तम्भन कर सकता है और अग्नि उसे जला नहीं सकता।[५]

पञ्चनद तीर्थ में स्नान करने से अग्निहोत्र करने का पुण्य होता है।[६]

श्रद्धापूर्वक जो विष्णुपुराण को सुनता है, उसे अश्वमेध याग करने का फल प्राप्त होता है।[७]

चरणव्यूह के पाठ करने से अश्वमेध याग करने का फल होता है।[८]

इस प्रकार संक्षेप रूप में इष्टि याग सत्र एवं याग सम्बन्धी विविध विषय प्रस्तुत किये हैं।

श्रौतयज्ञ की महिमा और उसकी समाज में मान्यता

संसार में प्रत्येक व्यक्ति सुख की अभिलाषा रखता है। मनुष्य अथवा पशु कोई भी हो सुख की अपेक्षा सभी को रहती है। जो अपनी इच्छा के अनुकूल है वही सुख है। वह चाहे जिस रूप में हो। धन के रूप में, पुत्र के रूप में, अथवा विद्वत्ता के रूप में, किन्तु यह अवश्य है कि जो भी अपनी इच्छा के अनुकूल हो वह सुख है और वही सबको चाहिए। जिस प्रकार बुभुक्षित प्राणी भोजन चाहता है उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी अपनी अभिलषित वस्तु चाहता है।

---

१. स्क० पु० रे० ख० अ० १९. श्लो० ४९।

२. विष्णु पु० अं० २. अ० ८. श्लो० ४४।

३. महा० भा० आ० प० अ० ५३, २०-२६।

४. अथर्वशीर्षोपनिषद् ७।

५. बृहज्जाबालोपनिषद् ८।

६. वरा० पु० अ० २१३. श्लो० ९४।

७. वि० पु० अं० ६. अ० ८. ५४।

८. चरणव्यूह।

अपनी चाही वस्तु को पाने के लिए वह अनेक प्रयत्न करता है। वह किसी की सेवा करता है, किसी से अनुराग करता है, लड़ाई करता है, व्यापार करता है और नौकरी भी करता है। उसे जो भी करना आवश्यक हो वह अपनी शक्ति भर अपनी इच्छा की पूर्ति करने के लिए उद्यत हो जाता है और अपनी ओर से पूरा प्रयत्न करता है जिससे कि वह मनचाही वस्तु पा कर सुखी हो सके।

अभिलषित वस्तु को पाने के अनेक मार्ग हैं। उन्हीं मार्गों में सर्वश्रेष्ठ और वेद-विहित मार्ग यज्ञानुष्ठान है। साधारणजन अपनी शक्ति की अपेक्षा देवता, ऋषि, मुनि और आप्तजनों की शक्ति को अधिक मानता है और उस पर विश्वास और भरोसा भी करता है। जब मानव अपनी चाही वस्तु को पाने के लिए अपनी शक्ति भर प्रयत्न कर लेता है और उसे सफलता नहीं मिलती तब दैवी-शक्ति की ओर दौड़ पड़ता है। वह अपने पूज्य जनों से सम्मति भी लेता है। हमारे ऋषि, मुनि के निकट जाकर कोई पूछता है और दुःख निवृत्तिपूर्वक सुख की कामना करता है, तो वे परोपकारी महात्मा लोग दया करके उसका उपाय बतलाते हैं। तदनुसार करने से मानव को अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होती है। भारतीय साहित्य में इस प्रकार के अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं।

हमारा श्रौतसाहित्य भी इस प्रकार के उदाहरणों से पूर्ण है। उसमें अनेक प्रकार के उपाय कहे हैं। यदि पुत्र की कामना हो तो पुत्रेष्टि, सुवर्ण की अभिलाषा हो तो हिरण्यलाभकामेष्टि, राष्ट्र, मित्र और दीर्घायुष्य की इच्छा हो तो मित्रविन्देष्टि और स्वर्ग की कामना हो तो अग्निष्टोमयाग करना चाहिए। इस तरह अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति के साधनों से हमारा श्रौत साहित्य ओत-प्रोत है। संसार में सबसे बड़ा और महत्त्व का स्थान वही है जहाँ से शाश्वत सुख और शान्ति प्राप्त हो सके। श्रौतानुष्ठान से वह भी सुलभ है। मनुष्य अपने प्रयत्न से जब थक जाता है और नैराश्य का अनुभव करने लगता है तब वहाँ जाता है जहाँ से उसे सुख और शान्ति मिलने का भरोसा रहता है। मनुष्य मात्र के लिए वह स्थान अग्नि की उपासना है। इसकी छाया में मनुष्य सब कुछ पा सकता है।

ब्राह्मणवर्ग के निकट धन का अभाव आरम्भ से ही चला आता है। श्रौतयाग अधिक द्रव्य-साध्य है। यद्यपि हवन सामग्री में अधिक द्रव्य की आवश्यकता नहीं होती तथापि ऋत्विजों को दातव्य दक्षिणा में एवं अन्य उपकरणों में अधिक द्रव्य अपेक्षित है। वह गौ के रूप में हो अथवा हिरण्य के रूप में, परन्तु यज्ञ में उसकी आवश्यकता अनिवार्य है। अभिलषित वस्तु को देने वाला याग यदि दक्षिणा रहित हो तो वही याग यजमान का शत्रु हो जाता है। यह भी स्वाभाविक ही है। जिन्हें दक्षिणा देने के लिए निमन्त्रित किया जाय और समय पर दक्षिणा न दी जाय तो उसका और उस कर्म का शत्रुस्वरूप होना अस्वाभाविक नहीं समझा जा सकता।[1]

१. दक्षिणा में न्यूनता नहीं होनी चाहिए—'दक्षिणाः सर्वयज्ञानां दातव्या भूतिमिच्छता' साम्बपुराण, ३४.२। दक्षिणा रहित यज्ञ की निन्दा—

न कुर्याद् दक्षिणाहीनं वित्तशाठ्यं न मानवः।
अददल्लोभतो मोहात् कुलक्षयमवाप्नुते॥

दर्शपौर्णमास याग में अन्वाहार्य (ओदन) दक्षिणा दी जाती है। मित्रविन्देष्टि में एक सहस्र गौ दक्षिणा अथवा दस गौ हो जाती है। अग्निष्टोम याग में एक सौ गौ दक्षिणा देनी होती है। अश्वमेध याग में चारों दिशाओं में जीतकर लाया हुआ समस्त द्रव्य दक्षिणा के रूप में देना होता है। श्रौतयागों में दक्षिणा का वैपुल्य है। अनुष्ठान के माने ही यह होता है कि तन, मन और धन से सर्वात्मना उसमें लग जाय और शास्त्रीय विधान से यज्ञानुष्ठान सम्पन्न करे। तभी तो पूर्वकालीन लोग अनुष्ठान से अपना अभिलषित पाते थे।

इसीलिए याग के अन्य विधानों के साथ ही वनीवाहन विधान कहा है। याग प्रारम्भ होने के बाद यजमान की दीक्षा होती है। दीक्षा होने पर यदि यजमान को याग सामग्री में न्यूनता की प्रतीति हो तो विधान पूर्वक अग्नि को साथ में लेकर उसकी पूर्ति के लिए परदेश जाना चाहिए। इस विधान को अग्निचयन याग प्रकरण में देखना चाहिए।[1] इस स्थिति में याग की क्रिया को विहित स्थान पर ही छोड़कर सामग्री चयन के लिए यजमान परदेश जाता है। अपनी अभिलषित वस्तु को प्राप्ति हो जाने पर पुनः लौटकर वह याग भूमि पर आता है और याग की शेष विधि को समाप्त करता है।

इसका तात्पर्य यह है कि जनता से वह याग सामग्री सञ्चित करता है। उस समय लोगों को यह दृढ़ विश्वास था कि सामग्री के द्वारा याग की सहायता करने से उसका हित होगा। याग करने वाला याग को प्रारम्भ कर देता था। उसके पास याग की समाप्ति पर्यन्त की सामग्री चाहे हो अथवा न हो। परन्तु उसे विश्वास था कि प्रारम्भ करने पर याग की समाप्ति अवश्य होगी। यह तभी सम्भव है जब कि लोगों में श्रौत की जानकारी हो और श्रौतयागों में श्रद्धा, भक्ति और विश्वास के साथ सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझा जाता हो।

प्रायश्चित्त प्रकरण में कहा है कि यदि कोई याग कर रहा हो और उस याग में प्रसर्पण के समय एक दूसरे से पृथक् हो जाय (जहाँ स्पर्श किये हुए देवयजन से बाहर निकलने का विधान है) तो उस याग की पुनः आवृत्ति करे। इसका तात्पर्य यह है कि याग करने वाले को इस बात की लेश मात्र भी चिन्ता नहीं रहती थी कि उसके पास याग की सामग्री अथवा

अन्नदानं यथाशक्त्या कर्तव्यं भूतिमिच्छता।
अन्नहीनः कृतो यस्माद् दुर्भिक्षफलदो भवेत्॥
अन्नहीनो दहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजः।
यष्टारं दक्षिणाहीनं नास्ति यज्ञसमो रिपुः॥

स्क० पु० ना० ख० अ० १८२, श्लो० १५।

यत्कर्म दक्षिणाहीनं कुरुते मूढधीः शठः। स पापी पुण्यहीनश्च....।

ब्रह्मवैवर्त पु० ग० ख०, अ० २३, श्लो० ३४।

१. वनीवाहनमेतद्दीक्षासु यदेच्छेत्। का० श्रौ० १६.६.२२।

दातव्य धन की न्यूनता है। उस समय समाज की स्थिति और समाज की श्रद्धा, भावना और भक्ति इतनी अनुकूल थी कि याग करने वाले को इस बात की लेशमात्र भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रहती थी। विधिपूर्वक किये गये श्रौतयागों से मनचाही अभिलाषा की पूर्ति हो सकती है इस बात का लोगों में अटूट विश्वास था। यही तो कारण है कि श्रौतविधान में वनीवाहन कर्म का विधान है। इसके साथ एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि आजतक असङ्ख्य याग हो चुके हैं। वनीवाहन विधान का अनुसरण आवश्यकतानुसार सभी लोग करते आये हैं। तथापि कहीं भी यह नहीं सुना गया है कि अमुक व्यक्ति द्वारा प्रारम्भ किया गया श्रौतयाग दक्षिणा के अभाव में पूर्ण नहीं हो सका। श्रौत की महिमा के लिए इतना प्रमाण पर्याप्त है। कर्तव्यनिष्ठ हमारा भारतीय समाज एतदर्थ धन्यवाद का पात्र है।

मनुष्य की शक्ति अल्प और सीमित है। ईश्वर की शक्ति प्रचुर और असीमित है। अल्प शक्ति वाला सर्वदा ही अधिक शक्ति वाले की सहायता चाहता है। वह चाहता है कि मेरी यह न्यूनता दूर हो जाय। किन्तु यह कार्य सरल नहीं है। लोक में देखा जाता है कि एक साधारण कर्मचारी यदि अपने अधिकारी से मिलना चाहे तो उसके लिए बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। संयोगवश यदि अपने अधिकारी से कोई काम निकालना हो तब तो उसकी कठिनाई की सीमा नहीं रहती। इस प्रकार की कठिनाई से मुक्ति पाने का साधन केवल श्रौत याग है। गीता में कहा है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

यद्यपि यह श्रुति प्रतिपादित है कि परोक्षप्रिया इवहि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः तथापि देवप्रिय श्रौतयागों में देवता का साक्षात्कार और सान्निध्य देखा जाता है। हमारे साहित्य में अनेक उदाहरण विद्यमान हैं कि श्रौतयागों में देवता का सान्निध्य हुआ है। देवताओं को श्रौतयाग बहुत प्रिय है। याज्या और पुरोनुवाक्या के पाठ होने पर देवगण याग में आते हैं और प्रसन्न होकर अपना हविर्भाग ग्रहण करते हैं। यदि हम लोग अपना कल्याण चाहें तो उसकी सिद्धि के निमित्त एकमात्र श्रौतयाग का ही शरण लेना चाहिए। वस्तु स्थिति यह है कि प्रजा का अनुरञ्जन करना प्रत्येक राजा का कर्त्तव्य है। सृष्टि के प्रारम्भ काल से यह देखने में आता है कि प्रत्येक राजा प्रजा के हितसाधन में लीन है। उसी तरह देवता भी मानव के हित में लीन है। मानव यज्ञ के द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करता है और देवता लोग मानव का कल्याण करते हैं।

हमारा प्राचीन साहित्य पूरी तरह से इस विषय का पोषक है।

इसके सिवाय श्रौतयाग से ही हमारा कल्याण है। इसका कारण यह है कि प्राणीमात्र के लिए भोजन की आवश्यकता है। मनुष्य के लिए अन्न सर्वश्रेष्ठ खाद्य है। अन्न की उत्पत्ति वृष्टि, भूमि, वायु, आतप और बीज से होती है। वृष्टि बादलों से होती है। मेघनिर्माण में धूम भी आवश्यक है।

यहाँ पर धूम कहने से आधुनिक चिमनियों का धूम नहीं अपितु श्रौत याग का धूम अपेक्षित है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

"यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः।"

यज्ञ करने से वृष्टि होती है और वृष्टि से अन्न की उत्पत्ति होती है।[1] इस प्रकार पवित्र धूम से उपयुक्त जल की वृष्टि होती है और उत्तम जल से उत्तम और पर्याप्त अन्न पैदा होता है। श्रौतयाग से हम प्राणियों का सभी प्रकार का कल्याण हो सकता है।

इस प्रकार यज्ञ करने वाले याज्ञिक लोग बहुत श्रद्धा पूर्वक याग, क्रतु, अहीन और सत्र करते थे। ऋत्विज लोग परिश्रम करके प्रयोगों की तैयारी करते थे और याज्ञिक यजमान के कथनानुसार श्रद्धा और भक्ति पुरस्सर आर्त्विज्य करते थे। धनिक लोग धन के द्वारा श्रौत याग की सर्वविध सहायता करते थे। क्षत्रिय राजा लोग भी अपनी आवश्यकतानुसार अनेक प्रकार के यागों को करते थे और याग करने वालों की पूर्णरूप से सहायता करते थे। बड़े-से-बड़ा याग अन्तिम जो जानने में आता है वह अश्वमेघ याग है। यह अश्वमेघ याग कुछ वर्ष पूर्व जयपुर में हुआ था। इस याग के हुए लगभग तीन-चार सौ वर्ष हुए हैं। इसके बाद इतना बड़ा याग हुआ हो यह जानकारी के बाहर है। श्रौतयाग की प्राचीनता अनेक प्रकार से सिद्ध हो चुकी है। उसका स्वरूप, विधान और परिणाम भी दिखाया जा चुका है। यहाँ अग्नि परिग्रही की दिनचर्या कही जा रही है, जो निम्नाङ्कित है। श्रौत में कही हुई विधि इतनी कठिन है कि उसका पालन करते हुए याग की समाप्ति करना एक जटिल काम है। फिर भी अग्नि के परिग्रह करने वाले को उसका पालन करना अनिवार्य है।

श्रौत याग करने वाले यजमान के हृदय में यदि बेजोड़ श्रद्धा, अटूट विश्वास, हर प्रकार के कष्ट सहन करने की शक्ति, कौटुम्बिक अनुकूलता, राज्याश्रय, राज्यमान्यता, पुत्रवत्ता, कलत्र की अनुकूलता प्रभृति साधन, पूर्णरूप में न हों तो वह श्रौतयाग कर ही नहीं सकता। उसका कारण यह है कि यह कोई नौकरी नहीं है कि आज अधिकारी से पटरी बैठ रही है तो नौकरी कर रहे हैं और कल न पटी तो नौकरी छोड़ दी। यह तो श्रौत है। जिस दिन वह श्रौताग्नि का परिग्रह करता है उसी दिन से सर्वात्मना श्रौत का हो जाता है। उसे प्रातःकाल और सायंकाल अग्निहोत्र हवन, मध्याह्न में वैश्वदेव और शेष समय में अग्नि-संरक्षण कार्य स्वयं करना पड़ता है। प्रतिपक्ष दर्शपूर्णमास याग, यथासमय आग्रहायण याग, प्रत्येक तीन महीने पर चातुर्मास्य याग के पर्वका अनुष्ठान, प्रति अयनारम्भ पर निरूढपशुबन्ध याग और प्रत्येक वसन्त ऋतु में सोमयाग करना आवश्यक है। ये हुए नित्य याग। इसके सिवाय नैमित्तिक और काम्य-याग भी वह करता है जो उसकी इच्छा, अनुकूलता और आवश्यकता पर निर्भर है।

---

१. अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ मनु० ३.७६।

उसे रात्रि के समय अग्निहोत्रशाला में रहकर अग्नि का संरक्षण करना पड़ता है। यह कोई लौकिक अग्नि तो है नहीं जिसके शान्त होने पर दूसरे अग्नि से काम लिया जा सके। इसके शान्त होने पर तो आगे के सब अनुष्ठान रुक जाते हैं। उसी समय अरणी के द्वारा अग्निमन्थन करना अनिवार्य हो जाता है। अग्निमन्थन करना साधारण सा काम नहीं है। इस कार्य में स्वयं परिश्रम करने पर भी अन्य कई सहायकों की आवश्यकता होती है। इतना होने पर भी कभी-कभी तो यह देखा गया है कि अनेक प्रहर और दिन बीत जाते हैं और अग्नि प्रकट नहीं होते। अग्निहोत्री तो नियम से जकड़ा हुआ है। उसे तब तक उसी अग्निमन्थन कार्य में लगे रहना पड़ेगा जबतक अग्नि प्रकट न हो ले। अग्नि के प्रकट होने पर ही निश्चित समय पर उसका आगे का कृत्य हो सकता है अन्यथा नहीं। इसलिए सर्वप्रथम अग्निसंरक्षण परमावश्यक है।

श्रौतानुष्ठानों में यजमान का कार्य अग्नि के परिग्रह करने वाले को ही करना पड़ता है। इस श्रौतकार्य का याजमान दूसरा कोई नहीं कर सकता। इसीलिए आहिताग्नि, अग्निहोत्री और यजमान ये पर्यायवाचक शब्द हैं। अग्निहोत्री का प्रवास, कौटुम्बिक कार्य, शहर घूमना, तीर्थयात्रा अथवा इसी तरह के अन्य कारणों से अथवा मनोरञ्जन के लिए नहीं हो सकता। उसे तो जीवन भर केवल अग्नि की परिचर्या करनी है। वह केवल यागोपकरण के संचय के निमित्त परदेश जा सकता है। वह भी किसी योग्य व्यक्ति पर कार्यभार छोड़कर। इस प्रकार तल्लीन होकर अनुष्ठान करने से ही इष्टसिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं।

आहिताग्नि की अनुपस्थिति में प्रतिनिधिरूप में नियुक्त व्यक्ति यथासमय अग्नि की परिचर्या करता रहेगा और आहिताग्नि के प्रवास से लौटने पर ही वह उस कार्य से मुक्त हो सकता है। अग्निहोत्री को यथासाध्य यह प्रयत्न करना होगा कि वह अपना प्रवास शीघ्र ही समाप्त करके दर्श या पौर्णमास याग के अवसर पर अपनी यज्ञशाला में उपस्थित हो। यदि किसी विशेष परिस्थिति से बाध्य होकर उपर्युक्त पर्व के समय अपने निवास स्थान पर यज्ञशाला में उपस्थित न हो सकता हो तो जहाँ पर हो वहीं पर आनुमानिक समय पर अग्नि का ध्यान करते हुए आसन लगाकर बैठ जाना चाहिए। वहीं बैठे-बैठे अपना याजमानकृत्य करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अग्निपरिग्रह के अनन्तर उसका सर्वात्मना एकमात्र उपास्य अग्नि है और वह उसका उपासक है।

उपर्युक्त उपक्रम से यह स्पष्ट है कि श्रौतयज्ञों का अनुष्ठान अत्यन्त जटिल है। आज के युग में श्रौतपरम्परा के अत्यन्त विरल हो जाने के कारण वैदिक संस्कृति में प्रतिपादित श्रौतकल्प अत्यन्त पारिभाषिक विषय बन गया है। प्रयोग विधान में प्रयुक्त शब्दावली प्रायशः संस्कृत के सामान्य अभिधान कोश की सहायता से भी समझी नहीं जा सकती। पारिभाषिक शब्दों की संख्या भी कुछ कम नहीं है जिनसे भलीभाँति परिचित हुए बिना श्रौतकल्प को अवगत करना दुरूह है। श्रौतकल्प में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द कहीं कर्मविशेष के द्योतक हैं, तो

कहीं अवान्तर क्रियाओं के, कहीं पात्रविशेष के और स्थान विशेष के वाचक हैं। इनका अर्थ समझने पर प्रतिपाद्य विषय का बोध सुगम हो जाता है। इसी उद्देश्य से समस्त श्रौतसूत्रों में प्रायेण प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का सङ्कलन अध्येता को एकत्र उपलब्ध हो जाय इस दृष्टि से इस विभिन्न यज्ञ-यागादि के स्वरूप एवं क्रियाकलाप के विवेचन से पूर्व परिभाषाओं से परिचय करा देने की महती आवश्यकता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लक्ष्य से परिशिष्ट में अकारादि क्रम से पारिभाषिक शब्दों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इन पारिभाषिक शब्दों का संग्रह परिशिष्ट में संलग्न है। वहीं से इस विषय की जानकारी करनी चाहिए।

●

द्वितीय अध्याय

पाकसंस्था

स्मार्ताधान : स्मार्ताधान का समय....स्मार्ताग्नि पर कर्तव्य अनुष्ठान ।

श्रौताधान : पूर्व दिन का कृत्य....अग्नि परिग्रह....अग्निहोत्री का कर्त्तव्य ।

पुनराधान : पुनराधान का कारण....समय....कार्यविधि ।

प्रवासविधि : लक्षण....उपस्थान....प्रत्यावर्तनविधान ।

स्मार्ताधान

उपासना के निमित्त अग्नि के परिग्रह को अग्न्याधान कहते हैं। अग्नि परिग्रह के दो प्रकार हैं। श्रौत अग्नि परिग्रह और स्मार्त अग्नि परिग्रह। स्मार्त अग्नि के परिग्रह को स्मार्ताधान कहते हैं। स्मार्ताधान के बिना श्रौताधान नहीं हो सकता। एतदर्थ स्मार्ताधान का प्रथम परिचय आवश्यक है।

उपनयन संस्कार के पश्चात् विधिवत् वेदाध्ययन कर लेने पर आचार्य की अनुज्ञा से ब्रह्मचारी का समावर्तन संस्कार किया जाता है। तब वह स्नातक विवाह करके द्वितीय गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। सहधर्मिणी पत्नी के साथ ही अग्नि का परिग्रह किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

पाणिग्रहण संस्कार होने पर द्विज, अग्नि के आधान का अधिकारी हो जाता है।[1] परिस्थितिवश यदि उस समय वह अग्निपरिग्रह के सौभाग्य से वञ्चित रह जाय तो शास्त्रकार ने उसे एक अवसर और दिया है। वह समय है कुटुम्ब में विभाजन होने पर जिस समय वह अपने दाय भाग को ग्रहण कर अपना स्वतन्त्र चूल्हा जलाता है, उस समय भी वह अग्नि का परिग्रह कर सकता है। स्मार्ताग्नि का परिग्रह कर लेने पर उसे स्मार्ताग्नि की उपासना करनी होती है। अब वह स्मार्ताग्नि पर की जाने वाली सात पाक संस्थाओं का अनुष्ठान करने का अधिकारी हो जाता है। उन सात पाक संस्थाओं का विवरण इस प्रकार कहा है।

सप्त पाकसंस्था

औपासनहोम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टकाश्राद्ध, मासिश्राद्ध, श्रवणाकर्म और शूलगव ये सप्त पाक संस्थाएँ हैं। इनका अनुष्ठान परिगृहीत स्मार्ताग्नि पर किया जाता है, उनका विवरण इस प्रकार है।

औपासनहोम

स्मार्ताग्नि पर प्रतिदिन सायङ्काल और प्रातःकाल किये जाने वाले हवन को औपासनहोम कहते हैं। यह हवन सायङ्काल और प्रातःकाल दोनों समय स्मार्ताग्नि पर किया जाता है। सायङ्काल के देवता अग्नि और प्रातःकाल के देवता सूर्य हैं। दोनों ही समय स्विष्टकृत्

---

१. आवसथ्याधानं दारकाले। दायाद्यकाल एकेषाम्। पा० गृ० १.२. १–२।
भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा। गौ० ध० १.५.६।
कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही।
दायकालाहृते वापि श्रौतं वैतानिकाग्निषु॥ या० स्मृ० ५.९७।
हुत्वाग्नीन् सूर्यदैवत्यान्। या० स्मृ० ५.९९।

स्थानीय प्रजापति संज्ञक देवता को द्वितीय आहुति दी जाती है। सायङ्काल और प्रातःकाल दोनों समय के कर्म को मिलाकर एक कर्म माना गया है। इसीलिए दोनों समय के हवन का हविर्द्रव्य और हवनकर्त्ता एक ही होना चाहिए। यह कृत्य सपत्नीक यजमान को यावज्जीवन करना विहित है। स्मार्ताग्नि को आवसथ्याग्नि भी कहते हैं। इसी अग्नि का कुछ अंश ले जाकर पाकशालामें जो पाक तैयार होगा वही यजमान और यजमान पत्नी का भोजन होगा। पुनः पाकशाला से अग्नि को लाकर आवसथ्याग्नि में मिलाना होगा।

वैश्वदेव

प्रातःकालीन आह्निक कृत्य और औपासन होम करके वैश्वदेव किया जाता है। इस वैश्वदेव अनुष्ठान में स्मार्ताग्नि पर ओदन की आहुति दी जाती है और समस्त देवों के निमित्त आहुतियाँ और पितरों के लिए बलि प्रदान होता है।[1]

पार्वणविधि

अमावस्या के दिन पितृ, पितामह, प्रपितामह के निमित्त किया जाने वाला श्राद्ध पार्वण के नाम से प्रसिद्ध है।[2]

अष्टकाश्राद्ध

हेमन्त और शिशिर ऋतु में, मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा के अनन्तर चार अष्टमी को कर्त्तव्य श्राद्ध अष्टकाश्राद्ध के नाम से प्रसिद्ध है[3]। इनमें इन्द्र, विश्वेदेवा, प्रजापति और पितृ निमित्तक अपूप और शाक से अनुष्ठान होता है। कलियुग में गोमांस वर्जित है। अन्य शाखा में गोमांस का प्रतिनिधि कहा है। एतदर्थ अन्य शाखा वाले प्रतिनिधि द्रव्य से वर्तमान काल में भी इस अनुष्ठान को करते हैं। कात्यायन मतावलम्बी माध्यन्दिनशाखा वाले इस समय इसे नहीं करते।

---

१. अथातः पञ्चमहायज्ञाः। वैश्वदेवादन्नात्पर्युक्ष्य स्वाहाकारैर्जुहुयात्० पितृभ्यः स्वधा नमः यथार्हं भिक्षुकानतिथींश्च सम्भजेरन्। बालज्येष्ठागृह्या यथार्हमश्नीयुः। पश्चाद् गृहपतिः, पत्नी च। पा० गृ० २.९.१-१४। बलिकर्म भूतयज्ञः। स्वधा पितृयज्ञः। होमो देवयज्ञः। स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः। अतिथिसत्क्रिया मनुष्ययज्ञः। एते पञ्चमहायज्ञा अहरहः कर्त्तव्या नित्यत्वात्। या० स्मृ० मि० १.१०२।

२. अपरपक्षे श्राद्धं कुर्वीत। श्रा० सू० १.१।

३. अष्टकास्तिस्रो भवन्ति। वर्षे च तुरीयाष्टकेति। पा० गृ० क० भा० ३.३.१। प्रथमाष्टका आग्रहायणी समनन्तरपक्षाष्टम्यां भवति। मध्यमाष्टका पौषस्य कृष्णाष्टम्याम्। मध्यावर्षे तुरीया शाकाष्टका। पा० गृ० ज० भा० ३.३.१। प्रथमा ऐन्द्री। द्वितीया वैश्वदेवी। तृतीया प्राजापत्या। चतुर्थी पित्र्या। पा० गृ० ह० भा० ३.३.१। अपूपो—मण्डकः, शाकं-कालशाकम्। पा० गृ० वि० भा० ३.३.१। ऊर्ध्वमाग्रहण्यास्तिस्रोऽष्टकाः० मध्यावर्षे च तुरीया शाकाष्टकाः। पा० गृ० ३.३.१-१३।

मासिश्राद्ध

पितरों के उद्देश्य से प्रत्येक मास किया जाने वाला श्राद्ध मासिश्राद्ध के नाम से प्रसिद्ध है।[1]

श्रवणाकर्म

इस कृत्य में सायङ्काल के समय सर्प को बलि दी जाती है। इस अनुष्ठान को श्रावण की पौर्णमासी को करने का विधान है[2]।

शूलगव

शूलगव संज्ञक अनुष्ठान में रुद्र देवता के निमित्त हवन किया जाता है।[3] पारस्कर गृह्यसूत्र में प्रतिनिधि द्रव्य का विधान न रहने से माध्यन्दिनी शाखा वाले वर्तमान काल में इसका अनुष्ठान नहीं करते। अन्य शाखा वाले प्रतिनिधि-द्रव्य से अभी भी इसका अनुष्ठान करते हैं।[4]

श्रौताधान

स्मार्ताग्नि के परिग्रह के बाद अच्छे समय में श्रौतविधि से श्रौताग्नि का परिग्रह करना चाहिए।[5] एक बार अग्नि का आधान कर लेने पर आहिताग्नि के सकल दैनिक अनुष्ठान, सायं प्रातः हवन को प्रमुख मानकर ही हो सकते हैं और वह अग्नि आमरणान्त घर में सजीव रहती है। उसी श्रौताग्नि के द्वारा समस्त देवपितृकार्य सम्पादित किये जाते हैं। आहिताग्नि दम्पती में से प्रथम जिसका भी महाप्रयाण होता है, उसका अन्तिम संस्कार भी उसी श्रौताग्नि से होकर अग्नि विसर्जित हो जाता है। आहिताग्नि ही अग्निहोत्र तथा इतर श्रौत याग भी कर सकता है। अतएव उसे अग्निहोत्री भी कहते हैं।

"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इस विधिवाक्य के अनुसार प्रत्येक गृहस्थाश्रमी द्विज

---

१. मासि मासि वोऽशनम्। श्रौ० सू० १.१. तथा च श्रुतिः-अथैनं पितरः प्राचीनावीतिन इति। अनेन च श्रुत्युक्तहेतुना, अपरपक्षेऽमावास्यायामवश्यकर्त्तव्यत्वमुक्तम्। श्रा० का० १.२३।

२. श्रावणशुक्लपञ्चदश्यां भवति। पा० गृ० ग० भा० २.१४.१। प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकं नान्दीमुखं श्राद्धं कृत्वा आवसथ्ये कर्म कार्यम्। पा० गृ० ग० प० २.१४..१। अथातः श्रवणाकर्म श्रावण्यां पौर्णमास्याम्। पा० गृ० २.१४. १-२।

३. शूलगवः। स्वर्ग्यः पशव्यो पुत्र्यो धन्यो यशस्य आयुष्यः। रौद्रं पशुमालभेत्। साण्डम्०। पा० गृ० ३.८,१-३।

४. ईशानाय स्थालीपाकं श्रपयित्वा। आप० गृ० ७.१९.१३।

५. विशिष्टकाले, विशिष्टदेशे, विशिष्टपुरुषेण, विशिष्टैर्मन्त्रैर्गार्हपत्याद्यग्न्युत्पत्त्यर्थं यदङ्गाराणां निधानं तदग्न्याधेयमुच्यते। अग्नीनामाधेयमन्वाधानं तत्कर्त्तव्यमित्यर्थः। आ० श्रौ० टी० २.१.९।

को स्वर्गादि इष्ट की प्राप्ति के लिए नित्य अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना चाहिए। यह द्विजन्मा के लिए ऐसा नित्यकर्म है, जिसके न करने पर प्रत्यवाय होता है और करते रहने पर दिव्य ऐहिक और आमुष्मिक श्रेय मिलता है। आहिताग्नि के लिए यम, नियम बहुत कठोर हैं और इसकी साधना कण्टकाकीर्ण है। श्रद्धा, विश्वास और धैर्य के साथ इन अनुष्ठानों को करते रहना चाहिए। यही मानव का श्रेष्ठतम कर्तव्य है।

यह नरजन्म गुलाब के फूलों की सेज नहीं है। अलौकिक श्रेयःसाधन करने के लिए श्रद्धा और विश्वास के साथ कष्ट झेलना ही धीरोदात्त मानव का कर्त्तव्य है। भागवत में कहा है—

ब्राह्मणस्य च देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे वापि प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥

ऐहिक सुखों के साथ-साथ पारलौकिक सुखावाप्ति के लिए ज्योतिष्टोमादि अनेक अनुष्ठान वेद विहित हैं। जिनके सम्पादनार्थं अग्नि का परिग्रह आवश्यक है। सकल श्रौतयाग केवल आहिताग्नि के ही लिए हैं। अनाहिताग्नि को यदि कभी याग करवाने की उत्कण्ठा हो तब वह आहिताग्नि को याजमान कार्य सौंपकर उसके द्वारा ही श्रौत यज्ञानुष्ठान करवा सकता है। श्रौत की दृष्टि से वस्तुतः अग्न्याधान एक आधिकारिक कर्म है। अतः सर्वप्रथम उसका विवेचन आवश्यक है। अग्नि के आधान के लिए निम्नलिखित प्रक्रिया महर्षि कात्यायन ने बतलायी है।

जब गृहस्थ अग्नि परिग्रह करने का निश्चय कर ले तब कृष्णपक्ष की अमावास्या अथवा शुक्लपक्ष की पूर्णिमा के दिन वह अग्नि का परिग्रह कर सकता है।[1] वैकल्पिक रूप से यह भी बतलाया है कि जिस दिन कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा अथवा फाल्गुनी प्रभृति देव नक्षत्र हों उस दिन भी अग्नि का आधान हो सकता है।[2]

कामना विशेष की दृष्टि से भी अग्न्याधान का समय निर्धारित है। यदि किसी वस्तु के लाभ की कामना हो तो ब्राह्मण गृहस्थ हस्त नक्षत्र में और क्षत्रिय चित्रा में अग्न्याधान करे।

---

१. अमावास्यायां पौर्णमास्यां वादधीत। शां०श्रौ०, २. १. ७।
अमावास्यायामेवाग्नी आदधीत। श० ब्रा० ११. १. १. ६।
अमावास्यायामग्न्याधेयम्। का० श्रौ० ४. ७. १।
यदहरस्यस्वो वाग्न्याधेयं स्याद् दिवैवाश्नीयात्। श०ब्रा० २. १. ४. १।
यदहरेवैष न पुरस्तान्न पश्चाद् दृश्येत तदहरुपवसेत्। श० ब्रा० ११.१.१.४।
अमावास्यायां पौर्णमास्यां वा आधेयः। आप० श्रौ० ५. ३. १६।

२. कृत्तिकासु रोहिण्याम्। आ० श्रौ० २. १. १।
कृत्तिकारोहिणीमृगशिरःफल्गुनीषु। का० श्रौ० ४. ७. २।

इस सम्बन्ध में ऋतु का भी माहात्म्य है। ब्रह्मवर्चस् की कामना हो तो ब्राह्मण के लिए वसन्त[1] ऋतु, श्री की कामना हो तो क्षत्रिय के लिए ग्रीष्म[2] ऋतु, वर्षा ऋतु वैश्य के लिए और प्रजा एवं पशु की कामना हो तो वैश्य एवं रथकार के लिए वर्षा ऋतु का समय श्रेयस्कर समझा गया है।[3] शास्त्रानुसार सभी वर्णों के लिए शिशिर ऋतु में अग्न्याधान हितकर है। यदि अग्न्याधान के साथ ही सोमयाग का अनुष्ठान करना निश्चित कर लिया हो तो किसी प्रकार का मुहूर्त्त जानने की आवश्यकता नहीं है। वह किसी भी समय अग्न्याधान कर सकता है।[4] अग्न्याधान से पूर्व शरीर संस्कार के हेतु सपत्नीक गृहस्थ को अग्न्याधान के दिन से पूर्व दिन उपवास करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि शुक्लपक्ष की पूर्णिमा को आधान अभिप्रेत हो तो शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को उपोषण करना चाहिए और यदि अमावास्या के दिन अग्न्याधान का मुहूर्त्त है तो पहले दिन चतुर्दशी को उसे व्रती रहना होगा।

अग्न्याधान से पूर्वदिन का कृत्य

अग्निपरिग्रह से पूर्व अग्निशाला की रचना सम्पन्न करे।[5] वस्तुतः वास्तुशास्त्र एवं शिल्पविधि से अग्निशाला का निर्माण तो सूत्रोक्तप्रकार से पूर्व ही सम्पन्न हो जाना चाहिए तथापि अग्निशाला का प्रसाधन तो अग्न्याधान के ही दिन करना उचित है।

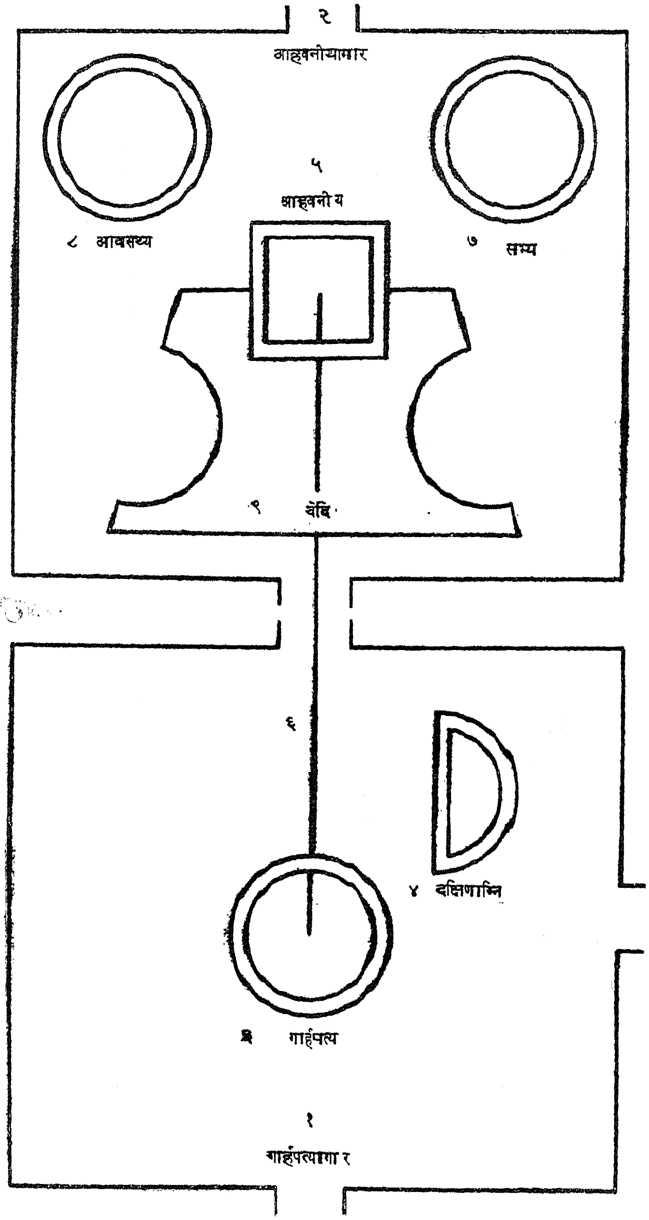
गार्हपत्यागार एवं आहवनीयागार

गार्हपत्य एवं आहवनीय की पृथक्-पृथक् शाला बनाने का एक प्रकार शास्त्रों में कहा है। ये दोनों मिलकर एक अग्निहोत्र शाला कही जाती है। इसमें गार्हपत्यागार यजमान पत्नी का और आहवनीयागार यजमान का होता है। एक आगार में से दूसरे में जाने के लिए गार्हपत्यागार के पूर्व में और आहवनीयागार के पश्चिम में एक-एक द्वार होता है। अन्य वेदि और खर प्रभृति दर्शपौर्णमासयागविहार के समान होना चाहिए।

---

१. वसन्ते ब्राह्मणस्याग्न्याधेयम्। शा०श्रौ० २. १. १।
वसन्तो ब्राह्मणब्रह्मवर्चसकामयोः। का० श्रौ० ४. ७. ५।
२. ग्रीष्मे क्षत्रियस्य। शा० श्रौ० २. १. २।
ग्रीष्मः क्षत्रियश्रीकामयोः। का० श्रौ० ४. ७. ६।
३. वर्षासु वैश्यस्य। शिशिरः सर्ववर्णानाम्। शा० श्रौ० २. १. ३-५।
वर्षाः प्रजापशुकामवैश्यरथकृताम्। का० श्रौ० ४. ७. ७।
४. सोमेन यक्ष्यमाणो नर्तुं पृच्छेन्न नक्षत्रम्। आ० श्रौ० २. १. १।
याथाकाम्यमृतूनां सोमेन यक्ष्यमाणस्य। शा० श्रौ० २. १. ६।
५. अग्निशाला की जानकारी के लिए दर्शपौर्णमासयाग देखें।

१. यजमानपत्नी का गार्हपत्यागार ।
२. यजमान का आहवनीयागार ।
३. गार्हपत्यखर
४. दक्षिणाग्निखर
५. आहवनीयखर
६. गार्हपत्य और आहवनीय की मध्यरेखा
७. सभ्यखर
८. आवसथ्यखर
९. वेदिस्थान


२
आह्वनीयागार
५
आह्वनीय
८ आवसथ्य
७ सभ्य
९ वेदि
६
४ दक्षिणाग्नि
गार्हपत्य
१
गार्हपत्यागार

कार्यकलाप

अधिकारप्राप्त्यर्थ प्रायश्चित्त
ऋत्विजों का वरण
अरणीग्रहण
अग्निमन्थन
ब्रह्मौदनप्रदान
अज उपस्थापन
अश्वपरिक्रमण
सामगान
पूर्णाहुति
अग्निहोत्रहवन
पवमानेष्टि
द्विहविष्केष्टि
आदित्येष्टि
शेषविधि

सामग्री

प्रायश्चित्तार्थ द्रव्य
मातृपूजन सामग्री
आभ्युदयिक सामग्री
ऋत्विज
अज
अश्व
अरणी
पूर्णाहुति सामग्री
अग्निहोत्रहवन सामग्री
पवमानेष्टि सामग्री
द्विहविष्केष्टि सामग्री
आदित्येष्टि सामग्री

कार्यारम्भ

यजमान और पत्नी नवीन और धौतवस्त्र पहने[1] पूर्वद्वार से यजमान और दक्षिणद्वार

---

१. क्षौमे वस्तेऽहते पत्नी च । का० श्रौ० ४.७.१२ ।

से पत्नी यज्ञशाला में प्रविष्ट हों।[1] ऋत्विज लोग यज्ञशाला में पूर्व द्वार से प्रविष्ट हों। सपत्नीक यजमान पूर्वाभिमुख बैठे। ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और आग्नीध्र ये चार ऋत्विज यजमान के निकट बैठें।

इष्टदेवता का चिन्तन कर कार्यारम्भ करें। प्रारम्भ में देहशुद्धि पूर्वक अधिकार प्राप्ति के निमित्त निश्चित द्रव्य लेकर सङ्कल्प करे। मातृपूजन और आभ्युदयिक श्राद्ध करे।[2] अनन्तर बायें हाथ में वस्त्र और दाहिने हाथ में यव ले। दाहिने हाथ से ऋत्विजों की दक्षिण जानु को छूकर क्रमशः वरण करे।[3] ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और आग्नीध्र का क्रमशः वरण करे। यही ऋत्विजों के वरण का क्रम प्रत्येक स्थान पर जानना चाहिए। वरण के अनन्तर ऋत्विजों का अर्चन और सत्कार करे। ऋत्विज लोग यजमान को आशीर्वाद प्रदान करें।

अध्वर्यु शमीगर्भ अश्वत्थकाष्ठ की अरणी यजमान को दे।[4] यजमान और पत्नी मन्थन करके अरणी से अग्नि को प्रकट करें। आवश्यकतानुसार अग्निमन्थन कार्य में अध्वर्यु सहायक हो। अथवा किसी सदाचारी वैश्य के घर से, भाड़ से या रसोई घर से अग्नि ले आवे। गार्हपत्य खर पर अग्निस्थापन करे।[5] सूर्यास्त के समय यजमान आहवनीय खर के पूर्व में बैठकर देव और पितृ का आह्वान करे। अग्निशाला में बकरी बाँधे। बकरी यदि यजमान की निजी हो तो दूसरे दिन प्रातःकाल आग्नीध्र को समर्पित करे।[6] चातुष्प्राश्य संज्ञक भात पकाकर ऋत्विजों को प्राशनार्थ दे।[7] ऋत्विजों को वरदान दे। इतना कृत्य प्रथम दिन समाप्त करे।

स्मार्ताधान के अनन्तर वैकल्पिक ठीक एक वर्ष के पूरे होने पर भी श्रौताग्नि का

---

१. दक्षिणपूर्वे द्वारे। का० श्रौ० ४.७.१०।

२. मातृपूजा और आभ्युदयिक श्रौतसूत्र में नहीं पाया जाता। इनका वर्णन पद्धतिकारों ने किया है। मातृपूजापूर्वकम्। दे० प० पृ० ९८।

३. अमुकस् गोत्र अमुक नाम शर्मन् नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मानुष्ठानार्थं श्रौताग्नीनहमाधास्ये। तत्र मे त्वं ब्रह्मा भव। दे० प० पृ० ९८। अथ वितानस्य ब्रह्मा कर्मणि ब्रह्मावेदविद्दक्षिणतो विधिवदुपविशति वाग्यतः। वै० श्रौ० १.१।

४. अश्वत्थशमीगर्भारणी प्रयच्छति। का० श्रौ० ४.७.२०।

५. गार्हपत्यागारे निर्मथ्याभ्यादधाति। वैश्यकुलाम्बरीषमहानसाद्वा। का० श्रौ० ४.७.१५। अग्निप्रणयनमन्त्र, यत्वाक्रुद्धाः प्रचक्रुः०। अ० सं० १२.२.५।

६. विद्यमानं प्रातरग्नीधे दद्यात्। का० श्रौ० ४.८.१। अश्वपदानुमन्त्रण मन्त्र—समध्वरा-योषसो नमन्त०। अ० सं० ३.१६.६।

७. चत्वार ऋत्विजः प्राश्नन्ति। का० श्रौ० ४.८.६। ब्रह्माणं देवमुद्दिश्य होमार्थं ब्राह्मणाना-मृत्विजां च प्राशनार्थं च पच्यमान ओदनो ब्रह्मौदनः। तै० ब्रा० भा० १.१.९।

आधान किया जा सकता है।[१] प्रारम्भ में गार्हपत्य खर से पश्चिम में अरणी से अग्नि मन्थन करके अग्नि को प्रकट करें। मन्थन के समय गार्हपत्य से पूर्व में अश्व खड़ा रहे।[२] अग्नि उत्पन्न होने पर अध्वर्यु को वरदान दे।[3] यजमान अग्नि पर अपना श्वास छोड़े और अग्नि की ज्वाला अपने मुँह में ले।[४] अध्वर्यु ब्रह्मा को रथन्तर सामगान करने के लिए प्रैष करे। ब्रह्मा उपर्युक्त साम का गान करे। गार्हपत्य में से अग्नि लेकर आहवनीय में स्थापित करे। इस अवसर पर ब्रह्मा वामदेव्य साम का गान करे। अश्व को घुमावे। इस समय ब्रह्मा बृहत्साम का गान करे। अश्व के पद-चिह्न पर अग्नि रखकर तब आहवनीय में रखे। यदि गार्हपत्य की तरह आहवनीय खर में भी सतत अग्निरक्षण का पक्ष स्वीकार करना हो तो पहले गार्हपत्य में से जो अग्नि अलग किया है, उसे इस समय केवल दक्षिणाग्नि खर में रखे।[५] सभ्य संज्ञक खर में मन्थन करके अग्नि का स्थापन करे।[६] अक्षक्रीडा का प्रैष करे।[७] अक्षक्रीडा में उपलब्ध गौ ऋत्विजों को दे।

इस समय से गार्हपत्य और सभ्य इन दो खरों में नियमित रूप से अग्नि सुरक्षित रखे जायेंगे। आहवनीय और दक्षिणाग्नि संज्ञक खर में वैकल्पिक रूप से अग्नि का रक्षण होगा। यदि इनमें सतत रूप से अग्नि न रहेंगे तो केवल हवन के समय गार्हपत्य में से इनमें अग्नि रखना होगा। वे हवन के बाद स्वयं शान्त होंगे। पुनः हवन के समय पूर्ववत् अग्नि रखना होगा। कदाचित् गार्हपत्य या सभ्य का अग्नि शान्त हो जाय तो पुनः अरणी से अग्निमन्थन करके अग्नि का स्थापन करना चाहिए। अध्वर्यु ब्रह्मा को श्यैत, वारवन्तीय और यज्ञायज्ञिय संज्ञक सामगान करने का प्रैष करे।[८] सब अग्नि की परिक्रमा करके अश्व को उत्तर की ओर छोड़ दे[९]। आज्य संस्कार करके पूर्णाहुति हवन करे। ब्रह्मा और अध्वर्यु को वरदान दे[१०]।

आधान के दिन सायङ्काल के समय में अध्वर्यु अग्निहोत्र हवन करे। आधान के दिन

---

१. संवत्सरं वा पुरस्तात् कुर्यात्, ततः सर्वानादधीत। का० श्रौ० ४.८.९।
२. स्थितेऽश्वे पुरस्तात्। का० श्रौ० ४.८.२३।
३. जाते वरदानम्। का० श्रौ० ४.८.२४।
४. उच्छ्वासोऽमृतं प्राण आदधे। का० श्रौ० ४.८.२७।
५. दक्षिणाग्निमादधाति। का० श्रौ० ४.९.१७।
सभ्यावसथ्ययोर्विहरण इति। आहवनीयादेवैनौ विहरेदिति। बौ० श्रौ० २०.१७।
६. सभ्यं च निर्मथ्य। का० श्रौ० ४.९.१८।
७. गां दीव्यध्वमित्याह। का० श्रौ० ४.९.१९।
८. श्यैतवारवन्तीय०। का० श्रौ० ४.१०.१।
९. अग्नीन् परीत्योदगुत्सृजति। का० श्रौ० ४.१०.२।
अश्वो ब्रह्मणेऽन्याधेये। शां० श्रौ० ४.६.१५।
१०. वरशब्देनात्र यस्मै दीयते तदभिलषितं यजमानेन दातुं शक्यते वस्त्रहिरण्यधान्यादि तदुच्यत इति हरिस्वामिनः। दे० प० पृ० १०७।

से बारहवें दिन अथवा एक मास बीतने पर तनूहवि संज्ञक हवि का निर्वाप करे। इसमें तीन इष्टियाँ की जानी चाहिए। अग्नि पवमान देवता के लिए आठ कपाल के पुरोडाश वाली पहली इष्टि करे[1]। दक्षिणा के समय बारह, छ या तीन गौ दक्षिणा दे। दूसरी इष्टि में अग्निपावक का आठ कपाल का पुरोडाश और अग्निशुचि का आठ कपाल का पुरोडाश करे।[2] पहली इष्टि के समान दक्षिणा दे। तीसरी इष्टि में अदिति देवता के निमित्त चरु करे।[3] दक्षिणा के समय धेनु दान करे। इस कृत्य के हो चुकने पर अग्न्याधान के निमित्त एक सौ ब्राह्मण भोजन करावे[4]।

अग्निहोत्री

अग्नि के दो प्रकार कहे हैं। श्रौताग्नि और स्मार्ताग्नि। श्रौताग्नि का उपासक व्यक्ति अग्निहोत्री कहा जाता है। श्रौताग्नि और स्मार्ताग्नि में विधेय अनुष्ठान भी अलग-अलग बतलाये हैं। "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इस वाक्य में अग्निहोत्र शब्द विशिष्ट कर्म तथा हवि का बोधक है।[5] अग्निहोत्र शब्द की कर्मपरकता जो कही है। यह कर्मपरकता श्रौतविषयिणी है। यही कारण है कि श्रौताग्नि के परिग्रह करने पर उस व्यक्ति को अग्निहोत्री कहलाने का अधिकार मिलता है। यही श्रुति की आज्ञा है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में स्मार्ताग्निमात्र परिग्रही को अग्निहोत्री कहलाने का निषेध भी किया है।[6]

अग्निहोत्री का कर्तव्य

अग्नि के परिग्रह के बाद अग्निहोत्री को अग्नि के संरक्षण के निमित्त बहुत सावधान रहना चाहिए।[7] अग्नि का संरक्षण करते हुए प्रतिदिन सायं, प्रातः अग्निहोत्र हवन करे। अग्निहोत्र हवन के समय पत्नी की उपस्थिति आवश्यक है। प्रत्येक दर्श के दिन दर्शयाग और पौर्णमास को पौर्णमास याग करना चाहिए। मार्जार और काक आदि से अग्निहोत्रशाला की रक्षा करनी चाहिए। अग्निहोत्र के अङ्गस्वरूप गौ की सेवा आवश्यक है। पर्व के दिनों में यथाविहित उपवास अथवा व्रत में विहित पदार्थ का भोजन, क्षौर, सत्यभाषण, अतिथि सेवन

---

१. अग्नये पवमानायेष्टिः। शां० श्रौ० २.२.३।

२. द्वितीया द्विहविष्का। दे० प० पृ० ११०।

३. अदितये तृतीया। शां० श्रौ० २.२.१२।
अदिति की पुरोनुवाक्या—अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्०। अ० सं० ७.६.१।

४. आधाने च पशौ शतम्, इति परिशिष्टात्। दे० प० पृ० १११।

५. अग्नये होत्रं होमोऽस्मिन् कर्मणि, इति बहुव्रीहिव्युत्पत्त्याग्निहोत्रमिति कर्म नाम।
तथा अग्नये होत्रमिति तत्पुरुषव्युत्पत्त्या हविर्नाम।

६. एवं विहित एवाऽनाहिताग्नेरौपासने श्रपणधर्मा होमश्च।
आप० श्रौ० ६.१०।

७. अग्नि संरक्षण विधि को परिशिष्ट में देखें।

आदि नियमों का पालन करना चाहिए। अग्निशाला के अग्नि का परस्पर एक दूसरे से सम्मिश्रण न होना चाहिए। यजमान और पत्नी रात्रि में अग्निशाला से दूर न रहें। प्रवास के लिए विहित विधि के अनुसार ही प्रवास करना चाहिए। यज्ञोपकरण की उपलब्धि के लिए ही प्रवास करे। अग्निहोत्री के लिए तीर्थयात्रा करने की भी आवश्यकता नहीं है। समस्त देवता और तीर्थ उसकी यज्ञशाला में सर्वदा उपस्थित रहते हैं।

पुनराधान

एक बार परिगृहीत अग्नि में अथवा परिग्रहकर्ता में किसी प्रकार की विकृति आ जाय, अग्निहोत्री की प्रसिद्धि न हुई हो अथवा अग्निहोत्री की किसी प्रकार की हानि हुई हो तो पुनराधान करना चाहिए।[1] अग्नि के परिग्रह के बाद अल्पसमय में ही अग्निहोत्री की धन, पुत्र, यश प्रभृति किसी प्रकार की भी हानि हुई हो, अथवा राज्य[2] या यश[3] की कामना उद्बुद्ध हुई हो तो पुनराधान करना चाहिए।[4] ऐसी स्थिति में पूर्वगृहीत अग्नि का विसर्जन करे। विधिपूर्वक पुनः अग्नि का परिग्रह करे।

पुनराधान का समय

पुनराधान का समय देखकर यदि पुनराधान करना हो तो वर्षा ऋतु में, मध्याह्न के समय अथवा पुनर्वसु नक्षत्र में अग्नि का परिग्रह करे।[5] अग्नि का विसर्जन करके तीन दिन में भी पुनराधान हो सकता है।[6] थोड़े समय के बाद ही पुनराधान करना चाहे तो लौकिकाग्नि में चावल के और जव के आटे का मालपूआ तैयार करे। अन्य सामग्री एकत्र करे।

---

१. अग्निर्वै भागः पुनराधेयम्० यथादधानो मन्येत वि स्या ऋध्यता इत्युत्साद्य पुनरादधीत० यद्यदेतैः पुनरावर्त्तेऽथ ऋध्नोति। मै० सं० १.७. २–५।
पुनराधेयमाधानाप्रतिज्ञातस्य। का० श्रौ० ४.११.१।

२. वरुणो हैनद्राज्यकाम आदधे। श० ब्रा० २.२.१.१।

३. सोमो यशस्कामः स यशोऽभवत्। श० ब्रा० २.२.१.१।

४. तत एतत्त्वष्टा पुनराधेयं ददर्श। श० ब्रा० २.२.१.४।

५. कस्मिन्नृतौ पुनरादधीत० आषाढ्या उपरिष्टाद्मावास्या भवति तस्यां पुनरादधीत। सा पुनर्वसुभ्यां सम्पद्यते। पञ्चकपालः पुरोडाशो भवति। पुनरुत्स्यूतः जरत्संव्यामः पुनः संस्कृतकद्रथोऽनड्वान् हिरण्यं वा दक्षिणा। शां० ब्रा० १.३-५।
अथैतानि पुनराधाननक्षत्राणि रोहिणी, पुनर्वसू, अनुराधा इति। वर्षासु शरदि वादधीत। मध्यन्दिन आधेय इति विज्ञायते। भा० श्रौ० ५.१९. १-३।
स वै वर्षास्वादधीत। श० ब्रा० २.२.१.७।
वर्षासु मध्यन्दिने वा। का० श्रौ० ४.११.६। मध्यावर्षं पुनराधेयकालः। शां० श्रौ० २.५.४।

६. त्रिरात्रावरमग्नीनुत्सृज्य। का० श्रौ० ४.११.३।

कार्यविधि

पुनराधान की विधि साधारणतः प्रथमाधान के ही समान है। जिस निमित्त से पुनराधान करना हो उसका उल्लेख करते हुए यजमान सङ्कल्प करे।[1] क्षौरकृत्य करावे। नवीन वस्त्र धारण करे। यजमान पूर्वद्वार से और पत्नी दक्षिण द्वार से यज्ञशाला में प्रविष्ट हों। अध्वर्यु यजमान को अरणी प्रदान करे। पूर्वाधान की तरह अजबन्धन से वरदान तक की विधि करे। तैयार किया हुआ मालपूआ अर्कपत्र पर रखकर गार्हपत्य खर पर रखे। यहाँ अर्कपत्र ही कपाल का प्रतिनिधि है। जव का मालपूआ आहवनीय खर पर रखे।[2] अनन्तर मन्थन करके अग्निस्थापन करे।

पुनराधान में आग्नेयीष्टि

पूर्वाधान में तनूहविर्याग किया जाता है। पूर्वाधान के समान इसकी विधि है अतः पुनराधान में भी उसकी प्राप्ति होती है। परन्तु यहाँ तत्स्थानीय निम्नाङ्कित आग्नेयीष्टि की जाती है।

कार्यकलाप

अग्नि का अन्वाधान
ब्रह्मोपवेशन
व्रतग्रहण
प्रणीताप्रणयन
हविर्ग्रहण
हविर्निर्माण
प्रधानयाग
दक्षिणादान
ब्राह्मणभोजन सङ्कल्प

सामग्री

कपाल पाँच
इध्मा
हिरण्यदक्षिणा
हविर्द्रव्य
आज्य
शेष पौर्णमासयागवत्

---

१. अमुकनिमित्तं पुनराधानमहं करिष्ये। दे० प० पृ० ११३।

२. व्रीह्यपूपमर्कपलाशयोः पक्वं गार्हपत्यस्थाने निदधात्येवमाहवनीयस्य यावं सद्यश्चेत्। का० श्रौ० ४.११.८।

प्रारम्भ में सङ्कल्प और अन्वाधान करे। इसमें ब्रह्मा का वरण अपेक्षित नहीं है। केवल समन्त्रक ब्रह्मा अपने आसन पर बैठे। अग्नि देवता के पुरोडाश के लिए हविर्ग्रहण करे। कपालोपधान के समय पाँच कपाल का उपधान करे[1]। कपालोपधान में चार कपालों को प्रकृतियाग के समान रख कर पाँचवाँ कपाल चतुर्थ के पश्चिम में रखे। कपालों पर पुरोडाश तैयार करे। प्रधानयाग में अग्निदेवता के निमित्त पुरोडाश का याग करे।

यहाँ विशेष यह है कि याज्या पाठ के समय जहाँ प्रकृतियाग में "वौ ३ षट्" कहा जाता है, उस स्थान पर होता नामक ऋत्विज वौ ३ झक् का पाठ करे।[2] दक्षिणा के समय सुवर्ण अथवा वृषभ दक्षिणा दे।[3] पहना हुआ वस्त्र याग के अन्त में अध्वर्यु को दे। अन्तिम अनुयाज को छोड़कर बाकी का समस्त याग का कृत्य उपांशु धर्म से करना चाहिए। शेष कृत्य को अन्याधान के समान सम्पन्न करे।

प्रवासविधि

अग्नि के परिग्रह करने के अनन्तर अग्निहोत्री और पत्नी को विधि और नियम से जीवन-यापन करना पड़ता है। इच्छानुसार कहीं परदेश नहीं जा सकते। विशेष आवश्यकता होने पर ही बाहर जाना सम्भव है। पत्नी तो जब भी बाहर जायेगी तब अग्नि का अरणी में समारोप करके अरणी को अपने साथ ले जाना होगा। अग्निहोत्री भी साथ में जायेगा। अग्निहोत्र और इष्टि के पात्र आदि समस्त सामग्री भी साथ में जायेगी। चतुर्दशी तक प्रवास किया जा सकता है। पूर्णिमा को निश्चित स्थान पर अग्निमन्थन करके हवन और प्रतिपदा को इष्टि करना होगा। अनन्तर कम से कम एक दिन उसी स्थान पर रह कर सायङ्काल और प्रातःकाल का अगले पन्द्रह दिन का एक साथ पूर्णिमा या अमावस्या तक का हवन करना चाहिए। पश्चात् समारोप करने के अनन्तर अरणी और समस्त पात्र प्रभृति साथ लेकर आगे जा सकते हैं। यदि केवल पति को अकेले बाहर जाना पड़े तो प्रवास विधि से बाहर जाना चाहिए[4]।

---

१. आग्नेयः पञ्चकपालः। का० श्रौ० ४.११.९।
आग्नेयं पञ्चकपालं पुरोडाशं निर्वपति। श० ब्रा०, २.२.१.१४।
पञ्चकपालश्चाग्नेयः। शां० श्रौ० २.५. ८।

२. अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौ ३ झक्। श० ब्रा० २.२.१. १९।

३. हिरण्यं दक्षिणानड्वान् वा। का० श्रौ० ४.११.१३।
पुनर्निष्कृतं रथं, पुनरुत्स्यूतं वासः, पुनरुत्सृष्टमनड्वाहम्। बौ० श्रौ० ३.१।
पुनरुत्स्यूतो जरत्संव्यायः पुनः संस्कृतः कद्रथो अनड्वान्हिरण्यं वा दक्षिणा।
शां० श्रौ० २.५. २७।

४. याजमानप्रङ्गेन प्रवासप्रारम्भे याजमानमुच्यते। प्रवत्स्यन्नग्नीन् विहृत्याप्रसक्तान् गार्हपत्यस्य पश्चात्प्राङ्मुखः स्थितः सर्वानीक्षते।
शां० श्रौ० भा० २. १४. १।

अपने स्थान की सीमा से बाहर दूसरे ग्राम, नगरी आदि में जाकर रात वहीं बिताना प्रवास कहा जाता है[१]।

सङ्कल्प पूर्वक संस्कार करके गार्हपत्य में से आहवनीय और दक्षिणाग्नि में अग्नि स्थापन करे।[२] क्रमशः गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभ्य और आवसथ्य का समन्त्रक उपस्थान करे। वाग्यमन करके प्रस्थान करे। अग्निशाला का आच्छादन जहाँ तक दिखाई दे वहाँ तक मौन रखे[३]। कदाचित् शाम तक लौट आने के निश्चय से जाय और शाम को वापस न लौट सके तो जहाँ हो वहीं पूर्वाभिमुख बैठकर उपस्थान करे[४]। प्रवास में सायङ्काल और प्रातःकाल दोनों ही समय अग्नि का उपस्थान करे। अन्य यजमान कृत्य जैसे अग्नि में हुत द्रव्य का त्याग आदि करे। पर्व और इष्टि के दिन का अपना कृत्य, वपन, विष्णुक्रमण आदि जहाँ रहे वहीं से आनुमानिक समय पर करे[५]। स्त्री और ऋत्विजों पर उत्तरदायित्व छोड़ कर तब कहीं प्रवास करे[६]। निरर्थक प्रवास न करे। प्रवास में अपने हाथ से पाक बनाकर भोजन करे। प्रवास में पर्व के दिन हविष्यान्न खाने का नियम रखे[७]। इष्टि आदि के काल्पनिक समय को बिताकर भोजन करे। रात्रि में भूमिशायी रहे।

---

१. ग्रामान्तरे नगर्यां वा पल्यां वान्यत्र कुत्रचित्।
सीमामतीत्य चेद्रात्रौ वासः प्रवसनं स्मृतम्। दे० प० पृ० ११७।

२. अग्न्युपस्थानस्यानर्थलुप्तं प्रवसञ्जपेत्। शां० श्रौ० २. १४. ६।

३. प्रज्वलितानामुपस्थानम्। यावत्प्रज्वलितास्तावत् वाग्यमनम्, इत्येतदुभयमनेन सूत्रेणोक्तम्। शां० श्रौ० भा० २. १४. ६।
अग्न्यन्तिकं समारभ्य तावन्मौनी प्रतिष्ठते।
यावच्छदींषि दृश्यन्ते हव्यवाहस्य सद्मनः। दे० प० पृ० ११८।

४. आगमिष्यामि चाद्यैवेत्यनुपस्थाय निर्गतः।
दैवात्तत्रस्थितः कुर्यादिदमेवेति केचन॥ दे० प० पृ० ११७-११८।

५. प्रवसन् याजमानं कुर्याद् यथाकालमात्मसंस्काराद्धर्ममात्रत्वाच्छ्रुतेश्च।
का० श्रौ० ४. १२. १५।
यस्य यावज्जीविकः प्रयोगः तस्य याजमानं प्रोषितोऽपि कुर्यात्।
शां० श्रौ० भा० २. १४. ८।

६. निक्षिप्याग्निं स्वदारेषु परिकल्प्यर्त्विजं तथा।
प्रवसेत्कार्यवान्विप्रो मृषैव न चिरं क्वचित्॥ दे० प० पृ० ११८।

७. इक्षुक्षीरविकारांश्च भ्राष्ट्रभृष्टयवांस्तथा।
फलमूलानि चाश्नीयात् पर्वणि प्रोषितोऽग्निमान्॥
पराग्निपक्वं नाश्नीयाद् गुडगोरसमन्तरा।
असामर्थ्यात् शरीरस्य भक्ष्यद्रव्याद्यभावतः॥
स्वसत्तया पचेदन्नमश्नीयात्प्रोषितोऽग्निमान्॥ दे० प० पृ० ११९।

प्रवास से लौटते समय समित् लेता आवे। जहाँ से अग्निशाला की छाया दिखाई दे वहाँ से मौन धारण करे[1]। घर को अभय देता हुआ घर में प्रवेश करे[2]। अग्नि के उपस्थान से पूर्व गुरु, माता, पिता को प्रणाम न करे[3]। कदाचित् ये सामने आ जायँ तो भी अभ्युत्थान और प्रणाम न करे। इसका समाधान यह है कि अग्निहोत्री के लिए सर्वात्मना अग्नि ही उपास्य है। अतः सर्वप्रथम अग्नि का ही उपस्थान आवश्यक है। सर्वप्रथम स्नानादि से पवित्र होकर अग्नि का उद्धरण, समिद्धवन और उपस्थान करे[4]। पूरे घर का उपस्थान करे। पुत्रों का नाम लेकर समन्त्रक सिर सूँघे। पुत्र के कान में मन्त्र पढ़े। पुत्रियों का भी सिर सूँघे। लौटते ही कुटुम्बियों पर क्रोध न करे। तदनन्तर पूज्यजनों का अभिवादन करे।

---

१. अग्न्यागारस्य दर्शनगोचरे वाग्यमनं कुर्यात्। शां० श्रौ० भा० २.१४.११।
एत्य च मत्या वाग्यमनम्। का० श्रौ० ४.१२.१६।

२. गृहा मा बिभीतेति गृहानुपैति। क्षेमाय व इति प्रविशति। का० श्रौ० ४.१२.२१-२२।

३. छदिर्दर्शने वाग्यतेन, सता, आगन्तव्यम्।
उपस्थानादर्वाक् पितरं, मातरं, गुरुं वा राजानं वा नोपगच्छेत्। स्वयमेव समीपमागतानामेषां नमस्कारादिकं न कुर्यात्। दे० प० पृ० १२०।

४. समित्पाणिरनुपेत्य कञ्चिदुपतिष्ठन आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्नीनामगन्मेति प्रतिमन्त्रम्। का० श्रौ० ४.१२.१७।
प्रज्वलितानामुपस्थानम्। शां० श्रौ० भा० २.१४.६।

५. न हिंस्याद् गृह्यान्कामं श्वः। का० श्रौ० ४.१२.२३।

तृतीय अध्याय

हविःसंस्था

अग्निहोत्रहवन	: समय....कार्य का स्वरूप....पञ्चावत्ती....कामनामूलक समय और द्रव्य।
पौर्णमासयाग	: याग निमित्त व्रत और नियम....प्रणीताप्रणयन....कपालोपधान....पञ्चप्रयाज....प्रधानयाग....तीन अनुयाज....यज्ञेश्वरार्पण।
पिण्डपितृयज्ञ	: नीवीकरण....चरुश्रपण....अवनेजन....कर्मेश्वरार्पण।
दर्शयाग	: देवता और हविर्द्रव्य....पुरोडाश याग।
दाक्षायणयाग	: स्वरूप....फल....प्रथम दिन का अनुष्ठान....संवत्सरपक्ष।
सान्नाय्यवती दर्शेष्टि	: दोहनविधि....देवता और हविर्द्रव्य।

अग्निहोत्रहवन

अग्नि को तृप्त करने के उद्देश्य से श्रौताग्नि पर किया जाने वाला हवन अग्निहोत्रहवन के नाम से प्रसिद्ध है ।[1] श्रौत विधि से श्रौताग्नि के ग्रहण करने पर इसका अनुष्ठान किया जा सकता है । 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इस विधिवाक्य का अनुसरण करते हुए अग्निहोत्री को अग्निहोत्र के द्वारा स्वर्ग रूप इष्ट की साधना करनी चाहिए ।[2] एक बार प्रारम्भ करने पर यावज्जीवन उसका निर्वाह करना पड़ता है । इसीलिए इसे नित्यकर्म भी कहते हैं ।

इस वचन के आधार पर सायङ्काल और प्रातःकाल अग्निहोत्रहवन करना चाहिए । प्रतिदिन सायङ्काल और प्रातःकाल अग्निहोत्रहवन करना अनिवार्य है । दोनों ही समय के हवन के विषय में भी दो पक्ष हैं । प्रथम पक्ष में सायङ्काल सूर्यास्त से पूर्व और प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व हवन करने का विधान है ।[3] द्वितीय पक्ष में सायङ्काल सूर्यास्त के बाद और प्रातःकाल सूर्योदय हो चुकने पर हवन किया जाता है ।[4] इन दोनों पक्षों में से किसी एक का आश्रयण किया जाता है । प्रारम्भ में जो पक्ष स्वीकृत किया हो अन्ततक उसी के अनुसार अनुष्ठान करना आवश्यक है ।

अग्निहोत्रहवन से कर्म और हवि दोनों का ग्रहण होता है । इस कर्म का प्रारम्भ सायङ्काल से होता है । सायङ्काल और प्रातःकाल दोनों ही समय यथाविहित समय पर ही हवन होना चाहिए । यही कारण है कि इसमें सङ्कल्प भी इसी आशय का होता है ।[5] सायङ्काल और प्रातःकाल के अनुष्ठान से एक कृत्य की साङ्गता होती है । सायङ्काल का अग्निहोत्रहवन और प्रातःकालीन अग्निहोत्रहवन ये दोनों मिलाकर एक कर्म कहा है ।[6] दोनों समय का हविर्द्रव्य और हवन कर्ता भी एक ही होना चाहिए ।

---

१. 'अथ ह प्राचीनयोग्य आजगामाग्निहोत्रं भवन्तं पृच्छामि० । गो० ब्रा० पू० ३.११ ।
सत्येनाग्निहोत्रं जुहोति । मै० सं० १.८.१ ।

२. अग्निहोत्रं स्वर्गकामस्य । वै० श्रौ० ४३.८ ।

३. सायंप्रातरग्निहोत्रं जुहोति । प्रातर्जुहोत्यनुदिते । का० श्रौ० ४.१५.१ ।

४. तमोऽभ्यये सायं जुहुयाद्वियति प्रातः ।
का० श्रौ० ४.१५.१२ ।

५. अत्राद्य मासे पक्षे तिथौ वासरे, अमुकगोत्रः अमुकशर्माऽहं मम सपत्नीकस्य आत्मसंस्कारार्थं श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं सायंप्रातरग्निहोत्रहोमं करिष्ये । तत्रामुकद्रव्येण सायं (वा प्रातः) अग्निहोत्रहोमं करिष्ये ।

६. सायमादिप्रातरन्तमेकं कर्म प्रचक्षते । का० स्मृ० १८.१ ।

कार्यकलाप

सङ्कल्प
पञ्चभूसंस्कार
अग्न्युद्धरण
आचमन
वाग्यमन
परिस्तरण
परिसमूहन
पर्युक्षण
अखण्डजलधाराकरण
आहवनीय में हवन
हविःशेषभक्षण
आचमन
गार्हपत्य में हवन
दक्षिणाग्नि में हवन
पर्युक्षण
समिदाधान
उपस्थान
वाग्विसर्जन
यज्ञेश्वरार्पण
स्मार्ताग्नि में हवन ।

सामग्री

अग्न्युद्धरण सामग्री
परिस्तरण
कूर्च, दर्भ
समित्
अग्निहोत्रस्थाली
अग्निहोत्रहवणी
स्रुव, उपवेष
गौ, ग्वाला
दोहनपात्र
जलपात्र
स्मार्तहवन सामग्री ।

अग्निहोत्रहवन स्वयं यजमान को ही करना चाहिए ।[1] विशेष परिस्थिति में अध्वर्यु भी इसे कर सकता है । यदि अध्वर्यु भी उपलब्ध न हो तो पत्नी, पुत्र और शिष्य प्रभृति इस कार्य को करें ।[2] सायङ्काल के समय जिस द्रव्य से हवन किया गया हो प्रातःकाल भी उसी द्रव्य से हवन करना चाहिए । इसी प्रकार सायङ्काल और प्रातःकाल का हवन कर्ता भी एक ही होना चाहिए ।

कार्य का स्वरूप

देह शुद्धि निमित्तक स्नानादिक आवश्यक कृत्य करके कर्ता गार्हपत्य खर के पश्चिम में बैठे । आचमन और प्राणायाम करके सङ्कल्प करना चाहिए । आहवनीय और दक्षिणाग्नि के खर पर स्थान शुद्धि के हेतु पञ्चभूसंस्कार करे । गार्हपत्य में से अग्नि लेकर आहवनीय और दक्षिणाग्नि में रखे ।[3] इन दोनों खरों पर अग्नि-स्थापन करने के अनन्तर सायङ्काल एवं प्रातःकाल दोनों ही समय दैनिक सन्ध्यावन्दन एवं गायत्री जप करे ।

यजमान गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के मध्य से जाकर अपने आसन पर बैठे और आचमन करे । इस आचमन के अनन्तर दूसरे आचमन तक वाग्यमन रखे । पत्नी भी दक्षिण द्वार से यज्ञशाला में प्रवेश करके यजमान के मार्ग का अनुसरण करे । गार्हपत्य खर से पश्चिम-दक्षिण कोण में अपने आसन पर बैठे । उसे ईशानाभिमुखी, ऊर्ध्वजानु बैठना चाहिए ।[4] अग्निहोत्री आहवनीय खर के पश्चिम में उदगग्र कूर्च रखे । आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के खरों के चारों ओर परिस्तरण रखे । ये परिस्तरण तीन-तीन दर्भ के होते हैं । इन्हें पूर्व में उदगग्र, दक्षिण में पूर्वाग्र, पश्चिम में उदगग्र और उत्तर में पूर्वाग्र रखना चाहिए । हाथ में जल लेकर खर की परिधि पर ईशानकोण से प्रारम्भ कर ईशान कोण तक प्रदक्षिण हाथ घुमावे । तीन बार प्रदक्षिण हाथ घुमाकर चौथी बार अप्रदक्षिण (उल्टा) हाथ घुमावे ।[5] यह पर्युक्षण

---

१. सन्ध्याकर्मावसाने तु स्वयं होमं समाचरेत् ।
स्वयं होमे फलं यत्स्यान्न तदन्येन जायते ॥
होमे यत्फलमुद्दिष्टं जुह्वतः स्वयमेव तु ।
हूयमाने तदन्येन फलमर्धं प्रजायते ॥ दे०प० पृ० १३० ।
अग्निहोत्रस्य यज्ञक्रतोरेक ऋत्विक् । बौ० श्रौ० २.३ ।

२. यजमानः प्रधानं स्यात्पत्नीपुत्रश्च कन्यका ।
ऋत्विक्शिष्यो गुरुर्भ्राता भागिनेयः सुतापतिः ॥
एतैरेव हुतं यत्तु तद्धुतं स्वयमेव तु । दे० प० पृ० १३० ।

३. अमृताहुतिममृतायां जुहोम्यग्निं पृथिव्याममृतस्य जित्यै । तयानन्तं लोकमहं जयानि प्रजापति र्यं प्रथमो जिगाय । शां० श्रौ० २.६.७ । इत्याहवनीयखरे (अग्निं) निदध्यात् ।

४. उपवेशनव्यतिरिक्तं पत्नी किमपि न करोतीति सम्प्रदायः । तच्च साधुतरम् । दे० प० पृ० १२२ ।

५. ऋतं त्वा सत्येन परिषिञ्चामीति त्रिस्त्रिरेकैकं पर्युक्ष्य हुत्वा च ।
सत्यं त्वर्तेन परिषिञ्चामीति प्रातः । शां० श्रौ० २.६.१०, ११ ।

कृत्य कहा जाता है। दाहिने हाथ में जल का कमण्डलु लेकर गार्हपत्य के पूर्व से आहवनीय के पश्चिम तक अखण्ड जल की धारा करे[1]।

अग्निहोत्र हवन के लिए स्वयं गौ को दुहे। अथवा किसी से दूध दुहा ले। यहाँ पर गौ का दुहना हीन व्यक्ति के द्वारा न होना चाहिए।[2] बछड़े वाली गौ होनी चाहिए। गार्हपत्य खर पर दूध तपाने के लिए उपवेष से थोड़ा अग्नि उत्तर की ओर अलग करे। अलग किये हुए अग्नि पर अग्निहोत्र स्थाली में दूध गरम करे।[3] दूध गरम हो जाने पर गार्हपत्य के उत्तर में रखे। स्रुवा और अग्निहोत्रहवणी को कुशा से सम्मार्जित करे। उन्हें गार्हपत्य की अग्नि पर तपा ले। स्रुवा से स्रुची में चार स्रुवा दूध ले।[4] यजमान के पाँच प्रवर हो तो पाँच स्रुवा हविर्द्रव्य स्रुचि में ले। एक समित् स्रुची और जलपात्र लेकर आहवनीय तक जाय। गार्हपत्य से आहवनीय तक जाते हुए स्रुची की ऊँचाई पर विशेष ध्यान रहे।[5] गार्हपत्य के ऊपर से स्रुची ले जाना है। गार्हपत्य के ऊपरी भाग में स्रुची नीची रहेगी। गार्हपत्य की परिधि के अन्त से आहवनीय तक स्रुची को मुँह जितनी ऊँची उठा रखे।

आहवनीय के उत्तर पश्चिम कोण में जुहोति स्थान पर बैठे। स्रुची को बायें हाथ में ले और दाहिना पैर मोड़े। अपने साथ में लायी हुई समित् का आहवनीय में होम करे।[6] स्रुची से अग्नि देवता को एक आहुति दे।[7] प्रत्येक आहुति अग्नि में ज्वाला होने पर ही देनी

---

१. यज्ञस्य सन्ततिरसि यज्ञस्य त्वा सन्तत्यै नयामि। इति गार्हपत्यात्सन्ततामुदकधारामाहवनीयात्। शां० श्रौ० २.६.१२।

२. अग्निहोत्रीं दोहयति पुंवत्सामशूद्रेण। का० श्रौ० ४.१४.१।

३. गार्हपत्ये, अधिश्रयत्युत्तरतो निरुह्याङ्गारान्। का० श्रौ० ४.१४.२।

४. पञ्चावत्तिनः पञ्चकृत्व उन्नयनम्। दे० प० पृ० १२४।

५. उपरि समिधं धारयन्वार्क्षीमध्यधि गार्हपत्यादाहवनीयं हरति मुखमात्रे धारयन्। मध्ये निगृह्योद्गृह्य। का० श्रौ० ४.१४ १२-१३।

६. पालाश्यः समिधः कार्याः खादिर्यस्तदभावतः।
शमीरोहितकाश्वत्थास्तदभावेऽर्कवेतसौ ॥१॥
पालाशखदिराश्वत्थशम्युदुम्बरजा अपि।
अपामार्गार्कदूर्वाश्च कुशाश्चेत्यपरे विदुः ॥२॥ दे० प० पृ० १२७।
अशनायापिपासे स्त्रिया वै स्त्रियं बाधन्ते० समिधाहवनीयेन वीरेण स्वाहा।
शां० श्रौ० ४.८.२२।

७. अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा। प्रातः सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा।
शां० श्रौ० ४.१.१-२।
प्रत्येक आहुति का त्याग यजमान स्वयं करे।

चाहिए। स्रुची को आहवनीय से पश्चिम में वेदि में रखे। आहवनीय का निरीक्षण करे।[1] प्रजापति देवता निमित्तक दूसरी आहुति दे। पहली आहुति में चौथाई और दूसरी आहुति में सशेष द्रव्य का हवन करे। स्रुची को अग्नि पर दो बार उछाल कर कूर्च पर रख दे।[2] हवन करने में जो हविर्द्रव्य स्रुची के अग्र भाग पर लगा हो उसे हाथ से पोंछ कर स्रुची के अन्दर कर ले।[3] इसका तात्पर्य यह है कि हविर्द्रव्य एक बूँद भी भूमि पर न गिरे। पुनः स्रुची के बाहरी हिस्से में लगे हुए हविर्द्रव्य को हाथ से पोंछ कर हाथ को कूर्च पर पोंछे।[4] कानों पर जल लगावे। दक्षिण की ओर हाथ पोंछना यद्यपि पितृ कार्य है तथापि कात्यायन के मत से अपसव्य और दक्षिणाभिमुखता आवश्यक नहीं है।

आहवनीय में आहुति हो चुकने पर गार्हपत्य की अग्नि में समिद्धोम पूर्वक आहुति दे। प्रथम आहुति रयिमान्, पशुमान और पुष्टिपति अग्नि के निमित्त दे।[5] दूसरी आहुति, तूष्णीं धर्म से प्रजापति देवता के निमित्त दे।[6] अनन्तर दक्षिणाग्नि में समिद् का हवन करे। यहाँ पर दो आहुतियाँ दे।[7] प्रत्येक आहुति के समय अग्नि की अवस्था प्रज्वलित होनी चाहिए।[8] इन

---

१. अगन्प्राणः स्वर्गं लोकं जिते जयाम्यभयं मे लोकताया अपुत्रताया अपशुतायै।
शां० श्रौ० २.९.७।

२. द्विः प्रकम्प्य निदधाति। का० श्रौ० ४.१४. १९।

३. उपमृज्य स्रुचम्। का० श्रौ० ४.१४. २०।

४. कूर्चे निमार्ष्टि नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्य इति। नात्रापसव्यं न दक्षिणाभिमुखता।
दे० प० पृ० १२५।
इसी कार्य में शाङ्खायन के मत से अपसव्य और दक्षिणाभिमुखता दोनों ही विशेषरूप से विहित है। प्राचीनावीती अप उपस्पृशेत्। शां० श्रौ० भा० पृ० १६
हाथ में लगा हविर्द्रव्य कुशमूल में पोंछे। कुशेषु निलिम्पति। शां० श्रौ० २.९. १२।

५. इह पुष्टिं पुष्टिपतिर्दधात्विह प्रजां जनयतु पजापतिः। अग्नये रयिमते पशुमते पुष्टिपतये स्वाहा।
का० श्रौ० ४.१४. २२।

६. गृहपति अग्नि के निमित्त एक और अग्नि की एक इस तरह दो आहुतियाँ देनी चाहिए। यह शाङ्खायन का मत है। अग्नये गृहपतये स्वाहा, अग्नये स्वाहा।
शा० श्रौ० २.१०.१।

७. १—अग्नयेऽन्नादायान्नपतये स्वाहा। २—प्रजापतये स्वाहा।
यहाँ शाङ्खायन के मत से पहले तीनों व्याहृतियों से क्रमशः अग्नि, वायु और सूर्य के निमित्त आहुतियाँ देकर तब उपर्युक्त दोनों आहुतियाँ देनी चाहिए।

८. योऽनर्चिषि जुहोत्यग्नौ व्यङ्गारिणि च मानवः।
मन्दाग्निरामयावी च दरिद्रश्च स जायते॥ दे० प० पृ० १२५।

तीनों स्थानों की आहुतियों में आहवनीय में स्रुची[1] से और गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि में स्रुवा से आहुति दी जानी चाहिए।[2]

स्रुची में आहुति से बचा हविःशेष लेकर शाला से बाहर जाय। अनामिका अङ्गुली से स्रुची का हविःशेष दो बार में प्राशन करे। प्राशन के अन्त में दोनों बार आचमन करे। तीसरी बार समस्त हविःशेष हाथ में लेकर प्राशन करे और आचमन कर ले। आहवनीय से उत्तर में बैठे। बायें हाथ से स्रुची उठा कर दाहिने हाथ में जल पात्र लेकर स्रुची को जल से भर ले। उस जल को आहवनीय के उत्तर में समन्त्रक स्रुची से ही गिरा दे। पुनः स्रुची में जल भर कर प्राचीनावीती होकर आहवनीय के दक्षिण में पितृ तीर्थ से छोड़े। कानों को जल लगावे। सव्य करके तीसरी बार पूर्वोत्तर में स्रुची का जल ऊपर को उछाले। चौथी बार आहवनीय के पश्चिम में रखे हुए कूर्च पर तीन बार स्रुची से जल छोड़े। तब स्रुची और स्रुव को आहवनीय पर तपा कर कूर्च पर रख दे। शाङ्खायन के मत से आहवनीय में हवन हो जाने पर स्रुची को जल से भर कर गार्हपत्य के पश्चिम में रखे। गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि में आहुति कर लेने पर स्रुची का जल अग्निहोत्र स्थाली में, गार्हपत्य से पश्चिम में भूमि पर और पत्नी की अञ्जलि में समन्त्रक छोड़े।[3]

पर्युक्षण करने के दो क्रम हैं।[4] आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि और गार्हपत्य दक्षिणाग्नि और आहवनीय, पहले जिस क्रम से पर्युक्षण किया हो उसी क्रम से समित् की आहुति दे। तीनों खरों पर समन्त्र एक-एक करके तीन बार में अथवा एक बार में तीन समिद् का हवन करे।

उपस्थान

'भूर्भुवः स्वः०' मन्त्र से आहवनीय और गार्हपत्य का उपस्थान करे।[5] पुनः आहवनीय का तूष्णीं उपस्थान करे। आहवनीय के पास बैठे और 'इन्द्राय आहवनीयाय नमः' कहे। तब गार्हपत्य के निकट बैठे। 'यमाय राज्ञे गार्हपत्याय नमः' कहे। पूर्ववत् पर्युक्षण करे।[6] वारिविसर्जन करके समन्त्रक आचमन करे।[7] तूष्णीं पत्नी भी आचमन करे।[8] बाहर निकलते हुए

---

१. चतुरः स्रुवानुन्नयति। का० श्रौ० ४.१४.१०।

२. स्थाल्याः स्रुवेण। का० श्रौ० ४.१४.२२।

३. अग्निहोत्रस्थाल्यां, गार्हपत्यस्य पश्चात्, अञ्जलौ च पत्न्याः, सन्त्वा सृजामि प्रजया धनेन, इत्यञ्जलौ। ततो गार्हपत्ये स्रुचं प्रतप्य निदधाति। शां० श्रौ० २.१०.७।

४. द्वौ पक्षौ। दे० प० पृ० १२६। समिध आदधाति यथा पर्युक्षितम्। का० श्रौ० ४.१४.३०।

५. दे० प० पृ० १२७।

६. पर्युक्षणम्। दे० प० पृ० १२२।

७. दे० प० पृ० १२७।

८. " " ।

'नडायनैषधाय अन्वाहार्यपचनाय नमः' मन में स्मरण करते हुए दक्षिणाग्नि का स्मरण करे।[1] अन्त में यज्ञेश्वरार्पण करे।

सायङ्कालीन अग्निहोत्रहवन समाप्त।

प्रातःकालीन हवन में विशेष

पहले हवन करने के समय के विषय में दो पक्ष कहे हैं। उनमें से जिस पक्ष का अवलम्बन किया हो तदनुसार प्रातःकाल का हवन करे।[2] सायङ्काल के अग्नि देवता की आहुति की जगह प्रातः सूर्य को आहुति दी जाती है।[3] प्रातःकाल हवन में तूष्णीं उपस्थान होता है।[4] भोजन करने के पूर्व 'अनश्नते साङ्गमनाय सभ्याय नमः' मन्त्र से सभ्याग्नि का उपस्थान होता है।[5] 'असते पांसवाय भस्मोद्वापाय नमः' मन्त्र से भस्मोद्वाप[6] का उपस्थान करे।[7] श्रौत का अग्निहोत्र हवन करके अन्त में स्मार्त्ताग्नि पर औपासन हवन करे।

औपासन होम

अग्निहोत्री की यज्ञ शाला में पाँच अग्नि रहते हैं। उनमें से चार श्रौत के होते हैं। पाँचवाँ आवसथ्य नामक स्मार्त्ताग्नि अथवा आवसथ्याग्नि कहा जाता है। श्रौताग्निहोत्र के अन्त में आवसथ्य खर पर भी प्रातःकाल और सायङ्काल दोनों समय हवन किया जाता है।[8] यह हवन भी नित्य कर्म है। इसमें कच्चे चावल में घी लगा कर आहुति दी जाती है। यहाँ हाथ से ही आहुति दी जाती है।

आवसथ्य से पश्चिम में बैठ कर आचमन प्राणायाम पूर्वक सङ्कल्प करे। परिसमूहन और पर्युक्षण के अनन्तर समिदाधान करे। शाम को पहली अग्नि की और सुबह के समय पहली आहुति सूर्य देवता को दी जाती है। दोनों समय दूसरी आहुति प्रजापति देवता के निमित्त देनी चाहिए। पश्चात् परिसमूहन और पर्युक्षण करे। अग्नि देवता के स्तुतिपरक मन्त्र पढ़े।

---

१. दे० प० पृ० १२७।

२. प्रातर्जुहोत्यनुदिते। का० श्रौ० ४.१५.१।

३. अग्निशब्दे सूर्यः। का० श्रौ० ४.१५.८।

४. तूष्णीं आहवनीयस्योपस्थानम्। दे० प० पृ० १२८।

५. अनशित्वा प्रातर्मुहूर्त्तं सभासनं सभ्यस्य। का० श्रौ० ४.१५.३२।

६. खर में अधिक भस्म एकत्र होने पर भस्म को जिस स्थान पर निकाल कर एकत्र करते हैं वह स्थल भस्मोद्वाप कहा जाता है। यहाँ उपस्थान के लिए उसी स्थान से सम्बन्ध है। भस्मोद्धृत्य यत्र राशीकृतो भवति। दे० प० पृ० १२८।

७. भस्मोद्धृतमुपेयात्। का० श्रौ० ४.१५.३३।

८. एवं विहित एवाऽनाहिताग्नेः। औपासने श्रपणधर्मा होमश्च। आप० श्रौ० १.१०.९-१०। होमं वैतानिके कृत्वा स्मार्त्ते कुर्याद्विचक्षणः। दे० प० पृ० १२७।

अन्त में यज्ञेश्वरार्पण करे। यह स्मार्त्त कृत्य है। इसकी गणना सप्तपाक संस्था में है। इसीलिए यहाँ संक्षेप में ही कहा गया है।

अग्निहोत्रहवन का कामनामूलक समय

स्वर्ग की कामना हो तो सूर्य अस्त और उदय होते ही तुरन्त हवन करे।[१] आयुष्य की इच्छा हो तो सायङ्काल अन्धकार होने पर और प्रातःकाल अन्धकार दूर होते रहते हवन करे।[२] पशु की कामना में सायङ्काल ग्राम में पशु के चर कर आने पर और प्रातःकाल ग्राम से पशु के चरने के लिए जाने के पूर्व हवन करे।[३] श्री की अभिलाषा हो तो लोगों के निद्रा त्याग से पूर्व प्रातःकाल हवन करे।[४] सायङ्काल उसी समय करे जिस नियम से करता हो।

कामनापरक हवन के समय अग्नि की स्थिति

यदि राजा बलात्कार से या प्रजा को कष्ट देकर कर और अन्न आदि जबर्दस्ती लेता हो तो धूम सहित अग्नि में आहुति दे।[५] यदि राजा जबर्दस्ती अथवा रोककर प्रजा से अन्नादि ग्रहण करता हो तो ज्वाला सहित अग्नि पर आहुति दे।[६] यदि लक्ष्मी अथवा कीर्ति की कामना हो तो प्रदीप्त अग्नि में आहुति दे।[७] यदि मित्रतापूर्वक राजा अन्नादि ग्रहण करे तो ज्वाला समाप्त होने पर आहुति दे।[८] यदि ब्रह्मवर्चस् की कामना हो तो प्रदीप्त अङ्गार पर आहुति दे।[९] यह हुआ नित्य अग्निहोत्रहवन का कृत्य और नियम। उपर्युक्त विधि और नियम नित्य अग्निहोत्र करने वालों के लिए है। यह यावज्जीवन किया जाता है। किसी कामना विशेष की पूर्ति के लिए काम्य अग्निहोत्र करने का भी विधान है। उसकी अवधि कामना पूरी होने तक ही समझनी चाहिए। अनन्तर त्रेताग्नि का विसर्जन हो जाता है।

कामनापरक हवन का द्रव्य

स्वर्ग, पशु अथवा मनोरथ की पूर्त्ति के हेतु दूध से, ग्राम की कामना में यवागू से, बल की कामना हो तो तण्डुल से, इन्द्रिय की कामना में दही से और तेज की अभिलाषा हो तो

१, प्रथमा अस्तमिते पर्युदये च स्वर्गकामः। का० श्रौ० ४.१५.११।

२. तमोऽभ्यये सायं जुहुयाद्वियति प्रातरायुष्कामस्य। का० श्रौ० ४,१५.१२।

३. अन्तःपशौ पशुकामस्य सायंप्रातः। का० श्रौ० ४.१५.१३।

४. शयाने श्रीकामस्य प्रातः। का० श्रौ० ४.१५.१४।

५. प्रथमसमिद्धे धूप्यमाने प्रजासु निहत्येव सहसान्नमत्स्यतः। का० श्रौ० ४.१५।

६. भूयिष्ठार्चिषि गृहीत्वेव सहसा। का० श्रौ० ४.१५.१६।

७. प्रदीप्ततमे श्रीयशस्कामस्य। का० श्रौ० ४.१५.१७।

८. अर्चिः प्रत्यवाये (ज्वालापसरणे) मैत्रेणान्नमत्स्यतः। का० श्रौ० ४.१५.१८।

९. अङ्गारेषु चाकश्यमानेषु ब्रह्मवर्चसकामस्य। का० श्रौ० ४.१५.१९।

आज्य से हवन करे[1]। इस प्रकार एक वर्ष हवन करने से सिद्धि होती है।[2] शेष प्रक्रिया नित्य किये जाने वाले अग्निहोत्र के समान काम्य अग्निहोत्र में भी समझनी चाहिए।

अग्निहोत्र हवन की अखण्डता

यहाँ अग्निहोत्र हवन करने के अधिकारी बतलाना आवश्यक है। साथ ही ऐसे भी व्यक्ति गिनाये हैं, जो कि अग्निहोत्र हवन नहीं कर सकते। कन्या, युवती, मूर्ख प्रभृति लोगों से विशेष परिस्थिति में भी अग्निहोत्र हवन नहीं करवाना चाहिए।[3] अग्निहोत्र हवन का किसी भी परिस्थिति में लोप नहीं होना चाहिए। जननाशौच और मरणाशौच जैसे समय में भी जहाँ अन्य अनुष्ठान वर्जित हैं, उस परिस्थिति में भी अग्निहोत्र हवन होना चाहिए। यजमान स्वयं स्नान करके हवन करे अथवा शिष्य प्रभृति किसी से भी अग्निहोत्र हवन करावे। किसी भी परिस्थिति में यथा समय हवन होना चाहिए।[4]

पौर्णमासयाग

समस्त कामनाओं की सिद्धि के निमित्त दर्शपौर्णमास याग करना चाहिए।[5]

---

१. पयसा सर्वकामस्य, दध्नेन्द्रियकामस्य, आज्येन तेजस्कामस्य, तैलेन श्रीकामस्य, ओदनेन प्रजाकामस्य, यवाग्वा ग्रामकामस्य, तण्डुलैर्बलकामस्य, सोमेन ब्रह्मवर्चस्कामस्य, मांसेन पुष्टिकामस्य, उदकेनायुष्कामस्य। वै० श्रौ० ४३. ९-१८।

तैलं दधि पयः सोमो यवागू रोचनं घृतम्।
तण्डुला मांसमापश्च दश द्रव्याण्यकामतः॥ दे० प० पृ० १२७।

२. संवत्सरं जुहुयादेतेषामेकैकेन कामसंयोगे। का० श्रौ० ४.१५. २६।

३. न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तोनासंस्कृतस्तथा॥
नरके हि पतन्त्येते जुह्वतः स च यस्य तत्।
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः॥
प्रोषितेऽप्यथवाशक्ते स्वामिन्यनधिकारिणि।
पुत्रो भ्राताऽथवा पत्नी शिष्यो वा जुहुयादिति॥ दे० प० पृ० १३१।

४. सूतके च प्रवासे च अशक्तौ श्राद्धभोजने।
एवमादिनिमित्तेषु हापयेद्वेति योजयेत्॥
जन्महानौ वितानस्य कर्मत्यागो न विद्यते।
शालाग्नौ केवलो होमः कार्य एवान्यगोत्रजैः॥
सूतके कर्मणां त्यागः सन्ध्यादीनां विधीयते।
होमः श्रौते तु कर्त्तव्यः शुष्कान्नेनापि वा फलैः॥
श्रौतकर्मणि तत्कालं स्नातः शुद्धिमवाप्नुयात्।
वैतानोपासनाः कार्याः क्रियाश्च श्रुतिचोदनात्॥ दे० प० पृ० १३१।

५. सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ। वैखा० श्रौ० १४.१। स्वर्गकामो दर्शपौर्णमासौ। आप० श्रौ० ३.१४. ९।

अग्निहोत्री के लिए दर्श और पौर्णमास ये दोनों याग क्रमशः अमावस्या और पूर्णिमा को नित्य रूप से करने का विधान है। दर्श और पौर्णमास इन दोनों यागों में पौर्णमासयाग ही प्रमुख है। इसीलिए अग्नि के परिग्रह के बाद पौर्णमास याग से ही याग के अनुष्ठान का प्रारम्भ होता है। अग्नि के परिग्रह का समय अमावास्या और पौर्णमास दोनों ही है। इस स्थिति में यदि पौर्णमासी को अग्नि का परिग्रह किया गया हो तो प्रथम पौर्णमासी प्राप्त होने से पौर्णमास याग होना स्वाभाविक ही है। यदि अमावास्या को अग्नि परिग्रह हुआ हो तो पौर्णमासी आने तक उपर्युक्त नियमानुसार पूर्णिमा आने की प्रतीक्षा की जाती है। पूर्णिमा आने पर ही पौर्णमास याग करके तब अमावास्या के दूसरे दिन दर्शयाग करना चाहिए। दर्शपौर्णमास कहे जाने का कारण यही है कि 'अल्पाच्तरम्' पा० सूत्र २.२.३४। इस पाणिनि सूत्र के नियमानुसार दर्श का प्रथम उच्चारण होता है। दर्श और पौर्णमासयाग का अनुष्ठान अग्निहोत्री को यावज्जीवन करना अनिवार्य है। अथवा तीस वर्ष करे या सशक्त रहने तक करे।[1]

कर्म का स्वरूप

यह कर्म आहिताग्नि के लिए अनिवार्य है। पौर्णमासेष्टि यह प्रकृतियाग है। इसी के द्वारा स्वर्ग रू फल को देने वाला अग्निहोत्र कर्म भी सम्पन्न होता है। अमावास्या को दर्श कहते हैं। जिस दिन अपराह्ण में अमावास्या तिथि प्राप्त होती हो उस दिन पिण्डपितृ यज्ञ (दर्शश्राद्ध) करना चाहिए। इसी अमावास्या के दूसरे दिन दर्शयाग या दर्शेष्टि की जाती है। इसी प्रकार जिस पूर्णिमा तिथि के दूसरे दिन सङ्गव काल में प्रतिपदा प्राप्त होती हो उस दिन पौर्णमास याग या पौर्णमासेष्टि करनी चाहिए। पौर्णमासेष्टि और दर्शेष्टि को यजमान, यजमान पत्नी, ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और आग्नीध्र ये छ व्यक्ति मिलकर सम्पन्न करते हैं। पौर्णमासेष्टि में अग्नि, अग्नीषोम और अग्नीषोम इन तीन प्रधान देवताओं के निमित्त याग होता है। इनमें अग्नि का आठ कपाल पर पुरोडाश, अग्नीषोम का आज्य और अग्नीषोम का ग्यारह कपाल पर पुरोडाश होता है। इनमें मध्य के अग्नीषोम देवता का याग उपांशु धर्म से करना विहित है। दर्शेष्टि में अग्नि और इन्द्राग्नी ये दो पुरोडाश को ग्रहण करते हैं। इनमें अग्नि का आठ कपाल पर पुरोडाश और इन्द्राग्नी का बारह कपाल पर पुरोडाश पकाया जाता है। अग्नि और इन्द्राग्नी इन दोनों पुरोडाश देवताओं के मध्य में विष्णु का आवाहन होता है। विष्णु का आज्य से और उपांशु धर्म से याग होना विहित है।

पौर्णमास और दर्श इन दोनों यागों में हविर्द्रव्य व्रीहि या यव होता है। यव और

---

१. त्रिंशत् वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत। का० श्रौ० ४.२.४७। यावज्जीवं दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत। ताभ्यां यावज्जीवं यजेत। त्रिंशतं वा वर्षाणि। जीर्णो वा विरमेत्। आप० श्रौ० ३.१४.१०।

व्रीहि इन दोनों में से जिसका परिग्रह प्रथम किया हो उसी का निर्वाह अन्त तक किया जाना चाहिए। इन दोनों यागों में अन्वाहार्य दक्षिणा होती है।

दर्शपौर्णमास याग निमित्त व्रत और नियम

पौर्णमासयाग के पूर्व दिन अन्वाधान किया जाता है। पूर्णिमा के दिन यजमान शिखा कक्ष और उपस्थ रहित पूरा क्षौर करावे। पत्नी केवल नखकर्त्तन करावे। मध्याह्न में यजमान और पत्नी हविष्यान्न का लघु आहार करें। उड़द, मांस, नमक और दूसरे दिन किये जाने वाले पुरोडाश का हविर्द्रव्य भक्षण न करें। अत्यावश्यक स्थिति में रात्रि के समय केवल दूध और सूखा फल (मेवा) खा सकते हैं[1]। दैनिक आह्निक कृत्य से निवृत्त होकर व्रत ग्रहण करें। सत्य बोलें।

यहाँ महत्त्वपूर्ण बात व्यक्त होती है। लोक में दो ही वस्तु हैं। सत्य और मिथ्या। देवता सत्य प्रिय हैं और मनुष्य मिथ्या प्रिय भी हैं। "देवो भूत्वा देवं यजेत" के अनुसार मैं व्रतग्रहण से देवता होकर देवता का यजन करने का अधिकारी होता हूँ। व्रती यह प्रतिज्ञा करता है। दूसरी बात यह है कि व्रत ग्रहण करने के बाद व्रतविसर्जन होने तक सत्य भाषण करना चाहिए।[2]

व्रत के दिन किये जाने वाले अन्य नियमों का भी पालन करना चाहिए। पूर्णिमा के दिन सायङ्काल का और याग के दिन प्रातःकालीन अग्निहोत्रहवन यजमान स्वयं करे। रात्रि में यजमान आहवनीय के पास और पत्नी गार्हपत्य के पास दर्भासन पर शयन करें। ब्रह्मचर्य का पालन करें। इन विशेष नियमों के सिवाय शास्त्रविहित साधारण नियमों का भी पालन करें। पौर्णमासयाग और दर्शयाग ये दोनों मिलकर एक कृत्य माना गया है।[3] एक का अनुष्ठान करने के उपरान्त दूसरे का अनुष्ठान अनिवार्य रूप में करना आवश्यक है।

---

१. परिशिष्टे— शाकं मांसं मसूरं च चणकं कोरदूषकान्।
माषान् मधु परान्नं च वर्जयेदौपवस्तके ॥
लवणं मधु मांसं च क्षारान् श्वो येन हूयते।
उपवासे न भुञ्जीत नोरुरात्रौ न किंचन ॥ दे० प० पृ० २५।
तिलमुद्गादृते शैव्यं सस्यं गोधूमकोद्रवौ।
चिणकं देवधान्यं च सर्वशाकं तथैक्षवम् ॥
सज्जीक्षारं यवक्षारं टङ्कणक्षारमेव च।
व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं सामुद्रं लवणं तथा ॥ दे० प० पृ० २५।
वृक्षारण्यौषधीनामश्नीयाद्वा । का० श्रौ० २.१.१४।

२. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।
शु० य० १.५।

सत्यसंहिता वै देवा अनृतं मनुष्याः। ऐ० ब्रा० १. १. ६।

३. दर्शान्तं पौर्णमासाद्यमेकमेव मनीषिणः। का० स्मृ० १८.१।

पौर्णमास याग का कार्यकलाप

सङ्कल्प
ऋत्विग्वरण
ब्रह्मवरण
प्रणीताप्रणयन
पात्रासादन
शूर्पाग्निहोत्रहवणीप्रतपन
हविर्ग्रहण
पवित्रकरण
पात्रप्रोक्षण
हविःप्रोक्षण
हविःकण्डन
वितुषीकरण
कपालोपधान
हविःपेषण
उपसर्जनीअधिश्रयण
हविरधिश्रयण
अङ्गुलिप्रक्षालन
आप्त्योदकनिनयन
अन्वाहार्यश्रपण
वेदिनिर्माण
स्तम्बयजुर्हरण
पात्रसम्मार्जन, प्रतपन
इध्मप्रोक्षण
वेदिप्रोक्षण
बर्हिप्रोक्षण
प्रस्तरग्रहण
वेदिस्तरण
परिधिनिधान
इध्माधान
इध्मस्थापन
स्रुचीस्थापन
हविरासादन

होतृषदनकरण
सामिधेनी अनुवाचन
अग्निसम्मार्जन
पूर्वाधारहवन
होतृवरण
पञ्चप्रयाज
आज्यभाग
प्रधानयाग
स्विष्टकृद्याग
प्राशित्रहरण
इडावदान
चतुर्द्धाकरण
इडोपह्वान
इडाप्राशन
इडामार्जन
अन्वाहार्यप्रदान
अग्निसम्मार्जन
तीन अनुयाज
स्रुग्व्यूहन
सूक्तवाक
शंयुवाक
परिधिप्रक्षेप
संस्रवहोम
पत्नीसंयाज
पत्नीवाचन
दक्षिणाग्निहोम
समिष्टयजुहोम
बर्हिहोम
प्रणीताविमोक
कणापासन
पूर्णपात्रनिनयन
व्रतविसर्जन
याजमानकर्म

ब्राह्मणतर्पण
यज्ञेश्वरार्पण
ब्राह्मणभोजन ।

सामग्री

शूर्प
अग्निहोत्रहवणी
वस्त्र
कपाल आग्नेय ८
कपाल अग्निषोमीय ११
शम्या
कृष्णाजिन
उलूखल
मुसल
दृषत्
उपल
पात्री
हविर्द्रव्य (जव या व्रीहि)
पवित्र
घृष्टि
संयवनोदक
आज्यस्थाली
आज्य
वेद
अन्वाहार्यदक्षिणा
अभ्रि
इध्मा १८
बर्हि (दर्भ)
स्रुव
जुहू
उपभृत्
ध्रुवा
प्राशित्रपात्र
शृतावदान

पुरोडाशपात्री
योक्त्र
यूनकुशा
परिधि ३
होतृपीठ
दर्भ
इडापात्री
षडवत्तपात्र
अन्तर्द्धानिकट
पूर्णपात्र
परिस्तरण
दर्भमुष्टि
सन्नहन २
अग्निप्रज्वालनसामग्री
समित्
ऋत्विज ४
कमण्डलु
पर्याप्त उदक
दूध
चावल
सुवर्णखण्ड १

याग की विधि

याग से पूर्व दिन यजमान और पत्नी स्नानादि कृत्य से निवृत्त होकर धौतवस्त्र पहन कर अन्वाधान कार्य के लिए प्रस्तुत हों। यजमान यज्ञशाला के पूर्व द्वार से और पत्नी दक्षिण-द्वार से यज्ञशाला में प्रवेश करें। यजमान गार्हपत्य से पश्चिम में और पत्नी गार्हपत्य के दक्षिण-पश्चिम कोण में अपने आसन पर बैठें। यजमान आचमन प्राणायाम करे। तत्पश्चात् हाथ में जल लेकर देश काल के उच्चारण पूर्वक आगामी दिन याग करने का सङ्कल्प करे। यह अन्वाधान कृत्य केवल पौर्णमास याग के लिए याग के दिन याग से पूर्व किया जा सकता है। दर्शयाग के निमित्त तो याग से पूर्व दिन ही करना विहित है। इस कृत्य में याग निमित्त आहवनीय और दक्षिणाग्नि में समन्त्रक अग्निस्थापन करके मन्त्रोच्चारपूर्वक समित् की आहुति दी जाती है।[1]

---

१. सद्यो वा प्रातः। का० श्रौ० ४.२.४४।

भूशुद्धि

यजमान बायें हाथ में वज्र तथा दक्षिण हाथ में जलपात्र और दर्भ लेकर आहवनीय के निकट जाय। भूमि शुद्धि के लिए पहले आहवनीय में और तत्पश्चात् दक्षिणाग्नि में पञ्चभूसंस्कार करे।[1] दोनों में पञ्चभूसंस्कार हो जाने पर गार्हपत्य में से अग्नि लेकर दोनों खर पर क्रमशः रखे।[2] प्रस्तुत कार्य के निमित्त आहवनीय और दक्षिणाग्नि में गार्हपत्य में से अग्निस्थापन करना ही उद्धरण है।

सङ्कल्प

हाथ में छ समित् लेकर गार्हपत्य से पश्चिम में बैठ कर क्रियमाण कार्य का इस तरह सङ्कल्प करे।[3] अग्नि का आठकपाल के पुरोडाश से, अग्नीषोम का आज्य से उपांशु,[4] अग्निषोम का ग्यारह कपाल के पुरोडाश से कल मैं याग करूँगा[5]। इस याग में पन्द्रह इध्मा होंगी। व्रीहि[6] हविर्द्रव्य होगा, क्षौर किया जायेगा,[7] अन्वाहार्य दक्षिणा होगी। सङ्कल्प हो चुकने पर आवहनीय में दो समित् की आहुति दे। पहली समन्त्रक और दूसरी तूष्णीम्। इसी प्रकार गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि में भी क्रमशः समिदाधान करे। व्रत ग्रहण का सङ्कल्प कर उसका पालन करना इतना प्रारम्भिक कृत्य है।

यागारम्भ

याग के दिन प्रातःकाल अत्यावश्यक दैनिक कृत्य, अग्निहोत्र हवन करके यजमान, पत्नी और ऋत्विग्गण याग के शुभारम्भ के निमित्त यज्ञशाला में उपस्थित हों। यजमान आचमन प्राणायाम पूर्वक याग की निर्विघ्नता के हेतु यज्ञ नारायण का स्मरण करे। हाथ में दर्भ लेकर आसन की कल्पना करे। ब्रह्मा और यजमान के आसनों पर पूर्वाग्र दो-दो दर्भ रखे।

---

१. दर्भैः खरं प्राक्संस्थमुदक्संस्थं वा त्रिक्परिसमुह्य, गोमयेन त्रिरुपलिप्य, स्फ्येन उदक्संस्था प्राक्संस्था वा तिस्रो लेखाः खरप्रमाणाः कृत्वा अनामिकाङ्गुष्ठेन ताभ्यो लेखाभ्यः पांसूनुद्धृत्याद्भिस्त्रिरभ्युक्षेत्।

२. प्रस्तुत कार्य के निमित्त (आहवनीय और दक्षिणाग्नि में) गार्हपत्य में से अग्निस्थापन करना ही उद्धरण कहते हैं। 'उद्धरेति यजमानः'। का० श्रौ० ४.१३.१।

३. समित् कहने से प्रादेश मात्र पलाश की समित् समझना चाहिए। प्रादेशमात्रीं पालाशीं समिधमादाय। शा० श्रौ २. ८. २२।

४. होंठ न हिलते हुए मन्त्र का मानसिक उच्चारण करना उपांशु जप कहा जाता है।

५. अग्नि और सोम युगल देवता हैं, उनके लिए घृत और पुरोडाश की आहुति दी जाती है।

६. व्रीहि या जब जो प्रारम्भ से परिगृहीत किया हो वही सर्वदा के लिए स्वीकार्य होता है।

७. केशवपन वैकल्पिक रूप से करने का विधान है। अग्निहोत्री लोग विशेषतः पर्व के दिन क्षौर कराते ही हैं। कर्कमते वपनस्य विकल्पः, भर्तृयज्ञमते वपनं नियमेन। दे० प० पृ० २५।

८. मन्त्रोच्चारण के बिना किये गये कृत्य को तूष्णीं कहते हैं।

आहवनीय के उत्तर में ब्रह्मवरण के स्थान पर, आहवनीय के दक्षिण में ब्रह्मा और यजमान के स्थान पर, प्रणीता, पत्नी और गार्हपत्य से उत्तर में अध्वर्यु के आसन पर दो दो दर्भ रखे।[1]

ऋत्विग्वरण

इस याग में ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और आग्नीध्र इन चार ऋत्विजों की अपेक्षा होती है[2]। याग क्रिया सम्पादनार्थ ऋत्विजों की नियुक्ति को वरण कहते हैं। यजमान क्रमशः प्रत्येक ऋत्विज् का नाम, गोत्र और कार्य का उल्लेख करते हुए वरण करे। उपर्युक्त वरण हो चुकने पर ब्रह्मा का विशेष रूप से वरण किया जाता है।[3] आहवनीय से उत्तर में उत्तर सङ्ग्रह पर ऊर्ध्वजानु, पूर्वाभिमुख ब्रह्मा बैठें। ब्रह्मा से दक्षिण में उत्तराभिमुख यजमान बैठे। यजमान हाथ में सुवर्ण और अक्षत लेकर ब्रह्मा की जानु को छूते हुए ब्रह्मा के नाम, गोत्र का उच्चारण कर समन्त्रक ब्रह्मा का वरण करे[4]। वरण हो चुकने पर ब्रह्मा मन्त्रपाठ करे[5]। यजमान ब्रह्मा से याग की रक्षा की प्रार्थना करता[6] है और ब्रह्मा स्वीकृति देता है। तब ब्रह्मा अपने आसन के निकट आकर याग के निरीक्षक पद का ग्रहण करता है।[7] ब्रह्मा अपने आसन के संस्कार निमित्त यजमान द्वारा आसन पर रखे हुए दो दर्भ में से एक दर्भ को उठा ले और उसे तोड़कर नैर्ऋत्य में फेंक दे।[8] कानों पर जल लगावे। दूसरा दर्भ रखकर संस्कार किये हुए आसन पर बैठे[9]। तब से अनुयाज के प्रैष पर्यन्त ब्रह्मा वाग्यमन करे[10]। यजमान भी अपने आसन का तूष्णीं संस्कार करके ब्रह्मा से पश्चिम की ओर उत्तराभिमुख बैठे।

प्रणीताप्रणयन

यहाँ से अध्वर्यु का कार्य प्रारम्भ होता है। अध्वर्यु गार्हपत्य के पश्चिम में बैठ कर

---

१. पूर्वं षडासनान्युपकल्पयेत्। दे० प० पृ० २६।

२. तै० ब्रा० २. ३. ६।

३. ब्रह्माणं वृणीते ब्रह्मिष्ठम्। का० श्रौ० २. १. १९।

४. भूपते भुवनपते महतो भूतस्यपते ब्रह्माणं त्वा वृणीमहे। का० श्रौ० २. १. १८।

५. अहं भूपतिरहं भुवनपतिरहं महतो भूतस्य पतिर्भूर्भुवः स्वर्देवसवितरे तं त्वा वृणते बृहस्पतिं ब्रह्माणं तदहं मनसे प्रब्रवीमि मनोगायत्र्यै गायत्री त्रिष्टुभे त्रिष्टुप् जगत्यै जगत्यनुष्टुभेऽनुष्टुप् प्रजापतये प्रजापतिर्विश्वेभ्यो देवेभ्यो बृहस्पतिर्देवानां ब्रह्माहं मनुष्याणाम्।

६. वाचस्पते यज्ञं गोपाय। का० श्रौ० २. १. २०।

७. अपरेणाहवनीयं दक्षिणातिक्रामति। का० श्रौ० २.१.२१।

८. ब्रह्मसदनात्तृणं निरस्यति। का० श्रौ० १. २. २३।

९. ब्रह्मसदने आहवनीयमभिमुख उपविशति। का० श्रौ० २. २. १।

१०. वाग्यत आनुयाजप्रसवात्। का० श्रौ० २. २. २।
प्रणीताप्रणयनकाले ब्रह्मणो वाग्यमनं भवति, हविष्कृदेहीत्युच्यमाने वाग्विसर्गो ब्रह्मणः। शां० श्रौ० भा०, पृ० १८७।
वाग्यमन से तात्पर्य यह है कि मन्त्रोच्चारण के अतिरिक्त कोई शब्दोच्चारण न करना।

आचमन प्राणायाम करता है। बायें हाथ में वज्र लेकर निर्विघ्न याग की समाप्ति के लिए कात्यायन प्रभृति महर्षियों को प्रणाम कर कार्य का प्रारम्भ करता है। वज्र को बायीं कोख में दबाकर बायें हाथ में प्रणीता लेकर दाहिने हाथ से उसमें पानी भरता है। पानी भर कर प्रणीता को उत्तर में रखकर ब्रह्मा से प्रणीता प्रणयन का प्रैष करता है और यजमान को वाग्यमन का आदेश 'वाचं यच्छ' कहकर देता है[१]।

ब्रह्मा से अनुमति प्राप्त कर प्रणीता को आहवनीय के उत्तर में रखता है।[२]

आप (जल) स्त्रीलिंग और अग्नि पुलिंग है, पुरुष के उत्तर में स्त्री का स्थान है, इसी लिए आहवनीय के उत्तर में जल रखा जाता है।[३]

परिस्तरण

तीन कुशा में नीचे की ओर गाँठ लगा कर परिस्तरण तैयार किये जाते हैं। ये पूर्वादि दिशाओं में प्रदक्षिण क्रम से अग्नि के चारों ओर रखे जाते हैं। पूर्व में उदगग्र, दक्षिण में पूर्वाग्र, पश्चिम में उदगग्र और उत्तर में पूर्वाग्र रखते हैं। इस प्रकार अध्वर्यु क्रमशः आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के चारों ओर परिस्तरण रखता है।

पात्रासादन

यज्ञ के उपयोग में आने वाले पात्र, काष्ठ और धातु आदि के होते हैं। समय पर व्यवस्थित रूप से मिलें एतदर्थं उन्हें गार्हपत्य के पश्चिम या उत्तर में व्यवस्थित रूप से रखते हैं।[३] ये पात्र पश्चिम से प्रारम्भ करते हुए पूर्व की ओर रखे जाते हैं। सब पात्र उदगग्र रखे जाते हैं। कार्य के अनुक्रम से ही पात्र रखना चाहिए।[४] पात्रों के यथास्थान सन्निवेश को पात्रासादन कहते हैं।[५]

प्रकृत इष्टि में पात्रों का क्रम

शूर्प	मुसल
अग्निहोत्रहवणी	दृषत्
वज्र	उपल
कपाल	पात्री
शम्या	धान्य
कृष्णाजिन	पवित्र
उलूखल	दर्भ

---

१. ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि, यजमान वाचं यच्छ। का० श्रौ० २. ३. २।

२. प्रणय यज्ञं देवता वर्धय त्वं नाकस्य पृष्ठे यजमानो अस्तु।
सप्तऋषीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यज्ञं यजमानं च धेह्योम् प्रणय। का० श्रौ० २.२.८।
उत्तरेणाहवनीयं सम्प्रति निदधाति०। का० श्रौ० २.३.३।

३. श० ब्रा० हि० भा० १.१.१.२०।

४. श्रपणस्य पश्चादुत्तरतो वा। का० श्रौ० २.३.९।

५. शूर्पाग्निहोत्रहवणी०। का० श्रौ० २.३.८।

धृष्टि	प्राशित्रहरण
संयवनोदक	शृतावदान
आज्यस्थाली	पुरोडाशपात्री
आज्य	योक्त्र
वेद	यूनकुशा
दक्षिणार्थ (अन्वाहार्य)	परिधि
तृण सहित अग्नि	होतृपीठ
इध्मा	कुशा
बर्हि	इडापात्री
स्रुव	षडवत्त
जुहू	अन्तर्धानिकट
उपभृत्	पूर्णपात्र
ध्रुवा	

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इनमें से प्रथम दस पात्र युगल रूप होने के कारण जोड़े से रखे जाते हैं। कारण यह है कि यज्ञ विराट् रूप है और विराट् छन्द दस अक्षर का होता है। युगल रूप में इसीलिए रखे जाते हैं कि सृष्टि का कारण ही युग्म है।[1]

हविर्निर्माण

अध्वर्यु समन्त्रक शूर्प और अग्निहोत्रहवणी उठावे।[2] स्वयं वाग्यमन करे। चित्त की एकाग्रतापूर्वक व्यवस्थित कार्यसिद्धि के लिए वाग्यमन आवश्यक है।[3] शूर्प और अग्निहोत्र हवणी को गार्हपत्य के अग्नि पर समन्त्रक तपावे।[4] गार्हपत्य से पश्चिम में स्थित शकट के पास जाय।[5] शकट के दक्षिण और उत्तर जूए का स्पर्श करे।[6] समन्त्रक शकट के दक्षिण

---

१. श० ब्रा० १.१.१.२२।

२. शूर्पाग्निहोत्रहवण्यादाय। का० श्रौ० २.३.१०।
कर्मणे वां वेषायवाम्। शु० य० १.६।

३. वाचं यच्छति। का० श्रौ० २.३.१०। श० ब्रा० १.१.२.२।

४. प्रतपनम्। का० श्रौ० २.३.११। प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टा अरातयः। शु० य० १.७।
यह शूर्प और अग्निहोत्रहवणी का संस्कार है।

५. गच्छति० श्रपणस्य पश्चादनस्तिष्ठत्समङ्गम्। का० श्रौ० २.३.१२।
उर्वन्तरिक्षमन्वेमि। शु० य० १.७।

६. धूरसीतिधूरभिमर्शनम्। का० श्रौ० २.३.१३। धूरसि धूर्वधूर्वन्तम्। शु० य० १.८।
शकट की जो लकड़ी बैल के कंधे पर रहती है वह धू है।

चक्र पर चढ़े।[१] शकट पर रखे हुए हविर्द्रव्य को देखे।[२] हविर्द्रव्य में यदि कङ्कड़, पत्थर हो तो निकालकर फेंक दे।[३] त्याज्य वस्तु न हो तो केवल स्पर्श करे।[४] यदि पुरोडाश के व्रीहि, यव प्रभृति से विजातीय द्रव्य हो तो मन्त्र और स्पर्श की आवृत्ति करे। प्रत्येक देवता के लिए चार मुट्ठी हविर्ग्रहण करे।[५] तीन बार समन्त्रक और चौथी मुट्ठी मौन रहकर हविर्ग्रहण करना चाहिए।

प्राचीन काल में देवताओं ने याग किया था। उसमें अध्वर्यु का कार्य अश्वि ने किया था। इसीलिए हविर्ग्रहण के मन्त्र में 'अश्वि' पद सार्थक है।[६] अग्नि के पुरोडाश के निमित्त ग्रहण करके अग्नीषोमीय पुरोडाश का हविर्ग्रहण करना चाहिए।[७] ग्रहण करने से बचे हुए हविर्द्रव्य का स्पर्श करे।[८] पूर्व दिशा में देखे।[९] मन्त्रोच्चार करते हुए शकट से नीचे उतरे।[१०] हवि को लेकर गार्हपत्य के निकट जाय।[११] गार्हपत्य से पश्चिम में रखे।[१२]

पवित्रकरण

दो दर्भों के प्रादेशमात्र अग्रभाग को पवित्र कहते हैं। ये संख्या में दो होते हैं। तीन दर्भों से ही दो दर्भों को काटकर पवित्र बनाया जाता है।[१३] दर्भ को काटते समय दर्भों

---

१. आरोहणम्। का० श्रौ० २.३.१५। विष्णुस्त्वाक्रमताम्। शु० य० १.९।
२. प्रेक्षते० हविष्यान्। का० श्रौ० २.३.१६। उरु वाताय भव। शु० य० १.९।
३. निरस्यत्यन्यत्। का० श्रौ० २.३.१७। अपहृत ठं० रक्षः। शु० य० १.९।
४. अविद्यमानेऽभिमृशेत्। का० श्रौ० २.३.१८। यच्छन्तां पञ्च शु० य० १.९।
५. गृह्णात्याग्नेयं चतुरो मुष्टीन्। का० श्रौ० २.३.२०। देवस्यत्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां अग्नये जुष्टं गृह्णामि। शु० य० १.१०। चतुरो मुष्टीन्निरूप्य। आप० श्रौ० १.१८.२।
६. शु० य० १.१०। मन्त्र का अश्वि पद।
७. एवमग्नीषोमीयम्। का० श्रौ० २.३.२१। देवस्यत्वा० अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि। शु० य० १.१०। पदार्थ प्राधान्य कर्म होने के कारण यहाँ मुष्टि के परिमाण में अध्वर्यु की मुष्टि समझना चाहिए।
८. शेषाभिमर्शनम्। का० श्रौ० २.३.२३। भूताय त्वा नारातये परिशेषयामि। शु० य० १.११।
९. प्राङीक्षते। का० श्रौ० २.३.२४। स्वरभिविख्येषम्। शु० य० १.११।
१०. अवरोहति। का० श्रौ० २.३.२५। दृठंहतां दुर्याः पृथिव्याम्। शु० य० १.११। यदि शकट स्थानीय पात्री हो तो इसी मन्त्र से हविर्द्रव्य लेकर उठे। का० श्रौ० २.३.३०।
११. गच्छति। का० श्रौ० २.३.२६। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि। शु० य० १.११।
१२. श्रपणस्य पश्चात्सादयति। का० श्रौ० २.३.२७। पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या उपस्थेऽग्ने हव्यठंरक्ष। शु० य० १.११।
१३. कुशौसमावप्रशीर्णाग्रावनन्तर्गर्भौ कुशैश्छिनत्ति०। का० श्रौ० २.३.३०। पवित्रेस्थो वैष्णव्यौ। शु० य० १.१२।

में नाखून न लगने चाहिए। पवित्रनिर्माण का कार्य आहवनीय से उत्तर में उत्कर के पास बैठकर किया जाता है। पवित्र बन जाने पर प्रागग्र रखी हुई अग्निहोत्रहवणी में प्रणीता में से अध्वर्यु जल भरे। दोनों हाथों की अनामिका और अङ्गुष्ठ से पवित्र का मूल और अग्र पकड़े। पवित्र उदगग्र रहे। पवित्र से अग्निहोत्रहवणी का जल उछाले[1]। उसमें त्याज्य द्रव्य हो तो निकाल दे। पवित्र प्रोक्षणी में रखे। दाहिने हाथ से प्रोक्षणी को मुँह के बराबर उठावे।[2] प्रणीता के जल में पवित्र डुबोकर प्रोक्षणी पर जल छिड़के।[3]

हविःप्रोक्षण

अध्वर्यु पवित्रसहित अग्निहोत्रहवणी और वज्र लेकर गार्हपत्य से पश्चिम में स्थापित हविर्द्रव्य के पश्चिम में बैठे। ब्रह्मा से अनुमति प्राप्त कर हविर्द्रव्य का प्रोक्षण करे।[4] प्रोक्षण के मन्त्र में चतुर्थ्यन्त देवता शब्द के आगे 'त्वा' लगाकर मन्त्रोच्चारण करे। इसी प्रकार अन्य हविर्द्रव्य का भी प्रोक्षण करे। जितने हवि हो उतनी बार प्रोक्षण करे। सब पात्रों को उत्तान करके वज्र को अन्य पात्रों के साथ रखे। एक बार समन्त्रक और दो बार तूष्णीं पात्रों का प्रोक्षण करे।[5] कर्काचार्य के मत से पहले वज्र का प्रोक्षण करके बायें हाथ में वज्र उठा ले। तब प्रत्येक पात्रों का पृथक्-पृथक् प्रोक्षण करे।[6] प्रोक्षण कार्य हो चुकने पर प्रणीता और आहवनीय के मध्य में प्रोक्षणी रख दे।[7] प्रणीता और आहवनीय के मध्य से आवागमन न करे।

हविर्द्रव्यसंस्कार

जव या व्रीहि इन दोनों में से एक ही परिगृहीत हविर्द्रव्य है। उसे कूट, पछोड़, पीस कर आटा बनाने तक का कार्य हविर्द्रव्य संस्कार है। अध्वर्यु कृष्णाजिन हाथ में ले।[8] उत्कर पर कृष्णाजिन को झटक दे।[9] हविर्द्रव्य के निकट कृष्णाजिन बिछावे। कृष्णाजिन की गरदन

---

१. हविर्ग्रहण्यामपः कृत्वा ताभ्यामुत्पुनाति। का० श्रौ० २.३.३२।
सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। शु० य० १.१२।

२. सव्ये कृत्वा दक्षिणेनोदिङ्गयति०। का० श्रौ० २.३.३४। देवीरापो०। शु० य० १.१२.१३।

३. तासां प्रोक्षणम्। का० श्रौ० २.३.३५। प्रोक्षितास्थ। शु० य० १.१३।

४. हविश्च। का० श्रौ० २.३.३६। ब्रह्मन् हविः प्रोक्षिष्यामि। ॐ प्रोक्ष। दे० प० पृ० ३३।
अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। शु० य० १.१३।

५. पात्राणि। का० श्रौ० २.३.३८। दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वो शुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि। शु० य० १.१३।

६. तस्मात्प्रतिपात्रमेव। का० श्रौ० क० भा० २.३.३८।

७. असञ्चरे प्रोक्षणीर्निधाय। का० श्रौ० २.३.३९।

८. कृष्णाजिनादानम्। का० श्रौ० २.४.१। शर्मासि। शु० य० १.१४।

९. अपेत्यपात्रेभ्योऽवधूनोति। का० श्रौ० २.४.२।
अवधूतꣳरक्षोऽवधूता अरातयः। शु० य० १.१४।

पश्चिम में रहे।[1] बायें हाथ से कृष्णाजिन को स्पर्श करते हुए दाहिने हाथ से उलूखल ले।[2] उलूखल में कूटने के लिए हविर्द्रव्य छोड़े।[3] यजमान वाग्विसर्जन करे। अध्वर्यु भी यहाँ वाग्विसर्जन करता है। दाहिने हाथ से मुसल उठावे।[4] मुसल को उलूखल में रखे।[5] अध्वर्यु हविर्द्रव्य का कण्डन करने के लिए पत्नी या आग्नीध्र को बुलावे।[6] पत्नी या आग्नीध्र हविर्द्रव्य का कण्डन करने के लिए उपस्थित हो।[7] अध्वर्यु द्वारा कण्डन (कूटने) के लिए बुलाने पर आग्नीध्र हाथ में शम्या लेकर दो बार सिल पर और एक बार लोढ़े पर ठोके।[8] तत्पश्चात् आग्नीध्र सूर्प ले।[9] कूटे हुए हविर्द्रव्य को सूर्प में उडेल कर पछोड़े।[10] भूसी अलग करे।[11] आग्नीध्र हविर्द्रव्य को पछोड़ कर भूसी अध्वर्यु को दे और अध्वर्यु उसे उत्कर में फेंक दे।[12] यदि फिर भी भूसी रह गयी हो तो हविर्द्रव्य को शूर्प में फैलावे और भूसी अलग करे।[13] भूसी रहित हविर्द्रव्य को शूर्प से पात्री में छोड़ कर उसका अभिमन्त्रण करे।[14] कण्डन से यहाँ तक का जो कार्य समन्त्रक एक बार किया है उसी को तूष्णीं दो बार और करे।[15] कण्डन कार्य जो तीन बार किया है, उसके प्रत्येक के अन्त में थोड़ा हविर्द्रव्य का अंश किसी पात्र में आगे यथा समय राक्षसों के देने के लिए निकाल कर सुरक्षित रख ले।[16] इसके अनन्तर हविर्द्रव्य का सील पर

---

१. प्रत्यग्रीवमास्तृणाति। का० श्रौ० २.४.३।
अदित्यास्त्वगसि प्रतित्वादितिर्वेत्तु। शु० य० १.१४।

२. सव्याशून्ये निदधात्युलूखलम्। का० श्रौ० २.४.४। अद्रिरसि वानस्पत्यः। शु० य० १.१४।

३. हविरावपति। का० श्रौ० २.४.६।
अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं देववीतये त्वा गृह्णामि। शु० य० १.१५।

४. मुसलमादत्ते। का० श्रौ० २.४.११। बृहद्ग्रावासि वानस्पत्यः। शु० य० १.१५।

५. अवदधाति। का० श्रौ० २.४.१२। स इदं देवेभ्यो हविः। शु० य० १.१५।

६. त्रिराह्वयति। का० श्रौ० २.४.१३। हविष्कृदेहि ३। शु० य० १.१५।

७. पत्न्यवहन्ति अन्यो वा। का० श्रौ० २.४.१४।

८. आह्वयत्याहन्त्यन्यः। का० श्रौ० २.४.१५। कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व०। शु० य० १.१६।

९. शूर्पमादत्ते। का० श्रौ० २.४.१६। वर्षवृद्धमसि। शु० य० १.१६।

१०. हविरुद्वपति। का० श्रौ० २.४.१७।

११. निष्पुनाति। का० श्रौ० २.४.१८।
परा पूतꣳरक्षः परापूता अरातयः। शु० य० १.१६।

१२. तुषान्निरस्यति। का० श्रौ० २.४.१९।
अपहतꣳरक्षः। शु० य० १.१६।

१३. विविनक्ति। का० श्रौ० २.४.२०। वायुर्वो विविनक्तु। शु० य० १.१६।

१४. पात्र्यामोप्याभिमन्त्रयन। का० श्रौ० २.४.२१। देवो वः सविता०। शु० य० १.१६।

१५. त्रिः फलीकरोति। देवेभ्यः शुन्धध्वम्। का० श्रौ० २.४.२२।
फलीकरणं तण्डुलेभ्यः कणानां वियोगकरणम्। सत्या० श्रौ० टी० १.५।

१६. फलीकृत्य कणान्निदधाति। का० श्रौ० २.४.२३।

पीसना और गार्हपत्य खर में कपालों का जमाना दोनों कार्य एक साथ करते हैं। इन दोनों कार्यों का एक साथ करने का विधान होने के कारण पेषण कार्य अध्वर्यु और कपालोपधान आग्नीध्र करे।[१]

कपाल

कपाल मिट्टी के बने होते हैं। इनकी ऊँचाई दो अङ्गुल की होती है। ये नियत सङ्ख्या में कई टुकड़े होते हैं। सब टुकड़ों को मिला कर वृत्ताकार में जमाते हैं। यह वृत्त घोड़े की टाप के बराबर विस्तृत होता है। इन टुकड़ों को निश्चित क्रम से गार्हपत्य खर के पश्चिमार्द्ध में जमाते हैं। उसी पर पुरोडाश पकाया जाता है। प्रत्येक देवता के लिए कपाल की सङ्ख्या निश्चित है। पौर्णमास याग में अग्नि देवता का पुरोडाश आठ कपाल पर और अग्नीषोम देवता का पुरोडाश ग्यारह कपाल पर तैयार किया जाता है।

कपालोपधान

कपाल के ऊपर पुरोडाश पकाये जाते हैं। वे गार्हपत्य खर में समन्त्रक जमाये जाते हैं। आग्नीध्र गार्हपत्य खर के पश्चिम में बैठे। धृष्टि को लेकर गार्हपत्य खर के अग्नि को पूर्व की ओर सरका कर गार्हपत्य का पश्चिमार्द्ध स्थान कपाल जमाने के लिए रिक्त कर ले[२]। जिस स्थान पर कपाल रखना है वहाँ पहले अग्नि रखकर अग्नि पर कपाल रखे[३]। मध्यम कपाल से रखना प्रारम्भ करे[४]। प्रत्येक कपाल को स्थापित करने के बाद उस पर अङ्गार रखे[५]। तब दूसरा कपाल रखे। अग्नि को आठ कपाल का पुरोडाश कहा है। इन आठों में प्रथम मध्य में, द्वितीय पश्चिम में, तृतीय पूर्व में, चतुर्थ दक्षिण की ओर मध्य में, पञ्चम दक्षिण की ओर पूर्व में, षष्ठ मध्य से पश्चिम में, सप्तम उत्तर दिशा की ओर पश्चिम में और अष्टम पूर्व में इस प्रकार कपालोपधान करना चाहिए। इस प्रकार अग्नि देवता के लिए आठ कपाल का उपधान करे[६]। अग्नि के निमित्त स्थापित कपाल से उत्तर में अग्नीषोम के कपाल रखे जाते हैं[७]। यहाँ भी यथाविहित कपालोपधान करते रहते प्रत्येक कपाल पर अग्नि रखे[८]।

---

१. पेषणोपधाने युगपत्। का० श्रौ० २.४.२४।

२. उपवेषमादाय, अङ्गारान्प्राचः करोति। का० श्रौ० २.४.२५। धृष्टिरसि। का० श्रौ० २.४. २५। अपाग्ने अग्निम्। शु० य० १.१७।

३. अङ्गारमाहृत्य, कपालेनावच्छादयति। का० श्रौ० २.४.२६। आदेवयजं वह, ध्रुवमसि पृथिवीम्। शु० य० १.१७.।

४. पूर्व काल में देवताओं का भाग राक्षस खा जाते थे। अग्नि राक्षस लोगों को भगा देते हैं। इसीलिए कपाल पर अग्नि रखा जाता है। अग्निर्हि रक्षसामुपहन्ता तस्मादेवमुपदधाति। श० ब्रा० १.१.५.६।

५. अङ्गारं निदधाति। का० श्रौ० २.४. २९। अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व। शु० य० १.१८।

६. पश्चात्। का० श्रौ० २.४. ३०। धरुणमसि। शु० य० १.१८। पुरस्तात् धर्त्रमिति। ॐ धर्त्रमसि० विश्वाभ्य इति दक्षिणतः। ॐ विश्वाभ्यः०। का० श्रौ० २.४.३२-३३। चितस्थोर्ध्वचितः। शु० य० १.१८।

७. एकादशाग्नीषोमीयस्य। का० श्रौ० २.४. ३५।

८. अङ्गारैरभ्यूहति। का० श्रौ० २.४.३७। भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्। शु० य० १.१८।

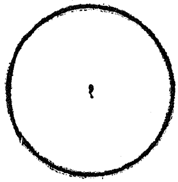
पुरोडाश का पाक जिस पर होता है उसे कपाल कहते हैं। ये मिट्टी के बने होते हैं। इनकी ऊंचाई दो अङ्गुल होती है। इनकी सङ्ख्या १ से १? और पन्द्रह तक रहती है। जमाने पर इनका आकार वृत्ताकार और अश्वशफ मात्र रहता है। देवता के अनुसार इन्हें यथाविहित क्रम से गार्हपत्य में जमाते हैं। उसी का दिग्दर्शन यहाँ अगले चित्र में प्रस्तुत है।

एक कपाल	द्यावापृथिवी	का० श्रौ० ४.६.५
द्वि कपाल	आश्विन	दे० प० पृ० ५०२
त्रि कपाल	विष्णु	श० ब्रा० ५.२.४.१
चतुः कपाल	वरुण	बौ० श्रौ० २३.४
पञ्चकपाल	इन्द्र	मै० सं० २.३.६
षट्कपाल	पितृसोमवान्	का० श्रौ० ५.८.९
सप्तकपाल	मरुत्	श० ब्रा० २.४.२१३
		तै० सं० ३.४.१०
अष्टाकपाल	अग्नि	श० ब्रा० २.४.२८
नवकपाल	विष्णु	आ० श्रौ० १०.३०.१२
		बौ० श्रौ० २३.२.१८
दशकपाल	वरुण	का० श्रौ० २३.२.१८
एकादशकपाल	अग्नीषोम	दे० प० पृ० ३७
द्वादशकपाल	ऐन्द्राग्न	दे० प० पृ० ८१
त्रयोदशकपाल	मरुत्	का० श्रौ० २५.४.३५
पञ्चदशकपाल	चन्द्रमसे प्रतिदृश्यायै	तै० ब्रा० ३.१.६

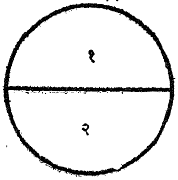
यहाँ एक देवता का एक कपाल दिखलाया है। एक कपाल के अनेक देवता भी होते हैं।

कपाल

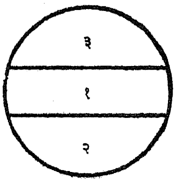
एककपाल



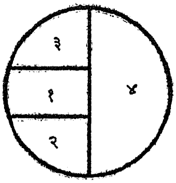
द्विकपाल



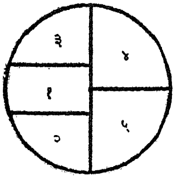
त्रिकपाल



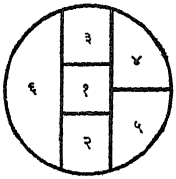
चतुःकपाल



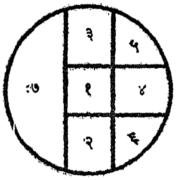
पञ्चकपाल



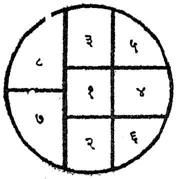
षट्कपाल



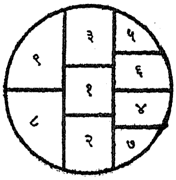
सप्तकपाल



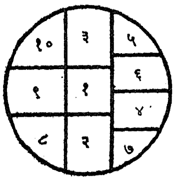
अष्टाकपाल



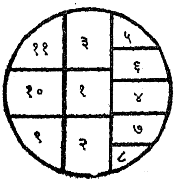
नवकपाल



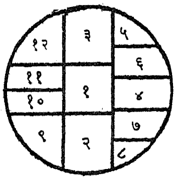
दशकपाल



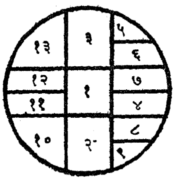
एकादशकपाल



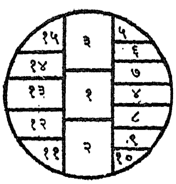
द्वादशकपाल



त्रयोदशकपाल



पञ्चदशकपाल



उपसर्जनी अधिश्रयण

उपसर्जनी (जलपात्र) तपाने के लिए गार्हपत्य के अग्नि पर रखे। याग सम्बन्धी कार्यों में इसी जल का उपयोग विहित है।[1]

पेषण

अध्वर्यु कृष्णाजिन को उत्कर पर फटककर पुनः यथास्थान बिछा ले[2]। कृष्णाजिन पर सिल रखे[3]। सिल के नीचे उदगग्र शम्या रखे।[4] सिल के ऊपर लोढ़िया रखे।[5] सिल पर हविर्द्रव्य रख कर पीसे।[6] पीसा हुआ आटा लोढ़िया से कृष्णाजिन पर गिरावे।[7] आटे का निरीक्षण करे।[8] ब्रह्मा बायें हाथ में वेद लेकर दाहिने हाथ से आज्यस्थाली में आज्य निकाले।[9] यजमान वेद को अभिमन्त्रित करे।[10] पिष्टपात्री में उदगग्र पवित्र रखकर उस पर पीसा हुआ आटा छोड़े[11]। अध्वर्यु पुरोडाश निर्माण के लिए पिष्टपात्री लेकर वेदि के पश्चिम में बैठे।[12] आग्नीध्र गार्हपत्य पर तपायी हुई उपसर्जनी उठाकर अध्वर्यु के निकट ले आवे।[13] अध्वर्यु पिष्टपात्री के ऊपर दोनों हाथों से उदगग्र पवित्र को पकड़े रहे और आग्नीध्र उपसर्जनी का जल पवित्र पर गिरावे।[14] श्रुतावदान से आटे में जल मिलावे।[15] सने हुए आटे का समान

---

१. उपसर्जनीरधिश्रयति। का० श्रौ० २.५.१।

२. कृष्णाजिनमादत्ते पूर्ववत्। का० श्रौ० २. ५. २।

३. तस्मिन्दृषदम्। का० श्रौ० २. ५.३। धिषणासि०। शु० य० १.१९।

४. पश्चाच्छम्यामुपोहति। का० श्रौ० २.५.४। दिवस्कम्भनीरसि। शु० य० १.१९।

५. दृषद्युपलाम्। का० श्रौ० २.५.५। धिषणासि पार्वतेयी। शु० य० १.१९।

६. तण्डुलानोप्य पिनष्टि। का० श्रौ० २.५.६। प्राणायत्वा, उदानायत्वा, व्यानायत्वा। शु० य० १.२०। उच्छ्वासनिश्वासतत्सन्धिगता वृत्तयः प्राणापानव्यानाः। तै० सं० सा० भा० १.१.६।

७. कृष्णाजिने प्रोहति। का० श्रौ० २.५.७। दीर्घामनुप्रसितिमायुषेधाम्। शु० य० १.२०।

८. ईक्षते। का० श्रौ० २.५.८। चक्षुषेत्वा ईक्षे। शु० य० १.२०।

९. पिष्यमानेषु निर्वपति। का० श्रौ० २.५.९। महीनां पयोऽसि। शु० य० २.२०।

१०. वेदोऽसीति मन्त्रेण वेदं करोति। दे० प० पृ० ३८।

११. पात्र्यां सपवित्रायां पिष्टान्यावपति। का० श्रौ० २.५.१०। देवस्य त्वा सवितुः० पूष्णो हस्ताभ्यां संवपामि। शु० य० १.२१। यथादैवतमेवैनानि संवपति। तै० ब्रा० ३.२.८।

१२. श्रपणस्य पश्चादुपविशत्यन्तर्वेदि वा। का० श्रौ० २.५.११।

१३. उपसर्जनीरानयति। का० श्रौ० २.५.१२।

१४. प्रतिगृह्णाति समाप इति। का० श्रौ० २.५.१३। समाप ओषधीभिः समोषधयोरसेन०। शु० य० १.२१।

१५. संयौति। का० श्रौ० २.५.१४। जनयत्यै त्वा संयौमि। शु० य० १.२२।

दो भाग करे ।[1] प्रत्येक भाग का देवता का निर्देशपूर्वक आलभन करे ।[2] ब्रह्मा बायें हाथ में वेद लेकर दाहिने हाथ से आज्यस्थाली को तपाने के लिए गार्हपत्य के अग्नि पर रखे ।[3] यजमान पत्नी यदि मासिक धर्म में अथवा प्रसूति में हो तो पुरोडाश और आज्य का श्रपण कार्य आहवनीय में करे ।

पुरोडाश श्रपण

अध्वर्यु बनाये हुए पुरोडाशों को लेकर गार्हपत्य खर के उत्तर में रखे और स्वयं खर के पश्चिम में बैठे । गार्हपत्य खर में जो कपाल रखे गये हैं उनपर पुरोडाश रखे । हाथ से दबाकर कपाल के आकार में पुरोडाशों को फैला दे ।[4] पुरोडाश का आकार कमठपृष्ठ जैसा और आयाम अश्वशफ मात्र (घोड़े की टाप जैसा) होना चाहिए ।[5] पुरोडाश[6] पर पानी लगाकर चिकना कर दे ।[7] चिमटे से अग्नि उठाकर आज्य और पुरोडाश के चारों ओर प्रदक्षिण घुमावे ।[8] पुरोडाश पर अग्नि रखे ।[9] पुरोडाश पका या कच्चा है जानने के लिए छूकर देखे ।[10] पुरोडाश पक जाने पर उपवेष या वेद से भस्म उठाकर पुरोडाश को भस्म से ढँक दे ।[11]

पात्र्येङ्गुलिप्रक्षालन

पुरोडाश बनाते समय हाथ में आटा लगना स्वाभाविक ही है । अतः अब अध्वर्यु हाथ धोकर साफ कर ले । उसे पिष्ट पात्री में ही हाथ धोना चाहिए ।

---

१. समं विभज्यास ठँहरिष्यन्नालभते इदमग्नेः, इदमग्नीषोमयोः । का० श्रौ० २.५.१५ ।
२. आज्यमविश्रयति । का० श्रौ० २.५.१७ । इषेत्वा अधिश्रयामि । शु० य० १.२२ ।
३. अपत्नीकस्याहवनीये । का० श्रौ० २.५.१८ । पुरोडाशौ युगपत् । का० श्रौ० २.५.१९ ।
   घर्मोऽसि विश्वायुः । शु० य० १.२२ ।
४. प्रथयति यावत्कपालमनतिपृथुम् । का० श्रौ० २.५.२० ।
   उरुप्रथा उरुप्रथस्वोरुते यज्ञपतिः प्रथताम् । शु० य० १.२२ ।
   अतुङ्गमनपूपाकृतिं कूर्मस्येवमश्वशफमात्रं प्रतिकृतिं करोति । आप० श्रौ० १.२५.४ ।
५. तन्न सत्रा पृथुं कुर्यादश्वशफमात्रं कुर्यादित्यु हैक आहुः । श० ब्रा० १.१.६. ९-१० ।
६. अद्भिरभिमृशति । का० श्रौ० २.५.२१ । अग्निष्टे त्वचं मा हिठँसीत् । शु० य० १.२२ ।
७. पुरोडाश पर पानी लगाकर चिकना कर देने से ऊपर की त्वचा पुष्ट होती है, जलता नहीं और काला भी नहीं होता है । का० श्रौ० २.५.२१ ।
८. पर्यग्नि करोति । अन्तरितठँरक्षोन्तरिता अरातयः । का० श्रौ० २.५.२२ ।
९. श्रपणम् । का० श्रौ० २.५.२३ । देवस्त्वा सविता श्रपयतु । शु० य० १.२२ ।
१०. आलभते । का० श्रौ० २.५.२४ । माभेर्मा संविक्थाः । शु० य० १.२३ ।
११. अभिवासयति भस्मना । का० श्रौ० २.५.२५ ।
   अतमेरुर्यज्ञो तमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात् । शु० य० १.२३ ।

आप्त्यनिनयन

आप्त्य यह देवता है। अध्वर्यु पिष्टपात्री और वज्र लेकर आहवनीय के निकट जाय। आहवनीय के उत्तर में, पश्चिम से पूर्व की ओर जाती हुई तीन रेखा करे। उन तीनों रेखाओं पर पिष्टपात्री से पूर्व से पश्चिम की ओर आती हुई तीन जल की धारा दे।[1]

अन्वाहार्यश्रपण

अध्वर्यु अन्वाहार्यस्थाली में चावल लेकर उसे दो बार धोकर बटलोई में पानी भरे। उसमें चावल छोड़े ओर दक्षिणाग्नि में पकाने को रख दे।[2]

वेदि निर्माण

अध्वर्यु आहवनीय से पश्चिम में वेदि की रचना करे।[3] जितनी बड़ी वेदि बनानी है तदनुरूप उस स्थान को नाप ले। आग्नीध्र कुशा से वेदि को झाड़े। झाड़ने पर जो कतवार निकले, उसे उत्कर में फेंके। वज्र से उत्कर के चारों ओर वृत्ताकार रेखा करे।[4] बायें हाथ में पूर्वाग्र वज्र लेकर उसपर पूर्वाग्र ही दर्भ रखे। उस पर दाहिना हाथ रखकर मन्त्र का पाठ करे।[5]

स्तम्बयजुर्हरण

जहाँ वेदि बनाना है उस जगह उदगग्र दर्भ रखना ही स्तम्बयजुर्हरण है।[6] अध्वर्यु वज्र से भूमि खोदे। खोदने में तृण अन्तर्हित रहना चाहिए।[7] वज्र पर जो मिट्टी आवे वह हाथ में ले।[8] खोदी हुई भूमि को देखे।[9] हाथ की मिट्टी उत्कर में फेंके।[10] वेदि को खोदने

---

१. पात्र्यंगुलिप्रक्षालनमाप्त्येभ्यो निनयति। का० श्रौ० २.५.२६।
त्रितायत्वा निनयामि। शु० य० १.२३।
२. अन्वाहार्यं दक्षिणाग्नावधिश्रयति। का० श्रौ० २.५.२७। इसी हेतु दक्षिणाग्नि का अन्वाहार्यपचन यह नाम भी सार्थक है। इत्यन्वाहार्यपचनम्। शां० श्रौ० २.१५.४।
३. अपरेणाहवनीयं वेदिं खनति। का० श्रौ० २.६.१। वेदि का केवल संस्कारमात्र यहाँ होता है। नात्र मात्रास्ति यावतीमेव स्वयं मनसा मन्येत तावतीं कुर्यात्। श० ब्रा० १.२.३.१४।
४. वेदिं परिसमुह्य विलृतीयेऽग्नीदुत्तरत उत्करं करोति। का० श्रौ० २.६.५।
५. स्फ्यमादाय सतृणं सव्ये कृत्वा दक्षिणेनालभ्य जपति। का० श्रौ० २.६.६।
इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः। शु० य० १.२४।
६. नोपस्पृशेत्पृथिव्यात्मानौ। का० श्रौ० २.६.७।
७. वेद्यां तृणं निदधात्युदक् पृथिव्यै वर्मासि। तृणेऽन्तर्हिते प्रहरति। का० श्रौ० २.६ ८-९।
८. पुरीषमादत्ते। का० श्रौ० २.६.१०। व्रजं गच्छ गोष्ठानम्। शु० य० १.२५।
९. वेदिं प्रेक्षते। का० श्रौ० २.६.११। वर्षतु ते द्यौः। शु० य० १.२५।
१०. उत्करे करोति। का० श्रौ० २.६.१२। बधान देव सवितः। शु० य० १.२५।

से उत्कर में मिट्टी फेंकने तक का कार्य तीन बार करे[1]। चौथी बार मिट्टी के साथ दर्भ भी उठा कर उत्कर में फेंक दे।

पूर्व परिग्रह

पूर्व परिग्रह का प्रैष करे।[2] ब्रह्मा से अनुमति पाकर वेदि के लिए परिगृहीत भूमि को वज्र से रेखान्वित करे। दक्षिण की ओर पश्चिम से पूर्व तक, पश्चिम में दक्षिण से उत्तर तक और उत्तर में पश्चिम से पूर्व तक इस प्रकार तीनों ओर की भूमि रेखान्वित करे। वेदि के मध्य में वज्र से पूर्व संस्थ तीन रेखा करे और आग्नीध्र को रेखा में से मिट्टी उठाने का प्रैष करे[3]। आग्नीध्र मिट्टी उठा कर रेखा के स्थान का स्पर्श करे।[4] वेदि को लीप कर बराबर कर ले।[5]

---

१. द्वितीयं प्रहरणादि। का० श्रौ० २.६.१४। अपाररुं पृथिव्यै०। शु० य० १.२५।

२. पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति। का० श्रौ० २.६.१८।
ब्रह्मन् पूर्वं परिग्रहं परिगृहीष्यामि। यह पूर्व परिग्रह प्रैष है। परिग्रहाण यह ब्रह्मा की अनुमति है। गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि, त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। शु० य० १.२७।

३. हर त्रिः। का० श्रौ० २.६.१९।

४. हृत्वाग्नील्लेखाः सम्मृशति। का० श्रौ० २.६.२०।

५. अत्र वेदिकरणं यथोक्तम्। का० श्रौ० २.६.२२।

दर्शपौर्णमासयागविहार

१–इस विहार की लम्बाई २० अरत्नि, चौड़ाई १० अरत्नि होती है।

२–गार्हपत्य-खर यह १३॥ अङ्गुल की परकाल से वृत्ताकार बना है। इसमें १२ × ४ अङ्गुल की परिधि होती है।

३–गार्हपत्य और आहवनीय के मध्य की रेखा ६ अरत्नि।

४–वेदि—यज्ञ शाला के मध्य में होती है। पश्चिम में दक्षिण उत्तर ४ अरत्नि चौड़ी।

पूर्व में दक्षिण उत्तर ३ अरत्नि चौड़ी।

मध्य में पूर्व पश्चिम ३ अरत्नि लम्बी।

५–श्रोणी—दक्षिण एवं उत्तर की १२ अङ्गुल।

६–अंस—दक्षिण एवं उत्तर के ११॥ अङ्गुल।

७–आहवनीयखर—२४ अङ्गुल चतुरस्र। परिधि गार्हपत्यवत्।

८–संग्रह—१९ अङ्गुल की परकालसे बना अर्धवृत्ताकार। ये दक्षिण एवं उत्तर में दो होते हैं।

दक्षिण संग्रह—यजति स्थान। यहाँ खड़े होकर याग होता है।

उत्तर संग्रह—जुहोति-स्थान। यहाँ बैठ कर हवन होता है।

९–उत्कर–२ अङ्गुल की परकाल से वृत्ताकार। ६ अङ्गुल गर्त।

१०–दक्षिणाग्निखर–१९ अंगुल की परकाल से बना अर्धवृत्ताकार। उत्तर में ज्या। परिधि गार्हपत्यवत्।

११–सभ्यखर—गार्हपत्यवत्।

१२–आवसथ्य-स्मार्त्ताग्निखर। गार्हपत्यवत्।

१३–ब्रह्मासन।

१४–यजमानासन।

१५–अध्वर्यु का आसन।

१६–होता का आसन।

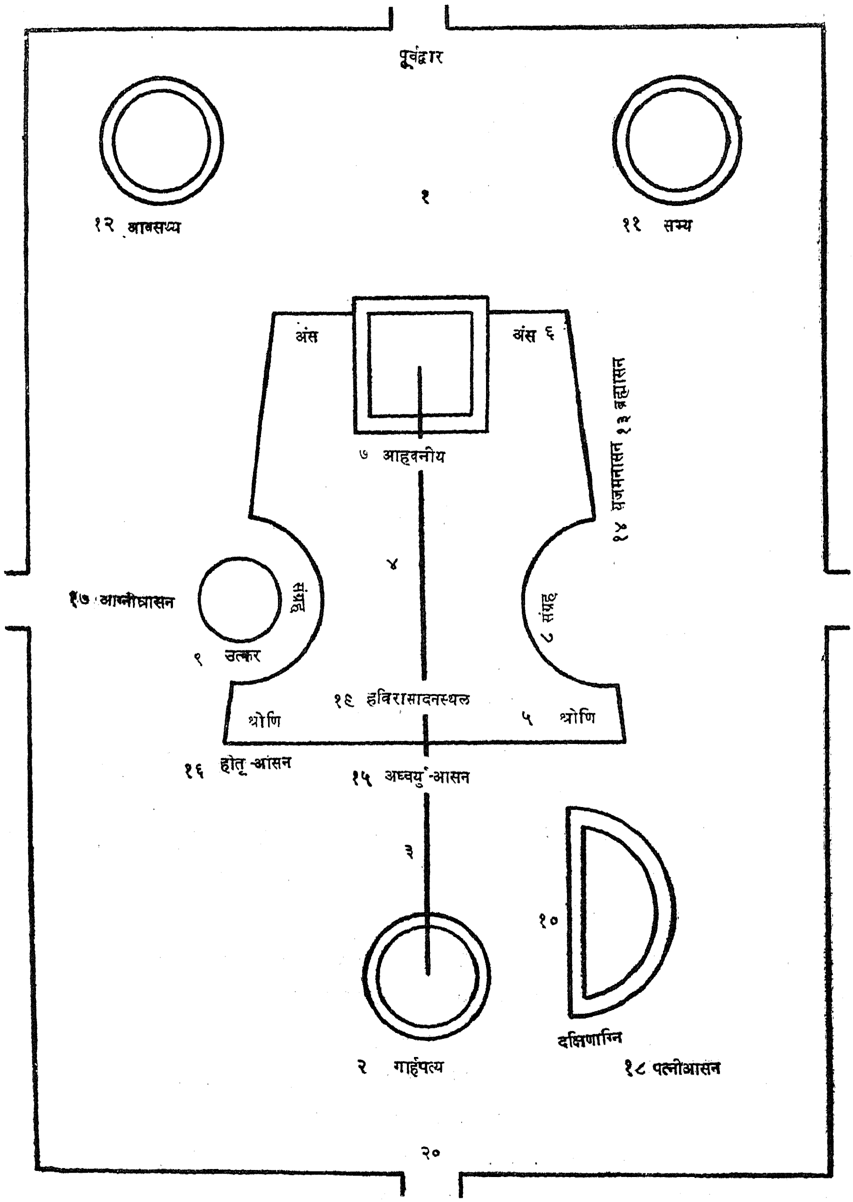
१७–आग्नीध्र का आसन।

१८–पत्नी का आसन।

१९–हवि के आसादन का स्थान।

२०–द्वार-पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में २ × ४ अरत्नि के होते हैं।

दर्शपौर्णमासयागविहार



उत्तर परिग्रह

पूर्व परिग्रहवत् उत्तर परिग्रह करे।[१] जिस प्रकार पूर्व परिग्रह में वेदि के तीनों ओर वज्र से रेखा की गयी है वैसे ही उत्तर परिग्रह में भी रेखा करे। केवल दोनों में मन्त्र भिन्न हैं। दोनों में क्रिया का साम्य है। उदगग्र वज्र से वेदि की भूमि को समतल करे।[२] आग्नीध्र वेदि के पश्चिम में ऊर्ध्व जानु बैठ कर दोनों हाथों से उदगग्र प्रोक्षणी उठा रखे।[३] अध्वर्यु हाथ में वज्र लेकर उत्तर संग्रह पर खड़ा हो। आग्नीध्र को प्रोक्षणी, इध्मा और बर्हि को यथा स्थान रखने का, स्रुव प्रभृति पात्रों के सम्मार्जन का, पत्नी की कटि में योक्त्र पहनाने का और गार्हपत्य के अग्नि पर से आज्य उतारने का प्रैष करे।[४] आग्नीध्र हाथ में ली हुई प्रोक्षणी को वेदि में रखे। अध्वर्यु हाथ में लिये वज्र को उदगग्र उत्कर में फेंके।[५] यहाँ यदि अभिचार करना वाञ्छित हो तो शत्रु का नाम ले।[६] हाथ धोकर प्रणीता के पश्चिम में उदगग्र वज्र आसादित करे।[७] वज्र से उत्तर में इध्मा और इध्मा से उत्तर में पूर्वाग्र बर्हि रखे।[८]

पात्र सम्मार्जन

आग्नीध्र वज्र लेकर गार्हपत्य से पश्चिम में बैठे। वेद का अग्र और मूल काट ले। स्रुवा को गार्हपत्य के अग्नि पर तपावे। बायें हाथ में स्रुवा और दाहिने हाथ में वेद का अग्र और मूल ले। वेद के अग्र से स्रुवा के ऊपर प्राक्संस्थ और मूल से नीचे की ओर पश्चिम संस्थ स्रुवा को झाड़े।[९] पुनः तपाकर अध्वर्यु को दे। इसी प्रकार स्रुची,[१०] प्राशित्र हरण,[११]

---

१. उत्तरं परिग्रहं परिगृह्णाति। का० श्रौ० २.६.२३।
सूक्ष्माचासि० स्योनाचासि० ऊर्जस्वती०। शु० य० १.२७।

२. पुरा क्रूरस्येत्यनुमार्ष्टि। का० श्रौ० २.६.२४। पुरा क्रूरस्य०। शु० य० १.२८।

३. अध्यधि वेदिं प्रोक्षणीर्धारयति। का० श्रौ २.६.२५।

४. अध्वर्यु—प्रोक्षणीरासादय, इध्मं बर्हिरुपसादय, स्रुचः सम्मृड्ढि, पत्नीं सन्नह्य, आज्येनोदेहि। का० श्रौ० २.६.२६। आग्नीध्र एवं प्रोक्षण्यासादनादिपदार्थान् कुर्यात्, इति हरिस्वामिनः। दे० प० पृ० ३६।

५. स्फ्यमुदञ्चं प्रहरति। का० श्रौ० २.६.३४। द्विषतो वधोऽसि। शु० य० १.२८।

६. अमुष्मै त्वा वज्रं प्रहरामि। दे० प० पृ० ३६। अमुष्मै पद के स्थान पर शत्रु का नाम ले।

७. अपरेण प्रणीता स्फ्यं निदधाति। का० श्रौ० २.६.३५।

८. इध्मा बर्हिश्च, पूर्वमिध्मं प्रणीता दक्षिणेन वाहृत्य। का० श्रौ० २.६.३६-३८।

९. स्रुवं प्रतप्य पूर्ववद्वेदाग्रैः। का० श्रौ० २.६.३९। तस्मादु तथैव सम्मृज्याद्यथाग्निं नाभिव्युक्षेत् प्राङिवैवोत्क्रम्य। श० ब्रा० १.२.४.१०। अनिशितोऽसि०। शु० य० १.२९।

१०. अनिशितेति स्रुचः। का० श्रौ० २.६.४१। अनिशितासि० सम्मार्जिम। शु० य० १.२९।

११. प्राशित्रहरण प्रभृति पात्रों के झाड़ने और तपाने में मन्त्र नहीं है अपितु तूष्णीं क्रिया मात्र है। दे० प० पृ० ३७।

शृतावदान, पुरोडाशपात्री का संस्कार करे। इडापात्री का भी संस्कार करे[१]। वेद का अग्र और मूल उत्कर[२] में फेंके[3]। अध्वर्यु सन्नहन लेकर पत्नी की कटि में पहनावे[४]। बायें हाथ में वेद लेकर आज्य को पत्नी के आगे रखे[५]। पत्नी आज्येक्षण करे[६]। तत्पश्चात् आज्य को वेदि में दक्षिण श्रोणी के पास रखे[७]। उदगग्र पवित्र को अनामिका और अङ्गुष्ठ से पकड़ कर आज्य में पश्चिम से पूर्व और पूर्व से पश्चिम की ओर ले जाते हुए आज्य में यदि त्याज्य द्रव्य पड़ा हो तो उसे निकाल दे। इसी तरह प्रोक्षणी में से त्याज्य द्रव्य भी निकाले[८]। यजमान आज्य को देखे[९]। आज्य स्थाली में से चार स्रुवा आज्य जुहू में, आठ स्रुवा उपभृत् में और चार स्रुवा ध्रुवा में भरे[१०]।

इध्मप्रोक्षण

सन्नहन से बँधी हुई इध्मा को खोल दे। प्रोक्षणी के जल से इध्मा का प्रोक्षण करे[११]। बर्हि को वेदि में उदगग्र रख कर प्रोक्षण करे[१२]। प्रोक्षणी का अवशिष्ट जल बर्हि के मूल पर उड़ेल दे। पवित्र प्रणीता में रखे। सन्नहन से बँधी बर्हि को खोल दे। बर्हि में से प्रस्तर ले।[१३] प्रस्तर ब्रह्मा को दे।

---

१. तूष्णीं प्राशित्रहरणं, शृतावदानं, पात्रीं च। का० श्रौ० २.६.४२।
२. वेदि के उत्तर संग्रह पर उत्कर बनाया जाता है। दे० प० पृ० ३७।
३. संमार्जनान्यपास्यति। का० श्रौ० २.६.४३।
४. पत्नीठं सन्नह्यति। प्रत्यग्दक्षिणत उपविष्टां गार्हपत्यस्य मुञ्जयोक्त्रेण त्रिवृता परिहरत्यविवासः। का० श्रौ० २.७.१। अदित्यै रास्नासि। शु० य० १.३०।
५. आज्यमुद्रास्य। का० श्रौ० २.७.४। ऊर्जे त्वा। शु० य० १.३०।
६. पत्नीमवेक्षयति। का० श्रौ० २.७.४। अदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि०। शु० य० १.३०।
७. वेद्यां करोत्यपरं प्रोक्षणीभ्यः। का० श्रौ० २.७.५।
८. आज्यमुत्पुनाति, प्रोक्षणीश्च। का० श्रौ० २.७.७। सवितुस्त्वा० सवितुर्वः। शु० य० १.३१।
९. आज्यमवेक्षते० यजमानो वा। का० श्रौ० २.७.८। तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि। शु० य० १.३१। यहाँ विकल्प होने से यजमान अथवा अध्वर्यु कोई भी आज्येक्षण करे। दे० प० पृ० ३८।
१०. स्रुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वां, अष्टावुपभृति, ध्रुवायां च जुहूवत्। का० श्रौ० २.७.९-१०, १५।
११. इध्मं प्रोक्षति विस्रठंस्य वेदिं च। का०श्रौ० २.७.१६। कृष्णोस्याखरेष्ठो०। शु० य० २.१।
१२. बर्हिः प्रतिगृह्य वेद्यां कृत्वा। का० श्रौ० २.७.१६।
बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। शु० य० २.१।
१३. प्रस्तरग्रहणम्। का० श्रौ० २.७.१८।

वेदिस्तरण

बर्हि में बँधे हुए सन्नहन को खोल कर दक्षिण श्रोणी में बिछावे। उस पर अन्य दर्भ बिछावे। बर्हि का तीन भाग करके वेदि में पूर्वाग्र बिछावे[1]। इध्मा में से एक समित् ले। ब्रह्मा से प्रस्तर ले और बायें हाथ में उठाये रखे। दाहिने हाथ से उल्मुक रखने के लिए आहवनीय में अग्नि की कल्पना करे। दक्षिण और उत्तर में आहवनीय की परिधि पर किसी पात्र में अग्नि रखे[2]।

परिधि निधान

आहवनीय के पश्चिम में, दक्षिण में और उत्तर में क्रमशः परिधि रखे[3]। आहवनीय से पश्चिम की ओर रखी परिधि को हाथ में ली हुई इध्मा से स्पर्श कर इध्मा का आहवनीय में होम करे[4]। पुनः इध्मा में से दूसरी समित् लेकर आहवनीय में होम करे[5]। आहवनीय को देखते हुए मन्त्र पढ़े[6]। वेदि में प्रदक्षिण घूम कर अपने स्थान पर बैठे। दो दर्भ लेकर दक्षिण संग्रह के आगे वेदि में रखे[7]। उन पर प्रस्तर रखे[8]। प्रस्तर को दोनों हाथों से दबावे[9]। बायें हाथ को प्रस्तर पर रखे रहे और दाहिने हाथ से प्रस्तर पर जुहू रखे। जुहू से उत्तर में उपभृत् और उसके उत्तर में ध्रुवा रखे[10]।

हविरासादन

अध्वर्यु बायें हाथ में वेद और दाहिने हाथ में आज्य स्थाली और स्रुवा लेकर गार्हपत्य के निकट जाकर गार्हपत्य से पश्चिम की ओर पूर्वाभिमुख बैठे। पुरोडाश को भस्म रहित करे।

---

१. वेदिं स्तृणाति। का० श्रौ० २.७.१९।
ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यः। शु० य० २.२।
परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम्। अ० सं० शौ० ७.१०४.९।
२. आहवनीयं कल्पयति। का० श्रौ० २.७.२५।
३. परिधीन्परिदधाति। का० श्रौ० २.८.१। गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु०। शु० य० २.३।
४. प्रथमं परिधिं समिधोपस्पृश्य० उपदधाति। का० श्रौ० २.८.२।
वीतिहोत्रं त्वा०। शु० य० २.४.।
५. अनुपस्पृश्य०। का० श्रौ० २.८.३। समिदसि। शु० य० २.५।
६. जपति आहवनीयमीक्षमाणः। का० श्रौ० २.८.४। सूर्यस्त्वा पुरस्तात्पातु०। शु० य० २.५।
७. बर्हिषस्तृणे तिरश्ची निदधाति। का० श्रौ० २.८.५ सवितुर्बाहू स्थः। शु० य० २.५।
८. तयोः प्रस्तरꣳ स्तृणाति। का० श्रौ० २.८.१०। ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि। शु० य० २.५।
९. अभिनिदधाति। का० श्रौ० २.८.११। आत्वा वसवो रुद्राः। शु० य० २.५।
१०. सव्याशून्ये जुहूं प्रतिगृह्य। का० श्रौ० २.८.१२।
घृताच्यसि जुहूर्नाम्नास्येदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद। शु० य० २.६।

गार्हपत्य के उत्तर में पुरोडाश पात्री आसादित करे। पुरोडाशपात्री पर स्रुवा से आज्य लगावे[1]। उसी तरह पुरोडाश पर भी स्रुवा से आज्य लगा कर पुरोडाश को पुरोडाश पात्री पर रखे। कपालों की गणना करे[2]। प्रत्येक पुरोडाश पर स्रुवा से आज्य लगावे[3]। कपालों का स्रुवा से क्रमशः स्पर्श करे। आसादित क्रम से कपालों को उठा कर किसी पात्र में रखे[4]। आज्यस्थाली को पुनः यथा स्थान और उससे उत्तर की ओर दोनों पुरोडाश रखे[5]। इनका रखने का क्रम उदक्संस्थ होना चाहिए। पुरोडाश रख लेने पर जुहू से अन्तिम पुरोडाश तक सबका समन्वक स्पर्श करे। अपने हृदय का स्पर्श करे[6]।

सामिधेनी अनुवाचन

अध्वर्यु उत्तरश्रोणी से पश्चिम की ओर होतृपीठ रखे। उस पर दो दर्भ रखे। इध्मा में से एक समित् ले। होता को बुलावे। होता आहवनीय से ईशानकोण में आचमन करके आवे और होतृपीठ के निकट पूर्वाभिमुख खड़ा हो। अध्वर्यु सामिधेनीपाठ के लिए होता को प्रैष करे[7]। अध्वर्यु होता द्वारा पठित सामिधेनी के प्रत्येक प्रणव पर एक-एक इध्मा का आहवनीय

---

१. अथादत्ते दक्षिणेनाज्यस्थालीं स्रुवं च सव्येन पात्रीं वेदमित्येतत्समादाय गार्हपत्यमुपविश्य० तित्तिरिसूत्रे। दे० प० पृ० ४२। वेदेन पुरोडाशयोर्भस्मापोहति वेदोपयाम आज्यस्थाल्याः स्रुवेणाभिघारयति मानवे। दे० प० पृ० ४२।

२. उभयोः पुरोडाशयोः ततः कपालानि गणयित्वा। दे० प० पृ० ४२।
अनक्ति० यस्ते प्राणः पशुषु प्रविष्टः। का० श्रौ० २.८.१४।

३. प्रत्यनक्ति कपालानि। का० श्रौ० २.८.१६।
स्रुवेण सर्वाणि कपालान्याज्येनाभ्यनक्ति। दे० प० पृ० ४२।

४. संख्ययोद्वासयति। का० श्रौ० २.८.१८।

५. प्रियेण धाम्नेति हवींषि वेद्यां कृत्वा। का० श्रौ० २.८.१९।
प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद। शु० य० २.६।

६. इत्यात्मानम्। का० श्रौ० २.८.२०। पाहि मां यज्ञन्यम्। शु० य० २.६।

७. होतृषदनं कृत्वा० इध्मात्समिधमादाय अग्नये समिध्यमानायानुब्रू ३ हीत्याह। अध्वर्यु द्वारा बुलाने पर होता नियत मार्ग से यज्ञशाला में प्रविष्ट होकर अपने आसन के पश्चिम में पूर्वाभिमुख खड़ा हो। कं प्रपद्ये तं प्रपद्ये यत्ते प्रजापते शरणं छन्दस्तत्प्रपद्ये यावत्ते विष्णो वेद तावत्ते करिष्यामि देवेन सवित्रा प्रसूत आर्त्विज्यं करिष्यामि०। शां० श्रौ० १.४.५। सामस्थानीय हिङ्कार की तीन आवृत्ति करे। त्रिर्हिङ्कृत्य। शां० श्रौ० १.४.६। प्रवोवाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या। देवाञ्जिगाति सुम्नयो३म्०। प्रभृतिसामिधेनी पढ़। प्रवोवाजा०। शां० श्रौ० १.४.७-१४। याग के देवता का आवाहन करे। अग्निमग्न आ ३ वह, सोम० अग्निम्० अग्नीषोमा० अग्नीषोमा० देवां आज्यपाम्० अग्नि होत्राय० स्वं महिमानम्०। शां० श्रौ० १.५.१-७। होतृषदनं हरितं हिरण्यं निष्का

में हवन करे[1]। यजमान सामिधेनी की संख्या का मन्त्र में उल्लेख करते हुए मन्त्र पाठ करे। अभिचार वाञ्छित हो तो शत्रु का नाम लेकर पैरों के अङ्गूठों से वेदि की भूमि को दबावे[2]। अध्वर्यु इध्मा की आहुति करते हुए एक इध्मा बचाले। अध्वर्यु हाथ में वेद लेकर आहवनीय पर तीन बार प्राक्संस्थ हाथ ले जाय। स्रुवा से स्वाहाकार रहित आहुति दे। यह आहुति प्रजापति देवता निमित्तक है और यही पूर्वाघार है। यजमान 'इदं प्रजापतये न मम' त्याग करे इसी तरह प्रत्येक आहुति के अन्त में यजमान ही त्याग करे।

आग्नीध्र को संम्मार्जन करने का प्रैष करे[3]। आग्नीध्र बायें हाथ में वज्र और दाहिने हाथ में इध्मसन्नहन लेकर यजति स्थान पर जाय। आहवनीय की दक्षिण परिधि पर प्राक्संस्थ तीन बार इध्मसन्नहन से सम्मार्जन करे। पश्चिम परिधि पर तीन बार सम्मार्जन करे। तब जुहोति स्थान पर जाकर उत्तर परिधि पर प्राक्संस्थ तीन बार सम्मार्जन करे। तीन बार आहवनीय के मध्य में प्राक्संस्थ सम्मार्जन करे[4]। अध्वर्यु आहवनीय से पश्चिम दिग्भाग में अञ्जलि बद्ध प्रणाम करे। अनन्तर दक्षिण की ओर अञ्जलि बद्ध नमन करे[5]। कानों पर जल लगावे। तब अपने स्थान पर लौट आवे। जुहू को उपभृत पर रखे[6]। दोनों स्रुचियों को लेकर जुहोति स्थान पर जाय। वहाँ से पहले बायाँ पैर आगे रखते हुए यजति स्थान पर जाय। वेदि में पैर न रखे। इसी प्रकार लौटते समय यजति स्थान से जुहोति स्थान पर दाहिना पैर आगे रख कर लौटे[7]। जाते और लौटते हुए परिधि के पश्चिम से ही जाय[8]।

यजतिस्थान पर पहुँच कर ईशानाभिमुख खड़ा हो[9]। यही क्रम सर्वदा के लिए समझे। जुहू से इन्द्र देवता के लिए हवन करे[10]। दोनों हाथों में अलग-अलग दोनों स्रुचियाँ लेकर अपने

एते यजमानस्य लोके। अ० सं० शौ० ७.१०४.१। याग में मन्त्रपाठ किस स्वर से किया जाय इसका भी उल्लेख किया है—

प्रथमस्थानेन प्राक्स्विष्टकृतः। मध्यमेनेडायाः, शेषमुत्तमेन। का० श्रौ० ३.१. ३-५।

१. प्रतिप्रणवमाधानम्। का० श्रौ० ३.१. १०।
२. अङ्गुष्ठाभ्यां चावबाधते। का० श्रौ० ३.१. ७।
३. वेदेनाहवनीयं त्रिरुपवाज्य स्रुवेण पूर्वमाघारयाहि अग्निमग्नीत्संमृड्ढि। का० श्रौ० ३.१. १२।
४. इध्मसन्नहनैरनुपरिधि सम्मार्ष्टि त्रिस्त्रिः। का० श्रौ० ३.१. १३।
अग्नेवाजजिद्वाजम्। शु० य० २.७।
५. अपरमाहवनीयादञ्जलिं करोति दक्षिणत उत्तानम्। नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः। का० श्रौ० ३.१. १५।
६. जुहूपभृतावादायोत्तरां जुहूं कृत्वा। का० श्रौ० ३.१. १६।
७. सव्येनेतो दक्षिणेनामुतः। का० श्रौ० ३.१. १८।
८. परिधीनपरेण संचरो होष्यतः। का० श्रौ० ३.१. १७।
९. ईशानाभिमुखस्तिष्ठति। दे० प० पृ० ४६।
१०. इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्। शु० य० २. ८-९।

स्थान पर लौटे[1]। अपने स्थान पर आकर जुहू से थोड़ा आज्य ध्रुवा में छोड़े। स्रुची को यथास्थान रखे।

होतृवरण

अध्वर्यु हाथ में इध्म सन्नहन लेकर जुहोतिस्थान पर जाय। पूर्वाभिमुख आग्नीध्र के पीछे खड़ा हो। अध्वर्यु आश्रावण और आग्नीध्र प्रत्याश्रावण करे[2]। यजमान के प्रवर और होता के नामोच्चारण पूर्वक होता का वरण करे[3]। होता जब आग्नीध्र और अध्वर्यु के कंधों पर हाथ रखे तब आग्नीध्र और अध्वर्यु दोनों बैठ जायँ[4]।

पञ्चप्रयाज

यहाँ से याग प्रारम्भ होता है। प्रथम पाँच प्रयाज किये जाते हैं। होता जब तन्निमित्त[5] मन्त्र पढ़े तब अध्वर्यु जुहू और उपभृत् लेकर यजति स्थान पर जाय और वहाँ स्थिर खड़ा रहे[6]। अध्वर्यु आश्रावण और आग्नीध्र प्रत्याश्रावण करे[7]। अध्वर्यु होता को याज्या पढ़ने का

---

१. आघार्यासिठं स्पर्शयन्। का० श्रौ० ३.२. २।
सञ्ज्योतिषा ज्योतिः। शु० य० २. ९।

२. अथ प्रवृणीते दैव्यो होता। का० श्रौ० ३.२. ७।
ओ ३ श्रा ३ वय, अस्तु श्रौ ३ षट्। का० श्रौ० ३.२. ३-४।
अस्तु श्रौषडित्याग्नीध्रोऽपरेणोत्करं दक्षिणाभिमुखस्तिष्ठन् स्फ्यं संमार्गांश्च धारयन् प्रत्याश्रावयति। आप० श्रौ० २.१५.४.६।

३. होतृनामग्रहणम्। का० श्रौ० ३.२. १३। मानुष इत्युक्तः। देवसवितरे तं त्वा वृणते। शां० श्रौ० १.६. १-२।

४. सम्मृष्टावुपविशतः। का० श्रौ० ३.२, १५। उपोत्थायाध्वर्योर्दक्षिणेन प्रादेशेन दक्षिणमंसमन्वारभ्य जपति सव्येनाग्नीध्रो दक्षिणम्। इन्द्रमन्वारभामहे। शां० श्रौ० १.६. ३।
होता अपने आसन का संस्कार करके बैठे। अपने दोनों हाथ जोड़ कर हृदय पर रखे। मन्त्र पाठ करे। शां० श्रौ० १.६. ४-१५।

५. घृतवतीमित्युक्ते०। का० श्रौ० ३.२. १७। घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमाज्यस्व देवयुवम्। शां० श्रौ० १.६ १६।
मनुष्या वा ईडेन्या पितरो नमस्या देवा यज्ञियाः। श० ब्रा० १.४.३. ३।

६. ध्रुवस्तिष्ठन्। का० श्रौ० ३.२. १९।

७. अध्वर्युं-'ओ ३ श्रा ३ वय' आश्रावण। आग्नीध्र अस्तु श्रौ ३ षट् प्रत्याश्रावण, अध्वर्यु द्वितीयान्त देवता पद का उच्चारण करके होता को याज्या पढ़ने का प्रैष करता है। जैसे अग्नि यज। होता याज्या के प्रारम्भ में द्वितीयान्त देवता पद का उच्चारण करके याज्या पढ़ता है। ये ३ यजामहेऽग्निं जुषाणो०। याज्या के अन्त में वौ ३ षट् कहता है। उसी

प्रैष करे। होता द्वारा पठित मन्त्र के अन्त में वषट्कार के उच्चारण करने पर अध्वर्यु आहवनीय में आहुति दे। इस प्रकार पाँच प्रयाज करे[1]। आहुति होने पर यजमान क्रमशः पाँचों आहुति का त्याग करे।

आज्यभाग

अध्वर्यु पञ्च प्रयाज की आहुतियाँ देकर अपने स्थान पर आवे। जुहू में से ध्रुवा, हवि और उपभृत् में थोड़ा-थोड़ा आज्य छोड़े[2]। अध्वर्यु होता को अग्नि की पुरोनुवाक्या पढ़ने का प्रैष करे[3]। होता अग्नि की पुरोनुवाक्या पढ़े[4]। अध्वर्यु ध्रुवा में से स्रुवा भर कर जुहू में आज्य छोड़े। दूसरी बार आज्यस्थाली में से भर कर ध्रुवा में छोड़े और ध्रुवा में से स्रुवा से ही जुहू में छोड़े[5]। इस प्रकार चार स्रुवा आज्य जुहू में लेना चाहिए। पाँचवाँ स्रुवा ध्रुवा में छोड़ कर

समय अध्वर्यु आहवनीय के अग्नि पर आहुति छोड़ता है। यजमान चतुर्थ्यन्त देवतापद का उच्चारण करके न मम कहकर त्याग करता है। यह सार्वत्रिक नियम समझना चाहिए। आश्रावयेति चतुरक्षरम्, अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्, यजेति द्व्यक्षरम्, ये यजामहेति पञ्चाक्षरम्, द्व्यक्षरो वषट्कार, एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्तो य एवं वेद प्रतियज्ञेन तिष्ठति न यज्ञाद् भ्रंशति। तै० सं० १.६.११।

१. १ समिधो यजति, २ तनूनपातं यजति, ३ इडो यजति, ४ बर्हिर्यजति, ५ स्वाहा यजति। तै० सं० २.६. १। प्रयाजैश्चरन्ति पञ्चैते भवन्ति। आ० श्रौ० १.५।
अध्वर्यु समिधो यज। होता—ये ३ यजामहे समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौ ३ षट्। होता प्रत्येक आहुति के अन्त में 'ओजः सह सह ओजस्वः' मन्त्र पढ़कर कानों को जल लगावे। शां० श्रौ० १.१. ३९।

यजमान—(१) इदं समिद्भ्यो न मम एको ममैका तस्य किञ्चन योऽस्मां द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः त्विषिमान् भूयासम्। यह एक प्रयाज समाप्त हुआ। इसी तरह शेष चार प्रयाज करे। अध्वर्यु यज। यजयजेति शेषम्। का० श्रौ० ३.२. १८। होता—(२) तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु ३ वौ ३ षट्०। (३) इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु०। (४) बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु०। (५) स्वाहाग्निं, स्वाहासोमं, स्वाहाग्निं, स्वाहाग्नीषोमौ (उपांशु), स्वाहाग्नीषोमौ स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा अग्न आज्यस्य हविषो व्यन्तु ३ वौ षट्। शां० श्रौ० १.७. १-६। यजमान २ इदं तनूनपाते न मम, अपचितिमान् भूयासम्। ३ इदमिड्भ्यो न मम, यशस्वी भूयासम्। ४ इदं बर्हिषे न मम, ब्रह्मवर्चसी भूयासम्। ५ इदमग्नये सोमायाग्नयेऽग्नीषोमाभ्याम् (उपांशु) अग्नीषोमाभ्यां देवेभ्य आज्यपेभ्यो न मम० अन्नादो भूयासम्। क्रमशः त्याग और अनुमन्त्रण करे।

२. एत्य जुह्वाभिघारणम्। ध्रुवायाः, हविषः, हविषः, उपभृतश्च। का० श्रौ० ३.३. ९।

३. अग्नयेनुब्रू ३ हि। दे०प० पृ० ५७।

४. अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्०। ऋ० सं० ६.१६. ३४।

५. आप्यायतां ध्रुवा हविषा घृतेन यज्ञम्०। का० श्रौ० ३.३. १२।

आज्य लेना बन्द करे । अध्वर्यु स्रुचियों को लेकर यजति स्थान पर जाय । आश्रावण प्रत्याश्रावण के अनन्तर होता को अग्नि की याज्या पढ़ने का प्रैष करे[1] । होता द्वारा याज्या का पाठ करने पर अध्वर्यु आहवनीय में आहुति दे । यह आहुति ईशान कोण में गिरनी चाहिए । यजमान त्याग करे । इस प्रकार प्रत्येक आहुति का क्रम होना चाहिए । पुनः अध्वर्यु अपने स्थान पर आवे । आज्य लेकर यजति स्थान पर जाय और सोम देवता का याग करे[2] । यह याग आग्नेय कोण में हो ।

प्रधान याग

अध्वर्यु प्रारम्भ में स्रुव से एक बार जुहू में आज्य ले । प्रथम आग्नेय पुरोडाश में से अङ्गुष्ठपर्व प्रमाण भाग दो बार स्रुची में ले । अन्त में एक स्रुवा आज्य ले[3] । यजति स्थान पर से अग्नि के मध्य भाग में प्रधानयाग की आहुति करे[4] । अग्नीषोम का आज्य से उपांशु धर्म से याग करे[5] । प्रथम पुरोडाश की तरह द्वितीय पुरोडाश का भाग लेकर अग्नीषोम का याग करे[6] । उपर्युक्त तीन प्रधानयाग है ।

स्विष्टकृद्याग

प्रधान याग हो चुकने पर अध्वर्यु प्रत्येक हवि का उत्तरीय अंश (भाग) लेकर स्विष्टकृद्यग करे[7] । पहले दी हुई आहुतियों से स्विष्टकृद्याग की आहुति अग्नि में अलग गिरनी

---

१. अग्नि जुषाणो अग्निराज्यस्य हविषः । शां० श्रौ० १.८. ३ ।

२. सोम की पुरोनुवाक्या—त्वं सोमासि सत्पतिः० और सोम की याज्या सोमं जुषाणः सोम आज्यस्य । शां० श्रौ० १.८. १ ।

३. हविर्भ्यां च । का० श्रौ० ३.३. २२ ।

४. अग्नि की पुरोनुवाक्या अग्निर्मूर्द्धादिवः ककुत्०, याज्या अग्नि भुवो यज्ञस्य रजसश्च । शां० श्रौ० १.८. ४-५ ।
अतिक्रम्याश्राव्याहाग्नि यजेति प्रैषः । दे० प० पृ० ५७ ।

५. अग्नीषोमाविमम्० और जुषाणावग्नीषोमावाज्यस्य हविषो वीताम्० यह दोनों क्रमशः अग्नीषोम की पुरोनुवाक्या और याज्या (उपांशु धर्म से) पढ़ी जाती है ।
शां० श्रौ० १.८. ५-६ ।
पुरोडाशावन्तरेणाग्नीषोमा उपांश्वाज्यस्य । का० श्रौ० ३.३. २३ ।
अतिक्रम्याश्राव्याहाग्नीषोमौ यजेति प्रैषः । दे० प० पृ० ५८ ।

६. अग्नीषोमा सवेदसा० और युवमेतानि दिवि रोचनानि ।
यह दोनों पौरोडाशिक अग्नीषोम की क्रमशः पुरोनुवाक्या और याज्या है ।
शां० श्रौ० १.८. १० ।

७. स्विष्टकृत् की पुरोनुवाक्या पिप्रीहि देवां उशतो यविष्ठ विद्वान्० है । याज्या—अयाडग्निरग्नेः प्रियाधामान्ययाट् सोमस्य प्रिया धामान्ययाडग्नेः प्रिया धामान्ययाडग्नीषोमयोः

चाहिये[1]। स्विष्टकृद्याग के अनन्तर स्रुचियों को यथास्थान वेदि में आसादित करे[2]। वेद को प्रणीता में डुबोकर उसी जल से अपने गतागत मार्ग को सिञ्चित करे[3]।

प्राशित्रहरण

बायें हाथ में प्राशित्र पात्र ले। स्रुवा से उस पर आज्य छोड़े। अग्नि और अग्नीषोम के पुरोडाशों में से यवमात्र (भाग) लेकर उस पर रखे। ऊपर पुनः आज्य छोड़े। दूसरे पात्र से उसे ढंक कर ब्रह्मा को दे।[4] ब्रह्मा उसे लेकर वेदि में रखे। सूत्रोक्त विधि से प्राशनकर आचमन करे। प्राणसम्मर्शन (नासिका मुख प्रभृति का स्पर्श) करे।

इडावदान

अध्वर्यु इडापात्री को गार्हपत्य पर तपावे। उसमें स्रुवा से आज्य छोड़े। श्रृतावदान से पुरोडाश का भाग ले। क्रमशः पुरोडाश में से दक्षिण और मध्य का भाग लेकर इडापात्री में रखे[5]। षडवत्त, ब्रह्मभाग और यजमान भाग रखने के पात्र में आज्य लगावे। अग्नि के पुरोडाश में से षडवत्त, ब्रह्मभाग और यजमान भाग उन-उन पात्रों पर रखे[6]। ब्रह्मा को दिये जाने वाले भाग को पात्रसहित, ध्रुवा नामक स्रुची पर रखे। यजमान के भाग को ध्रुवा से पूर्व की ओर वेदि में रखे।

इडोपह्वान

अध्वर्यु इडापात्री होता को दे[7]। पुनः इडापात्री अपने हाथ में ले। स्रुवा से होता की

(उपांशु) प्रिया धामान्ययाडग्नीषोमयोः प्रिया। धामान्ययाट् देवानामाज्यपानां प्रियाधामानि यक्षदग्नेर्होतुः प्रिया धामानि यक्षत्स्वं महिमानमायजतामेज्या इषः कृणोतु सो अध्वरा जातवेदा जुषतां हविरग्नेर्यदद्य विशो० है। शां० श्रौ० १.९. १-२।

१. असंसृष्टामाहुतिभिः। का० श्रौ० ३.३. २८।

२. निधाय। का० श्रौ० ३.३. २९।

३. सञ्चरमभ्युक्ष्य। का० श्रौ० ३.४. १।

४. आज्यमुभयतो वा आग्नेयात्। का० श्रौ० ३.४. १। अध्वर्युः सञ्चरेण ब्रह्मणे प्रदाय। का० श्रौ० ३.४. ३।

हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीति प्रतिगृह्य। प्राग्दण्डं स्थण्डिले निधाय। उपकनिष्ठिकयाङ्गुष्ठेन प्राशित्रं गृहीत्वा। अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामीति प्राश्यासञ्चादन्। शान्तिरसीत्याचम्य। प्राणान्सम्मृशति। शां० श्रौ० ४.७. ७-१०।

५. इडां पञ्चावत्तां दक्षिणतो मध्याच्च यावद्धविः स्विष्टकृद्वदाज्यम्। का० श्रौ० ३.४. ३।

६. यजमानभागं पूर्वार्द्धाद्दीर्घम्। का० श्रौ० ३.४. ४।

७. इडां होत्रे प्रदाय। का० श्रौ० ३.४. ५।

अङ्गुली के पर्व पर आज्य लगावे। होता अङ्गुली पर्व के आज्य को क्रमशः अपने दोनों ओष्ठ पर लगावे[1]। अध्वर्यु इडापात्री में से चार बार थोड़ा-थोड़ा पुरोडाश (अवान्तरेडा) होता के हाथ में दे। पाँचवीं बार होता स्वयं पुरोडाश का थोड़ा भाग ले[2]। इडापात्री होता को दे।[3] होता ऊर्ध्वजानु बैठे। अपने दोनों हाथों की अङ्गुलियों को ऊपर उठा रखे और अङ्गुलियों पर इडापात्री रखे रहे। यजमान प्रभृति सब लोग इडापात्री का स्पर्श करें। होता मन्त्रपाठ करे[4]। होता के मन्त्रों में जब 'इडोपहूता०, मन्त्रांश आवे तब अध्वर्यु वेदि में पुरोडाश पात्री पर रखे हुए पुरोडाश का समन्त्रक स्पर्श करे[5]। उसमें से चार भाग करके पुरोडाशपात्री से पूर्व की ओर वेदि में रखे। यजमान वेदि पर रखे हुए पुरोडाश के भाग का समन्त्रक स्पर्श करे[6]। क्रमशः ब्रह्मा प्रभृति चारों ऋत्विजों को उनका-उनका भाग दे[7]। होता जब निश्चित मन्त्र[8] पढ़े तब यजमान षडवत्तपात्र भाग सहित आग्नीध्र को दे[9]।

इडाप्राशन

सब लोग अपना-अपना भक्ष्य पुरोडाश का भाग लेकर यज्ञशाला से बाहर जायँ और

---

१. इडां प्रतिगृह्य होतुरङ्गुलि पर्वणी अनक्ति। का० श्रौ० ३.४. ६।
इडामुपह्वास्यमानस्य दक्षिणस्य पाणेः प्रदेशिन्यामनक्ति। उत्तमे च पर्वणि मध्यमे च। वाचस्पतिनाते० पूर्वमञ्जनमधरौष्ठे निलिम्पति। मनसस्पतिना ते० उत्तरौष्ठ उत्तरम्। उपस्पृश्य। दक्षिणेनोत्तरेडां धारयन्। अप्रसारिताङ्गुलिभिरमुष्टिकृताभिः। शां० श्रौ० ३.१०. १-५।

२. अवान्तरेडामादधाति। का० श्रौ० ३.४. ७।
स्वयं पञ्चममादाय। मुखसम्मितां धारयन् हृदयसम्मितां वा। शां० श्रौ० ३.१०. ६-७।

३. इडां च। का० श्रौ० ३.४. ८।

४. सर्वेऽन्वारभन्ते। का० श्रौ० ३.४.९।
उपहूतं बृहत्सह दिवा सह सूर्येण सह चक्षुषोपमां बृहत्सह दिवा सह सूर्येण सह चक्षुषा०। शां श्रौ० १.११.१।

५. इडोपहूतेत्युच्यमाने आग्नेयं बर्हिषदं करोति ब्रह्म पिन्वस्वायुर्मे धुक्ष्व प्रजां मे धुक्ष्व पशून्मे धुक्ष्व ब्रह्म मे धुक्ष्व, क्षत्रं मे धुक्ष्व, विशो मे धुक्ष्व०। का० श्रौ० ३.४.१०।
इडोपहूतोपहूतेडोपास्मान्०। शां० श्रौ० १.१२.१।

६. बर्हिषि ऋत्विग्भ्य आदिशति। का० श्रौ० ३.४.११।

७. एकैकमाहरति। का० श्रौ० ३.४.१५।

८. द्यावापृथिव्योरुपह्वाने। का० श्रौ० ३.४.१६। उपहूते द्यावापृथिवी०।
शां० श्रौ १.१२.१।

९. अग्नीधे षडवत्तम्। का० श्रौ० ३.४.१६।

समन्त्रक भक्षण करें[1] । अपने लिए निश्चित भाग के प्राशन कर लेने पर यजमान सहित ऋत्विग्गण इडा के शेष भाग का प्राशन करें[2] । यज्ञशाला में लौट आवें और आचमन करें ।

इडामार्जन

प्रणीता में से पूर्व स्थापित पवित्र को लेकर क्रमशः ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, आग्नीध्र और यजमान समन्त्रक मार्जन करें[3] । मार्जन कर लेने पर अध्वर्यु पवित्र को प्रस्तर पर रख दे[4] । ध्रुवा पर स्थापित ब्रह्मभाग को आहवनीय के पूर्व की ओर से ले जाकर, ब्रह्मा को दे[5] । ध्रुवा के आगे बर्हि पर स्थापित यजमान भाग को गार्हपत्य के पश्चिम की ओर से ले जाकर यजमान को दे[6] ।

अन्वाहार्य दान

अध्वर्यु आज्यस्थाली में से एक स्रुवा आज्य लेकर दक्षिणाग्नि के पास जाय । दक्षिणाग्नि में पकाये हुए अन्वाहार्य में आज्य छोड़े[7] । अन्वाहार्य लाकर वेदि में रखे और उसका समन्त्रक

---

१. प्राश्नात्युपहूता पृथिवी । का० श्रौ० ३.४.१७ । अग्नीध्र को षडवत्त के दो भाग के भक्षण के १—उपहूता पृथिवी० । २—उपहूतो द्यौः० । शु० य० २.११ । ये दो मन्त्र हैं ।

२. उपहूतां प्राश्नन्ति युक्ताः । यजमानश्च । का० श्रौ० ३.४. १९-२० । होता का इडा-प्राशन मन्त्र इडासि स्योनासि स्योनकृत्सानः सुप्रजास्ते रायस्पोषेधां जुष्टे जुष्टिं ते गमेय उपहूत उपहवं तेऽशीय मुखस्य त्वा द्युम्नाय सुरभ्यास्यत्वाय प्राश्नामि, इत्युत्तरेडां प्राश्य । शां० श्रौ० १.१२.५ ।

३. पवित्रयोर्मार्जयन्तेऽपरेण वेदिम् । का० श्रौ० ३.४.२१ ।
सुमित्रियान आप ओषधयः सन्तु । शु० य० ६.२२ ।
आमार्जनाद्वाग्यमनम् । इदमाप इति तृचेनान्तर्वेदि पवित्रवति मार्जयन्ते ।
शां० श्रौ० १.१२.७-८ ।

४. यजमानस्य प्राणापानौ पातमिति प्रस्तरे ते करोति । का० श्रौ० ३.४.२२ ।

५. भागमस्मै परिहरति । का० श्रौ० ३.४.२५ ।

६. यजमानभागं चाप्रोषिते । का० श्रौ० ३.४.२६ ।

७. महानपरिमितोऽन्वाहार्यो दक्षिणाग्नावोदनः पक्वस्तमभिघार्यानभिघार्य वान्तर्वेद्यामासादयति । सत्या० श्रौ० २.३ पृ० २१२ ।
अन्वाहार्यमभिघार्योदगुद्वास्य ब्रह्मयजमानौ हृत्वा वेद्यां निधायालभते,
प्रजापतेर्भागोस्यूर्जस्वान्० । का० श्रौ० ३.४.२७ । अस्याः पौर्णमासेष्टेः समृध्यर्थं, अन्वाहार्यं दक्षिणां ब्रह्मादिऋत्विग्भ्यः समविभागेनाहं सम्प्रददे । ब्रह्मन्यस्ते विभागः स प्रतिगृह्यताम् होतर्यस्ते० अध्वर्यो यस्ते० अग्नीध्रस्ते० । दे० प० पृ० ६२ । यह यजमान कहे । ब्रह्मा कोऽदात्कस्मा अदात्कामोऽदात्कामायादात्कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते इस मन्त्र से दक्षिणा का प्रतिग्रह करे । शां० श्रौ० ४.८.१५ ।
एष दक्षिणाकालः सर्वासामिष्टीनाम् । शां० श्रौ० १.१२.१० ।

स्पर्श करे। यजमान सङ्कल्प करके प्रत्येक ऋत्विज को अन्वाहार्य दक्षिणारूप में समान भाग में दे। चारों ऋत्विज जब अन्वाहार्य का समन्त्रक प्रतिग्रह कर चुकें तब अन्वाहार्य को उठाकर उत्तर में रखे। पुरोडाशपात्री और जो कुछ हविः शेष बच गया हो उसे भी उत्तर में रखे। अध्वर्यु हाथ में वज्र लेकर आवहनीय पर रखे हुए दोनों उल्मुक को आहवनीय में छोड़ दे[1]। इध्मा में बची हुई एक समित् लेकर ब्रह्मा से अनुयाज करने की अनुमति ले[2]। आग्नीध्र को उत्तर सम्मार्जन करने का प्रैष करे[3]। हाथ में ली हुई समित् आग्नीध्र को दे। आग्नीध्र आहवनीय में समित् का हवन करे। आहवनीय में प्रक्षिप्त समित् का होता अनुमन्त्रण करे[4]। यह अनुमन्त्रण यजमान से अज्ञात हो[5]। आग्नीध्र पूर्ववत् आवहनीय पर इध्म सन्नहन से सम्मार्जन करे[6]।

अनुयाजत्रय

दर्शपौर्णमास याग में तीन अनुयाज होते हैं[7]। अध्वर्यु ब्रह्मा से अनुमति लेकर उपभृत् में से जुहू में आज्य ले, यजति स्थान पर जाय। आश्रावण प्रत्याश्रावण करे। होता को याज्या पढ़ने का प्रैष करे। प्रत्येक वषट्कार पर अनुयाज की आहुति दे[8]।

अनुयाज हो चुकने पर जुहोति स्थान पर बैठे। उपभृत् में से समस्त आज्य जुहू में ले। आहवनीय में एक आहुति दे[9]। अपने स्थान पर वापस आकर दोनों स्रुचियाँ यथास्थान रखे। अध्वर्यु बायें हाथ में वेद लेकर दाहिने हाथ से जुहू को पूर्व में सरकावे। पश्चात् वेद को

---

१. समस्योल्मुके समिधमादाय। का० श्रौ० ३.५.१।
२. आह ब्रह्मन्प्रस्थास्यामि। का० श्रौ०, ३.५.१.।
३. समिधमाधायाग्निमग्नीत्सम्मृड्ढि। का० श्रौ० ३.५.१।
४. होता अनुमन्त्रयते। का० श्रौ० ३.५.२।
   एषा ते अग्ने समित्तया वर्द्धस्व०। शु० य० २.१४।
   एषा ते अग्ने० इति समिधमनुमन्त्र्य। शां० श्रौ० १.१२.१२।
५. अजानति यजमानः। का० श्रौ० ३.५.३।
६. सम्मार्ष्टि पूर्ववदपरिक्रामम्। का० श्रौ० ३.५.४।
७. ब्रह्मानुज्ञातोऽनुयाजैस्त्रिभिश्चरति। का श्रौ० ३.५.५।
   त्रीननुयाजान्यजति। शां० श्रौ० १.१२.१३।
८. अतिक्रम्याश्राव्याह देवान्यजेति। का० श्रौ० ३.५.६। तीन अनुयाज की याज्या १ देवं बर्हिर्वसुवने वसुधेयस्य वेतु०। २ देवो नराशंसो वसुवने०। ३ देवो अग्निः स्विष्टकृत्सु० वीहीत्यनुयाजयाज्याः। शां० श्रौ० १.१३.१-३। देवाय बर्हिषे न मम, देवाय नराशंसाय०, देवायाग्नये स्विष्टकृते० यजमान क्रमशः तीनों का त्याग करे।
९. चतुर्थं समानीय प्राचीम् देवेभ्यः स्वाहा। का० श्रौ० ३.५.१३।

दाहिने हाथ में लेकर बायें हाथ से उपभृत् को पश्चिम में सरकावे[1]। अध्वर्यु वेद को प्रणीता के जल में भिगोकर जुहू में वेद से जल छोड़े[2]। आहवनीय के तीनों ओर जिस क्रम से परिधि रखी गयी है उसी क्रम से तीनों परिधियों के मूल पर जुहू से जल छोड़े[3]।

सूक्तवाक

अध्वर्यु आहवनीय के पश्चिम में रखी हुई पहली परिधि को लेकर सूक्तवाक के लिए होता को प्रैष करे। विधृति पर स्थापित प्रस्तर उठावे[4]। विधृति संज्ञक दोनों दर्भ यथास्थान रख दे[5]। प्रस्तर का अग्र जुहू में, मध्य उपभृत् में और मूल ध्रुवा में डुबा ले[6]। नीचा हाथ किये हुए स्रुचियों के पश्चिम से प्रस्तर ले जाय और जुहोति स्थान पर बैठे[7]। बायें हाथ में वज्र लिये रहे। प्रस्तर में से एक दर्भ बायें हाथमें ले। होता के मन्त्रपाठ हो चुकने पर प्रस्तर की आहवनीय में (हाथ से) आहुति दे। याग के समय यजमान यदि प्रवास में हो तो अध्वर्यु उसके भाग का इस समय आहवनीय में हवन करे[8]। क्षत्रिय और वैश्य यजमान हो तो याग के समय उपस्थित रहने पर भी उनके भाग की आहुति दे[9]। आग्नीध्र के मन्त्रपाठ करने पर[10]

---

१. एत्य जुहूपभृतौ व्यूहति। का० श्रौ० ३.५.१७। अग्नेरग्नीषोमयोरग्नीषोमयोरुज्जितिम्, अग्निः अग्नीषोमौ तमपनुदन्तु०। शु० य० २.१५।

२. अभ्युक्ष्य जुह्वां परिधीननक्ति। का० श्रौ० ३.५.२०

३. वसुभ्यस्त्वा, रुद्रेभ्यस्त्वा, आदित्येभ्यस्त्वा। शु० य० २।१६।

४. प्रथमं परिधिं गृहीत्वाश्राव्याह। का० श्रौ० ३.६.२। प्रस्तरादानम्। का० श्रौ० ३.६.४। सञ्जानाथां द्यावापृथिवी। शु० य० २।१६।

५. विधृती स्थाने कृत्वाऽनक्त्येनम्। का० श्रौ० ३.६.५।

६. अग्रं जुह्वामुपभृतिमध्यं मूलमितरस्याम्। का० श्रौ ३.६.६।

७. नीचैर्हृत्वा। का० श्रौ ३.६.७। मरुतां पृषतीर्गच्छ। शु० य० २।१६। होता द्वारा पठित सूक्तवाक—सूक्ताब्रूहीत्युक्तः। 'इदं द्यावापृथिवी० स्वधिचरणा च तयोराविदीत्यवसाय। अग्निर्हविरजुषतावीवृधत् महो ज्यायोऽकृत। सोमो हविर० अग्निर्हविर०। अग्नीषोमौ हविरजुषेतामवीवृधेतामहो ज्यायोऽक्राताम्। अग्निषोमौ हवि० देवा आज्यपा आज्यमजूषन्तावीवृधन्त महोज्यायोऽक्रत। अग्निर्होत्रेण हवि०। अस्यामृधद्धोत्रायां देवं गमायाशास्ते यं यजमान (अत्र यजमानस्य नामग्रहणम्) उत्तरां देव यज्यामाशास्ते, भूयो हविष्करणमाशास्ते, आयुराशास्ते, सुप्रजास्त्वमाशास्ते, दिव्यं धामाशास्ते। यदनेन हविषाशास्ते। तदश्यात्तदृध्यात्तदस्मै देवा रासन्तां० नमो देवेभ्यः। शां० श्रौ० १.१४.१-१९।

८. यजमानभागं च प्रोषिते० अहं त्वदस्मि। का० श्रौ० ३.६.९।

९. क्षत्रियवैश्ययोश्च नित्यम्। का० श्रौ० ३.६.१०।

१०. अग्नीदाहानुप्रहरेति। का० श्रौ० ३.६.१३।

हाथ में लिया हुआ दर्भ आहवनीय में छोड़े। समन्त्रक हृदय का स्पर्श करे और कानों पर जल लगावे[1]। आग्नीध्र "संवदस्व" और अध्वर्यु "अगानग्नीत्" प्रभृति क्रमशः कहे[2]। अध्वर्यु होता को शंयुवाक पढ़ने का प्रैष करे[3]। स्थापित क्रम से पहली परिधि उठाकर आवहनीय में छोड़े। तब दोनों हाथों से दोनों परिधियाँ उठाकर एक साथ आहवनीय में छोड़े[4]।

संस्रवाहुति

अध्वर्यु जुहू और उपभृत् दोनों स्रुचियों से आहवनीय में एक आहुति दे[5]। यदि शकट पर से हविर्ग्रहण किया हो तो दोनों स्रुचियाँ शकट के धुरे पर रखे[6]। पात्री में से हविर्ग्रहण किया हो तो वेदि के वामांस पर उदगग्र वज्र रख कर उस पर दोनों स्रुचियों को रखे। अध्वर्यु अपने स्थान पर आकर वेदि का स्पर्श करे[7]।

पत्नीसंयाज

आहवनीय के अग्नि पर उपर्युक्त याग हो चुकने पर पत्नीसंयाज करने के लिए ऋत्विग्गण गार्हपत्य के निकट जायँ[8]। वेद को होता, स्रुवा, जुहू को अध्वर्यु और आज्य-स्थाली को आग्नीध्र अपने साथ ले जाय[9]। अध्वर्यु गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के मध्य से जाकर गार्हपत्य से दक्षिण की ओर पत्नी के आगे, ईशानाभिमुख बैठे[10]। याग के समय अध्वर्यु दक्षिण जानु मोड़कर बैठे[11]। आग्नीध्र गार्हपत्य के पूर्व में पश्चिमाभिमुख बैठे। होता गार्हपत्य के उत्तर

---

१. आत्मानमालभते। का० श्रौ० ३.६.१४। चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि। शु० य० २.१६।
२. संवदस्वागानग्नीदगन्श्रावय श्रौषट्। का० श्रौ० ४.६.१५।
३. स्वगादैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शंयोर्ब्रूहि। का० श्रौ० ३.६.१५। तच्छंयोरावृणीमहे। शां० श्रौ० १.१४.२१। इस मंत्र का होता पाठ करे।
४. परिधीननुप्रहरति। का० श्रौ ३.६.१६। यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः। शु० य० २.१७।
५. स्रुचौ प्रगृह्णाति संस्रवाञ्जुहोति। का० श्रौ० ३.६.१७। संस्रवभागास्थेषा बृहन्तः। शु० य० २.१८।
६. धुरि निदधात्यनसि चेद् ग्रहणम् स्फ्ये पात्र्यांचेत्। का० श्रौ० ३.६. १८-१९। घृताचीस्थो धुर्यौ पातम्। शु० य० २.१९।
७. यज्ञ नमश्चत इति वेदिमालभते। का० श्रौ० ३.६.२०।
८. पत्नीसंयाजेभ्यो गार्हपत्यं गच्छन्ति। का० श्रौ० ३.७.१।
९. वेदं होता, स्रुक्स्रुवमध्वर्युराज्यस्थालीमग्नीदादाय। का० श्रौ० ३.६.२१।
१०. पूर्वदक्षिणेन गार्हपत्यमेत्य। का० श्रौ० ३.७.२।
११. उपविश्य दक्षिणं जान्वाच्य। का० श्रौ० ३.७.३।

में पूर्वाभिमुख बैठे। पत्नीसंयाज उपांशु करना चाहिए[१]। अध्वर्यु सोम देवता के लिए होता को पुरोनुवाक्या पढ़ने का प्रैष करे[२]। स्रुची में चार स्रुवा आज्य ले। आश्रावण, प्रत्याश्रावण करके होता को सोम की याज्या पढ़ने का प्रैष करे[३]। वषट्कार करने पर अध्वर्यु आहुति दे। यजमान त्याग करे। इसी तरह त्वष्टा देवता के निमित्त आहुति दे[४]। गार्हपत्य की परिधि के ऊपर पूर्व की ओर अन्तर्धान रखे[५]। देवपत्नियों के निमित्त आहुति दे[६]। उस समय अध्वर्यु को यजमान पत्नी स्पर्श किये रहे[७]। पत्नीसंयाज हो चुकने पर अन्तर्धान हटा दे। यजमान स्वशाखोक्त विधि से गार्हपत्य में आहुति दे[८]। यजमान द्वारा आहुति हो चुकने पर अध्वर्यु अग्नि गृहपति की आहुति दे[९]। पश्चात् इडापात्री में स्रुवा से आज्य लेकर होता को इडापात्री दे। पत्नी और होता की प्रदक्षिणा करके होता के सम्मुख, अध्वर्यु पश्चिमाभिमुख बैठे। पूर्ववत् होता को अङ्गुलि के पर्वों पर आज्य लगावे। इडापात्री अपने हाथ में लेकर होता की हथेली पर चार बार स्रुवा से आज्य लगावे। पाँचवी बार होता स्वयं इडापात्री में से आज्य ले। सब लोग इडापात्री का स्पर्श करें। होता इडोपह्वान मन्त्रों का पाठ करे। मन्त्रपाठ हो चुकने पर सब कोई आज्येडा का आज्य यज्ञशाला से बाहर जाकर प्राशन करें। आचमन करके क्रमशः सब कोई दर्भ से मार्जन करें। यथास्थान सब बैठें। शंयुवाक हो चुकने पर अध्वर्यु वेद में बँधा

---

१. उपांशु चरन्ति। का० श्रौ० ३.७.५।

२. आप्यायस्व समेतु ते०। सोम की पुरोऽनुवाक्या। शां० श्रौ० १.१५.४।

३. सोमं सन्ते पयांसि०। सोम की याज्या। शां० श्रौ० १.१५.४।

४. इह त्वष्टारम्०, त्वष्टारं तन्नस्तुरीपं०। क्रमशः याज्या और पुरोनुवाक्या है। शां० श्रौ १.१५. ४।

५. यहाँ पत्नीसंयाज में अन्तर्धान रखने की व्यवस्था होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय परदा प्रथा थी। तृतीयेऽन्तर्धानं पुरस्तात्। का० श्रौ० ३.७.८।

६. देवपत्नियों की क्रमशः याज्या और पुरोऽनुवाक्या देवानां पत्नीरुशती० देवानां पत्नीरुतग्ना-व्यन्तु० है। शां० श्रौ० १.१५.४।

७. पत्न्यन्वारभतेऽध्वर्युम्। का० श्रौ० ३. ७. ९।

८. "यं वां देवा०। प्रभृति मन्त्रों से यजमान हवन करे। शां० श्रौ० ४. १०. १–४।

९. अग्निं गृहपतिमिति। का० श्रौ० ३. ७. ७।
सोम, त्वष्टा और देवपत्नी की आहुति के अनन्तर यह चौथी—
अग्निर्होता गृहपतिः०, गृहपतिं वयमुत्वा०।
शां० श्रौ० १. १५. ४।
होता क्रमशः याज्या और पुरोऽनुवाक्यायें पढ़े।

हुआ दर्भ लेकर अग्र, मध्य और मूल को क्रमशः स्रुची, स्रुवा और आज्यस्थाली में डुबो ले। गार्हपत्य में उस दर्भ का हवन करे[1]। स्रुची और स्रुवा से एक आहुति दे[2]।

दक्षिणाग्नि होम

अध्वर्यु वेद, स्रुवा और आज्यस्थाली लेकर गार्हपत्य की प्रदक्षिणा करते हुए दक्षिणाग्नि खर के निकट बैठे। जुहू में एक स्रुवा आज्य लेकर संवेशपति अग्नि को और यशोभगिनी सरस्वती को क्रमशः एक-एक आहुति दे[3]। स्रुची में पिष्टलेप रखकर दक्षिणाग्नि में उसका हवन करे[4]। अध्वर्यु पत्नी को वेद दे। पत्नी वेद को खोल दे[5]। वेद और योक्त्र को पत्नी अञ्जलि में ले। होता उस पर जल से सिञ्चन करे। होता पत्नी के मन्त्र पाठ कर चुकने पर पत्नी द्वारा खोले हुए वेद को लेकर उसमें से दो दर्भ पत्नी को दे। बाकी के दर्भों को गार्हपत्य के उत्तर से वेदि तक बिछा दे[6]।

समिष्टयजु होम

अध्वर्यु अपने स्थान पर आकर ध्रुवा का आज्य जुहू में ले। जुहू से आहवनीय में समिष्टयजु संज्ञक आहुति दे[7]।

बर्हि होम

वेदि में बिछी समस्त बर्हि को इकट्ठी करके जुहू पर रखे और आहवनीय में 'बर्हिहोम' करे[8]।

---

१. शंय्वन्ते वेदतृणमादायानक्ति। का० श्रौ० ३. ७. ११।
प्रस्तरवत्स्रुचि स्रुवे स्थाल्यां च। का० श्रौ० ३. ७. ११।
प्रास्य तृणादि पूर्ववत्। का० श्रौ० ३. ७. १३।

२. शंय्वन्ते स्रुक्स्रुवं प्रगृह्णाति। का० श्रौ० ३. ७. १४।
"अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि। शु० य० २. २०।

३. सव्येनावृत्य दक्षिणाग्नौ जुहोति। का० श्रौ० ३. ७. १५।
अग्नये संवेशपतये स्वाहा, सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा। शु० य० २. २०।

४. पहले पुरोडाश बनाने के समय गीले आटे की गोली (पिष्टलेप) सुरक्षित रखी है। उसीका यहाँ दक्षिणाग्नि में हवन करना है। पिष्टलेपाञ्जुहोति।
उलूखले मुसले०। का० श्रौ० ३. ८. १।

५. 'पत्नी वेदं प्रमुञ्चति, योक्त्रं च,' प्रमा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वा बध्नात्सविता सुशेवः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधातु। का० श्रौ० ३.८.२।

६. स्तृणात्यावेदेः। का० श्रौ० ३.८.३। प्रत्वा मुञ्चामीति वेदं विमुच्य योक्त्रम्०, वेदे पत्नीं वाचयति। शां० श्रौ० १.१५.९–१३।

७. ध्रौवꣳ समिष्टयजुर्जुहोति। का० श्रौ० ३.८.४.। देवागातु विदोगातुम्०। शु० य० २.२१।

८. बर्हिः०। का० श्रौ० ३.८.५। संबर्हिरङ्क्ताꣳ हविषा घृतेन। शु० य० २.२२।

प्रणीता विमोक

अध्वर्यु प्रणीता को लेकर आहवनीय के पूर्व से होते हुए वेदि के दक्षिण भाग तक पहुँचे। उत्तराभिमुख वेदि के निकट बैठे और वेदि में प्रणीता का जल छोड़ दे[1]। इष्टियों में यही अवभृथ स्थानीय है।

कणापासन

अध्वर्यु कृष्णाजिन ले। उस पर प्रथम कपालको रखकर कपाल के ऊपर पिष्ट कण छोड़े। उत्कर के निकट जाकर राक्षसों को भाग दे[2]।

पूर्णपात्र निनयन

अध्वर्यु पूर्णपात्र लेकर यजमान के पास बैठे। यजमान की अञ्जलि में पूर्णपात्र से सतत जल की धारा गिरावे[3]।

याजमानकृत्य

प्रधान याग और पत्नीसंयाज सम्पन्न होने पर यजमान का शेष कृत्य प्रारम्भ होता है। अध्वर्यु ने जो पूर्णपात्र का जल अञ्जलि में दिया है, उसे यजमान अपने मुख पर लगावे[4]। वेदि की दक्षिणश्रोणी से आहवनीय तक तीन कदम चले[5]। आसन पर बैठ कर अपना भाग देखे[6]। पृथ्वी को देखे[7]। पूर्व की ओर देखे[8]। आहवनीय को देखे[9]। सूर्य को देखे[10]। अपनी

---

१. वेद्यां प्रणीता निनयति। का० श्रौ० ३.८.६। कस्त्वा विमुञ्चति सत्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चनि तस्मै त्वा विमुञ्चति। पोषाय निनयति। शु० य० २.२३।

२. हविः संस्कार के समय, कण्डन प्रभृति हविः संस्कार करते हुए पिष्ट का कुछ अंश सुरक्षित रखा है। उसी का यहाँ पर विनियोग करना है। पुरोडाशकपालेन कणानपास्यत्यधः कृष्णाजिनम्। का० श्रौ० ३.८.७। 'रक्षसां भागोऽसि'। शु० य० २.२३।

३. पूर्णपात्रं निनयति परीत्य सन्ततं यजमानोऽञ्जलिना प्रतिगृह्णाति। का० श्रौ० ३.८.८। संवर्चसा पयसा सं तनूभिः०। शु० य० २.२४।

४. मुखं विमृष्टे। का० श्रौ० ३.८.९। शा० श्रौ० ४.११.१–४.१३.४।

५. विष्णुक्रमान् क्रमते। का० श्रौ० ३.८.१०।
दिवि विष्णुर्व्यक्रंस्त जागतेन च्छन्दसा०, अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा०, पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त गायत्र्येण च्छन्दसा०। शु० य० २.२५। अस्मादन्नात्०। शु० य० २.२५।

६. भागमवेक्षते। का० श्रौ० ३.८.११।

७. भूमिम्। का० श्रौ० ३.८.१२। अस्यै प्रतिष्ठाया०। शु० य० २.२५।

८. प्राङ्। का० श्रौ० ३.८.१३। अगन्म स्वः। शु० य० २.२५।

९. आहवनीयम्। का० श्रौ० ३.८.१४। सञ्ज्योतिषाभूम। शु० य० २.२५।

१०. सूर्यम्। का० श्रौ० ३.८.१५। स्वयं भूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि। शु० य० २.२६।

अभिलषित वस्तु को शब्दशः मन्त्र में जोड़े[1]। खड़े होकर प्रदक्षिण घूमे[2]। गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करे[3]। प्रदक्षिण घूमे[4]। गार्हपत्य से आहवनीय तक जाय[5]। वेदि के मध्य में पूर्वाभिमुख खड़े होकर मन्त्र पढ़े। इसी मन्त्र पाठ में पुत्र का नाम जोड़े[6]। अनेक पुत्र हों तो ज्येष्ठ क्रम से सब का नाम ले[7]। पुत्र न हो तो अपना ही नाम ले[8]। तूष्णीं आहवनीय का उपस्थान करे[9]।

व्रतविसर्जन

जिस मन्त्र से यजमान ने पहले व्रतग्रहण किया हो उसी मन्त्र से आहवनीय के सम्मुख खड़े होकर मन्त्रपाठ करते हुए 'व्रतविसर्जन' करे[10]। आहवनीय के पूर्व से दक्षिणाग्नि के उत्तर से और दक्षिणाग्नि और गार्हपत्य के मध्य से अपने स्थान पर आवे और अपने भाग का प्राशन करे[11]। ब्रह्मा भी अपने भाग का प्राशन करे[12]।

ब्राह्मणतर्पण

अध्वर्यु हाथ में वज्र लेकर वेदि के पश्चिम में अपने आसन पर बैठे। ब्राह्मण भोजन

---

१. उपर्युक्त मन्त्रान्तर्गत 'वर्चोदा' पद के स्थान पर यदि कोई अपनी अभिलषित वस्तु हो तो तद्वाचक पद को जोड़कर मन्त्र पढ़े। यं वा कामं कामयते। का० श्रौ० ३.८.१६।

२. आवर्त्तते प्रदक्षिणम्। का० श्रौ० ३.८.१७। सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते। शु० य० २.२६।

३. गार्हपत्यमुपतिष्ठते। का० श्रौ० ३.८.१९। अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाग्नेऽहं गृहपतिना भूयासᳬं सुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः। अस्थूरिणौ गार्हपत्यानि सन्तु शतᳬं हिमाः। शु० य० २.२७।

४. आवर्त्तते प्रदक्षिणम्। का० श्रौ० ३.८.२०। सूर्यस्यावृतम्०। शु० य० २,२७।

५. गच्छति प्राङ्। का० श्रौ० ३.८.२१। उरुविष्णो। शु० य० ५.३८।

६. पुत्रस्य नाम गृह्णाति ततोऽसि तन्तुरस्यनु मा तनुह्यस्मिन्यज्ञे स्याᳬं साधु कृत्यायामस्मिन्नन्नेऽस्मिंल्लोके इदं मे कर्मेदं वीर्यं पुत्रो यज्ञदत्तशर्माऽनु सन्तनोतु। का० श्रौ० ३.८. २२।

७. अनेकेषु पुत्रेषु ज्येष्ठानुक्रमेण नामग्रहणम्। यावन्तो वा भवन्ति तावतां नामग्रहणमिति शाङ्खायनः। प्रियस्य पुत्रस्येत्यापस्तम्बः। दे० प० पृ० ७१।

८. आत्मनोऽविद्यमाने। का० श्रौ० ३.८.२३।

९. आहवनीयमुपतिष्ठते तूष्णीम्। का० श्रौ० ३.८.२४।

१०. व्रतं विसृजते। का० श्रौ० ३.८.२५।

११. भागं प्राश्नाति। संयज्ञपतिराशिषा। का० श्रौ० ३.८.२६।

१२. तमिष्टौ संस्थितायां प्राश्नीयात्। ला० श्रौ० ४.११.१८। ब्रह्मभागमाहरति० नाऽसंस्थिते भक्षयति। आप० श्रौ० ३.२०.६।

कराने के लिए यजमान को आदेश दे[१]। यजमान योग्य ब्राह्मण को तृप्तिपर्यन्त भोजन करावे। अनन्तर ब्रह्मा प्रादेशमात्री एक समित् का अथवा आज्य का आहवनीय में हवन करे।

समर्पण

कृतकर्म को यज्ञनारायण को 'न मम' पदों के साथ समर्पित करे। इष्टि समाप्त होती है। कात्यायन और शाङ्खायन श्रौतसूत्रानुसारी पौर्णमास याग समाप्त।

पिण्डपितृयज्ञ

'मासि मास्येव पितृभ्यः' इस शतपथ ब्राह्मण २।३।४।८ के आधार पर अमावास्या के दिन यह अनुष्ठान होता है[२]। दिनमान का तीन विभाग करने पर तीसरे भाग में जिस दिन अमावास्या तिथि मिलती हो उसी दिन अपराह्ण के समय यह कृत्य किया जाता है[३]। यहाँ अमावास्या से तात्पर्य चन्द्र के न दीखने से है। यह कृत्य स्वतन्त्र है क्योंकि इसके अनुष्ठान का समय निश्चित है[४]। इस कृत्य में ओदन के पिण्ड से पितृलोगों की उपासना की जाती है। यह ओदन का पाक दक्षिणाग्नि में होता है[५]। अग्निहोत्री के लिये यह कार्य नित्य है।

कार्यकलाप

नीवीकरण
परिस्तरण
अपसव्यकरण
पात्रासादन
व्रीहिग्रहण
कण्डनादिसंस्कार
चरुश्रपण
अभिघार
उद्वासन
चरुहवन

---

१. ब्राह्मणं तर्पयितवै ब्रूयाद्यज्ञमेवैत्तत्तर्पयति। का० श्रौ० ३.८.२७।

२. अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञश्चन्द्रादर्शनेऽमावास्यायाम्। का० श्रौ० ४.१.१।
अमावास्यायां यदहश्चन्द्रमसं न पश्यन्ति तदहः पिण्डपितृयज्ञं कुर्वतेऽपराह्णे। आप० श्रौ० १.७.१।

३. पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितृणाम्। श० ब्रा० २.३.४.८।

४. पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात्। जै० ४.४.१९। अङ्गं वा समभिव्याहारात्। का० श्रौ० ४.१.३०।

५. दक्षिणाग्नौ श्रपणं होमश्च। का० श्रौ० ४.१.२।

रेखाकरण
उल्मुकस्थापन
अवनेजन
पिण्डदान
प्रत्यवनेजन
ऊर्णार्पण
पिण्डावघ्राण
कर्मेश्वरार्पण

सामग्री

वस्त्र
शूर्प
पात्री
अग्निहोत्रहवणी
चरुस्थाली
व्रीहि
कृष्णाजिन
उलूखल
मुसल
उदक
आज्य
मेक्षण
समित् ३
दर्भ
सूत्र
ऊर्णा
कमण्डलु
स्रुव
चावल

प्रातःकाल नित्यकर्म और अग्निहोत्र हवन प्रभृति कर्म करके सङ्कल्पपूर्वक गार्हपत्य में से आहवनीय और दक्षिणाग्नि में समन्त्रक अन्वाधान (अग्न्युद्धरण) करे। शास्त्रसम्मत नियम और व्रत-ग्रहण करे। क्षौर करावे। स्नान करके दैनिक वैश्वदेव करे[1]। वैश्वदेव में पितृबलि से पूर्व

१. पक्षान्तं कर्म निर्वर्त्य वैश्वदेवं च साग्निकः।
पिण्डयज्ञं प्रकुर्वीत ततोऽन्वाहार्यकं बुधः॥
पक्षान्तं कर्म अग्न्यन्वाधानम्। दे प० पृ० ७३।

तक का ही कृत्य करे। इसके बाद दिन के दो भाग बीत जाने पर तीसरे भाग में पिण्डपितृयज्ञ का प्रारम्भ करे। यजमान और पत्नी की साक्षी में अध्वर्यु ही इस कृत्य का सम्पादन करता है[1]। होम के सिवाय समस्त कृत्य अपसव्य और दक्षिणाभिमुख होकर किये जाते हैं। आचमन, प्राणायाम करके सङ्कल्पपूर्वक पिण्डपितृयज्ञ कार्य का प्रारम्भ करे।

नीवीकरण—अध्वर्यु दक्षिणाग्नि के उत्तर में बैठकर कुश और तिल अपनी बायीं कटि में खौंसे। दक्षिणाग्नि के चारों ओर अप्रदक्षिण क्रम से परिस्तरण रखे। अपसव्य करे। दक्षिणाग्नि के उत्तर में, पूर्वाग्र दक्षिणसंस्थ पात्रासादन करे।

चरुनिर्माण

गार्हपत्य से पश्चिम में दक्षिणाग्र दर्भ बिछावे। उन पर पूर्वाग्र वज्र रखे। वज्र के ऊपर दक्षिणाग्र पात्री रखे। पात्री के ऊपर शूर्प और शूर्प पर चरुस्थाली रखे[2]। चरुस्थाली में तूष्णीं व्रीहि ग्रहण करे[3]। उतने ही चावल ले जितने से विहित आकार के तीन पिण्ड बन सके। दक्षिणाग्नि के उत्तर में उत्तरग्रीव कृष्णाजिन बिछावे। उसपर उलूखल रखे। उलूखल में व्रीहि छोड़े। दक्षिणाभिमुख होकर मुसल ले और व्रीहि का कण्डन करे। शूर्प से पछोड़कर भसी अलग कर दे[4]। चावल को जल से एक बार धोकर दक्षिणाग्नि पर पकाने को रखे। पक जाने पर चरु में एक स्रुवा भरकर आज्य छोड़े। चरुस्थाली को अग्नि से उतार कर दक्षिणाग्नि खर के दक्षिण की ओर भूमि पर रखे। वहाँ से उठाकर दक्षिणाग्नि के पूर्व से लाकर अपने आगे रखे[5]। सव्य करे। तीन समित् का हवन करे।

हवन—मेक्षण से दो आहुतियाँ दे[6]। दोनों आहुतियों के अन्त में क्रमशः यजमान त्याग करे। हवन के अन्त में मेक्षण को अग्नि में छोड़ दे। अपसव्य करे। दक्षिणाभिमुख हो। दक्षिणाग्नि से दक्षिण की ओर भूमि पर वज्र से दक्षिणसंस्थ रेखा करे[7]। दक्षिणाग्नि में से अग्नि लेकर रेखा के पास उल्मुक रखे[8]।

---

१. अस्य चाध्वर्युः कर्त्ता। दे० प० पृ० ७३।

२. दे० प० पृ० ७३।

३. नीचा मुष्टिना व्रीहीन् गृह्णाति। शां० श्रौ० ४.३.६।
आपस्तम्बः पितृभ्यो वो जुष्टं निर्वपामि। दे० प० पृ० ७४।

४. अवहन्ति। का० श्रौ० ४.१.४।
सकृत्फलीकरोति। का० श्रौ० ४.१.५।

५. श्रपयित्वाभिघार्योद्वास्य। का० श्रौ० ४.१.६।

६. मेक्षणेन जुहोति। का० श्रौ० ४.१.६। अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा।
सोमाय पितृमते स्वाहा। शु० य० २.२९।

७. उल्लिख्य अपहता०। का० श्रौ० ४.१.७। शु० य० २.२९।

८. उल्मुकं परस्तात्करोति। का० श्रौ० ४.१.८।
यहाँ उल्मुक इसलिए रखते हैं कि देवता को दिया हुआ पदार्थ राक्षस लोग अपहरण न कर लें। तस्मात्परस्तादुल्मुकं निदधाति। श० ब्रा० २.३.४.१४।

अवनेजन :—वज्र से की हुई रेखा के मूल, मध्य और अग्रभाग पर क्रमशः अवनेजन करे[1]। रेखा पर दर्भ रखे[2]।

पिण्डदान—यजमान के पितृ, पितामह, प्रपितामह के नाम, गोत्र का उच्चारण करके क्रमशः एक-एक पिण्ड दान करे[3]। पिण्ड के आगे सस्वर मन्त्र पाठ करे[4]।

पिण्ड प्रमाण :—पहला पिण्ड हरे आँवले जितना बड़ा, दूसरा उससे बड़ा और तीसरा उससे बड़ा होना चाहिए[5]। बायीं कमर में जो नीवी खोंसी है, उसे खोल दे, अवनेजन की तरह प्रत्यवनेजन करे। पिण्ड के आगे अञ्जलिबद्ध नमन करे[6]। पिण्ड पर अलग-अलग ऊर्णार्पण करे[7]। पात्री का जल पिण्ड पर चढ़ावे[8]। पिण्ड को उठाकर पात्री में रखे। पात्री में रखे हुए पिण्ड का यजमान अवघ्राण करे[9]। अध्वर्यु दर्भ का दक्षिणाग्नि में हवन करे। सव्य करे।

---

१. अमुकसगोत्र यजमानपितः अमुकशर्मन्नवनेनिक्ष्वेति रेखामूले, यजमानपितामह० रेखामध्ये, यजमानप्रपितामह० रेखान्ते। दे० प० पृ० ७४। का० श्रौ० ४.१.१०।

२. उपमूलं सकृदाच्छिन्नानि लेखायां कृत्वा। का० श्रौ० ४.१.११।

३. 'अमुकसगोत्र यजमानपितः अमुकशर्मन्नेतत्ते' कह कर पिण्ड दान करे। इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह को भी पिण्ड दे। दे० प० पृ० ७५। पिण्डदान में कुछ लोग ये 'चत्वामत्रानु' कहते हैं। दे० प० पृ० ७५।

४. का० श्रौ० ४.१.१३। अत्र पितरः। शु० य० २.३१।

५. आर्द्रामलकमात्रः प्रथमः पिण्डः, तदपेक्षया द्वितीयः स्थूलः, तृतीयः स्थूलतरः। दे० प० पृ० ७५।

६. नमो वः०। शु० य० २.३२। इत्यञ्जलिं करोति। का० श्रौ० ४.१.१५। नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरो शोषाय नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरो० नमो वः। येऽत्र पितरः पितरःस्थ यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ। य इह पितरो मनुष्या वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म। या अत्र पितरः स्वधा युष्माकं सा। य इह पितर एषतुरस्माकं स गृह्णान्नः पितरो दत्त। शां० श्रौ० ४.५.१।

७. यदि यजमान का पूर्व वय हो तो कपड़े की छीर या ऊन चढ़ावे। उत्तरवय हो तो अपने शरीर का रोम चढ़ावे। का० श्रौ० ४.१.१७-१८। आप० श्रौ० १.१०.१। वाजसनेयी लोगों में सूत्रार्पण का विशेष अर्थ है। पिण्डदान करने वाले की अवस्था यदि पचास वर्ष से ऊपर की हो तो वह 'प्रतिपिण्डं सूत्रमाददाति' इस विधायक वाक्य के अनुसार प्रत्येक पिण्ड पर अपने वक्षःस्थल से रोम उखाड़कर अर्पण करे। यहाँ सूत्र से तात्पर्य वक्षःस्थल का रोम है।

८. ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधास्थ तर्पयत नः पितॄन्। का० श्रौ० ४.१.१९।

९. अवधायावजिघ्रति यजमानः। का० श्रौ० ४.१.२०।

उल्मुक भी दक्षिणाग्नि में छोड़ दे। कानों पर जल लगावे। यदि यजमान पत्नी को पुत्र की कामना हो तो मध्यम पिण्ड का भक्षण करे[1]। भक्षण करने की परिस्थिति में यजमान पिण्डावघ्राण न करे। अन्त में यज्ञेश्वरार्पण करे। तब वैश्वदेव में जो पितृ बलि करना बाकी है उसे समाप्त करे। यजमान और पत्नी हविष्यान्न भोजन करें। व्रत और नियमों का पालन करें। अग्निहोत्री का पिता यदि जीवित हो तो वह होमान्त ही पिण्डपितृयज्ञ करे[2]। अथवा पिण्डपितृयज्ञ न करे।

दर्शयाग

अमावास्या को दर्श कहते हैं। एक महीने में दो पर्व होते हैं। पौर्णमास और दर्श। प्रत्येक मास का यह दूसरा पर्व है। इन्हीं दोनों पर्वों के दिन अग्न्युद्धरण और सङ्कल्प किया जाता है[3]। यजमान और पत्नी उस दिन व्रत और नियम का पालन करते हैं। पौर्णमास पर्व से इस दर्श पर्व के दिन विशेष यह है कि दर्श के दिन पिण्डपितृयज्ञ किया जाता है। सपत्नीक यजमान पौर्णमास और दर्श के दिन व्रती और नियमवान् रहकर दूसरे दिन क्रमशः पौर्णमासयाग और दर्शयाग करते हैं। जिस अग्निहोत्री का पिता जीवित होता है, वह चतुर्दशी को ही अग्न्युद्धरण और अन्वाधान करता है और अमावास्या को दर्शयाग करता है[4]। जिसके पिता का स्वर्गवास हो चुका हो वह अग्निहोत्री अमावास्या को पिण्डपितृयज्ञ और दूसरे दिन दर्शयाग करता है। यह दर्शपूर्णमासयाग यावज्जीवन करना चाहिए। सङ्कल्पानुसार यदि यावज्जीवन न कर सके तो तीस वर्ष कर लेने पर अग्नि का विसर्जन भी किया जा सकता है[5]। स्वर्ग-प्राप्ति कामना से दर्शपूर्णमासयाग का अनुष्ठान विहित है[6]।

पात्रासादन

यहाँ पात्रासादन पौर्णमासेष्टि के समान होते हुए भी कुछ विशेष इस प्रकार है। अग्नि के पुरोडाश के आठ कपाल और इन्द्राग्नी के बारह कपाल होते हैं। इस प्रकार कुल बीस कपाल होते हैं। शेष सामग्री पौर्णमासेष्टि के समान होती है।

देवता, हविर्द्रव्य और याग

दर्शयाग में अग्नि और सोम दो देवता का याग आज्य से होता है। अग्नि, विष्णु

---

१. मध्यमपिण्डं पत्नी प्राश्नाति पुत्रकामा। का० श्रौ० ४.१.२२। शु० य० २.३३।

२. जीवत्पितृकस्य होमान्तम्। अनारम्भो वा। का० श्रौ० ४.२.२४-२५।

३. दर्शेष्टिया श्वोऽहं यक्ष्ये।

४. जीवत्पितृकस्य चतुर्दश्यां वा अग्न्युद्धरणाद्युपक्रमः, अमावास्यायां यागः। दे० प० पृ० ७६।

५. त्रिशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत। का० श्रौ० ४.२.४७।

६. स्वर्गकामो दर्शपौर्णमासौ०। ताभ्यां यावज्जीवं यजेत, त्रिंशतं वा वर्षाणि, जीर्णो वा विरमेत्। आप० ३.१४.९.१०।

और इन्द्राग्नी ये तीन देवता प्रधान याग के होते हैं। अग्नि का आठ कपाल के पुरोडाश से, विष्णु का आज्य से, उपांशु और इन्द्राग्नी का बारह कपाल के पुरोडाश से याग होता है। इन्हीं देवताओं का आवाहन भी किया जाता है। अग्नि के लिए हविर्ग्रहण करके इन्द्राग्नी का हविर्ग्रहण करे[1]। अग्नि के आठ कपालों का उपधान करके इन्द्राग्नी के बारह कपालों का उपधान करे। अग्नि के अनन्तर इन्द्राग्नी के पुरोडाश पर प्राणदान करे[2]। यजमान पञ्चम प्रयाज में पूर्वोक्त देवताओं के नाम युक्त त्याग करे[3]। अग्नि और सोम दो देवता का आज्य से याग करे[4]। प्रधान याग में प्रथम आठ कपाल वाले पुरोडाश से अग्नि का याग करे[5]। द्वितीय आज्य द्रव्य और उपांशु धर्म से विष्णु का याग करे[6]। द्वितीय पुरोडाश से इन्द्राग्नी का याग करे[7]। दोनों पुरोडाशों में से अवदान लेकर स्विष्टकृत् याग करे[8]।

पुरोडाश भाग

याग से अवशिष्ट पुरोडाश के भाग करने के समय प्राशित्र और इडापात्री में भाग रखे। चतुर्द्धाकरण और षडवत्त प्रभृति भाग भी पुरोडाश में से ले। अन्वाहार्य दक्षिणा दे। व्यूहन में 'अग्नेर्विष्णोरिन्द्राग्न्योः०' और 'अग्निर्विष्णुरिन्द्राग्नी०' उच्चारण करे। प्रस्तर होम के त्याग में 'इदमग्नये सोमायाग्नये विष्णवे, इन्द्राग्निभ्यां देवेभ्य आज्यपेभ्योऽग्नये होत्राय न मम' कहे। शेष विधि पौर्णमासेष्टि के समान ही समझनी चाहिए।

---

१. अग्नये० और इन्द्राग्निभ्यां जुष्टं गृह्णामि। दे० प० पृ० ८१।

२. अग्निः और इन्द्राग्नो गच्छस्वर्यजमानाय विन्द। दे० प० पृ० ८१।

३. इदमग्नये, सोमायाग्नये, विष्णवे, इन्द्राग्निभ्यां देवेभ्य आज्यपेभ्यो न मम०। दे० प० पृ० ८१।

४. '१ अग्निः प्रत्नेन०, २ सोमगीर्भिष्ट्वा०' ये दोनों क्रमशः अग्नि और सोम की पुरोनुवाक्या है। शां० श्रौ० १.८.२। १ जुषाणो अग्निराज्यस्य हविषो वेतु०, २ जुषाणः सोम आज्यस्य हविषो वेतु०' ये दोनों क्रमशः अग्नि और सोम की याज्या हैं। शां० श्रौ० १.८.३।

५. 'अग्निर्मूर्द्धादिवः ककुत्०' यह प्रधान देवताओं में अग्नि की पुरोनुवाक्या और 'भुवो यज्ञस्य रजसश्च०' यह याज्या है। शां० श्रौ० १.८.४-५।

६. 'इदं विष्णुर्विचक्रमे०' और 'वषट् ते विष्णो०' क्रमशः ये दोनों विष्णु की पुरोनुवाक्या और याज्या हैं। इसे उपांशुधर्म से पढ़ना है। शां० श्रौ० १.८.८।

७. 'इन्द्राग्नी अवसागतम्०' और 'प्रचर्षणिभ्यः पृतना०' क्रमशः पुरोनुवाक्या और याज्या कही है। शां० श्रौ० १.८.११।

८. १ पिप्रीहि देवानुषतो यविष्ठ विद्वान्० और अयाळग्निरग्नेः प्रियाधामान्ययाट् सोमस्य० अग्नेः० विष्णोः० इन्द्राग्न्योः० देवानामाज्यपानां० हविः। २ अग्ने यदद्य हविषो० ये दोनों क्रमशः स्विष्टकृत् की पुरोनुवाक्या और याज्या कही है। शां० श्रौ० १.९.१-३।

दाक्षायणयज्ञ

पहले यह कहा जा चुका है कि अग्नि का परिग्रह करके यावज्जीवन उसकी उपासना करनी पड़ती है। यावज्जीवन की उपासना में उपासक यदि असमर्थ हो तो तीस वर्ष तक दर्शपौर्णमास याग करने का पक्ष अपनावे। उपर्युक्त द्वितीय पक्ष भी न बन पड़े तो पन्द्रह वर्ष तक लगातार दाक्षायणयज्ञ करे[1]। इस पक्ष का अवलम्बन करने पर पन्द्रह वर्ष में ही अभिलषित सिद्धि प्राप्त होती है। इस पक्ष को स्वीकार करने पर समय की दृष्टि से भले ही सौकर्य हो किन्तु कार्य की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। कार्य तो इस पक्ष में भी उतना ही करना आवश्यक है जितना कि उपर्युक्त दूसरे पक्ष में करना पड़ा हो। दर्शपौर्णमासयाग वाले पक्ष के अपनाने में प्रत्येक पक्ष में केवल एक बार याग करना आवश्यक होता है। दाक्षायणयाग के पक्ष में पूर्णिमा और प्रतिपदा, उसी तरह अमावास्या और प्रतिपदा इस प्रकार दो-दो दिन याग करना पड़ता है। इसीलिये ऊपर कहा गया है कि कार्य की दृष्टि से कोई सौकर्य नहीं है। इसके सिवाय एक तीसरा पक्ष भी सूत्रकारों ने दिखलाया है। इस तीसरे पक्ष में एक वर्ष में ही अभिलषित सिद्धि की प्राप्ति कही है[2]। समय की न्यूनता होने पर भी कार्य की दृष्टि से इस पक्ष में भी कोई लाभ नहीं होता। अर्थात् पन्द्रह वर्ष वाले पक्ष में प्रतिपक्ष जितना कार्य होता है उतना ही कार्य इस पक्ष में प्रतिदिन करना अनिवार्य है।

फल

स्वर्ग, प्रजा, पशु, अन्न और यश की कामना से दाक्षायणयज्ञ करने का विधान है[3]। उपर्युक्त कामनाओं में से एक बार के सङ्कल्प में एक ही कामना अपनानी चाहिए। दूसरी कामना के लिए पुनः अनुष्ठान की आवृत्ति की जानी चाहिए[4]। इसमें प्रथम दिन का कार्यकलाप पौर्णमासेष्टि के समान होना चाहिए।

द्वितीय दिन का कार्यकलाप

यागसङ्कल्प	ऋत्विग्वरण
पुरोडाशनिर्माण	पयस्यानिर्माण

---

१. इस याग का वसिष्ठयाग यह नामान्तर है—एके वसिष्ठयज्ञ इत्याचक्षते। श० ब्रा० २.४.१.२.। सर्व प्रथम इस याग का अनुष्ठान दक्ष ने किया था। यही कारण है कि इसकी प्रसिद्धि दाक्षायणयज्ञ नाम से हुई। स वै दक्षो नाम। तद्यनेनेन सोऽग्रेऽयजत तस्माद्दाक्षायणयज्ञो नाम। श० ब्रा० २. ४. १. २.।

२. संवत्सरं वा यजेत। का० श्रौ० ४. ४. २६।

३. दाक्षायणयज्ञेन सुवर्गकामो यजेत। तै. सं. २. ५. ५.। बौ. श्रौ. २३, १७। दाक्षायणयज्ञः प्रजापश्वन्नयशस्कामस्य। का० श्रौ० ४. ४. १.।

४. अत्र पर्यायेण फलसिद्धिः न सह। दे० प० पृ० ८५।

पुरोडाशयाग
शेषभक्षण
उपवेषहवन
यज्ञेश्वरार्पण
पयस्यायाग
दक्षिणादान
ब्राह्मणभोजनसङ्कल्प

सामग्री

प्रथम दिन पौर्णमासयाग के समान सामग्री होनी चाहिए। दूसरे दिन की सामग्री में यह विशेष है—

एक पुरोडाशपात्री
पयस्यानिर्माणसामग्री
दोहनसामग्री
पलाशशाखा
दक्षिणार्थं सुवर्ण या अन्वाहार्य।

प्रथम दिन का अनुष्ठान

प्रथम प्रयोग के प्रारम्भ में पौर्णमासी के दिन मातृपूजन और आभ्युदयिक श्राद्ध करे। अन्वारम्भणीयेष्टि करे। पुनः अग्न्युद्धरण करके अन्वाधान करे। ग्यारह कपाल के पुरोडाश से अग्नीषोम देवता के यजनार्थ इष्टि करे। अमावास्या के दिन बारह कपाल के पुरोडाश का ऐन्द्राग्न याग करे[1]। अमावास्या के दिन पौर्णमासी की अपेक्षा पिण्डपितृयज्ञ का अनुष्ठान विशेष है। जो कि याग से पूर्व किया जाता है। इन इष्टियों में हिरण्यदक्षिणा का अन्वाहार्य-दक्षिणा के साथ वैकल्पिक विधान है[2]। इतना कृत्य हो चुकने पर पुनः अग्नि का उद्धरण, अन्वाधान व्रत और नियम का संकल्प करे। वपन कराने का विकल्प है। व्रतग्रहण, शाखापवित्र और उपवेष निर्माण करे। सायङ्काल का अग्निहोत्रहवन स्वयं अग्निहोत्री करे। गो दोहनादि कार्य सम्पादित करे। रात्रि को अग्निशाला में ही अग्निहोत्री और पत्नी शयन करे। ब्रह्मचर्य का पालन करें।

पौर्णमासी के दूसरे दिन का अनुष्ठान

सूर्योदय होने पर सङ्कल्प करके ऋत्विग्वरण और विशेषविधि से ब्रह्मावरण किया जाय। सान्नायवतीदर्शेष्टि के क्रम से इस याग के क्रम का मेल बैठता है[3]।

देवता और हविर्द्रव्य

अग्नि का आठकपाल का पुरोडाश, इन्द्र का दही और दूध, इस तरह तीन हविर्द्रव्य होने चाहिए। अन्वाहार्य अथवा हिरण्य दक्षिणा देनी चाहिए।

---

१. अग्नीषोमीयः पौर्णमास्यामैन्द्राग्नोऽमावास्यायाम्। का० श्रौ० ४.४.४.।

२. हिरण्यं दक्षिणेति विशेषः। अथवा अन्वाहार्य एव दक्षिणा।
दे० प० पृ० ८५।

३. ससान्नाय्यामावास्येष्टिवत्सर्वं भवति। दे० प० पृ० ८६।

अमावास्या के दूसरे दिन का अनुष्ठान

प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व याग का सङ्कल्प करे। ऋत्विग्वरण और ब्रह्मवरण करे। दर्शेष्टि के समान सामग्री का सम्पादन और पात्रासादन करे। श्रुतावदान के बाद वाजिन पात्र भी रखे। इसमें भी अन्वाहार्य अथवा हिरण्य दक्षिणा विहित है।

देवता और हविर्द्रव्य

अग्नि का आठ कपाल का पुरोडाश, मित्रावरुण की पयस्या और वाजी देवता के लिए वाजिन होना चाहिए।

आसादन—पुरोडाश और पयस्या वेदि में और वाजिन उत्कर पर आसादित करे। याग—प्रधान याग में पहले पुरोडाश से अग्नि का याग करे। पयस्या से मैत्रावरुण का याग करे। स्विष्टकृद्याग करे[1]। ऋत्विज् लोगों को दक्षिणा दे। प्रस्तरहोम के अनन्तर आहवनीय में तृणापासन होता है। उसके बाद वाजिनयाग करे। वषट्कार होने पर प्रथम आहुति आहवनीय की अग्नि में ही निश्चित दिशा की ओर (पूर्व में) देनी चाहिए[2]। दूसरी आहुति अनुवषट्कार होने पर अग्नि में पूर्व दिशा की ओर करे। ये दो आहुतियाँ यजति स्थान से देकर जुहोति स्थान पर बैठ कर दिग्व्याघार निमित्तक छः आहुतियाँ करे[3]। यजमान सहित ऋत्विज् लोग उपह्वान करके वाजिनशेष का भक्षण करें। परिधि के साथ उपवेष का हवन करे। शेष कृत्य करके यज्ञेश्वरार्पण करे और यथा विहित ब्राह्मण भोजन करावे।

संवत्सरपक्ष

प्रतिदिन दाक्षायणयज्ञ करने का भी विधान है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि कठोर परिश्रम करके जितना कृत्य पन्द्रहवर्ष दाक्षायण याग में किया जाता है उतना ही कृत्य एक वर्ष में ही पूर्ण करे। पन्द्रहवर्ष तक दाक्षायणयाग करने में एक पक्ष में दो इष्टियाँ करनी पड़ती हैं। इसप्रकार पन्द्रहवर्ष तक बराबर करते रहने से कुल सात सौ बीस इष्टियाँ होती हैं। उतनी ही इष्टियाँ एक वर्ष में ही प्रतिदिन दो-दो इष्टियाँ करने से एक वर्ष में ही पूरे अनुष्ठान की समाप्ति की जा सकती है।

सान्नाय्यवती दर्शेष्टि

सान्नाय्यवती वह इष्टि है, जिसमें सान्नाय्य ही हविर्द्रव्य होता है। दूध और दधि के मिश्रित रूप को सान्नाय्य कहते हैं। जिस व्यक्ति ने सोमयाग कर लिया है वह दर्शेष्टि के

---

१. ततः स्विष्टकृदादि। दे० प० पृ० ८७।

२. स वै प्रागेवाग्रे जुहोति०। श० ब्रा० २.४.१.२३।

३. दे० प० पृ० ८७।

दिशः स्वाहा, प्रदिशः स्वाहा, आदिशः स्वाहा, विदिशः स्वाहा, उद्दिशः स्वाहा, दिग्भ्यः स्वाहा। शु० य० ६.१९।

स्थान पर सान्नाय्यवती दर्शेष्टि करता है। सामान्यतः इस सान्नाय्यवतीदर्शेष्टि की विधि पौर्णमासेष्टि के समान है। इसमें द्रव्य, देवता और विधि में पौर्णमासेष्टि से कुछ भेद भी है। उसी विशेषविधि का यहाँ प्रतिपादन किया जाता है। पहले दिन सायङ्काल अग्निहोत्रहवन करने के पश्चात् अग्निहोत्रहवन की स्थाली के शेष दूध में ही विधि पूर्वक पुनः दोहन करके उसमें दही छोड़कर उसे सिकहर पर रखे दे[१]। गार्हपत्य खर के पश्चिम में बैठकर दूसरे दिन सान्नाय्यवती-दर्शेष्टि करने का सङ्कल्प किया जाय। प्रथम अग्नि का आठ कपाल के पुरोडाश से, मध्य में अग्नीषोम का उपांशु और आज्य द्रव्य से, इन्द्र (या माहेन्द्र) का सान्नाय्य द्रव्य से 'कल मैं यजन करूँगा' यह सङ्कल्प करे और विहित नियम पालन करने की प्रतिज्ञा करे[२]।

दोहनविधि

अध्वर्यु मन्त्रोच्चार करते हुए अग्र से एक वित्ता छोड़कर पलाश की शाखा को काटे[3]। शाखा के पत्तों को छाँट दे[४]। छः गायों के पास से उनके बछड़ों को अलग करे[५]। पलाश शाखा के मूल भाग को काट कर एक हाथ का उपवेष तैयार करे[६]। पहले जो एक वित्ते का शाखा के अग्रभाग में से काटकर पवित्र तैयार किया है उसमें दो दर्भ बाँधे[७]। यजमान अध्वर्यु को दोहन करने का प्रैष दे[८]। अध्वर्यु अग्निहोत्रहवनस्थाली ले[९]। उस स्थाली को गार्हपत्य पर रखे[१०]। पलाश शाखा को काटकर बनाया हुआ पवित्र स्थाली में रखे[११]। अध्वर्यु योग्य व्यक्ति से गौ दुहावे[१२]। दूहा हुआ दूध गार्हपत्य पर रखी हुई स्थाली में छोड़े[१३]। गौ को दुहने वाले से पूछे, 'किस गौ को दूहा[१४] ?' दुहने वाला गौ का नाम बतावे। नाम बताने पर अध्वर्यु मन्त्र

---

१. उद्वास्यातनक्ति प्राग्घृतशेषेण। का० श्रौ० ४.२.३३।

२. इस इष्टि में इन्द्र या माहेन्द्र देवता का विकल्प है। एक बार किसी एक देवता का स्वीकार कर लेने पर फिर बदला नहीं जा सकता। ऐन्द्रं वा माहेन्द्रं वा। का० श्रौ० ४.२.१०।

३. पर्णशाखां छिनत्ति। का० श्रौ० ४.२.१। इषेत्वा। शु० य० १.१।

४. सन्नमयामि। का० श्रौ० ४.२.३। ऊर्जेत्वा। शु० य० १.१।

५. मातृभिर्वत्सान्संसृज्य०। का० श्रौ० ४.२.७। शु० य० १.१।

६. मूलादुपवेषं करोति। का० श्रौ० ४.२.१२।

७. पवित्रमस्यां बध्नाति। का० श्रौ० ४.२.१५-१६।

८. उपसृष्टां प्रब्रूतात्। का० श्रौ० ४.२.१८।

९. स्थाल्यादानम्। का० श्रौ० ४.२.१९। शु० य० १.२।

१०. अधिश्रयति। का० श्रौ० ४.२.२०। शु० य० १.२।

११. पवित्रमस्यां करोति। का० श्रौ० ४.२.२१। शु० य० १.३।

१२. दोहयत्यशूद्रेण। का० श्रौ० ४.२.२२।

१३. आसिच्यमाने जपति। का० श्रौ० ४.२.२३। शु० य० १.३।

१४. कामधुक्षः। का० श्रौ० ४.२.२४।

पाठ करे।[1] इस प्रकार दूहना, पूछना और मन्त्र पाठ तीन बार करे। अन्त में दोहन पात्र को पानी से धोकर अग्निहोत्रहवनस्थाली में पानी छोड़ दे[2]। अनन्तर गरम किये हुए दूध में जामन छोड़कर सिकहर पर रख दे। स्थाली को ढँक दे। ढँकना धातु का ही होना चाहिए। ढँकने में पानी भर दे। पुनः विधिवत् बछड़ों को माँ से अलग करके बाँध दे। उस दिन सायङ्काल का अग्निहोत्र हवन स्वयं यजमान को करना चाहिए[3]? हवनीय द्रव्य यवागू हो[4]। दूसरे दिन प्रातःकाल पूर्ववत् दोहन करे। दूध को गरम करके याग के निमित्त सुरक्षित रखे[5]।

सामग्री

इस इष्टि की सामग्री पौर्णमासेष्टि के समान होती है। विशेष यह है—

अग्नि के आठ कपाल	शाखा पवित्र
शाखोपवेष	दोहन चतुष्टय
दही	स्थाली
एक पुरोडाशपात्री	

कार्यकलाप

इस इष्टि का कार्यकलाप पौर्णमासेष्टि के समान है[6]। विशेष इस प्रकार है—हविर्ग्रहण के समय केवल अग्नि के पुरोडाश के लिए हविर्द्रव्य का ग्रहण करे। इन्द्र के याग के लिए सूची में पहले दूध लेकर उसी दूध में दही छोड़ा जाय। दोनों को मिलाकर आहुति दे[7]।

देवता और हवि

प्रधान याग में अग्नि का आठ कपाल के पुरोडाश से यजन करे। अग्निषोम की आहुति उपांशु धर्म से आज्य से करे। तीसरी आहुति दूध और दही के मिश्रण से माहेन्द्र को दे। समस्त हविर्द्रव्य में से निश्चित अंश लेकर स्विष्टकृद्याग करे। दही-दूध स्वरूप हविःशेष केवल प्राशित्र और इडापात्री में ले। शेष चतुर्द्धाकरण प्रभृति अग्नि के पुरोडाश में से करे। हविर्भक्षण करके शाखापवित्र से मार्जन करे[8]। हिरण्य अथवा अन्वाहार्य दक्षिणा दे। प्रस्तर

---

१. प्रोक्ते सा विश्वायुरित्याह। का० श्रौ० ४.२.२५।

२. परिक्षालनमानयति। का० श्रौ० ४.२.३२।

३. होमः सन्नमयतस्तां रात्रिम्। का० श्रौ० ४.२.१७।

४. तण्डुलैः शिथिलपक्वा यवागूरिति कर्कः। यवागूर्विरलद्रव्या इत्यमरः। यवागूरल्पतण्डुलचूर्णमिश्रं द्रव्यरूपमन्नम्, इति स्मृतिचन्द्रकारः। पेया यवागूरिति धूर्त्तस्वामिनः। दे० प० पृ० ७८।

५. प्रातर्दोहं श्रपयित्वा। का० श्रौ० ४.२.३८।

६. दे० प० पृ० ८०।

७. शृतस्याग्रेऽवद्यति०। का० श्रौ० ४.२.३९।

८. समस्य मार्जनम्। का० श्रौ० ४.२.४०।

के हवन के समय प्रस्तर के साथ शाखापवित्र का हवन करे[1]। परिधि के साथ शाखोपवेष आहवनीय में छोड़े[2]। इतना कार्यकलाप सान्नाय्यवती दर्शेष्टि में अधिक है। शेष पौर्णमासेष्टि के समान है। अन्त में यज्ञेश्वरार्पण करे। ब्राह्मण भोजन हो चुकने पर कार्य की समाप्ति होती है।

●

१. सह शाखया प्रस्तरम्। का० श्रौ० ४.२.४२।

२. परिधिभिः सहोपवेषम्। का० श्रौ० ४.२.४३।

चतुर्थ अध्याय

हविःसंस्था

आग्रयणेष्टि : समय और संज्ञा......श्यामाकाग्रयणेष्टि......अभाव में प्रतिनिधि......वैकल्पिकविधि ।

चातुर्मास्य याग : वैश्वदेवपर्व...वरुणप्रघासपर्व...साकमेधपर्व...शुनासीरीयपर्व ।

चातुर्मास्य के प्रकार : पञ्चाहिक......ऐकाहिक...पाशुक और सौमिक चातुर्मास्ययाग ।

आग्रयणेष्टि

इसे नवान्नेष्टि भी कहते हैं। यह इष्टि वर्ष में चार बार की जाती है[1]। पहली शरद् ऋतु में, दूसरी वसन्त ऋतु में, तीसरी वर्षा ऋतु में और चौथी ग्रीष्म ऋतु में होती है। इसके अनुष्ठान का उद्देश्य यह माना गया है कि व्रीहो और यव प्रभृति अन्न की उत्पत्ति वृष्टि और भूमि से होती है। इसलिए अन्नमात्र द्यावापृथिवी का रस है[2]। अतएव याग के द्वारा नवीन अन्न पहले देवता को अर्पित करना चाहिए। पश्चात् मानव इसका उपयोग करे।

समय और संज्ञा

चारों प्रकार की आग्रयणेष्टि करने का समय क्रमशः शरद्, वसन्त, वर्षा और ग्रीष्म ऋतु कहा है। इन चारों ऋतुओं में मुख्य रूप से जिस अन्न का पाक होता है, उसी अन्न के नाम पर इन इष्टियों के नाम हैं। शरद्ऋतु में यव के पाक होने के कारण उस ऋतु में की जाने वाली यवाग्रयणेष्टि, वसन्त में व्रीहि का पाक होने से व्रीह्याग्रयणेष्टि, वर्षा में श्यामाक[3] के पाक के कारण श्यामाकाग्रयणेष्टि और ग्रीष्म में जंगली यव की उत्पत्ति होने से वैणवाग्रयणेष्टि कही जाती है।

याग का समय

इनमें से प्रथम दो इष्टियों को करने का समय दर्शपौर्णमासेष्टि का ही समय है। पूर्णिमा को आग्रयणेष्टि करनी हो तो आग्रयणेष्टि करने के बाद पौर्णमासेष्टि करनी चाहिए[4]। अमावास्या के दिन पहले अमावास्येष्टि करके उसके बाद आग्रयणेष्टि का अनुष्ठान करना चाहिए। अथवा शुक्लपक्ष में किसी देवनक्षत्र के दिन आग्रयणेष्टि की जा सकती है।

श्यामाकाग्रयणेष्टि का समय

वर्षा ऋतु के शुक्ल पक्ष में याग के अनुकूल दिन यह इष्टि की जाती है। वैसे ही ग्रीष्म ऋतु में वैणवाग्रयणेष्टि का विधान है।

अभाव में प्रतिनिधि

यदि आग्रयणेष्टि करने के समय अशौच अथवा शुक्रास्त प्रभृति प्रतिबन्धक उपस्थित हो

---

१. शरद्वसन्तयोः केचिन्नवयज्ञं प्रचक्षते।
धान्यपाकवशादन्ये श्यामाको वनिनः स्मृतः॥ का० स्मृ० २६.९।

२. अनयोर्वा अयं द्यावापृथिव्यो रसोऽस्य रसस्य हुत्वा देवेभ्योऽथेममश्नामेति तस्माद्वा आग्रयणेष्ट्या यजते। श० ब्रा० २.३.५.१।
आग्रयणमैन्द्राग्नमग्रपाकस्य। का० श्रौ० ४.६.१।

३. श्यामाक–साँवा। श्यामाकप्रमुखा अपि, इत्यमरः।

४. अथो पूर्वाह्णपर्वक्षये दर्शेष्ट्याः परमुक्तमाग्रयणकम्, प्राक्पौर्णमासाच्च। दे० प० पृ० ९३।

जायँ तो प्रतिनिधि रूप में निम्नाङ्कित कार्य करने से उपर्युक्त कार्य की पूर्णता मानी जाती है। प्रारम्भ में सङ्कल्पपूर्वक मातृश्राद्ध करे। अनन्तर दक्षिणाग्नि में चार ऋत्विजों को आतृप्ति भोजन के निमित्त पर्याप्त (चातुःप्राश्य) ओदन पकाकर चार ऋत्विजों को खिलावे[१]। भोजनोपरान्त उन्हें यथाशक्ति दक्षिणा दे।

वैकल्पिकविधि

यदि विशेषकारण से आग्रयणेष्टि का अनुष्ठान न हो सके तो नवीन अन्न से अग्निहोत्र-हवन मात्र से आग्रयणेष्टि की सिद्धि हो जाती है[२]। अथवा अग्निहोत्रहवन के निमित्त दूही जाने वाली गौ को नवीन अन्न खिलावे। उसी गौ के दूध से सायङ्कालीन और प्रातःकालीन अग्निहोत्रहवन करे[३]। दीर्घकाल साध्य गवामयन प्रभृति सत्र की समाप्ति बहुत दिनों में होती है। इसलिए सत्र के अनुष्ठान के मध्य में आग्रयणेष्टि का समय आना स्वाभाविक ही है। उन दिनों में आग्रयणेष्टि के फल की प्राप्ति के हेतु गौ को नवीन अन्न खिलावे। उसी गौ के दूध का यजमान व्रतग्रहण करे[४]। दीर्घकालीन उपसदा के मध्य में आग्रयणेष्टि का समय आ जाय तो नवीन अन्न का रौहिण पुरोडाश करके याग करे[५]। इसीतरह सुत्या के मध्य में आग्रयणेष्टि करने की आवश्यकता आ पड़े तो नवीन अन्न से सवनीय पुरोडाश करके याग करे[६]।

आग्रयणेष्टि का फल

प्राचीन समय में यव और व्रीहि प्रभृति ओषधि और दूर्वा प्रभृति तृणों पर दैत्यों ने विष का लेप कर दिया था, यह आख्यायिका है[७]। जिस अन्न अथवा तृण के खाने मात्र से संसार के मनुष्य एवं पशु मरने लगे। देवता लोग बहुत चिन्तित हुए। अन्त में देवताओं ने उपाय ढूंढ निकाला और इस दोष की निवृत्ति के लिए आग्रयणेष्टि का अनुष्ठान किया। आग्रयणेष्टि के अनुष्ठान से विषदोष की शान्ति हुई और उसी समय से इस आग्रयणेष्टि का अनुष्ठान चल पड़ा। सूत्रकार ने भी इसीलिए इस याग का विधान कहा है। नवान्न में यदि कोई विषैला अंश हो तो उसका उपशमन होना इस याग का फल है।

---

१. दर्शपौर्णमासयाजिनो दक्षिणाग्निपक्वं चातुष्प्राश्यं ब्राह्मणान् भोजयेत् किञ्चिद् दद्यात्। का० श्रौ० ४.६.११।

२. अग्निहोत्रायणिनो नवैः सायम्प्रातरग्निहोत्रहोमः। का० श्रौ० ४.६.१२।

३. तदाशिताया वा पयसा। का० श्रौ० ४.६.१३।

४. दीक्षितव्रतं च। का० श्रौ० ४.६.१४।

५. उपसत्सु रौहिणौ कुर्वीत। का० श्रौ० ४.६.१५।

६. सुत्यासु सवनीयाः। का० श्रौ० ४.६.१२-१६।

७. देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततोऽसुरा उभयीरोषधीर्याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः कृत्ययेव त्वद्विषेणेव त्वत्प्रलिलिपुः। एतेन वै देवाः यज्ञेनेष्ट्वोभयीनामोषधीनां याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः कृत्यामिव त्वद्विषमिव त्वदपजघ्नुस्तत आश्नन्मनुष्या आलिशन्त पशवः। श० ब्रा० २.३.५.२, ११।

कार्यकलाप

सङ्कल्प
अग्नि का उद्धरण
अन्वाधान
ऋत्विजों का वरण
हविर्ग्रहण
हविर्निर्माण
पञ्चप्रयाज
आज्ययाग
प्रधानयाग
दक्षिणादान
अनुयाजत्रय
शेषपौर्णमास यागवत्

सामग्री

कपाल १ + १२ = १३	जवका आटा
जव का दलिया	आज्य
प्रथमज गोवत्स	इध्मा २०
मेक्षण	पुरोडाशपात्री
चरुस्थाली	दक्षिणा प्रथमज गोवत्स

देवता और हविर्द्रव्य

इन्द्राग्नी	द्वादशकपाल	पुरोडाश[1]
विश्वेदेवा		चरु[2]
द्यावापृथिवी	एककपाल	पुरोडाश[3]

कार्यविधि

यजमान सङ्कल्प करके ऋत्विजों का वरण करे। अध्वर्यु याग का प्रारम्भ करे। इन्द्राग्नी, विश्वेदेवा और द्यावापृथिवी देवताओं के लिए हविर्ग्रहण करे[4]। हविर्द्रव्य के संस्कार के समय कणनिधान तक का कृत्य करके चलनी से चाल कर दलिया अलग करे। अनन्तर हवि का पेषण करे। हविर्निर्माण करे। पञ्चप्रयाज और आज्यभागयाग तक का कृत्य करे।

---

१. ऐन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशः। श० ब्रा० २.३.५.५।

२. वैश्वदेवश्चरुर्भवति। श० ब्रा० २.३.५.६।

३. द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति। श० ब्रा० २.३.५.८।

४. इन्द्राग्निभ्यां जुष्टं गृह्णामि, विश्वेभ्यो देवेभ्यो० द्यावापृथिवीभ्याम्०। दे० प० पृ० ९३।

प्रधानयाग

प्रधानयाग में बारह कपाल के पुरोडाश से इन्द्राग्नी का, चरु से विश्वेदेवा का और एक कपाल के पुरोडाश से द्यावापृथिवी का याग करे[1]। द्यावापृथिवी के पुरोडाश में-से शेष बचाना नहीं चाहिए। इन यागों के मन्त्रों में इन्द्राग्नी के यागसम्बन्धी मन्त्रों का उच्चैः प्रयोग करे। विश्वेदेवा और द्यावापृथिवी के मन्त्र उपांशुधर्म से प्रयुक्त होते हैं। हविःशेष में-से केवल प्राशित्र और इडा का भाग करे[2]। दक्षिणा प्रदान के समय प्रथमोत्पन्न गौ का वत्स दक्षिणा में दे[3]। शेष विधि समाप्त करे। यजमान अपने विष्णुक्रमादि कृत्य की समाप्ति करे। ब्राह्मण-भोजन का सङ्कल्प करके यज्ञेश्वरार्पण करे। ऊपर कहा हुआ प्रकार यवाग्रयणेष्टि और व्रीह्याग्रयणेष्टि दोनों का समान है। केवल हविर्द्रव्य में यव और व्रीहि का भेद रहेगा।

श्यामाकाग्रयणेष्टि

इस इष्टि के प्रारम्भ में मातृपूजन, आभ्युदयिक और अन्वारम्भणीयेष्टि करे। प्रधान-याग में केवल एक सोम देवता है। उसके लिए श्यामाकचरु तैयार करके प्रधानयाग करे। दक्षिणा में मरम्मत किया हुआ रथ, रेशमीवस्त्र, मधुपर्क अथवा वर्षा में पहना हुआ वस्त्र दे[4]। शेषविधि प्रकृतियागवत् समझे। इसीप्रकार ग्रीष्मऋतु में वेणुसंज्ञक यव का चरु तैयार करके याग करना चाहिए।[5] इस समय श्यामाकाग्रयणेष्टि और वैणवाग्रयणेष्टि का प्रचार विरल है।

चातुर्मास्य याग

सामान्य परिचय

सात हविःसंस्थाओं में-से चातुर्मास्य याग यह चौथी हविः संस्था है। इसमें चार पर्व होते हैं। प्रत्येक पर्व का चार-चार मास पर अनुष्ठान होने के कारण इस याग को चातुर्मास्य याग कहते हैं[6]। चारों पर्वों के नाम इस प्रकार हैं। पहला वैश्वदेवपर्व, दूसरा वरुणप्रघासपर्व, तीसरा साकमेधपर्व और चौथा शुनासीरीय पर्व के नाम से प्रसिद्ध है।

फल

यद्यपि प्रत्येक पर्व का फल अलग-अलग कहा है। तथापि पूरे चातुर्मास्य याग का फल

---

१. इन्द्राग्निभ्यामनुब्र ३ हि। इन्द्राग्नी यज इत्यादि। दे० प० पृ० ९४।
२. प्राशित्रेडाव्यतिरिक्तं किमपि न भवति। कर्कमते चतुर्द्धाकरणवर्जं सर्वं भवत्येव। दे० प०, पृ० ९४।
३. प्रथमजो गौर्दक्षिणा। श० ब्रा० २.३.५.१३।
४. पुनः संस्कृतो रथो दक्षिणा क्षौमं, मधुपर्को, वर्षाघृतं वा वासः। का० श्रौ० ४.६.१९।
५. वैणवो ग्रीष्मे। का० श्रौ० ४.६.१८।
६. चतुर्षु मासेषु भवन्ति, इति व्युत्पत्त्या। का० श्रौ० क० भा० टि० ५.१.१।

स्वर्गप्राप्ति बतलाया है[१]। चातुर्मास्य याग, हविर्द्रव्य और अनुष्ठान के समय के आधार पर कई प्रकार का हो जाता है। क्रमशः उसका वर्णन आगे किया जायेगा।

हविर्द्रव्यमूलक प्रकार

हविर्द्रव्य का आश्रयण करके चातुर्मास्य याग के तीन प्रकार हैं। प्रथम, प्रकार के चातुर्मास्य में पुरोडाश और चरु हविर्द्रव्य होता है। दूसरा, पाशुक चातुर्मास्य याग है। इसमें हविर्द्रव्य पशु है। तीसरा, सौमिक चातुर्मास्य याग किया जाता है। इसमें मुख्यतया सोमलता का रस हविर्द्रव्य कहा है। साथ में इसमें पशु भी विहित है।

समयमूलक प्रकार

समयमूलक प्रकार का आश्रयण करके यह याग तीन प्रकार का कहा है। पहला सांवत्सरिक, जो कि एक वर्ष में सम्पन्न होता है। दूसरा पञ्चाहिक प्रकार है। यह पाँच दिनों में पूरा होता है। इसका तीसरा प्रकार ऐकाहिक है। इस पक्ष में एक ही दिन में समस्त कृत्य सम्पादित होते हैं। इसके सिवाय भी साप्ताहिक और द्वादशाहिक चातुर्मास्य कहा है। किसी भी पक्ष के अवलम्बन करने पर, चारों पर्वों के साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करने पर ही चातुर्मास्ययाजी कहलाने का अधिकार प्राप्त होता है। यहाँ पहले सांवत्सरिक और हविर्द्रव्य लेकर विवेचन किया जाता है।

: १ :

वैश्वदेवपर्व

यह चातुर्मास्य याग का प्रथमपर्व है। फाल्गुनशुक्ल पूर्णिमा को इस वैश्वदेवपर्व का अनुष्ठान किया जाता है[२]। यदि प्रथम चातुर्मास्य याग का अनुष्ठान करना हो तो मातृपूजन और आभ्युदयिक श्राद्ध करे। ऐच्छिक अन्वारम्भणीयेष्टि और वैश्वानरपार्जन्येष्टि करे[३]।

---

१. यद्वैश्वदेवेन यजते। प्रजा एव तद् यजमानः सृजते। ता वरुणप्रघासैर्वरुणपाशान्मुञ्चति। साकमेधैः प्रतिष्ठापयति। त्र्यम्बकैरुद्रं निरवद्यते। पितृयज्ञेन सुवर्गं लोकं गमयति। तै० ब्रा० १.६.८।
चातुर्मास्यैः स्वर्गकामो यजते। जै० सू० ११.२.१२। शाबरभाष्य। अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति। श० ब्रा० २.५,४.१।

२. फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां प्रयोगश्चातुर्मास्यानाम्। वैश्वानरीयपार्जन्येष्टिः पूर्वस्यां पौर्णमास्याम्। पर्जन्याय यस्य व्रते। उत्तरस्यां वैश्वदेवम्। शां० श्रौ० ३.१३.१-५।
वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत। तै० ब्रा० १.६.२.१.।

३. वैश्वानरपार्जन्यौ निरूप्येच्छन्। का० श्रौ० ५.१.२।
वैश्वानरो द्वादशकपालश्चरुरुत्तरः। का० श्रौ० ५.१.३।

कार्यकलाप

हविर्ग्रहण
गोदोहन
अग्निमन्थन
नवप्रयाज
प्रधानयाग
नवानुयाज
समिष्टयजुत्रय
वाजिनयाग
वपन

सामग्री

कपाल ८ + १२ + ७ + १ = २८
चरुस्थाली ४
शाखोपवेष
दोहनचतुष्टय
ऋषभ दक्षिणा
कुशप्रस्वप्रस्तर
त्रेधाबर्हि
मेक्षण
पुरोडाशपात्री ४
वाजिनभाण्ड
मन्थनचतुष्टय
क्षुरचतुष्टय

सङ्कल्प करके आहवनीय और दक्षिणाग्नि के खर पर अग्नि का उद्धरण करे। दक्षिणा का उल्लेख करते हुए वैश्वदेव पर्व के सङ्कल्प का यह स्वरूप होना चाहिए[1]। अन्वाधान करे। ऋत्विजों का वरण करके यथाशक्ति उनकी अर्चना करे। इस पर्व में पौर्णमास याग के ऋत्विज होते हैं। शाखाच्छेदन करके ब्रह्मवरण करे। पात्रासादनान्त कर्म करे।

देवता और हविर्द्रव्य

अग्नि आठकपाल पुरोडाश[2]

---

१. प्रथमजगवदक्षिणेन वैश्वदेवपर्वणाहं यक्ष्ये। दे० प० पृ० १३४।

२. आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति। सौम्यश्चरुर्भवति। सावित्रो द्वादशकपालः। सारस्वतश्चरुर्भवति। पौष्णश्चरुः। मारुतस्तु सप्तकपालः। पयस्या वैश्वदेवी। द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति। श० ब्रा० २.४.२.८-१७।

सोम	चरु
सविता द्वादशकपाल	पुरोडाश
सरस्वती	चरु
पूषा	चरु (पिष्टमय)[1]
मरुतस्वतवान् सप्तकपाल	पुरोडाश
वैश्वदेवी	पयस्या
द्यावापृथिवी एककपाल	पुरोडाश

अध्वर्यु उपर्युक्त देवता के निमित्त पुरोडाश और चरु प्रभृति तैयार करने के लिए हविर्ग्रहण करे। प्रोहण होने पर गोदोहन करे[2]। हविर्द्रव्य तैयार हो जाने पर उन्हें वेदि में आसादित करे। अग्निमन्थन करे[3]। होता का वरण करे। नवप्रयाज करे[4]। अग्निदेवता के याग से प्रारम्भ करके द्यावापृथिवी के याग तक के नियत देवताओं के लिए निश्चित हविर्द्रव्य से प्रधानयाग करे। द्यावापृथिवी के पुरोडाश में-से अवदान न ले अपितु पूरे पुरोडाश की एक आहुति विहित है[5]। स्विष्टकृद्याग करे। पयस्या और सप्तकपाल के पुरोडाश को छोड़कर शेष हवि में से चतुर्द्धाकरण करना चाहिए[6]। इडाभक्षण करके सब कोई पवित्र से मार्जन करें[7]। इस पर्व में दक्षिणादान के समय ऋषभ दक्षिणा दे। नव अनुयाज करे[8]। समिष्टयजुःसंज्ञक तीन आहुतियाँ दे[9]। प्रस्तर के साथ शाखा का भी आहवनीय में हवन करे[10]। वाजिनयाग करे। सब कोई परस्पर आज्ञा लेकर वाजिन का भक्षण करें। याग सम्बन्धी शेष कृत्य करके यजमान कक्षोपस्थ रहित पूरा क्षौर करावे[11]।

---

१. सोमापौष्णं चरुं निर्वपेत्० पशुकामः। मै० सं० २.१.५।
तस्य दतो निर्जघान तथेन्नूनं तदास तस्मादाहुरदन्तकः पूषेति तस्माद्यं पूष्णे चरुं कुर्वन्ति प्रपिष्टानामेव कुर्वन्ति यथादन्तकायैवम्। श० ब्रा० १.६.२.७।

२. पौणमासेष्टि में प्रोहण कहा जा चुका है। दीर्घामिति कृष्णाजिने प्रोहति। का० श्रौ० २.५.७।

३. आसाद्याग्निमन्थनम्। का० श्रौ० ५.१.२१।

४. नवप्रयाजम्। का० श्रौ० ५.२.७। नवप्रयाजं भवति। श० ब्रा० २.४.२.२०।

५. द्यावापृथिवीयः सर्वहुतः कार्यः। दे० प० पृ० १३७।

६. सप्तकपालस्य पयस्यायाश्च। दे० प० पृ० १३८।

७. समस्य मार्जनम्। दे० प० पृ० १३८।

८. नवप्रयाजं, नवानुयाजम्। का० श्रौ० ५.२.७।
नवप्रयाजं, नवानुयाजम्। श० ब्रा० २.४.२.२०।

९. त्रीणि समिष्टयजूंषि भवन्ति। श० ब्रा० २.४.२.२१।

१०. सह शाखया०। दे० प० पृ० १३८।

११. पर्वसंस्थासु वपनम्। का० श्रौ० ५.२.१३।

काम्यवैश्वदेव पर्व

यह नित्य और चातुर्मास्य के अङ्गस्वरूप वैश्वदेवपर्व का विवेचन हुआ । इसके सिवाय प्रजा की कामना से काम्य वैश्वदेव पर्व का भी अनुष्ठान विहित है[१] ।

: २ :

वरुण-प्रघास

यह चातुर्मास्य याग का दूसरा पर्व है । इस पर्व में मुख्यतः वरुण देवता को भाग दिया जाता है । वरुण के पाश से मुक्ति पाने के हेतु इसका अनुष्ठान विहित है । इन्हीं उपर्युक्त दोनों कारणों से यह वरुण-प्रघास कहा जाता है । इस पर्व का अनुष्ठान आषाढ शुक्ल पूर्णिमा को होता है[२] । इस पर्व का अनुष्ठान दो दिनों में सम्पन्न होता है । प्रथम दिन का कार्य आषाढ शुक्ल चतुर्दशी को और दूसरे दिन का कार्य पूर्णिमा को सम्पन्न होता है । प्रथम दिन का कार्य दूसरे दिन के कार्य का साधक है । प्रमुख कार्य दूसरे ही दिन किया जाता है ।

वरुण के पाश से मुक्ति प्राप्त करना वरुण-प्रघास पर्व का फल है[३] ।

पूर्णिमा को याग का कृत्य होता है । प्रथम दिन करम्भपात्र, मेष और मेषी बनाकर सुरक्षित रख लेते हैं, इसी दृष्टि को रखते हुए लिखा गया है कि दो दिन में इस पर्व का कृत्य सम्पन्न होता है । यहाँ एकाह साध्य और द्व्यहसाध्य इसप्रकार दो पक्ष हैं । प्रकृत निबन्ध में द्व्यहपक्ष का आश्रयण करके लिखा गया है । दो दिन के पक्ष में भी प्रथम दिन के वैश्वदेव पर्व के कृत्य की समाप्ति होने पर उसी दिन यह कार्य किया जाता है । अतएव पाँच दिन की साध्यता में कोई फरक नहीं पड़ता[४] ।

ऋत्विज

वरुण-प्रघास पर्व में द्वितीय दिन जो याग होता है, उसमें दो वेदियाँ होती हैं । दोनों वेदियों में एक साथ याग कार्य सम्पन्न किया जाता है । वह सुविदित है कि याग करने वाले ऋत्विजों में अध्वर्यु ही प्रमुख होता है । इस अनुष्ठान में दो वेदियों में एक साथ अनुष्ठान विहित है । अकेला अध्वर्यु एक साथ दो वेदियों में याग नहीं कर सकता । अतएव दक्षिणवेदि में प्रतिप्रस्थाता और उत्तरवेदि में अध्वर्यु को याग करने का विधान है । फलतः पौर्णमासयाग के चार ऋत्विजों के सिवाय प्रतिप्रस्थाता नामक पाँचवाँ ऋत्विज भी इसमें अपेक्षित होता है । प्रथम दिन का कार्य कलाप और सामग्री इसप्रकार है—

---

१. प्रजाकामस्यापि वैश्वदेवम् । का० श्रौ० ५.२.२० ।

२. आषाढ्यां वरुणप्रघासाः । शा० श्रौ० ३.१३.८ ।
आषाढ्यामयन्ते । का० श्रौ० ५.३.१ ।

३. ता वरुणप्रघासैर्वरुणपाशान् मुञ्चति । तै० ब्रा० १.६.८.१ ।

४. द्व्यहपक्षे । दे० प० १४३ ।

कायकलाप

सङ्कल्प
ब्रह्मवरण
पात्रासादन
करम्भनिर्माण
मेषनिर्माण
मेषीनिर्माण
दक्षिणवेदिसंस्कार
उत्तरवेदिसंस्कार
शेष यागविधि

सामग्री

शूर्प
अग्निहोत्रहवणी
वज्र
खप्पर
कृष्णाजिन
उलूखल
मुसल
दृषत्
उपल
पात्री
यवपिष्ट
धृष्टि
दही
ऋषभ
उदक

कार्यविधि

अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों को अपनी-अपनी वेदि में कार्य करना विहित है । अध्वर्यु मेष के लिए और प्रतिप्रस्थाता मेषी तथा करम्भपात्र के लिए हवि का ग्रहण करें । वरुण देवता के लिए मेष और मरुत् देवता के निमित्त मेषी का निर्माण किया जाता है । अध्वर्यु यवपिष्ट का मेष बनावे । उसमें सींग और पुलिङ्ग चिह्न बनावे । प्रतिप्रस्थाता मेषी बनावे[1] । उसमें स्त्री-

---

१. मेषं मेषी च कुर्वन्ति । श० ब्रा० २.४.३.१५ । मेषमिथुनं च । का० श्रौ० ५.३.६ । यवमयौ भवतः । श० ब्रा० २.५.२.१६ ।

लिङ्ग चिह्न बनावे। स्तन का आकार भी बनाना चाहिए। प्रतिप्रस्थाता ही करम्भपात्र बनावे[1]। ये करम्भपात्र डमरू के आकार के बनाने चाहिए। इनका नाप अङ्गुष्ठ पर्वमात्र है। करम्भपात्रों की संख्या यजमान की प्रजा की संख्या से एक अधिक होनी चाहिए। हविर्द्रव्य ग्रहण करके उसका यथाविहित संस्कार करे। मेष और मेषी बन जाने पर उन पर ऊन चिपकावे[2]। उन्हें स्थाली में पकाकर तैयार कर ले। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों अपनी-अपनी वेदि का संस्कार करें[3]। अध्वर्यु अपनी उत्तर वेदि के उत्तर भाग में चात्वाल का निर्माण करे। अध्वर्यु की वेदि में आहवनीय स्थानीय उत्तरवेदि के निर्माण का कार्य हो चुकने पर उत्तरवेदि को उदुम्बर अथवा प्लक्ष की शाखा से अथवा दर्भ से ढँक दे[4]। यह कार्य प्रथम दिन का है।

---

१. करम्भपात्राणि कुर्वन्ति। श० ब्रा० बृ० भा० २.४.३.२२। करम्भपात्राणि०। आप० श्रौ० ८.५.३६। पूर्वेद्युर्दक्षिणाग्नौ भृष्टयवानां करम्भपात्रकरणम्। यावन्तो यजमानगृह्या एकाधिकानि। का० श्रौ० ५.३.२-७।

यावन्तो गृह्या स्युस्तावन्त्येकेनातिरिक्तानि भवन्ति तत्प्रतिपुरुषमेवैतदेकैकेन या अस्य प्रजा जातास्ता वरुणपाशात्प्रमुञ्चत्येकेनातिरिक्तानि भवन्ति तद्या एवास्य प्रजा अजातास्ता वरुणपाशात्प्रमुञ्चति तस्मादेकेनातिरिक्तानि भवन्ति। श० ब्रा० २.४.३.२२।

२. अनेडकीरूर्णाः। का० श्रौ० ५.३.७।

३. आहवनीयस्य पुरस्ताद्वेदी करोति। का० श्रौ० ५.३.९।

४. छन्ना वसति। का० श्रौ० ५.४.१। सा उत्तरवेदिरेवमाच्छादिता सकलां रात्रिं वसति। दे० प० प० १४६।

चातुर्मास्ययागविहार

कर्काचार्य के मत से

१—प्रकृतिविहार ।

गार्हपत्य २४ अङ्गुल की परकाल से बना वृत्ताकार, १२ × ४ अङ्गुल परिधियुक्त ।

२—वरुणप्रघासवेदि ।

पश्चिम में दक्षिण उत्तर ४ अरत्नि ।
पूर्व में " " ३ " ।
मध्य में पूर्व-पश्चिम ७ " ।

३—चात्वाल ३२ × ३२ × ४ अङ्गुल ।

४—उत्कर २ अङ्गुल की परकाल से वृत्ताकार ।

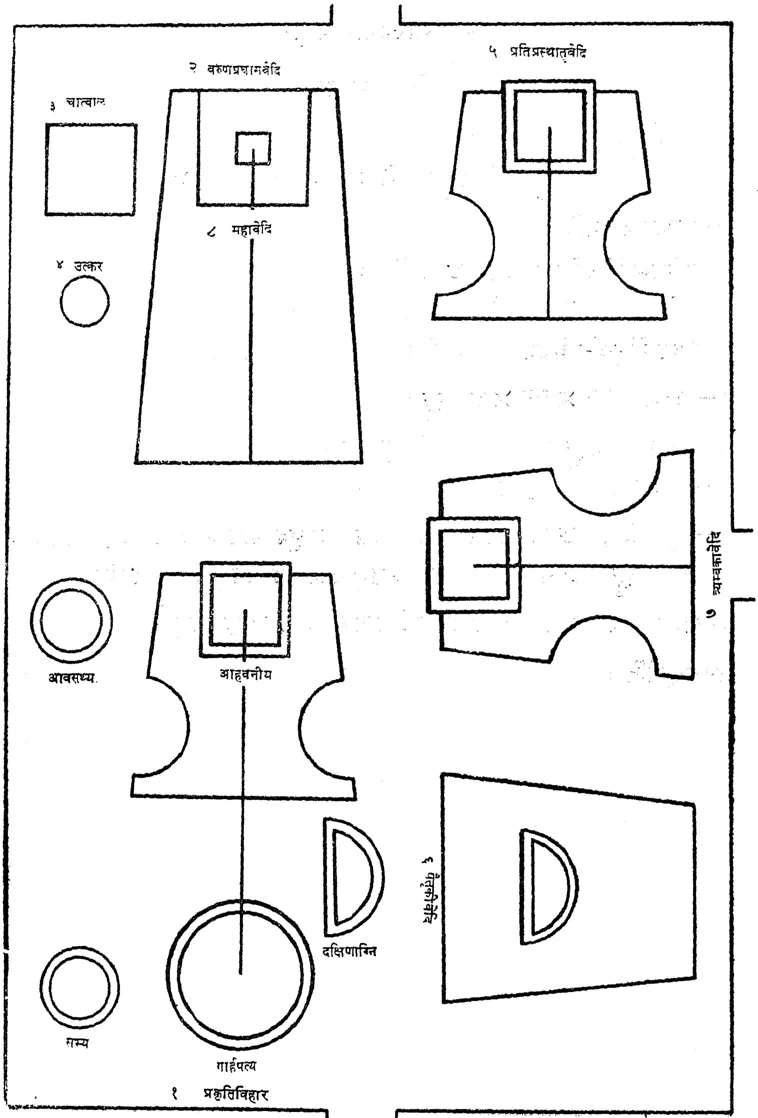
५—प्रतिप्रस्थातृवेदि प्रकृतिवत् ।

६—पैतृकीवेदि, सङ्ग्रहरहित । दक्षिण दिशा को पूर्व मानकर । शेष प्रकृतिवत् । मध्य में १९ अङ्गुल की परकाल से बना अर्द्धवृत्ताकार परिधियुक्त दक्षिणाग्निखर ।

७—त्र्यम्बकावेदि उत्तर दिशा को पूर्व मानकर । शेष प्रकृतिवत् ।

८—महावेदि ।

चातुर्मास्ययागविहार



चातुर्मास्ययाग विहार

(देवयाज्ञिक के मत से)

१ प्रकृतिविहार ।

२ वरुणप्रवासवेदि ।

३ चात्वाल ।

४ उत्कर ।

५ प्रतिप्रस्थातृवेदि ।

६ पैतृकीवेदि । दक्षिण को पूर्व मानकर ।

७ त्र्यम्बकावेदि । उत्तर को पूर्व मानकर ।

८ महावेदि ।

९ नाभि ।

१० सभ्य ।

११ गार्हपत्य ।

१२ दक्षिणाग्नि ।

१३ आवसथ्य ।

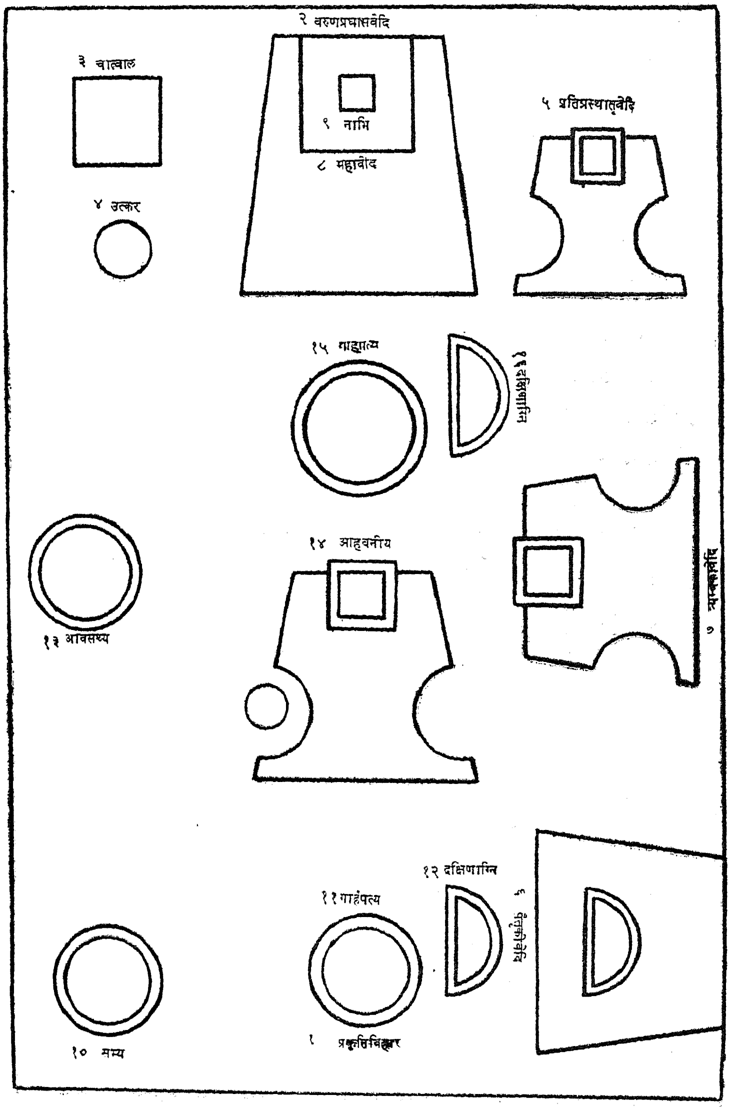
१४ आहवनीय ।

१५ गार्हपत्य । २४ अङ्गुल की परकाल से बना वृत्ताकार परिधियुक्त ।

१६ दक्षिणाग्नि ।

शेष पूर्ववत् ।

चातुर्मास्ययाग विहार



द्वितीय दिन का कार्य

दूसरे दिन प्रातःकाल ऋत्विज और पत्नी के साथ यजमान यज्ञशाला में उपस्थित हो। यजमान और पत्नी वैश्वदेवपर्व में पहना हुआ वस्त्र पहनें।

कार्यकलाप

परिस्तरण
हविर्ग्रहण
हविर्निर्माण
दोहन
आज्याधिश्रयण
पयस्यानिर्माण
पृषदाज्यनिर्माण
वाजिननिर्माण
यागकरण
शेष यागविधि

सामग्री

कपाल ८ + १२ + १२ + १ = ३३
हविर्द्रव्य
स्थाली
शाखोपवेष
दोहनचतुष्टय
दक्षिणा (धेनु या अश्व)
कुशप्रस्वप्रस्तर
मेक्षण
वाजिनभाण्ड
शमीपत्रमिश्रितकरीर
मन्थनचतुष्टय
क्षुरचतुष्टय
करम्भहोमार्थ शूर्प
करम्भपात्री
दधि

देवता और हविर्द्रव्य

अग्नि	आठकपाल	पुरोडाश
सोम		चरु

सविता	द्वादशकपाल	पुरोडाश
सरस्वती		चरु
पूषा		पिष्टचरु
इन्द्राग्नी	द्वादशकपाल	पुरोडाश
वरुण		आमिक्षा
मरुत्		आमिक्षा
क	एककपाल	पुरोडाश

कार्यविधि

इस पर्व में अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ऋत्विज एक साथ काम करते हैं। इस परिस्थिति में यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि किन कार्यों को अध्वर्यु करता है। कौन कार्य प्रतिप्रस्थाता के हैं और किन कार्यों को अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों करते हैं। इस विषय की जानकारी के लिए यहाँ दोनों के कार्य अलग-अलग दिये जा रहे हैं—

अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों के कार्य

हाविर्निर्माण करें। प्रोहण कार्य के बाद गो दोहन करें[१]। आग्नीध्र क्रमशः दोनों के आज्य का अधिश्रयण करे।[२] दोनों की पयस्या का अधिश्रयण करे। दूध खौलने पर उसमें दही छोड़े। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही अपनी-अपनी वेदियों का संस्कार करें[३]। पात्रसम्मार्जन करें। आज्य संस्कार और पृषदाज्य निर्माण करें। इध्मा, बर्हिका प्रोक्षण और बर्हिरास्तरण करें। पयस्या में करीर और शमीपत्र छोड़ें[४]। समस्त हवि को उत्तर की वेदि में और दोनों के वाजिन को उत्कर पर आसादित करें[५]।

यहाँ अरणी से अग्निमन्थन करना विहित है[६]। नवप्रयाज करे[७]। आज्यभाग की आहुति करके इन्द्राग्नी देवता के याग पर्यन्त प्रधानयाग करे[८]। अध्वर्यु अखण्ड मेष की और प्रतिप्रस्थाता मेषी की आहुति करे। पहले अध्वर्यु मेष की आहुति कर ले। प्रतिप्रस्थाता जब मेषी की

१. परिक्षालनान्तो दोहः। दे० प० पृ० १५१।
२. अधिश्रित्य। दे० प० पृ० १५१।
३. वेदिखननमुभयोः। दे० प० पृ० १५१।
४. उभयोः करीराण्यावपति। का० श्रौ० ५.५.१।
५. सर्वाणि हवींष्युत्तरमासादयति। का० श्रौ० ५.५.४।
६. होमान्तमग्निमन्थनम्। दे० प० पृ० १५४।
७. उभयोर्नवप्रयाजाः। दे० प० पृ० १५६।
८. यह केवल अध्वर्यु करे। हविर्भिश्चरति। का० श्रौ० ५.५.१५।

आहुति करे, उस समय अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता के उत्तरीय वस्त्र को पकड़े रहे[१]। अध्वर्यु बाकी के प्रधानयाग करे। दोनों स्विष्टकृत् याग करें[२]। वरुणप्रघास के निमित्त दो वेदियाँ बनायी जाती हैं[३]। प्रतिप्रस्थाता की वेदि दक्षिण में होती है। यह वेदि पौर्णमासयाग जैसी होती है। अध्वर्यु की वेदि उत्तरवाली रहती है। प्रतिप्रस्थाता की वेदि की अपेक्षा यह बड़ी होती है। इसमें आहवनीय स्थानीय उत्तरवेदि बनायी जाती है[४]। पहले सामान्य रूप से कार्यकलाप की रूपरेखा कही है। यहाँ अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही यागकार्य करते हैं। अतएव दोनों के कार्यों को अलग करके दिखाना आवश्यक है। निम्नाङ्कित कार्यों को केवल अध्वर्यु करता है[५]। इनमें प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु का अनुकरण नहीं करता। सामग्री पहले कही जा चुकी है।

केवल अध्वर्यु के कार्य

प्रणीताप्रणयन
पत्नीसन्नहन
अग्निमन्थन
आश्रावण
प्रत्याश्रावण
प्रैष
यजमानवाचन
होतृषदन
होतृवरण
प्राशित्रहरण
गार्हपत्य में हवन
पत्नीसंयाज

केवल प्रतिप्रस्थाता के कार्य

गो दोहन
आज्याधिश्रयण

---

१. सह मेषम्। का० श्रौ० ५.५.१६-१७।
प्रतिप्रस्थातुर्वासो०। का० श्रौ० ५.५.१८।
२. उभौ स्विष्टकृत्प्रभृति। का० श्रौ० ५.५.२०।
३. वेदी करोति। का० श्रौ० ५.३.९। प्रादेशोऽन्तरा पृथो वा। का० श्रौ० ५.३.१०।
४. रथमात्र्युत्तरा। का० श्रौ० ५.३.११। वेदि की जानकारी के लिए वेदि का चित्र देखें।
५. प्रणीतापत्नीसन्नहनाग्निमन्थनाश्रुतप्रत्याश्रुत०। का० श्रौ० ५.४.३१।

पयस्यानिर्माण

पृषदाज्यनिर्माण

वाजिननिर्माण

पत्नी के प्रति प्रश्न

मन्त्रवाचन

मेषपरिवर्तन

मेषीहवन

करम्भनिर्माण

वाजिनयाग

शेषकृत्य

सामग्री

दोहनचतुष्टय

इध्मा २०

करम्भहोमार्थशूर्प

करम्भपात्री

वाजिनभाण्ड

शमीपलाशमिश्रकरीर

पृषदाज्योपभृत्

दधि

आज्य

केवल प्रतिप्रस्थाता के कार्य

आग्नीध्र जिस समय आहवनीय पर सम्मार्जन करता है, उससे पूर्व प्रतिप्रस्थाता यजमान पत्नी के निकट जाकर यजमान के सिवाय उपपति विषयक आशंका के निराकरण करने के हेतु स्पष्टीकरण माँगता है।

गोपनीयता के साथ पत्नी द्वारा आशंका का निवारण कुश उठाने के रूप में किया जाता है[1]। अनन्तर प्रतिप्रस्थाता पत्नी से मन्त्रवाचन करावे[2]। पहले दिन बनाये हुए करम्भों को शूर्प में रखकर पत्नी अपने मस्तक पर करम्भपात्र सहित शूर्प को रखती है। पत्नी प्रतिप्रस्थाता द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से जाकर शूर्प से ही आहवनीय में करम्भों की आहुति करे[3]। वापस लौट

---

१. पत्नीमानेष्यन्नाह केन चरसीति। संस्तुतानाचष्टे। तृणानि वोद्गृह्णाति प्रतिसंस्तुतम्। अनाख्यातमहितं ज्ञातिभ्य इति श्रुतेः। का० श्रौ० ५.५.५-८।

२. एनां वाचयति। का० श्रौ० ५.५.९।

३. करम्भपात्राणि जुहोति शूर्पेण मूर्धनि कृत्वा। का० श्रौ० ५.५.१०।

कर अपने स्थान पर बैठे। अध्वर्यु इडापात्री में हवि का अवदान रखकर इडापात्री प्रतिप्रस्थाता को दे। उसी इडापात्री में प्रतिप्रस्थाता मारुति पयस्या का अवदान ग्रहण करे[1]। इडापात्री अध्वर्यु को दे। होता द्वारा इडाजप किया जाय। सब ऋत्विजों द्वारा इडाभक्षण हो जाने पर यथासमय यजमान दक्षिणादान करे[2]। वाजिनयाग के समय अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही वाजिनयाग करें। यजमान सहित सब ऋत्विज परस्पर अनुज्ञा लेकर वाजिनभक्षण करें[3]। अध्वर्यु पत्नीसंयाज और दक्षिणाग्नि में हवन करे[4]। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता समिष्टयजुः-संज्ञक आहुति करें।

अवभृथेष्टि

यह इष्टि जलाशय पर की जाती है। वरुणप्रघास पर्व के अन्त में यह इष्टि करनी चाहिए। यज्ञशाला में चात्वाल के निकट यजमान मन्त्रवाचन करे[5]। सामग्री एवं ऋत्विजों के साथ जलाशय पर याग करने के लिए प्रस्थान करें।

कार्यकलाप

जलाशय के प्रति प्रस्थान
जलावतरण
परिस्तरण
षडाहुति
निष्काषपात्रमज्जन
स्नान
वस्त्रपरिवर्त्तन
प्रत्यागमन
समिदाधान

सामग्री

वारुणीनिष्काषस्थाली
वज्र
स्रुव
जुहू
आज्यस्थाली

---

१. इडामवदाय०। का० श्रौ० ५.५.२१-२२।
२. दक्षिणाम्। दे० प० पृ० १५८।
३. समासिच्य वाजिनभक्षः। का० श्रौ० ५.५.२४।
४. पत्नीसंयाजादि। दे० प० पृ० १५९।
५. चात्वालसमीप आगत्योरुहिठंहीति। शु० य० ८.२३, दे० प० पृ० १५९।

स्रुतावदान
समित्
दर्भ
परिधानीयवस्त्र

जलाशय पर पहुँच कर अध्वर्यु बाहु पकड़ कर यजमान को जल में उतारे। अध्वर्यु स्वयं परिस्तरण एवं समिदाधान करे। स्रुची से अग्नि देवता के निमित्त एक आहुति करे[1]। पाँच प्रयाजों में-से बर्हिर्याग रहित चार प्रयाज करे[2]। षडाहुति पक्ष में अन्तिम प्रयाज में 'वरुणाय न मम' त्याग करे। पुरोनुवाक्या, आश्रावण, प्रत्याश्रावण और याज्या सहित अग्निवरुण का याग करे। निष्काष स्थाली को समन्त्रक जल में डुबो दे[3]। यजमान और पत्नी पात्र में जल लेकर स्नान करें। परस्पर पीठ धोएँ[4]। धौत वस्त्र धारण करें[5]। गीले वस्त्रों को अधिकृत चाहे जिस ऋत्विज को दे[6]। यज्ञशाला में आकर यजमान आहवनीय में समिदाधान करे[7]। पत्नी गार्हपत्य में समिदाधान करे[8]।

अवभृथेष्टि करके जलाशय से लौट कर यज्ञशाला में आवें और शेष कृत्यकी समाप्ति करे।

अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता बर्हिहोम करें। अध्वर्यु प्रणीतानिनयन, राक्षस निमित्त भाग प्रदान और पूर्णपात्र निनयन करे। यजमान अपना विहित कृत्य करे। वैकल्पिक क्षौर करावे। विहित याग की साङ्गता के लिए एक सौ ब्राह्मण भोजन का सङ्कल्प करे। अग्नि का समारोप करे। अग्निमन्थन करके पौर्णमास याग करे। स्मार्त्त खर में वैश्वदेव करे और अपना नित्यकर्म करे।

: ३ :

साकमेधपर्व

चातुर्मास्ययाग का साकमेध संज्ञक यह तीसरा पर्व है। कार्त्तिक शुक्ल चतुर्दशी और

---

१. अग्नेः अनीकम्। शु० य० ८.२४।
२. बर्हिर्वर्जितास्चत्वारः प्रयाजाः। दे० प० पृ० १६०।
३. अवभृथ०। शु० य० ३.४८।
४. अन्योन्यस्य पृष्ठे धावतः। का० श्रौ० ५.५.३१।
५. अन्ये वाससी परिदधाते। का० श्रौ० ५.५.३२।
६. पूर्वे दद्यादधिकृतेभ्यो यस्मा इच्छेत्। का० श्रौ० ५.५.३३।
७. देवानां समिदसि। शु० य० ८.२७।
८. पत्नी च गार्हपत्ये तूष्णीम्। का० श्रौ० ५.५.३५।

पूर्णिमा इन दो दिनों में इसका अनुष्ठान सम्पन्न होता है[1]। इस पर्व में प्रथम दिन अनीकवतीष्टि, सान्तपनीयेष्टि और गृहमेधीयेष्टि की जाती है।

अनीकवतीष्टि

यह इष्टि साकमेध पर्व के अङ्गस्वरूप विहित है। इसका प्रारम्भ प्रातःकाल में करना चाहिए[2]।

कार्यकलाप

पुरोडाशनिर्माण
शेष पौर्णमासयागवत्

सामग्री

कपाल ८
इध्मा २०
पुरोडाशपात्री
अन्वाहार्य

देवता और हविर्द्रव्य

अग्नि अनीकवान	आठ कपाल	पुरोडाश

सूर्योदय होते ही सङ्कल्प करके पौर्णमासयाग में निर्दिष्ट ऋत्विजों का यहाँ भी वरण करे। पुनः विशेषरूप से ब्रह्मा का वरण करे। अरणी से अग्नि का मन्थन करके यथास्थान अग्नि की स्थापना करे। गार्हपत्य में स्थापित अग्नि में से आहवनीय और दक्षिणाग्नि में अग्नि का उद्धरण करे। अग्नि अनीकवान् नामक देवता के लिए आठ कपाल का पुरोडाश करके प्रधानयाग करे[3]। अन्वाहार्य दक्षिणा दे। शेष विधि पौर्णमासयाग के समान करे।

सान्तपनीयेष्टि

उपर्युक्त अनीकवतीष्टि हो चुकने पर मध्याह्न के समय यह सान्तपनीयेष्टि करनी चाहिए[4]। इस इष्टि का अनुष्ठान भी साकमेधपर्व के अङ्गस्वरूप विहित है।

कार्यकलाप

चरुनिर्माण
आज्यभाग

---

१. कार्त्तिक्यां साकमेधाः। शां० श्रौ० ३.१५.१।
कार्त्तिक्यां साकमेधा द्व्यहम्। का० श्रौ० ५.६.१।
२. पूर्वेद्युः पूर्वाह्णे। का० श्रौ० ५.६.२।
३. अग्नयेऽनीकवते पुरोडाशः। का० श्रौ० ५.६.२।
अग्नयेऽनीकवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति साकं सूर्येणोद्यता। बौ० श्रौ० ५.१०।
४. मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यो मध्यन्दिने चरुः। का० श्रौ० ५.६.३।
अथ मध्यन्दिने मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यश्चरुं निर्वपति। बौ० श्रौ० ५.१०।

प्रधानयाग

समिष्टयजुःपर्यन्त विधि

सामग्री

चरुस्थाली

मेक्षण

इध्मा

अन्वाहार्य

द्रव्य और देवता

मरुत् सान्तपन — चरु

संकल्पपूर्वक अन्वाधान और ऋत्विजों का वरण करे। मरुत्सान्तपन के लिए चरु तैयार करे। पाँच प्रयाज करे। अग्नि और सोम का आज्य से याग करे। मरुत्सान्तपन का चरु से प्रधानयाग करे। इस इष्टि का कृत्य समिष्टयजुःसंज्ञक आहुति पर्यन्त ही करने का विधान है[1]। शेष कृत्य दूसरे दिन दर्वि से होम हो चुकने पर करना चाहिए। इस इष्टि का शेष कृत्य पौर्णमासेष्टि के समान होता है।

गृहमेधीयेष्टि

साकमेधपर्व के अङ्गस्वरूप इस इष्टि का भी विधान है। पूर्वोक्त सान्तपनीयेष्टि समाप्त हो जाने पर सायङ्कालीन अग्निहोत्रहवन से पूर्व यह गृहमेधीयेष्टि की जाती है[2]।

कार्यकलाप

पायसचरुनिर्माण

दो पात्रों में चरु निकालना

दर्विहोमार्थ चरु सुरक्षित रखना

विहित लोगों द्वारा चरुभक्षण

सामग्री

चरुस्थाली

शाखापवित्र

दोहनसामग्री

इध्मशकल २

प्रस्तरमात्रबर्हि

चरुस्थाली २

---

१. समिष्टयजुरन्तं भवति। का० श्रौ० ५.६.४। बर्हिर्होममेवोत्कर्षयन्ति। स चायं पक्षः श्रेयस्कर इवाभाति। का० श्रौ० क० भा० ५.६.५। यहाँ देवयाज्ञिक प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित मत को मानने वाले हैं। स एव पक्षोऽस्माभिराद्रीयते। दे० प० पृ० १६३।

२. मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सायं चरुः पयसि। का० श्रौ० ५.६.६।

द्रव्य और देवता

मरुत् गृहमेधिन् (मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः) चरु

ऋत्विजों का वरण करके पात्रासादन करे[1]। हविर्द्रव्य का कण्डनादि संस्कार करके चरु निर्माण करे[2]। जिस पात्र में चरु का निर्माण करना हो उसमें पवित्र रख कर गोदोहन करे। चावल को धोकर चरुस्थाली के दूध में छोड़े। चरु तैयार हो जाने पर चरुस्थाली में से दो तसलों में समभाग में चरु निकाले[3]। दोनों तसलों के चरु के मध्य में गड्ढा करके पुष्कल आज्य छोड़े[4]। दोनों तसलों को वेदि में आसादित करे। जिस चरुस्थाली में चरु पकाया है, उसमें कुछ चरु का शेष रखकर उसे दर्विहोम के लिए सुरक्षित रख दे। आगे की याग की विधि करे।

होतृवरण करके अग्नि और सोम देवता की आज्याहुति करे। अग्नि की आज्याहुति के निमित्त दक्षिणके तसले में से और सोम की आज्याहुति के लिए उत्तर के तसले में से आज्य ले[5]। चरु का अवदान लेकर मरुत् गृहमेधि (मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः) का प्रधान याग करे[6]। उत्तर की स्थाली में से अवदान लेकर स्विष्टकृद्याग करे। दक्षिण चरुस्थाली में इडावदान करे। ऋत्विज लोग इडाप्राशन करें[7]। यजमान के कुटुम्बीजन चरु का भक्षण करें। यज्ञ का हवि चाहने वाले ऋत्विजों से इतर उपनीत ब्राह्मण भी इस हवि का प्राशन कर सकते हैं[8]। इष्टि समाप्त होने पर यवागू से सायङ्कालीन अग्निहोत्र-हवन करे। यहाँ प्रथम दिन के कार्य की समाप्ति होती है।

दूसरे दिन का कार्य

दर्विहोम

प्रातःकाल अग्निहोत्रहवन करके अथवा उससे पूर्व अध्वर्यु दर्विहोम करे[9]। यह दर्विहोम सान्तपनीयेष्टि का अङ्ग है। निवानी गौ के बछड़े को माँ से अलग करे। दर्विहोम के लिए विकङ्कत काष्ठ की दर्वि का सम्मार्जनादि संस्कार करे[10]। दर्वि में चरु लेकर यजमान पुरुष को बैल

---

१. पात्रासादने० पयोबाहुल्यापेक्षया बहूनां व्रीहीणां ग्रहणम्। दे० प० पृ० १६३।

२. कणनिधानान्तं कण्डनम्। दे० प० पृ० १६३।

३. श्रपयित्वा अभिघार्योद्वास्य शरावयोरुद्धरति पात्रयोर्वा। का० श्रौ० ५. ६. १०।

४. सर्पिरासिञ्चत्याज्यार्थम्। का० श्रौ० ५. ६. ११।

५. आज्यभागाभ्यां चरत्याग्नेयं दक्षिणात् सौम्यमुत्तरात्। का० श्रौ० ५. ६. १६।

६. गृहमेधिस्विष्टकृतौ चाज्यभागवत्समावदानौ। का० श्रौ० ५. ६. १७।

७. प्राश्नन्ति युक्ताः। का० श्रौ० ५. ६. २३।

८. यजमानगृह्या हविरुच्छिष्टाशा ऋत्विजो ब्राह्मणाश्चान्ये बहुश्चेत्। का० श्रौ० ५.६.२४।

९. प्रातर्वा शेषभावात्। का० श्रौ० ५. ६. २७।
सान्तपनीयतन्त्रान्तःपातात्। दे० प० पृ० १६७।

१०. वैकङ्कतदर्व्याः सम्मार्गप्रतपने। दे० प० पृ० १६७।

से शब्द कराने का आदेश करे[1]। बैल के शब्द करने पर इन्द्रदेवता के निमित्त आहवनीय में आहुति करे[2]। यदि बैल शब्द न करे तो ब्रह्मा से आदेश मिलने पर आहुति करे[3]। दक्षिणा दान के समय ऋषभ दक्षिणा दे[4]। शेष कृत्य की समाप्ति करे।

क्रीडनीयेष्टि

दर्विहोम करने के अनन्तर क्रीडनीयेष्टि करे। इस इष्टि में एक पुरोडाश और एक चरु बनाया जाता है। वस्तुतः यह दो हवि की दो इष्टियाँ हैं। पहली पुरोडाश हवि से क्रीडनीयेष्टि[5] और दूसरी चरुद्रव्य से आदित्येष्टि करे[6]। इन दोनों इष्टियों को एक समय में करने का विधान होने के कारण समानतन्त्र से की जाती है[7]।

कार्यकलाप

ऋत्विजों का वरण
पुरोडाशनिर्माण
चरुनिर्माण
प्रधानयाग
दक्षिणादान
शेष पौर्णमासयागवत्

सामग्री

कपाल ७
चरुस्थाली १
अन्वाहार्य दक्षिणा
स्रुतावदान
मेक्षण
पुरोडाशपात्री
इध्मा २०
शेष प्रौर्णमासयागवत्

---

१. ऋषभमाह्वयितवै ब्रूयात्। का० श्रौ० ५. ६. ३१।
२. रुते जुहोति। का० श्रौ० ५. ६. ३२। पूर्णादर्वि०। शु० य० ३. ४९।
३. देहिम इति जुहोति०। शु० य० ३. ५०।
४. ऋषभो दक्षिणा०। का० श्रौ० ५. ६. ३५।
५. मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः सप्तकपालः। का० श्रौ० ५. ७. १।
मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः पुरोडाशं सप्तकपालं निर्वपति साकं सूर्येणोद्यता। बौ० श्रौ ५. १०।
६. अदित्यै चरुः। का० श्रौ० ५. ७. २।
७. समानबर्हिषी वा कालकर्मैक्यत्वात्। का० श्रौ० ५. ७. ३।

द्रव्य और देवता

मरुत् क्रीडि (मरुद्‌भ्यः क्रीडिभ्यः) सातकपाल	पुरोडाश
अदिति	चरु

हविर्निर्माण करके वेदि में आसादन करने तक का कृत्य करे। पञ्चप्रयाज करे। श्रुतावदान से पुरोडाश का और मेक्षण से चरु का अवदान ले। पुरोडाश का अवदान लेकर मरुत् क्रीडि (मरुभ्यः क्रीडिभ्यः) का और चरु का अवदान लेकर अदिति का याग करे। स्विष्टकृद्याग करे। ऋत्विजों को अन्वाहार्य दक्षिणा दे। शेष कृत्य की समाप्ति करे।

महाहवि याग

क्रीडनीयेष्टि हो जाने पर दूसरे दिन महाहवि याग का अनुष्ठान किया जाता है[1]। साकमेघपर्व के अङ्गयागों में यह प्रमुख है। वरुणप्रघास की वेदि में इसका अनुष्ठान किया जाता है। गार्हपत्य के अग्नि में-से उत्तरवेदि पर अग्नि का प्रणयन होता है। इसी याग से साकमेधपर्व की समाप्ति होती है।

कार्यकलाप

ऋत्विजों का वरण
हविर्निर्माण
अग्निमन्थन
नवप्रयाज
प्रधानयाग
नवानुयाज
ऋषभदक्षिणा
शेषविधि वरुणप्रघासवत्

सामग्री

कपाल ८ + १२ + १२ + १ = ३३
ऋषभदक्षिणा
इध्मा २०
पृषदाज्य
उपभृत्
मन्थनचतुष्टय
क्षुरचतुष्टय
शेष वरुणप्रघासवत्

---

१. महाहविरुदवसाय निर्मथ्य। का० श्रौ० ५.७.४।

द्रव्य और देवता

अग्नि	आठ कपाल	पुरोडाश
सोम		चरु
सविता	बारह कपाल	पुरोडाश
सरस्वती		चरु
पूषा		पिष्टचरु
इन्द्राग्नी	बारह कपाल	पुरोडाश
माहेन्द्र		चरु
विश्वकर्मा	एक कपाल	पुरोडाश[1]

इस याग में उपर्युक्त आठ देवता के लिए हवि का निर्माण होता है[2]। ऋत्विजों के वरण से याग का प्रारम्भ करे[3]। हविर्द्रव्य का निर्वाप करके हवि को तैयार करे। वेदि में हवि का आसादन करके अरणी से अग्निमन्थन करे। होतृवरण, नवप्रयाज, आज्यभाग और प्रधानयाग करे[4]। ऋषभ दक्षिणा दे[5]। नवानुयाज करे[6]। शेष विधि वरुणप्रघास के समान करे[7]।

पित्र्येष्टि

जिस तरह देवता के निमित्त याग किये जाते हैं, उसी प्रकार पितरों के निमित्त इस याग का अनुष्ठान किया जाता है। साकमेध पर्व के अङ्गस्वरूप इस याग का अनुष्ठान होता है। इसके अनुष्ठान का समय अपराह्ण है[8]। पौर्णमासयाग के समान इसमें चार ऋत्विज आवश्यक हैं। इसमें यजमान की पत्नी की अपेक्षा नहीं होती[9]। इसमें दक्षिण दिशा को पूर्व मान कर समस्त विधि की जाती है। समस्त कृत्य उपांशुधर्म से विहित है[10]। इसकी वेदि पुरुषप्रमाण और चतुरस्र बनानी चाहिए[11]। वेदि के चारों कोने चारों विदिशा में रहने चाहिए। मध्य में पौर्णमासवेदि के समान दक्षिणाग्नि संज्ञक खर जैसा एक खर बनाया जाता है।

---

१. वैश्वकर्मण एककपालः। का० श्रौ० ५.७.६।
२. अष्टौ हवींषि भवन्ति। दे० प० पृ० १६८।
३. ब्रह्मवरणम्। दे० प० पृ० १६८।
४. प्रधानयागे अग्नयेऽनुब्रूहि। दे० प० पृ० १७०।
५. ऋषभो दक्षिणा। का० श्रौ० ५.७.८।
६. अनुयाजा नवपृषदाज्येन। दे० प० पृ० १७०।
सा चापराह्णे भवति। दे० प० पृ० १७०।
७. वरुणप्रघासवत्। का० श्रौ० ५.७।
८. अपराह्णे पित्र्या त्रिहविरिष्टिः। शां० श्रौ० ३.१६.१।
९. अपत्नीकः। का० श्रौ० ५.८.५।
१०. पितृयज्ञ उपांशुचरणम्। का० श्रौ० ५.८.१।
११. वेदिं करोत्यवान्तरदिक्स्रक्तिम्। का० श्रौ० ५.८.२१।

कार्यकलाप

सङ्कल्प	अन्वाधान
व्रतग्रहण	ब्रह्मवरण
हविर्निर्माण	वेदिसंस्कार
बर्हिरास्तरण	आज्यभागयाग
अपसव्यकरण	प्रधानयाग
अन्वाहार्य दक्षिणादान	पिण्डदान

सामग्री

खर्पर
कपाल ६
यव
निवानीगोदुग्ध
अन्वाहार्य
शृतावदान गोकर्णाकार
पुरोडाशपात्री ३
शेष पौर्णमासयागवत्

इस अनुष्ठान में प्रयुक्त मन्त्रों में-से कुछ मन्त्रों के देव शब्द के साथ पितृ शब्द जोड़कर उच्चारण किया जाता है। कुछ मन्त्रों में-से देव शब्द को सर्वथा हटाकर हटाये हुए स्थान में पितृ शब्द का उच्चारण किया जाता है[1]।

---

१. हविरावपनकार्य

देवकार्य में प्रयुक्त मन्त्र	देववीतये त्वा गृह्णामि
पित्र्येष्टि में ,, ,,	पितृवीतये त्वा गृह्णामि। शु० य० १. १५।

पेषणकार्य

देवकार्य में प्रयुक्त मन्त्र	धान्यमसि धिनुहि देवान्
पित्र्येष्टि में ,, ,,	धान्यमसि धिनुहि पितॄन्। शु० य० १.२०।

वेदबन्धनकार्य

देवकार्य में प्रयुक्त मन्त्र	वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यः
पित्र्येष्टि ,, ,, ,,	वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवपितृभ्यः। शु० य० २.२१।

आज्यग्रहणकार्य

देवकार्य में प्रयुक्त मन्त्र	धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि
पित्र्येष्टि में ,, ,,	धाम नामासि प्रियं देवपितॄणामनाधृष्टं देव-पितृयजनमसि। शु० य० १.३१।

देवता और हविर्द्रव्य

पितृसोमवान् (पितृभ्यः सोमवद्भ्यः)	छ कपाल पुरोडाश[१]
पितृबर्हिषद् (पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः)	धाना[२]
पितृ अग्निष्वात्त (पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्यः)	मन्थ[३]

यागविधि

सङ्कल्प, अन्वाधान और ब्रह्मवरण करके हविर्ग्रहण करे। हवि तैयार करे[४]। मन्थ तैयार करने के निमित्त गर्त्तवाली पात्री में निवानी गौ का दूध छोड़े। उसमें धानापिष्ट छोड़े। शलाका से मथकर मन्थ तैयार करे। वेदि का संस्कार करके वेदि में बर्हिरास्तरण करे। वेदि में हवि का आसादन करे। वेदि के उत्तर में अपने आसन पर होता बैठे। सामिधेनी के प्रैष से लेकर आज्यभाग पर्यन्त ऋत्विज और यजमान यज्ञोपवीती रहें। पन्द्रह इध्माका तीन भाग करे। तीनों भागों का तीन बार में हवन करे। बर्हिवर्जित चार प्रयाज करे। आज्य भाग की आहुति दे। यहाँ सब कोई अपसव्य करें। प्रधानयाग करे[५]। स्विष्टकृद्याग करे[६]। इडा भाग का भक्षण न कर अवघ्राण मात्र करें। अन्वाहार्य दक्षिणा दान दे[७]।

यजमान के पितृ, पितामह और प्रपितामह के निमित्त अवनेजन करे[८]। हवि का पिण्ड बनाकर पिण्डदान करे[९]। सब कोई सव्य करें। यजमान सहित सब ऋत्विज लोग पीछे न देखते हुए आहवनीय के निकट जाकर आहवनीय का उपस्थान करें[१०]। पुनः अपसव्य करके पितृवेदि के पास लौटें। पहले किये हुए अवनेजन की तरह प्रत्यवनेजन करें[११]। सब लोग यजमान के पितरों

---

१. पितृभ्यः सोमवद्भ्यः षट्कपालः। का० श्रौ० ५.८.९।
छ कपालों के उपधान का क्रम कपाल के चित्र में देखें।

२. अथ पितृभ्यो बर्हिषद्भ्योऽन्वाहार्यपचने धानाः कुर्वन्ति ततोऽर्द्धाः पिंषन्ति। श० ब्रा० २.५.२.५।

३. अथ पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्यो निवान्यायै दुग्धे सकृदुपमथित एकशलाकया मन्थो भवति। श० ब्रा० २.५.२.६।

४. पितृभ्यः सोमवद्भ्यः, पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः, पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्यः। का० श्रौ० ५.८.९-१२।

५. हविर्भिश्चरिष्यन्तः। का० श्रौ० ५.९.२-७। इस याग में ओ३म् स्वा३धा आश्रावण और अस्तु स्वा३धा प्रत्याश्रावण होता है। दे० प० पृ० १७८।

६. सस्विष्टकृत्। का० श्रौ० ५.९.८।

७. अन्वाहार्यं दक्षिणाम्। दे० प० पृ० १७९।

८. पित्रवनेजनं परिषिच्य। का० श्रौ० ५.९.१३।

९. यथावनिक्तं पिण्डान् ददाति। का० श्रौ० ५.९.१४।

१०. आहवनीयमुपतिष्ठन्ते। का० श्रौ० ५.९.१६।

११. अवनेज्य पूर्ववत्प्रदक्षिणम्। का० श्रौ० ५.९.१९।

को नमस्कार करें[1] । शंयुवाक पर्यन्त शेष विधि करे[2] । व्रत विसर्जन करे । हवि के शेष का जल में प्रक्षेप करे[3] । यदि जीवत्पितृक अग्निहोत्री पित्र्येष्टि करे तो पितामह से प्रारम्भ करके पिण्डदान करना चाहिए[4] ।

त्र्यम्बकेष्टि

पित्र्येष्टि के अनन्तर त्र्यम्बकेष्टि की जाती है । यह साकमेधपर्व के अङ्गस्वरूप होती है । इसी इष्टि की समाप्ति से साकमेधपर्व की समाप्ति होती है । इस इष्टि के अनुष्ठान में उत्तर को पूर्व दिशा मानकर होता है[5] । यह याग चौराहे पर किया जाता है ।

कार्यकलाप

सङ्कल्प
पात्रासादन
पुरोडाशनिर्माण
चतुष्पथगमन
अग्निस्थापन
प्रधानयाग
चूहे के बिल में पुरोडाश प्रक्षेप
ऋत्विजों द्वारा अग्नि की परिक्रमा
पतिकामा कन्या द्वारा अग्नि की परिक्रमा
यज्ञशाला में प्रत्यागमन

सामग्री

यजमान की प्रजा सङ्ख्या से एक अधिक कपाल हविर्द्रव्य
मध्यमपलाशपत्र
महापात्री
दण्ड १
सिकहर २

---

१. अञ्जलिं करोति षड् वा नमस्कारान् । का० श्रौ० ५.९.२० ।
२. शंय्वन्तं भवति । का० श्रौ० ५.९.२८ ।
३. अप्सु प्राश्यं वा । का० श्रौ० ५.९.३१ ।
४. जीवत्पितृकस्य महापितृयज्ञे पितुः पित्रादिभ्य एव पिण्डदानं करोति ।
उद्वाहे पुत्रजनने पित्र्येष्ट्यां सौमिके मखे ।
येभ्य एव पिता दद्यात् तेभ्यो दद्यात्सुतः स्वयम् ।। दे० प० पृ० १८१ ।
५. उदङ्मुखः सर्वम् । का० श्रौ० ५.१०.३ ।

देवता और हविर्द्रव्य

रुद्र	एककपाल	पुरोडाश

अध्वर्यु पात्रासादन करे। हविर्ग्रहण करे। यजमान की सन्तति की सङ्ख्या से एक पुरोडाश अधिक तैयार करे[१]। दक्षिणाग्नि में-से अग्नि ले। अन्य सामग्री ले। यजमान, पत्नी और ऋत्विज याग के निमित्त चौराहे पर जायँ। अग्निस्थापन करे। समिदाधान करे। एक पुरोडाश छोड़कर शेष पुरोडाशों के उत्तरीय अंश के अवदान को लेकर रुद्र के निमित्त याग करे। यहाँ मध्यम पलाशपत्र से आहुति दी जाती है[२]। सुरक्षित एक पुरोडाश को चूहे के बिल में छोड़े। सब कोई दाहिने हाथ से बायीं जंघा को बजाते हुए अग्नि की तीन परिक्रमा करें। पुनः दाहिनी जङ्घा को बजाते हुए तीन परिक्रमा करें[3]। यदि यजमान की कन्या पतिकामा हो तो वह भी अग्नि की परिक्रमा करे। याग से अवशिष्ट पुरोडाशों को यजमान ऊपर उछाल कर हाथ में लोके। साथ में लाये हुए दण्डे के दोनों छोर पर दो सिकहर बांधे। तराजू जैसा बनाकर दोनों सिकहरों में सब पुरोडाशों को रखे[४]। उसे अश्वत्थ के वृक्ष में लटकावे। पीछे न देखते हुए सब कोई वापस लौटें। दरवाजे पर हाथ-पैर धोकर यज्ञशाला में प्रविष्ट हों। एक सौ ब्राह्मणभोजन का सङ्कल्प करे। यजमान ऐच्छिक वपन करावे।

साकमेधपर्व समाप्त।

: ४ :

शुनासीरीयपर्व

चातुर्मास्य याग का चौथा और अन्तिम पर्व शुनासीरीय संज्ञक है। इस चातुर्मास्य याग के अनुष्ठान के दो पक्ष हैं[५]। पहला उत्सर्गपक्ष और दूसरा आवृत्तिपक्ष कहा जाता है। एक बार चातुर्मास्ययाग करके पुनः न करना यह उत्सर्ग पक्ष है। इस पक्ष में साकमेध पर्व करके[६] दूसरे

---

१. यावन्तो यजमानगृह्या एकाधिकान्। का० श्रौ० ५.१०.१।
त्रैयम्बकानेककपालानेकातिरिक्तान्। बौ० श्रौ० ५.१६।

२. पलाशपत्रमध्यमेन होमः। का० श्रौ० ५.१०.७।

३. अग्निं त्रिः परियन्ति। का० श्रौ० ५.१०.१३।

४. वेणुनिर्मितभाजनद्वययुक्तो दण्डविशेषो वीवधापरपर्यायः कुप इति भावः। इति माधवाचार्यः। दे० प० पृ० १८४।

५. उत्सर्गपक्षे साकमेधसमनन्तरम्। दे० प० पृ० १८५।

६. शुनासीरीयमतः। का० श्रौ० ५.११.१। अथातश्चतुर्षु मासेषु शुनासीरीय-हविभिर्यक्ष्यमाणो भवति। बौ० श्रौ० ५.१८।

तीसरे या चौथे दिन अथवा मार्गशीर्ष, पौष या माघ की पूर्णिमा को शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान करना चाहिए[1]।

दूसरे आवृत्ति पक्ष में पर्वों की आवृत्ति यावज्जीवन करते रहने का प्रकार है। इस पक्ष में प्रथम चातुर्मास्य के शुनासीरीय पर्व को फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को करके दूसरे दिन चैत्र कृष्ण प्रतिपदा को द्वितीय चातुर्मास्य के वैश्वदेव पर्व को करे। किसी भी पक्ष का आश्रय करने पर शुनासीरीय पर्व करने पर ही चातुर्मास्य याग की साङ्गता होती है।

कार्यकलाप

ऋत्विजों का वरण
पात्रासादन
हविर्निर्माण
पञ्चप्रयाज
आज्यभाग
प्रधानयाग
स्विष्टकृद्याग
हवि:शेषप्राशन
दक्षिणादान
अनुयाज
प्रस्तरहोम
एक सौ ब्राह्मण भोजन सङ्कल्प

सामग्री

कपाल ८ + १२ + १२ + १ = ३३
स्थाली ३
दोहनचतुष्टय
छ बैल सहित एक हल
इध्मा
कुशप्रस्वप्रस्तर
पुरोडाशपात्री ४
शेष पौर्णमासयागवत्

---

१. यदेच्छेत्। का० श्रौ० ५.११.२। साकमेधैरिष्ट्वान्वक्षं शुनासीर्यम्। माघ्यां वा पौर्णमास्याम्। शां० श्रौ० ३. १८,१७-१८।

द्रव्य और देवता

अग्नि	आठकपाल	पुरोडाश
सोम		चरु
सविता	बारहकपाल	पुरोडाश
सरस्वती		चरु
पूषा		पिष्टचरु
शुनासीर[1]	द्वादशकपाल	पुरोडाश
वायु[2]		यवागू[3]
सूर्य[4]	एककपाल	पुरोडाश

यागविधि

यजमान सङ्कल्पपूर्वक अन्वाधान करे। ऋत्विजों का वरण करे। अध्वर्यु पात्रासादन करके याग का प्रारम्भ करे। हविर्ग्रहण और हविर्निर्माण करे। वायु देवता के लिए यवागू का पक्ष ग्रहण किया हो तो सब हवि के साथ उसे भी तैयार करे। पय का पक्ष ग्रहण किया हो तो क्रमप्राप्त वायु के याग का समय आने पर दोहन करे[5]। वेदि का संस्कार करके बर्हिरास्तरण करे। वेदि में हवि का आसादन करे। पञ्चप्रयाज करे। अग्नि और सोम का आज्य से याग करे। प्रधान याग करे। सूर्य का उपांशु और पूरे पुरोडाश का याग करे। स्विष्टकृद्याग करे। यथासमय दक्षिणा का दान करे[6]। अनुयाज से कर्मापवर्गान्त तक का कृत्य करे। एक सौ ब्राह्मण भोजन का सङ्कल्प करे।

शुनासीरीय पर्व समाप्त।

पञ्चाहिक चातुर्मास्ययाग

पहले समय को प्रधान मानते हुए चातुर्मास्य के तीन पक्ष कहे हैं। उनमें-से सांवत्सरिक चातुर्मास्य का विवरण ऊपर कहा जा चुका है। दूसरा पक्ष पाँच दिनों में होने वाला पञ्चाहिक चातुर्मास्य याग का है[7]। इस पक्ष में फाल्गुन शुक्ल एकादशी को वैश्वदेव पर्व किया जाता है। उसी दिन वैश्वदेव पर्व के अनन्तर दूसरे दिन अनुष्ठीयमान वरुण प्रघासपर्व के निमित्त

---

१. शुनासीराभ्यां द्वादशकपाल:० । का० श्रौ० ५.११.४ ।

२. वायव्यं पयः । का० श्रौ० ५.११.५ ।

३. यवागूर्वा । का० श्रौ० ५.११.१० ।

४. सौर्य एककपालः । का० श्रौ० ५.११.११ ।

५. वायोः पयो हविःपक्षे इदानीं दोहः । दे० प० पृ० १८७ ।

६. सीरं षड्योगं दक्षिणा । का० श्रौ० ५.११.१२ ।

७. पञ्चाहिकानि पठ्यन्ते । दे० प० पृ० १९५ ।

करम्भपात्र का निर्माण करे। साथ ही उत्तरवेदि को आच्छादित करने तक का कृत्य करे। दूसरे दिन वरुणप्रघास पर्व का अनुष्ठान करे। तीसरे दिन अनीकवतीष्टि, सान्तपनीयेष्टि और गृहमेधीयेष्टि करे। चौथे दिन दर्विहोम से साकमेधपर्व की समाप्ति तक का कृत्य करे। पाँचवें दिन शुनासीरीय पर्व का कृत्य करे। इस पक्ष में भी देवता, हवि, दक्षिणा और ब्राह्मण भोजन प्रभृति कार्य प्रथमपक्ष के अनुसार ही किये जाते हैं।

ऐकाहिक चातुर्मास्ययाग

तृतीय पक्ष ऐकाहिक चातुर्मास्य याग का कहा है[1]। प्रथम और द्वितीय पक्ष की तरह इसमें भी ऋत्विजों की सङ्ख्या उतनी ही रहती है। वरुणप्रघास पर्व का कृत्य अधिक होने के कारण वरुणप्रघास के तन्त्र से ही पूरे याग की विधि की जाती है। चातुर्मास्य याग के समस्त हवि और देवता उतने ही रहते हैं। आहुतियों में भी न्यूनता नहीं होती। दक्षिणादान के समय पूरी दक्षिणा का दान एक साथ होता है। अपराह्ण के समय पित्र्येष्टि की जाती है। उसके बाद त्र्यम्बकेष्टि होती है। अवशिष्ट कृत्य समाप्त करके वाजिन याग होता है। समस्त कृत्य के अन्त में जलाशय पर जाकर अवभृथेष्टि होती है। अन्त में चार सौ ब्राह्मण भोजन कराना अनिवार्य होता है। इस ऐकाहिक चातुर्मास्य याग को ऐष्टिक ऐकाहिक चातुर्मास्य याग कहते हैं।

पाशुक चातुर्मास्य याग

ऊपर चातुर्मास्य याग के तीन पक्ष कहे हैं। उनमें से हविर्द्रव्य से विहित चातुर्मास्य का विवरण अब तक कहा जा चुका है। दूसरा पक्ष पाशुक चातुर्मास्य याग का है। इस पक्ष में पुरोडाश प्रभृति हविर्द्रव्य के स्थान पर हविर्द्रव्य स्वरूप पशु का विधान कहा है। इसमें एकादश प्रयाज और एकादश अनुयाज किये जाते हैं। प्रथम वैश्वदेव पर्व में वैश्वदेव पशु का विधान है[2]। द्वितीय वरुणप्रघास पर्व में वारुण पशु करना चाहिए[3]। तृतीय साकमेध पर्व के महाहवि में माहेन्द्रपशु[4] और चतुर्थ शुनासीरीय पर्व में शुनासीरीयपशु हविर्द्रव्य होता है[5]। इसमें भी पशुयाग के साथ हविर्द्रव्य करना और अलग से करना इन भेदों को मान कर तीन पक्ष कहे हैं। प्रथम पक्ष में पुरोडाश याग के साथ पाशुकयाग किया जाता है। द्वितीय पक्ष में पहले पशुयाग करके तब पुरोडाश याग करना कहा है[6]। तृतीय पक्ष में पर्व के अन्त में पृथक् रूप से अथवा एक साथ पुरोडाश किये जाते हैं[7]।

---

१. ऐकाहिकान्यैष्टिकानि चातुर्मास्यानि। दे० प० पृ० १९९।
२. फाल्गुन्युपवसथे शुनासीरीयं प्रातर्वैश्वदेवम्। का० श्रौ० ५.११.१८।
 पशुमत्सु चातुर्मास्येषु। शां० श्रौ० १४.१०.१।
३. वरुणप्रघासेषु वारुणः। का० श्रौ० ५.११.२७।
४. महाहविषि माहेन्द्रः। का० श्रौ० ५.११.२८।
५. शुनासीराभ्यां चतुर्थः। का० श्रौ० ५.११.२९।
६. पुरस्ताद्वा पर्वणः। का० श्रौ० ५.११.३०।
७. पर्वणोऽन्ते वा। का० श्रौ० ५.११.३०।

सौमिक चातुर्मास्य याग

पहले निर्दिष्ट तीन पक्षों में से तृतीय पक्ष सौमिक चातुर्मास्य याग का है। इस सौमिक चातुर्मास्य याग पक्ष में चारों पर्वों के स्थान में तथाकथित सोमयाग का अनुष्ठान किया जाता है[१]। चातुर्मास्य याग के प्रथम वैश्वदेवपर्व के स्थान पर अग्निष्टोमयाग करना चाहिए[२]। द्वितीय वरुणप्रघास नामक पर्व के स्थान पर दो याग किये जाते हैं[3]। प्रथमदिन अग्निष्टोमसंस्थ या उक्थसंस्थयाग करके दूसरे दिन उक्थसंस्थयाग करना कहा है। तृतीय साकमेधपर्व में प्रथमदिन अग्निष्टोमसंस्थ या षोडशीसंस्थ याग किया जाता है[४]। दूसरे दिन उक्थसंस्थ और तीसरे दिन अतिरात्र संस्थ याग करना चाहिए। चतुर्थ शुनासीरीय पर्व की जगह ज्योतिष्टोम याग करे[५]। इसप्रकार सौमिक चातुर्मास्य याग सात दिनों में सोमयाग करके सम्पन्न किया जाता है। सातों दिन क्रमशः वैश्वदेव, वारुण, मारुत, आग्नेय, ऐन्द्राग्न, ऐकादशिन और वायव्यपशु का आलभन करे[६]। पर्व की समाप्ति करके प्रत्येक पर्व के अन्त में अवभृथयाग करना चाहिए।

चातुर्मास्य याग के दो पक्ष

इसके सिवाय भी चातुर्मास्य याग के दो पक्ष कहे हैं। वे हैं, आवृत्ति पक्ष और उत्सर्ग-पक्ष। आवृत्तिपक्ष में चातुर्मास्ययाग के चारों पर्वों का अनुष्ठान करके पुनः पूर्ववत् उनका

---

१. पशुमत्सु चातुर्मास्येषु। पूर्वेद्युः पाशुकं कर्म। अपरेद्युर्वैश्वदेवः पशुः।
शां० श्रौ० १४.१०.१-३।
चातुर्मास्याः सोमास्त्रिषु पर्वस्थानेषु पार्ष्ठिकानि पृष्ठ्यानि विहृत इति श्रुतेः।
का० श्रौ० २२.७.१।

२. वैश्वदेवस्थाने प्रथमम्। का० श्रौ० २२.७.२।
वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत। शां० श्रौ० १४.७.१।

३. द्वितीये द्विदिवाख्यो द्व्यहः। का० श्रौ० २२.७.६।
वरुणप्रघासः सोमः। तत्र द्विदिवसंज्ञको द्व्यहो भवति।
दे० प० पृ० ७३७।
प्रजापतिः०। तेनेष्ट्वावरुणमप्रीणात्। शां० श्रौ० १४.७.१।

४. तृतीये त्र्यहोऽतिरात्र उत्तमः। का० श्रौ० २२.७.८।
तत्र पार्ष्ठिकानि त्रीण्यहान्युत्तराणि। दे० प० पृ० ७३८।
प्रजापतिश्चतुर्थे मासि त्रिरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्साकमेधम्। शां० श्रौ० १४.८.१।

५. ज्योतिष्टोमः शुनासीरीयस्थाने। का० श्रौ० २२.७.१०।
प्रजापतिर्यज्ञक्रतुमपश्यच्छुनासीरीयम्। शां० श्रौ० १४.९.१।

६. पञ्चसु सवनीया वैश्वदेववारुणमारुताग्नेयैन्द्राग्नाः षष्ठे चैकादशिनाः। वायव्यः सप्तमे।
का० श्रौ० २२.७.११-१३।

आवर्त्तन किया जाता है[1]। फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशी को प्रथम चातुर्मास्य याग का शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान समाप्त करके फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को द्वितीय चातुर्मास्य याग के वैश्वदेवपर्व का अनुष्ठान करना चाहिए[2]। इसप्रकार यावज्जीवन चातुर्मास्य याग का आवर्त्तन करता रहे। दूसरा पक्ष उत्सर्गपक्ष के नाम से प्रसिद्ध है[3]। इसमें शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान करने के बाद अग्निष्टोमसंस्थ ज्योतिष्टोम याग करके चातुर्मास्य याग का अनुष्ठान बन्द कर दे। इस द्वितीय पक्ष के आश्रयण करने पर पुनः उसे चातुर्मास्य याग के पर्वों की आवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है[4]। इसतरह उपर्युक्त प्रकार से अङ्गसहित, सविधि, चातुर्मास्य याग का अनुष्ठान करने से स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है[5]।

●

---

१. अथ पुनरालभमानस्य फाल्गुन्याश्चतुर्दश्यां शुनासीरीयेणेष्ट्वा। आप० श्रौ० ८.२१.६।
पूर्वेद्युः फाल्गुन्यै पौर्णमास्यै शुनासीर्येण यजेताथ प्रातर्वैश्वदेवेन। श० ब्रा० २.५.४.१३।
आवृत्तिरनीजानस्य, फाल्गुन्युपवसथे शुनासीरीयं प्रातर्वैश्वदेवम्। का० श्रौ० ५.११.१७-१८।

२. अथ यच्छुनरासीरं यजति। गो० ब्रा० उत्त० १.२६।

३. चातुर्मास्यैरिष्ट्वा सोमेन पशुना वा यजेत। आप० श्रौ० ८.२१.२।
सोमेनोत्सर्गः पशुनेष्ट्या वा। शां० श्रौ० ३.१८.१९।
फाल्गुनी पौर्णमास्यभिपर्येयात्। श० ब्रा० २.५.४.१२।

४. चातुर्मास्य में प्रयुक्त मन्त्र। कपि० सं० ८.८.१०।

५. चातुर्मास्यानि स्वर्गकामस्य। वै० श्रौ० ४३.३०।

पञ्चमाध्याय

हविःसंस्था

निरूढपशुबन्धयाग : फल और स्थान....ऋत्विज....वेदिनिर्माण.... ।

काम्यपशुयाग : विभिन्न कामनाओं से पशुयाग के अनुष्ठान ।

सौत्रामणीयाग : ऐन्द्रपश्वनुष्ठान....वेदिद्वयनिर्माण....प्रधानयाग....आसन्दीस्थापन । आदित्येष्टि का अनुष्ठान ।

निरूढपशुबन्धयाग

यह वह श्रौतकृत्य है, जिसमें पाशुक हवि होता है। इसका अनुष्ठान प्रतिवर्ष वर्षाऋतु में करना चाहिए[1]। श्रावण और भाद्रपद मास के चार पर्वों में से किसी एक पर्व के दिन इसे करना विहित है। अथवा अयनारम्भ के दिन भी इसे कर सकते हैं। एक वर्ष में दक्षिणायन और उत्तरायण संज्ञक दो अयन होते हैं। इन दो में से किसी एक अयनारम्भ के दिन इसका अनुष्ठान करने का विधान है[2]। आहिताग्नि को इसका अनुष्ठान एक वर्ष में एक बार अथवा दो बार करना चाहिए। यह इष्टि और यज्ञ उभयात्मक है[3]।

फल और स्थान

आहिताग्नि जिस लोक का विजयी अश्वमेध याग करने से होता है, उसी लोक का विजयी इस पशुबन्ध याग के अनुष्ठान से होना बतलाया है[4]। इस याग का विहार अपने निवासभवन में ही बनाना चाहिए[5]। चातुर्मास्य के विहार से इसके विहार में कुछ भेद अवश्य है। उसका कारण यह है कि इस याग में पाशुकविधि विहित है। तन्निमित्तक यूप अपेक्षित होता है। इसीलिए विहार में कुछ भेद अवश्य है।

देवता और हविर्द्रव्य

इन्द्राग्नी, सूर्य और प्रजापति इन तीन देवताओं में से किसी एक को इस याग का प्रधान देवता मानना चाहिए[6]। हविर्द्रव्य के स्थान पर अज का ग्रहण होता है।

ऋत्विज

चातुर्मास्ययाग में पाँच ऋत्विज कहे हैं। यहाँ छठा मैत्रावरुण संज्ञक एक और ऋत्विज भी होना चाहिए[7]।

---

१. पश्विज्या संवत्सरे संवत्सरे प्रावृषि। का० श्रौ० ६.१.१।

२. य एतमैन्द्राग्नं पशुं षष्ठे षष्ठे मासि आलभते। गो० ब्रा० उत्त० २.१।
आवृत्तिमुखयोर्वा। का० श्रौ० ६.१.२।

३. इष्टिः पशुबन्धा महायज्ञा इति। तस्य प्रयाजा एव प्रातःसवनम्। अनुयाजास्तृतीयसवनम्। पुरोडाश एव माध्यन्दिनं सवनम्। श० ब्रा० ११.४.८. २-३।

४. यावन्तमश्वमेधेनेष्ट्वा लोकं जयति तावन्तमेतेन जयति। श० ब्रा० ११.४.१३.५।
सर्वान् लोकान् पशुबन्धयाज्यभिजयति। आप० श्रौ० ७.१.१।

५. गृहेषु। का० श्रौ० ६.१.३। यमेतमाहवनीयात्प्राञ्चं प्रणयन्ति स प्रहृतः। प्रहार्येऽग्नौ पशुबन्धेन यजेत। श० ब्रा० ११.४.१२.१।

६. इन्द्राग्नीदेवतो वा सूर्यदेवतो वा, प्रजापतिदेवतो वा। दे० प० पृ० २०४।
प्राजापत्य एवैष पशुः, सौर्य एवैष पशुः, ऐन्द्राग्न एवैष पशुः। श० ब्रा० ११.४.१३.१-३।

७. ब्रह्मा होताध्वर्युर्मैत्रावरुणः प्रतिप्रस्थाताग्नीध्रश्च। दे० प० पृ० २०४।

कार्यारम्भ

यदि आहिताग्नि का यह प्रथमयाग हो तो मातृपूजन, आभ्युदयिक श्राद्ध करना चाहिए[1]। प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व इसका प्रारम्भ करना चाहिए[2]। यजमान सङ्कल्प करके ऋत्विजों का वरण करे। वरण के अनन्तर यथाशक्ति उनका अर्चन करे। आहवनीय और दक्षिणाग्नि पर अग्नि का उद्धरण करे।

यूप लेने जाने से पूर्व आज्य से आहवनीय में आहुति करे। पालाशवृक्ष को सविधि काटकर एक या चार अरत्नि का यूप बनावे[3]। इस पशुबन्धयाग की प्रकृति अग्निष्टोम याग विहित अग्नीषोमीय पशुविधि है। अतएव पाशुक कृत्य का विवरण वहीं पर देखना चाहिए।

---

१. प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं कृत्वा। दे० प० पृ० २०४।

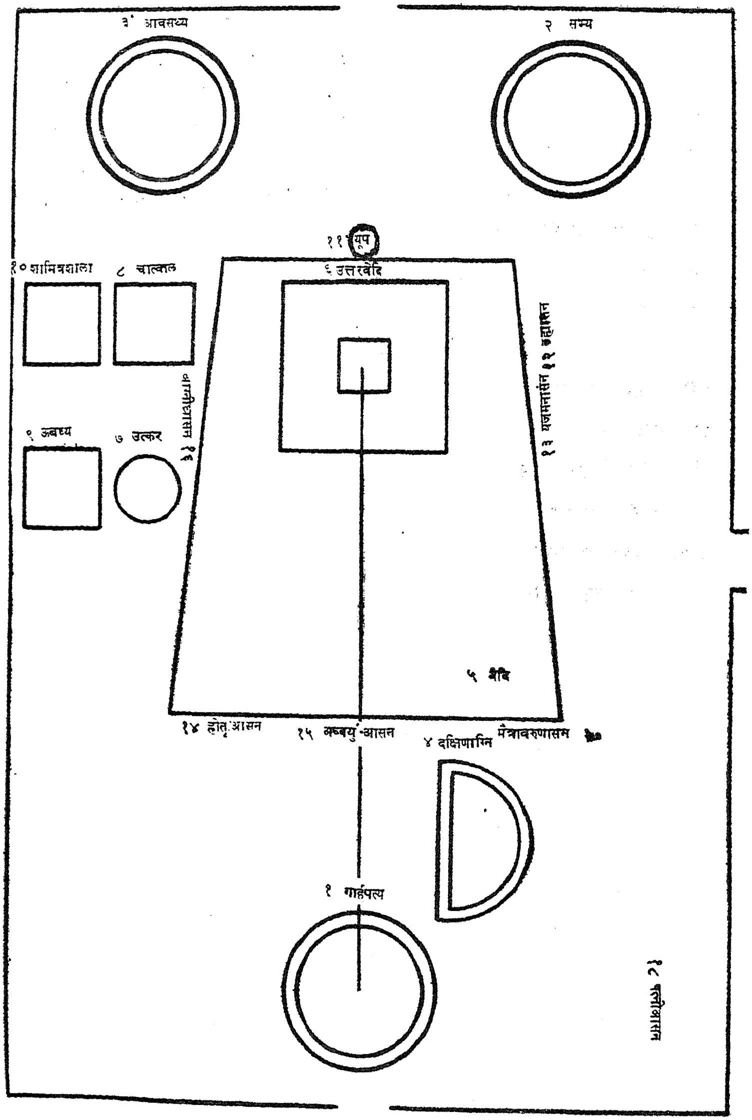
२. सान्नाय्यविकारत्वादनुदिते प्रारम्भः। दे० प० पृ० २०४।

३. एकारत्निं यूपं० कुरुते। चतुररत्निर्वा। श० ब्रा० ११.४.१०.१।

निरूढपशुबन्धविहार विवरण

१. गार्हपत्य दर्शपूर्णमासविहारवत्
२. सभ्य ,,
३. आवसथ्य ,,
४. दक्षिणाग्नि ,,
५. वेदि चातुर्मास्ययागवत्
६. उत्तरवेदि ,,
७. उत्कर ,,
८. चात्वाल ,,
९. ऊवध्य अर्थपरिमाण
१०. शामित्र ,,
११. यूप
१२. ब्रह्मासन
१३. यजमानासन
१४. होत्रासन
१५. अध्वर्यु का आसन
१६. आग्नीध्रासन
१७. मैत्रावरुणासन
१८. पत्नी का आसन

निरूढपशुबन्धयागविहार



वेदिनिर्माण

इस वेदि का निर्माण प्रायः चातुर्मास्य याग की वेदि के समान होता है[1] । वेदि निर्माण के समय पाशुक कृत्य मूलक शामित्र शाला भी बनानी चाहिए । उत्तरवेदि पर अग्निस्थापन करे[2] । वेदि निर्माण के अनन्तर यूपसंस्कार करे । इन्द्राग्नी देवता के निमित्त यूप में पशुनियोजन करे । पशु का संस्कार करके उपाकरण करे[3] । अध्वर्यु होता का वरण करे । यजमान के पैर से मुख तक लम्बा एक दण्ड मैत्रावरुण को दे । दशमप्रयाज करके शास लाने का प्रैष करे । पशु को शामित्र शाला में ले जाने से वपा निष्कासन तक का अनुष्ठान सम्पन्न करे ।

प्रधानयाग

वपायाग करके चात्वाल पर मार्जन करे । अङ्गनिष्कासन से वेदि में अङ्गासादन तक का कृत्य करे । अङ्गावदान से प्रधानयाग करे । शामित्रशाला से अग्नि को लाकर उत्तरवेदि की श्रोणी पर रखे[4] । समुद्र और अन्तरिक्ष प्रभृति के निमित्त आहुति करे । अनुयाज के अनन्तर यूपोत्पाटन करके स्वरुहोम करे[5] । गार्हपत्य में जाघनी से पत्नीसंयाज करके दक्षिणाग्नि में आहुति करे[6] । बर्हिहोम करके हृदयशूल को गाड़ने के निमित्त नदी पर जाय[7] । इस याग में हृदयशूल को गाड़ना ही अवभृथयाग है[8] ।

हृदयशूलावगूहन

नदी के तट पर सूखी और गीली मिट्टी के सन्धिस्थान में हृदयशूल को गाड़े[9] । वापस विहार पर आकर यजमान आहवनीय में और पत्नी गार्हपत्य में समिदाधान करे । अध्वर्यु प्रणीताविमोक प्रभृति शेष विधि की समाप्ति करे । यजमान एक सौ ब्राह्मणभोजन का सङ्कल्प करे[10] । अध्वर्यु को यथाशक्ति दक्षिणा दे[11] ।

---

१. वेदिं करोति । का० श्रौ० ६.२.१ ।

२. उत्तरवेदिं निष्पादयति । दे० प० पृ० २०८ । एष पशुबन्धस्याहवनीयो यतः प्रणयति स गार्हपत्यः । आप० श्रौ० ७.७.३ ।

३. उपाकरणं स्पर्शनं शाखया तृणाभ्यां च । आप० श्रौ० भा० ७.१२.७ ।

४. शामित्रादङ्गारानाहृत्य वेदिश्रोण्यां निवपत्युत्तरस्याम् । का० श्रौ० ६.९.८ ।

५. अनुयाजान्ते स्वरुं जुहोति । का० श्रौ० ६.९.१२ ।

६. जाघनीमग्नीदादाय पत्नीसंयाजार्थं गार्हपत्यं गच्छन्ति । दे० प० पृ० २२८ ।

७. बर्हिर्हुत्वापो गच्छन्ति । का० श्रौ० ६.१०.१ ।

८. यत् हृदयशूलेन चरन्ति स हैतस्यावभृथः । श० ब्रा० ११.४.८.७ ।

९. शुष्कार्द्रसन्धौ० हृदयशूलमुपगूहति । दे० प० पृ० २२९ ।

१०. अस्य निरूढपशोः समृध्यर्थं यथासम्पन्नेनान्नेन तृप्तिपर्यन्तेन भोजनपर्याप्तेन शतं ब्राह्मणानहं भोजयामि । दे० प० पृ० २३० ।

११. यथोत्साहं दद्यादस्याम् । का० श्रौ० ६.१०.१३ ।

काम्यपशुयाग

कुछ पशुयाग भी इस प्रकार के विहित हैं, जो किसी कामना विशेष से किये जाते हैं। इनका विधान पशुबन्ध याग के सदृश होता है। उदाहरण के लिए कुछ यहाँ दिखलाये जाते हैं।

इन्द्रियकामना

इन्द्रिय की कामना हो तो इन्द्र मरुत् देवता के निमित्त लाल पशु का आलभन करना चाहिए[1]।

पशुकामना

पशु की अभिलाषा से प्रजापति देवता के लिए अनेकवर्ण के पशु का आलभन करे[2]।

प्रजा-पशु-कामना

प्रजा अथवा पशु की कामना हो तो अवि (मेषी) का आलभन करे[3]।

ब्रह्मवर्चस् कामना

ब्रह्मवर्चस् की इच्छा हो तो सूर्य देवता के निमित्त श्वेत पशु का आलभन करे[4]।

भूतिकामना

ऐश्वर्य की कामना हो तो वायुदेवता के निमित्त श्वेतपशु का आलभन करने का विधान है[5]।

वृष्टिकामना

वृष्टि की आवश्यकता हो तो मित्रावरुण देवता के निमित्त दो वर्ण के पशु का आलभन करना चाहिए[6]।

शत्रुनाश कामना

शत्रु के विनाश की कामना हो तो विष्णु देवता के लिए वामनपशु का आलभन करे[7]।

सौत्रामणीयाग

'सुत्राम्ण इयं सौत्रामणी' इस व्युत्पत्ति से इन्द्र देवता के निमित्त विधीयमान याग को सौत्रामणीयाग कहते हैं[8]। उपर्युक्त सात हविःसंस्था में-से यह एक हविःसंस्था है। इस याग

---

१. ऐन्द्रमरुणमालभेतेन्द्रियकामः। तै० सं० २.१.६।

२. प्राजापत्यं बहुरूपमालभेत पशुकामः। मै० सं० २.५.११।

३. यः प्रजाकामो वा पशुकामो वा स्यात्स एतामविं वशामालभेत। मै० सं० २.५.२।

४. सौर्यं वलक्षं पेत्वमालभेत ब्रह्मवर्चसकामः। मै० सं० २.५.११।

५. वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः। तै० सं० २.१.१।

६. मैत्रावरुणीं द्विरूपामालभेत वृष्टिकामः। तै० सं० २.१.७।

७. यः सपत्नवान् भ्रातृव्यवान् वा स्यात् स एतं वामनं वैष्णवमालभेत। मै० सं० २.५.३।

८. सुत्रामा गोत्रभिद्वज्रीत्यमरः। स्व० व० ४२।

के उद्दिष्ट देवताओं में प्रधान देवता इन्द्र हैं। अतः इसे इन्द्रयाग भी कहते हैं। स्वतन्त्र और किसी अन्य याग के अङ्गभूत होने के कारण इसके दो भेद हैं। अङ्गरूप में इसे अग्निचयन याग का अङ्ग कहा है।

पुनः नित्य, नैमित्तिक और काम्य इन भेदों से इसके और तीन प्रकार होते हैं। किसी विशेष उद्देश्य से रहित जो अनुष्ठीयमान होता है, वह नित्य है। उसी की गणना सात हविः-संस्था में की गयी है। सोम के वमन होने पर जो किया जाता है, वह नैमित्तिक सौत्रामणी याग कहा जाता है। जब ऋद्धिरूप फल प्राप्ति की आकाङ्क्षा से इसका अनुष्ठान होता है तब काम्य सौत्रामणी याग कहा गया है। उस स्थिति में इसे ब्राह्मणयज्ञ कहते हैं[१]। इसका कोकिल सौत्रा-मणी नामक एक और प्रकार है। चरक सौत्रामणी यह भी एक प्रकार कहा है[२]।

शतपथ ब्राह्मण में सौत्रामणी याग को यज्ञ शरीर का आत्मा कहा है[3]। सौत्रामणी याग के प्रारम्भ और अन्त में होने वाले ऐन्द्र और वयोधस पशुयाग को यज्ञ शरीर के दो बाहु का स्वरूप दिया है। इस याग में तीन पशु का आलभन होता है। अश्वि देवता के निमित्त अज, सरस्वती के लिए वृषभ स्थानापन्न मेषी और इन्द्र के लिए वृषभ का विधान है[४]। कलि में वर्ज्यं होने के कारण अज का आलभन योग्य है। कोकिल सौत्रामणीयाग में पाँच पशु कहे हैं। सौत्रामणी, इष्टि के रूप में तथा पशुबन्ध के रूप में विहित होने से यह उभयात्मक है[५]।

याग के अधिकारी एवं फल

ऋद्धि की कामना से यदि काम्य सौत्रामणी याग का अनुष्ठान करना हो तो केवल ब्राह्मणवर्ण ही कर सकता है। अग्निचयन याग के अङ्गभूत करना हो तो तीनों वर्ण के लोग कर सकते हैं[६]। सोम रस के वमन हो जाने पर प्रायश्चित्त रूप में भी इसे करने को कहा है[७]। राज्य से च्युत राजा पुनः अपने राज्य की प्राप्ति के लिए भी इसे करता है[८]। पशु सम्पत्ति की इच्छा से भी इसे करने का विधान है[९]।

---

१. तस्मादेष ब्राह्मणयज्ञ एव यत्सौत्रामणी। श० ब्रा० १२.४.३.१।
ब्राह्मणयज्ञः सौत्रामण्यृद्धिकामस्य। का० श्रौ० १९.१.१।

२. द्वे सौत्रामणी कोकिली चरकसौत्रामणी च। द्रा० श्रौ० १३.४.१४।

३. आत्मा वै यज्ञस्य सौत्रामणी बाहू ऐन्द्रश्च वयोधाश्च। श० ब्रा० १२.४.५.१६।

४. अश्विनो लोहोऽजः। सरस्वती मेषी। इन्द्राय सुत्राम्ण ऋषभः। शां० श्रौ० १५.१५.२-४।

५. उभयं वै सौत्रामणीष्टिश्च पशुबन्धश्च। श० ब्रा० १२.३.३.१२।

६. अग्निचित्सोमयाजि०। का० श्रौ० १९.१.२।

७. सोमवामिनाम्। का० श्रौ० १९.१.२।

८. राज्ञोऽपरुद्धस्य। का० श्रौ० १९.१.३।

९. अलम्पशोरपशोः। का० श्रौ० १९.१.४।

कार्यकलाप

सङ्कल्प
ऐन्द्रपश्वनुष्ठान
आदित्यचरु
वत्स दक्षिणादान
सत्यभाषण
व्रतानुष्ठान
सुराद्रव्यक्रयण
सुरानिर्माण
वेदिद्वयनिर्माण
खरद्वयनिर्माण
अग्निप्रणयन
सुरापावन
पयःपावन
पयोग्रहण
ग्रहपात्र में चूर्णप्रक्षेप
लोमप्रक्षेप
यजमानपावन
पयोग्रह, सुराग्रहसम्मर्शन
पशुत्रयालम्भन
ग्रहहोम
हुतशेषभक्षण
सुरा का अङ्गार पर प्रक्षेप
आज्यहोम
पयोहोम
पयोभक्षण
चात्वालपर मार्जन
पशुपुरोडाश
आज्यभागयाग
दक्षिणादान
पशुनियोजनादि
शामित्रानुशासन
आसन्दीस्थापन
कृष्णाजिनास्तरण

- यजमानोपवेशन
- रुक्मस्थापन
- द्वात्रिंशद्रसाग्रहहोम
- यजमानाभिषेक
- सुश्लोकाद्याह्वान
- यजमानोत्थापन
- सामगान
- वसाग्रहहोम
- स्विष्टकृत्होम
- अवभृथयागार्थगमन
- शूलोपगूहन
- शूलाभिमन्त्रण
- मासरकुम्भमज्जन
- प्रत्यागमन
- आहवनीयोपस्थान
- समिदाधान
- मैत्रावरुणीपयस्येष्टि
- वायोधसपश्वनुष्ठान
- आदित्येष्टि
- दक्षिणादान
- ब्राह्मणभोजन

सामग्री

- ऐन्द्रपशुयाग सामग्री
- आदित्येष्टि सामग्री
- सुरानिर्माणद्रव्य
- वेदिद्वयनिर्माणसामग्री
- कृष्णाजिन
- गोचर्म
- कारोतर
- वैतसपात्र
- पालाशपात्र
- गोऽश्ववालपवित्र
- अजाविलोमपवित्र
- पयोग्रहपात्र

सुराग्रहपात्र
सुराग्रहस्थाली
वृक्कलोम
व्याघ्रलोम
श्येनपत्र
शतच्छिद्रकुम्भ
सौवर्णरुक्म
राजतरुक्म
सुवर्णखण्ड
आसन्दी
पशुयागसामग्री
इध्मचतुष्टय
स्रुक्पञ्चक
पान्नेजनीसप्तक
यूपाष्टक
उखापञ्चक
मन्थनचतुष्टय
वपाश्रपणी
हृदयशूल
प्लक्षशाखा
काशमयप्रस्तर
मैत्रावरुणदण्ड
दक्षिणासामग्री
ब्राह्मणभोजन सामग्री

कार्यारम्भ

अग्निचयन का अङ्गभूत सौत्रामणी याग किया जा रहा हो तो मातृपूजन और आभ्युदयिक करने की आवश्यकता नहीं है। प्रधानभूत अग्निचयन में ये कृत्य हुए रहते हैं। प्रधान में होने से अङ्ग की गतार्थता हो जाती है। स्वतन्त्र सौत्रामणी याग का अनुष्ठान हो तो प्रारम्भ में मातृपूजन और आभ्युदयिक करे। अनन्तर सौत्रामणी याग प्रारम्भ करे। इस याग की प्रकृति पौर्णमास याग है। इसलिए इस याग का प्रधान कृत्य पौर्णमासी को होना चाहिए। यह याग चार दिनों में किया जाता है। इसका प्रारम्भ शुक्ल पक्ष की द्वादशी को करना चाहिए।

ऋत्विज

सौत्रामणी याग का अनुष्ठान ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, मैत्रावरुण और

आग्नीध्र ये छ ऋत्विज तथा यजमान और यजमानपत्नी ये आठ व्यक्ति सम्पन्न करते हैं[1]। इस याग के प्रमुख दिन दो वेदि में एक साथ कार्य होते हैं। इसीलिए प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विज भी इसमें अपेक्षित है। इसमें ब्रह्मा सामगान करता है। चातुर्मास्ययाग की अपेक्षा मैत्रावरुण नामक एक ऋत्विज इसमें अधिक होता है।

---

१. ब्रह्महोत्रध्वर्युमैत्रावरुणप्रतिप्रस्थात्रग्नीध्रः षड्ऋत्विजो वृत्वा।
दे० प० पृ० ६१२।
ऋतवो वा ऋत्विजः। षड् वा ऋतवः ऋत्विग्भिरेवर्तूनवरुन्धे।
श० ब्रा० १२.४.१.२९।

सौत्रामणीयाग विहार विवरण

१. पूर्वादित्येष्टि विहार प्रकृतिवत्
२. ऐन्द्र पशुयाग विहार निरूढपशुबन्धयाग विहारवत्
३. प्रकृतिविहार
४. त्रिपशुयागविहार

पश्चिम में दक्षिण-उत्तर		३० अरत्नि
पूर्व में	,,	२४ अरत्नि
मध्य में पश्चिम-पूर्व		३६ अरत्नि

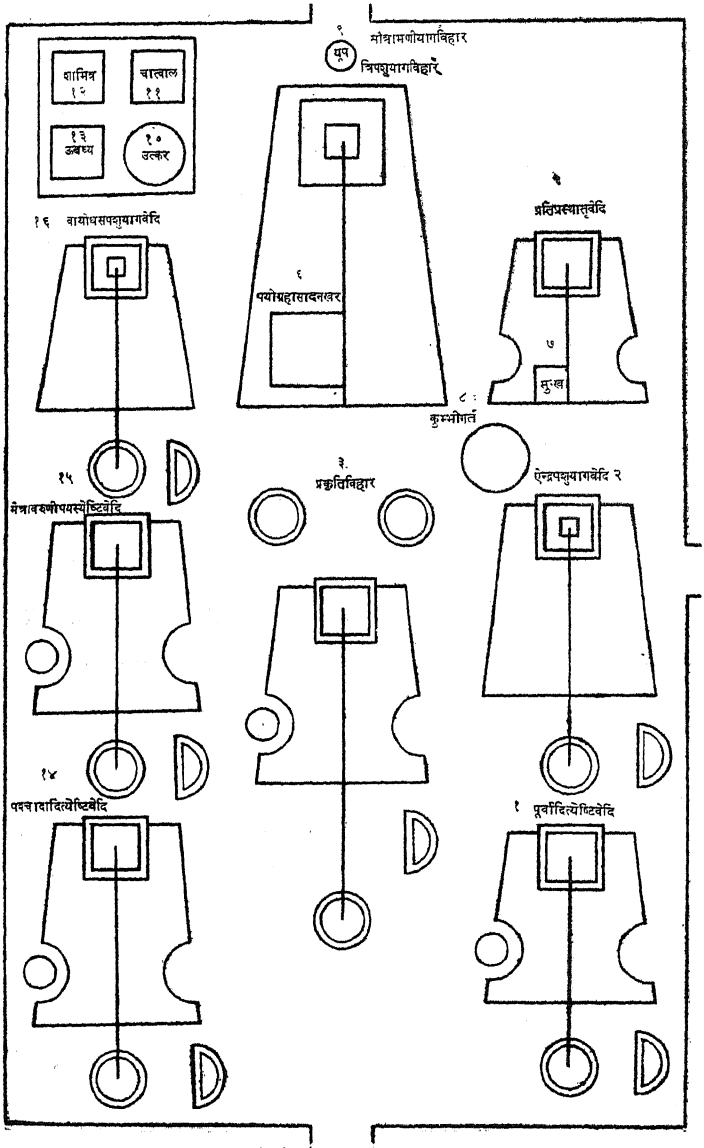
उत्तरवेदि अग्निष्टोमयागवत्

५. प्रतिप्रस्थातृवेदि वरुणप्रघासवत्
६. पयोग्रहासादनार्थ खर १ अरत्नि
७. सुराग्रहासादनार्थ खर १ अरत्नि
८. कुम्भीगर्त अर्थपरिमाण
९. यूपस्थान
१०. उत्कर
११. चात्वाल ३२ × ३२ × ४ अङ्गुल
१२. शामित्र अर्थ परिमाण
१३. ऊबध्य ,, ,,
१४. पश्चादादित्येष्टि विहार प्रकृतिवत्
१५. मैत्रावरुणीपयस्येष्टिविहार ,,
१६. वायोधसपशुयाग विहार (निरूढपशुबन्धयाग विहारवत्)

यह विहार देवयाज्ञिक के मत से है। कर्काचार्य के मत में १, १४ और १५ सङ्ख्याङ्कित वेदियों की अपेक्षा नहीं है। उनके मत से इन सङ्ख्याङ्कित विहारों में किये जाने वाले कृत्य प्रकृतिविहार में कर लिए जाते हैं।

सौत्रामणीयागविहार

(देवयाज्ञिक के मत से)



ऐन्द्रपशुयाग

सपत्नीक यजमान शुचिभूंत होकर अग्निशाला में उपस्थित हो। जिस अग्निशाला में त्रिपशुयाग किया जायेगा उससे दक्षिण वाली अग्निशाला में ऐन्द्रपशु याग का अनुष्ठान करे[1]। सङ्कल्पपूर्वक ऋत्विजों का वरण करे। आठकपाल का इन्द्र देवता का पशु पुरोडाश करे। इस इन्द्रपशु याग की समस्तविधि निरूढपशु याग के समान करे[2]।

आदित्येष्टि

ऐन्द्र पशुयाग हो चुकने पर जिस अग्निशाला में ऐन्द्रपशुयाग किया है, उससे पश्चिम की अग्निशाला[3] में आदित्येष्टि का अनुष्ठान करे[4]।

कार्यकलाप

सङ्कल्प
अग्नि का उद्धरण
ऋत्विजों का वरण
यागविधि

सामग्री

चरुस्थाली
इध्मा २०
मेक्षण
दक्षिणार्थं वत्स

सङ्कल्प और अग्न्युद्धरण के अनन्तर ऋत्विजों का वरण करे। पात्रासादन में कपाल की जगह चरुस्थाली रखे। अदिति देवता के लिए चरु तैयार करे[5]। प्रधानयाग के समय अदिति देवता के लिए चरु से याग करे। दक्षिणा के समय गौ का वत्स दक्षिणा में दे[6]। शेष विधि पौर्णमासयाग के समान सम्पन्न करे।

त्रिपशुयाग

इस त्रिपशुयाग का अनुष्ठान प्रधान अग्निशाला में करे। अग्नि का उद्धरण और अन्वाधान करे। ब्रह्मा का वरण करके नियत आसन पर बैठावे।

---

१. त्रिपशुदेशस्य दक्षिणत ऐन्द्रःपशुः कर्त्तव्यः। दे० प० पृ० ६१२।
२. निरूढवत्। दे० प० पृ० ६१२।
३. पशुदेशस्य पश्चाद्देशे आदित्येष्टिः। दे० प० पृ० ६१२।
४. ऐन्द्रपशुयाग और आदित्येष्टि के क्रम में विपर्यास भी वैधानिक है। चरुपश्वोर्विपर्यासमेके। का० श्रौ० १९.१.१७।
५. आदित्यचरुं यक्ष्यमाणो निर्वपति। श० ब्रा० १२.४.४.११।
६. वत्सं पूर्वस्यां ददाति मातरमुत्तरस्याम्। श० ब्रा० १२.४.४.११।

सुराद्रव्यक्रयण

सुराविक्रयी[1] से सीसा[2] (धातुविशेष) के बदले में शष्प (हरी व्रीहि) खरीदे। ऊन देकर तोक्म[3] (हरे जव), सूत देकर[4] लावा और गुड देकर किण्व नग्नहु—त्रिफला, सोंठ, पुनर्नवा प्रभृति प्रक्षेपद्रव्य खरीदे। बैल का चर्म बिछाकर उसपर खरीदा हुआ सब सामान रखे।

खरीदे हुए सामान को दक्षिणद्वार से यज्ञशाला में ले जाय[5]। यजमान और ब्रह्मा यथास्थान बैठें[6]। नग्नहु (औषधवर्ग) को कूटकर चूर्ण तैयार करे। शुष्म तोक्म लावा को अलग कूटकर सुरक्षित रखे। ब्रह्मा को मन्त्रोच्चारणपूर्वक आसन पर बैठावे। तत्पश्चात् पात्रासादन करे। अश्वि, सरस्वती और इन्द्रसुत्रामा इन तीन देवता के निमित्त व्रीहि और श्यामाक, हविर्ग्रहण करे[7]। हविर्द्रव्य का कण्डनादि संस्कार करे। उपसर्जनी संज्ञक जल को गरम करे। व्रीहि और श्यामाक का अलग-अलग दो पात्रों में चरु तैयार करे। इन चरुओं को अधिक पानी में विशेषरूप से पकाना चाहिए। पक जाने पर कपड़े से छान ले। उसी में कूटे हुए तोक्म और शष्प के चूर्ण को मिलावे। पके हुए चावल (चरु) को भी उसी में मिलावे[8]। गड्ढा खोदकर सुराद्रव्य की कुम्भी को तीन दिन तक गाड़ रखे[9]।

उपर्युक्त कृत्य प्रथम दिन कर लेना चाहिए। सायं अग्निहोत्र हवन स्वयं यजमान करे। हवन के अनन्तर अश्विदेवता के निमित्त एक गौ का दोहन करे। जमीन में गाड़कर रखी हुई दोनों कुम्भों (सुराकुम्भी) में दूध छोड़े[10]। अनन्तर कूटकर सुरक्षित रखा हुआ नग्नहु संज्ञक चूर्ण छोड़े। कुम्भी का मुँह ढँक दे। चतुर्दशी के दिन सरस्वती देवता के निमित्त दो गौ को दुहकर कुम्भी में दूध और चूर्ण छोड़े[11]। प्रधानयाग के निमित्त वेदि निर्माण प्रभृति कार्य करे। जिस

---

१. सुरासोमविक्रयिणः। का० श्रौ० १९.१.१८।

२. सीसेन शष्पक्रयः।

३. तोक्मानामूर्णाभिः। का० श्रौ० १९.१.१८।

४. लाजानां सूत्रैः। का० श्रौ० १९.१.८।

५. दक्षिणेन ह्वत्वा। का० श्रौ० १९.१.२०।

६. सौत्रामण्यां सुराकर्मस्वाब्राजमासीत। द्रा० श्रौ० १३.४.५।

७. अश्विभ्यां, सरस्वत्यै, इन्द्राय सुत्राम्णे। दे० प० पृ० ६१४।

८. ओदनौ चूर्णमासरैः संसृज्य। का० श्रौ० १९.१.२१।

९. तिस्रो हि रात्री। श० ब्रा० १२.३.४.६।
दक्षिणेन ह्वत्वा नग्नहुचूर्णानि कृत्वा ताश्च ब्रीहिश्यामाकादैनयोः पृथगाचामौ निषिच्य चूर्णैः संसृज्य निदधाति तन्मासरम्, त्रिरात्रं निदधाति। का० श्रौ० १९.१.२०.२२।

१०. एकस्याः पयसापाकृतेनाश्विनेन परिषिञ्चति। का० श्रौ० १९.१.२२।
एकस्यै दुग्धेन प्रथमां रात्रिं परिषिञ्चति। श० ब्रा० १२.४.१.११।

११. द्वयोर्दुग्धेन द्वितीयाम्। श० ब्रा० १२.४.१.११। सारस्वतेना। का० श्रौ० १९.१.२४।

वेदि में पहले ऐन्द्रपशुयाग हो चुका है, उसमे उत्तर की ओर की दो वेदियों में प्रधान कार्य किया जाता है। यह कार्य चातुर्मास्ययाग के वरुणप्रघासपर्व की तरह दो वेदियों में एक साथ होता है। यहाँ भी दक्षिण की वेदि प्रतिप्रस्थाता की ओर उत्तर की वेदि अध्वर्यु की होती है। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों अपनी-अपनी वेदि का निर्माणकार्य करें[1]। प्रतिप्रस्थाता की वेदि में आहवनीय खर और अध्वर्यु की वेदि में उत्तरवेदि होती है। सुराग्रह का हवन आहवनीय में और पशु, पुरोडाश और पयोग्रह का याग उत्तरवेदि पर होता है[2]। यजमान सायं अग्निहोत्र हवन करे। इन्द्रदेवता के निमित्त तीन गौ को दुहकर कुम्भी में दूध और चूर्ण पूर्ववत् छोड़े[3]। पलाश की शाखा लेकर शाखापवित्र और शाखोपवेष बनावे। दूसरे दिन गोदोहन के निमित्त छः गौ के बछड़ों को माँ से अलग बाँधे।

पौर्णमासी के दिन अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों अपनी-अपनी वेदि में (आहवनीय और उत्तरवेदि पर) अग्निस्थापन करें। यूप गाड़ने तक का कृत्य सम्पन्न कर ले। अपनी-अपनी वेदि पर बर्हिरास्तरण करे। सुराग्रह और पयोग्रहपात्रों के आसादनार्थ अपनी-अपनी वेदि के पश्चिम में एक अरत्नि चतुरस्र खर बनावें। गोदोहन करके उत्तरवेदि में पय और दक्षिणवेदि में तैयार की हुई सुरा का आसादन करें।

सुरापयःपावन

दक्षिणवेदि के पश्चिम में एक गड्ढा तैयार करे। उसमें गोचर्म बिछावे। गोचर्म पर बाँस की दौरी रखकर सुरा छोड़ दे[4]। चर्म पर गिरी हुई सुरा को पात्र से उठावे। गौ और अश्व के बालों से बीने हुए छन्ने से पलाश के पात्र में सुरा को छान ले[5]। उत्तरवेदि में बेंत के बने पात्र में बकरी के रोम से बीने हुए छन्ने से दूध छाने। छानने के अनन्तर विहित काष्ठ के बने ग्रहपात्रों में एतदर्थ निश्चित देवता के लिए सुरा और पय का ग्रहण करे[7]। ग्रहपात्रों को खर पर आसादित करे[8]। ग्रहपात्रों में विहित द्रव्य छोड़े[9]। सरलता पूर्वक जानने के लिए निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत है।

---

१. द्वे वेदी भवतः। द्वावेव लोकावित्याहुर्देवलोकश्चैव। श० ब्रा० १२.३.४.७।
वेदी मिमीते वरुणप्रघासवत्। का० श्रौ० १९.२.१।

२. उत्तरेऽग्नौ पशुभिः पुरोडाशैः पयोग्रहैश्चरन्ति०। श० ब्रा० १२.४.५.१४।

३. ऐन्द्रेणोत्तमे तिसृणाम्। का० श्रौ० १९.१.२६।

४. खरमपरेण चर्मविधाय परिस्रुतमासिच्य कारोतरमवदधाति० पूतामादत्ते। का० श्रौ० १९.२.७।

५. ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैव स्वर्गं लोकं जयति। श० ब्रा० १२.३.३.११।

६. सते पुनाति गोऽश्ववालवालेन। का० श्रौ० १९.२.९।

७. व्यतिषक्तान् गृह्णाति। श० ब्रा० १२.३.४.१५।

८. खरयोः सादनम्। का० श्रौ० १९.२.१६।

९. सुराग्रहान् श्रीणाति। का० श्रौ० १९.२.२५।

ग्रहपात्र के काष्ठ	पयोग्रह या सुराग्रह	देवता	प्रक्षेप्यद्रव्य	आसादन स्थान
अश्वत्थ[1]	पयोग्रह[2]	आश्विन	गेहूँ, आँवले का चूर्ण	उत्तर खर
अश्वत्थ	सुराग्रह	आश्विन	वृक्कलोम	दक्षिण खर
औदुम्बर	पयोग्रह	सरस्वती	इन्द्रयव, बैर का चूर्ण	उत्तर खर
औदुम्बर	सुराग्रह	सरस्वती	व्याघ्रलोम	दक्षिण खर
न्यग्रोध	पयोग्रह	इन्द्र	यव, कर्कन्धुचूर्ण	उत्तर खर
न्यग्रोध	सुराग्रह	इन्द्र	सिंहलोम	दक्षिण खर

अध्वर्यु सुराग्रह और पयोग्रह का उपस्थान करे। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दो-दो श्येन के पक्ष लेकर यजमान को पावन करें[3]। अध्वर्यु ग्रहपात्रों का स्पर्श करें[4]। आश्विन देवता के लिए अज, सरस्वती के निमित्त मेष और इन्द्र के लिए वृषभ (प्रतिनिधि अज) को यूप के पूर्व में उपस्थित करें[5]। पशु को यूप में बाँधने से प्रारम्भ कर उपाकरण प्रभृति वपायाग तक का कृत्य करे। अनन्तर अपनी उत्तरवेदि के अग्नि पर पयोग्रह का अध्वर्यु और दक्षिण वेदि के आहवनीय के अग्नि पर सुराग्रह का प्रतिप्रस्थाता याग करे। याग हो चुकने पर पयोग्रह शेष और सुराग्रह शेष का भक्षण करे। यहाँ सुराभक्षण की विधि को विशेष महत्त्व न देते हुए सूत्रकार ने तद्विषयक चार मत लिखे हैं।

प्रथममत—सुराग्रहपात्र लेकर सब कोई बिहार से बाहर दक्षिण की ओर जायँ। अपसव्य करके पयोग्रह के भक्षण के समान सुराग्रह का भक्षण करें[6]।

द्वितीयमत—सुराग्रह का भक्षण न करके प्राणभक्ष (अवघ्राण) करें[7]।

तृतीयमत—किसी क्षत्रिय या वैश्य को थोड़ी सुरा देकर उसे सुरा पीने के लिए खरीद लें। अनन्तर शेष सुरा को उसे पीने को दें[8]।

चतुर्थमत—प्रतिप्रस्थाता की दक्षिण वेदि के आहवनीय में से तीन अङ्गारे लें। उन्हें आहवनीय के दक्षिण में भूमि पर दक्षिण संस्थ रखे। उत्तरीय अङ्गार पर आश्विन ग्रह की

---

१. आश्वत्थं पात्रं भवति। श० ब्रा० १२.३.३.१४।

२. प्राणा वै पयोग्रहाः। शरीरमेव प्राणैः सन्दधाति। श० ब्रा० १२.३.४.१६।

३. पावयतोऽन्तःपात्ये श्येनपत्राभ्याम्। का० श्रौ० १९.२.२९।

४. पयोग्रहसम्मर्शनम्। का० श्रौ० १९.२.३१।

५. त्रयः पशवो भवन्ति। त्रयो वा इमे लोका इमानेव तैर्ल्लोकानवरुन्धे। श० ब्रा० १२.४.१.३२।
आश्विनोऽजो धूम्रः, सारस्वतो मेषः ऐन्द्र ऋषभः। का० श्रौ० १९.३.२-४।

६. यदत्रेति सौरान् भक्षयन्ति यथाभक्षितं प्राचीनावीतिनो दक्षिणतः। का० श्रौ० १९.३.१७।

७. प्राणभक्षमेके। का० श्रौ० १९.३.१८।

८. परिक्रीतो वा वैश्यराजन्ययोरन्यतरः। का० श्रौ० १९.३.१९।

सुरा का यजमान के पिता के निमित्त हवन करे। मध्यम अङ्गार पर सारस्वतग्रह की सुरा का यजमान के पितामह के निमित्त हवन करे। दक्षिण अङ्गार पर ऐन्द्रग्रह की सुरा का यजमान के प्रपितामह के निमित्त हवन करे। इन आहुतियों के समय अपसव्य से रहे[1]।

प्रतिप्रस्थाता की दक्षिणवेदि के आहवनीय के दोनों ओर दक्षिण और उत्तर में दो खम्भे गाड़े। दोनों खम्भों के ऊपर दक्षिणोत्तर लम्बी एक लकड़ी रखे। मध्य की लकड़ी के मध्य में एक सिकहर लटकावे। सिकहर में शतच्छिद्रकुम्भ रखे। घड़े पर छन्ना रखे। छन्ने में सुवर्णखण्ड रखे। ऊपर से घड़े में इस प्रकार सुरा छोड़े कि आवहनीय पर घड़े के छिद्रों में से सुरा गिरे। उस समय यजमान मन्त्र वाचन करे[2]। यदि यजमान सोमयाग कर चुका हो तो वाचन न करके उपस्थान करे[3]। यजमान दक्षिण आहवनीय में अपसव्य करके आज्याहुति करे[4]। सब कोई सव्य करके उत्तरवेदि के निकट जायँ। उत्तरवेदि पर यजमान आज्य की आहुति दे। जुह्वा में दूध लेकर यजमान ही आहुति दे। यजमान को सब ऋत्विज लोग स्पर्श किये रहें[5]।

---

१. अङ्गारेषु वा बहिष्परिधि दक्षिणतो जुहोत्याश्विनमुत्तरे मध्यमे सारस्वतमैन्द्रं दक्षिणे पितृभ्य इति प्रतिमन्त्रम्। का० श्रौ० १९.३.२०।
पयःसुराग्रहाणां सौराणां न भक्षणम्। वै० सू० ३०.११।
ब्राह्मणः सुरां न पिबति पाप्मना नेत्संसृज्या इति। तदेतत् क्षत्रियाय ब्राह्मणं ब्रूयान्नैनं सुरां पीता हिनस्ति। काठ० सं० १२.१२।
ब्राह्मणं परिक्रीणीयादुच्छेषणस्य पातारम्, ब्राह्मणो ह्याहुत्या उच्छेषणस्य पाता। यदि ब्राह्मणं निन्देद् वल्मीकवपायामवनयेत्। तै० ब्रा० १.८.६।
सर्वं मद्यमपेयम्। आप० ध० सू० १.५.२१।

२. शतवितृण्णां बालपवित्रहिरण्याण्यन्तर्धाय नवर्चं वाचयति। का० श्रौ० १९.३.२३।

३. सोमातिपूतश्चेत्। का० श्रौ० १९.३.२.२५।

४. यजमानो जुहोति। का० श्रौ० १९.३.२६।

५. यहाँ महर्षि कात्यायन कहते हैं—जो आहुति करे उसे सब कोई स्पर्श किये रहें। अन्वारब्धेषु पयो जुहोति। का० श्रौ० १९.३.२८।
देवयाज्ञिक कहते हैं कि, यजमान आहुति करे और ऋत्विज् लोग यजमान को छूए रहें। ततो यजमानो ऋत्विक्ष्वन्वारब्धेष्वाहवनीये जुहोति। दे० प० पृ० ६२६।
इतना ही कहकर देवयाज्ञिक चुप नहीं रहते अपितु अन्य आचार्य के वचन से अपने मत की पुष्टि भी करते हैं—यजमानो जुहोतीति हरिस्वामिनः, अध्वर्युरिति याज्ञिकाः। दे० प० पृ० ६२६।
शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यजमान आहुति करे। श० ब्रा० ११.३.५.२०।
ऋत्विग्यजमानेषु कृतान्वारब्धेषु अध्वर्युः पयो जुहोतीत्यर्थः। शु० य० म० भा० १९.४७।
इस प्रकार अनेक लोगों के मत से सारांश यही निकलता है कि यजमान अथवा अध्वर्यु आहुति करे, बाकी के लोग आहुति कर्ता को छूए रहें।

स्थाली में शेष बचा हुआ दूध यजमान पान करे। सुवर्ण सहित पवित्र से सब कोई चात्वाल के निकट मार्जन करें[1]।

पशु पुरोडाश निर्माण

इन्द्र के निमित्त ग्यारह कपाल का, सविता के निमित्त बारह कपाल का, वरुण के लिए दस कपाल का और अवभृथयाग में वरुण के लिए एक कपाल का पुरोडाश तैयार करे[2]। प्रथम शामित्रानुशासन करे। पुरोडाशों को वेदि में आसादित करे। पुरोडाश के देवताओं का पुरोडाश से याग करे। यजमान बछड़े सहित एक घोड़ी और तैंतीस गौ दक्षिणारूप में दे[3]। द्वितीय शामित्रानुशासन से लगाकर वनस्पतियाग तक का कृत्य करे[4]।

अभिषेक

जानु जितनी ऊँची आसन्दी आसादित करे[5]। उस पर कृष्णाजिन बिछाकर यजमान बैठे[6]। यजमान बायें पैर के नीचे चाँदी का और दाहिने पैर के नीचे सोने का रुक्म रखे[7]। वसा ग्रहपात्र से आहवनीय में वसा होम करे[8]। सुगन्धित पदार्थ से यजमान का उबटन करे।

---

१. चात्वाले मार्जयन्ते सपत्नीका हिरण्यमन्तर्धाय। का० श्रौ० १९.३.३०।
२. पशुपुरोडाशान्निर्वपत्यैन्द्रं सावित्रं वारुणं दशकपालम्। का० श्रौ० १९.४.१।
३. त्रयस्त्रिंशतं दक्षिणा ददात्यनुशिशुं वडवधेनुम्। का० श्रौ० १९.४.५।
४. शमित्रानुशासनप्रभृति वनस्पत्यन्तं कृत्वा। का० श्रौ० १९.४.७।
५. इस सौत्रामणी याग में यजमान को अभिषेक के समय बैठने के निमित्त जानु जितनी ऊँची, एक हाथ चतुरस्र, चार पाये की, मूंज से बीनी हुई आसन्दी (खटौली) अपेक्षित है। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों की वेदियों में एक बित्ते की दूरी होती है। आसन्दी के दो पाये अध्वर्यु की वेदि में और दो पाये प्रतिप्रस्थाता की वेदि में रखने चाहिए। आसन्दी जानुमात्रपादीं वेद्योर्निदधाति। का० श्रौ० १९.४.७।
६. कृष्णाजिनमस्यामास्तृणाति। का० श्रौ० १९.४.८।
तस्मिन्नास्ते यजमानः। का० श्रौ० १९.४.९।
७. पादयोरुक्मा उपास्यति राजतं सव्ये० सौवर्णं शिरस्येके।
का० श्रौ० १९.४.१०-११।
८. त्रयस्त्रिंशद्ग्रहा भवन्ति त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वा देवताः सर्वाभिरेवैनमेतद्देवताभिरभिषिञ्चति।
श० ब्रा० १२.४.२.१३।
कात्यायन श्रौतसूत्र में बत्तीस और शतपथब्राह्मण में तैंतीस ग्रहपात्रों की संख्या से आपाततः विरोध प्रतीत होता है। किन्तु ऐसा नहीं है। तैंतीसवें का उपयोग अभिषेक के बाद में होता है। वसाग्रहयाग के निमित्त बैल के खुर को बीच से खोखला करे। उन्हीं से वसा-ग्रहयाग करना चाहिये। खुरैर्वसाग्रहान् द्वात्रिंशतं जुहोति।

हवन करने से बची हुई वसा से यजमान का अभिषेक करे[१]। अध्वर्यु समन्त्रक यजमान का स्पर्श करे[२]। अनन्तर यजमान अपने अङ्गों का स्पर्श करे[३]।

ऊर्ध्वोत्थापन

यजमान सुश्लोक, सुमङ्गल, सत्यराजन् और सुभद्रक नामक अपने चार पुरुषों को बुलावे[४]। यजमान के चारों पुरुष यजमान द्वारा बुलाने पर यजमान के निकट उपस्थित हों। आसन्दी पर बैठे हुए यजमान को आसन्दी सहित ऊपर को उठावें[५]। भूमि पर कृष्णाजिन बिछाया जाय। अनन्तर यजमान आसन्दी पर से कृष्णाजिन पर पैर रखते हुए भूमि पर उतरे[६]। उस समय ब्रह्मा साम मन्त्रों का गान करे[७]। होता शंसन करे और अध्वर्यु प्रणव से प्रतिगर करे[८]। होता द्वारा शस्त्रपाठ की समाप्ति होने पर अध्वर्यु तैंतीसवें वसाग्रह पात्र से हवन करे[९]। ग्रहयाग के शेष का सब कोई प्राणभक्ष करें[१०]। अनन्तर सब कोई मार्जन करें। याग के शेष कृत्य की समाप्ति करे[११]। ऋत्विज और सपत्नीक यजमान अवभृथ याग के निमित्त जलाशय के प्रति प्रस्थान करे।

अवभृथयाग

अवभृथ याग के निमित्त प्रस्थान के समय ब्रह्मा सामगान करे। वरुण का पुरोडाश, आज्यस्थाली, स्रुवा, स्रुची, सुरालिप्त और पयोलिप्तपात्र, शूल और पहनने के वस्त्र प्रभृति सामग्री साथ में ले जायँ[१२]। आधे रास्ते पर पहुँचकर ब्रह्मा सामगान करे। पुनः जलाशय पर पहुँच कर ब्रह्मा सामगान करे। साथ में लायी हुई सामग्री व्यवस्थित करके अवभृथ याग करे[१३]।

---

१. सर्वसुरम्युन्मृदितम्, शेषैरभिषिञ्चति। का० श्रौ० १९.४.१४।
२. यजमानमालभते कोऽसीति। का० श्रौ० १९.४.१९।
३. अङ्गानि चालभते। का० श्रौ० १९.४.२१।
४. सुश्लोकेत्यालब्धः। का० श्रौ० १९.४.२०।
५. उद्यच्छन्त्येनम्। का० श्रौ० १९.४.२२।
६. कृष्णाजिनेऽवरोहति। का० श्रौ० १९.४.२३।
७. ततो ब्रह्मा० साम गायति। दे० प० पृ० ६३२।
८. आस्ते प्रतिगरिष्यन्। का० श्रौ० १९.५.७।
९. त्रया देवा इति शस्त्रान्ते जुहोति। का० श्रौ० १९.५.८।
१०. शेषमृत्विजः प्राणभक्षं भक्षयन्ति। का० श्रौ० १९.५.९।
११. बर्हिर्होमात् कृत्वा। का० श्रौ० १९.५.११।
१२. परिस्रुक्षीरलिप्तान्यादाय। का० श्रौ० १९.५.११।
१३. आशूलाभिमन्त्रणात्कृत्वोदकाधिष्ठानप्रभृत्यावभृथेष्टेः। का० श्रौ० १९.५.१२।

मासरकुम्भ का जल में उत्सर्ग करे[1]। स्नान के अनन्तर वस्त्र धारण करें[2]। यज्ञशाला में लौट-कर यजमान आहवनीय में और पत्नी गार्हपत्य में समिदाधान करें[3]। अध्वर्यु प्रणीता विमोक प्रभृति शेषकृत्य की समाप्ति करे। यजमान अपनी शेषविधि की समाप्ति करे।

आदित्येष्टि

इस पशुत्रययाग से पूर्व जैसे आदित्येष्टि की थी, वैसे ही पुनः आदित्येष्टि करे[4]। अदिति देवता के निमित्त चरु करके प्रधान याग करे। पहले की आदित्येष्टि में जिस गोवत्स को दक्षिणा में दिया था उसी की माँ को इस आदित्येष्टि में दक्षिणा दे। पूर्ववत् शेष यागविधि की समाप्ति करे।

मैत्रावरुणी पयस्येष्टि

आदित्येष्टि के अनन्तर मैत्रावरुणी पयस्येष्टि करे[5]। दोहन, पयःप्रतपन, दधिप्रक्षेप प्रभृति करके पयस्या तैयार करे। मित्रावरुण देवता के निमित्त प्रधानयाग करे। दक्षिणा के समय अन्वाहार्य दक्षिणा दे। वाजिन याग करके शेष कृत्य की समाप्ति करे।

वायोधस् पशुयाग

उपर्युक्त मैत्रावरुणी पयस्येष्टि के अनन्तर वायोधस् पशुयाग करना चाहिए। इस पशुयाग के प्रधान देवता इन्द्र वयोधा हैं[6]। पशुपुरोडाश के समय आठ कपाल का पशुपुरोडाश करे। इस पशुयाग की समस्तविधि पूर्वोक्त निरूढपशुबन्धयाग की तरह करनी चाहिए। अन्त में सौत्रामणी-याग की साङ्गता के निमित्त छ सौ ब्राह्मणभोजन का संकल्प करे।

●

---

१. मासरकुम्भं प्लावयति।
पूर्ववन्मज्जनम्। का० श्रौ० १९.५.१३-१४।
२. अवभृथवत्स्नात्वा वस्त्रोपासनम्। का० श्रौ० १९.५.१६।
३. समिधमाहवनीयेऽभ्यादधाति। का० श्रौ० १९.५.१९।
४. आदित्येष्टिः पूर्ववत्। दे० प० पृ० ६३५।
५. पयस्या मैत्रावरुणी। का० श्रौ० १९.५.२१।
६. पशुरिन्द्राय वयोधसे। का० श्रौ० १९.५.२२।

षष्ठ अध्याय

सोमसंस्था

अग्निष्टोमयाग :—सोमलता·······अधिकारी·······दौर्ब्राह्मण्यनिरास······प्रधान सङ्कल्प·······
दीक्षा······यूपच्छेदन·······सोमक्रयण·······सामगान·······प्रवर्ग्य·········
धर्मोत्सादन·······उपरव·······चमसभक्षण ।

अग्निष्टोमयाग

'यज्ञं व्याख्यास्यामः' इस वाक्य को कहते हुए आपस्तम्ब ने यज्ञ का प्रारम्भ यहीं से कहा है[1]। उनके विचार से यज्ञ वही है, जो तीन वेदों से सम्पादित किया जाय। इसीलिए वे आगे कहते हैं, "स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते" अर्थात् यज्ञ वही है, जिसमें ऋक्, यजुः और साम इन तीनों वेद के मन्त्रों का उपयोग होता हो[2]। अथर्ववेद के वैतान श्रौतसूत्र के अनुसार ऋग्वेद को जानने वाला होता, यजुर्वेदवित् अध्वर्यु, सामवेदी उद्गाता और अथर्ववेदी एवं समस्त श्रौत विधान को जाननेवाला ब्रह्मा होना चाहिए[3]। अश्वमेध प्रकरण में विजय के निमित्त यजमान एक वर्ष के लिए अश्व को छोड़ता है। किसी के राज्य में वह अश्व रोका नहीं जाना चाहिए। यदि किसी राजा ने उस अश्व को रोक लिया तो युद्ध में उस रोकने वाले को परास्त करके अश्व को स्वायत्त करना चाहिए तभी अश्वमेध याग सफल माना जाता है। उस समय यदि अश्व रुग्ण हो तो अथर्ववेद को जानने वाला अश्व की चिकित्सा करता है। इस प्रकार शाङ्खायन श्रौत सूत्र ने भी कहा है[4]।

अग्निष्टोमयाग का फल

"सर्वकामोऽग्निष्टोमः" इस वाक्य के अनुसार समस्त कामनाओं की सिद्धि के लिए यह अग्निष्टोम याग कहा है[5]। यदि 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् 'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्' इस वचन के आधार पर आपाततः विरोध प्रतीति हो भी तो समझना चाहिए कि जो सब प्रकार के दुःख से रहित और समस्त सुखों से सम्पन्न हो वही तो स्वर्ग है। इस प्रकार से भी यदि स्वर्गप्राप्ति हुई तो समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

अग्निष्टोमसंज्ञा

अग्निष्टोम यह शब्द संस्था परक समझना चाहिए। जिस याग में सोम नामक लता के रस की आहुति दी जाती है, उसे सोमयाग कहते हैं। उस सोमयाग की सात संस्थाएँ कही हैं। उन सात संस्थाओं में अग्निष्टोमसंज्ञक प्रथम सोमसंस्था है[6]। संस्था का नाम स्तोत्र परक हुआ

---

१. आप० श्रौ० २४.१.१।

२. आप० श्रौ० २४.१.३।

३. अथ वितानस्य ब्रह्मा कर्मणि ब्रह्मवेदविद् दक्षिणतो विधिवदुपविशति वाग्यतः।
वै० श्रौ० १.१।

४. अथर्ववेदो वेदः सोऽयमिति भेषजं निगदेत्। शां० श्रौ० १६.२.९।

५. सत्या० श्रौ० ७.१.१।

६. स प्रथमः सोमानाम्। स० श्रौ० टी० ७.१।
एष प्रथमः सोमः। का० श्रौ० १०.९.२५।

करता है। अन्त में जिस स्तोत्र का गान होता है, उसी पर संस्था की संज्ञा अवलम्बित रहती है। यज्ञायज्ञीय स्तोत्र के गान से इस अग्निष्टोम याग की समाप्ति होने के कारण उसकी अग्निष्टोम संज्ञा है। उपर्युक्त स्तोत्र द्वारा अग्निदेवता की स्तुति की जाती है। यही कारण है कि सातों संस्थाओं में सर्वप्रथम इसका अनुष्ठान विहित है।

सोमलता

यह सोमलता इस समय प्रायः भारत के किसी प्रान्त में नहीं पायी जाती[1]। पूर्व काल में भी सर्वत्र इसकी प्राप्ति नहीं थी। किसी पवित्र स्थान में ही यह मिलती थी। इस समय सोमलता के अभाव में उसकी प्रतिनिधि स्वरूप पूतीका नामक वनस्पति उपयोग में ली जाती है। यह भी सोमलता से प्रायः मिलती-जुलती एक लता है। सोमलता के अभाव में इसी के रस से सोमयाग में आहुति दी जाती है।

अधिकारी

अग्नि के परिग्रह करने के अनन्तर द्विजमात्र को अग्निष्टोमयाग करने का अधिकार प्राप्त होता है। प्रथम पक्ष यह है कि, आहिताग्नि यजमान अग्निष्टोम याग करने से पूर्व दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य और पशुबन्ध प्रभृति याग कर ले[2]। अनन्तर इस अग्निष्टोम का प्रारम्भ करे। द्वितीय पक्ष यह है कि अग्निष्टोमयाग करके अनन्तर दर्शपौर्णमास प्रभृति याग करे[3]। आहिताग्नि के लिए दर्शपौर्णमास की तरह यह भी नित्य याग है। प्रतिवर्ष इसका अनुष्ठान करना उचित है।

दौर्ब्राह्मण्यनिरास

प्रत्येक ब्राह्मण को अग्नि का परिग्रह करना चाहिए। अग्नि के परिग्रह के अनन्तर ही सोमयाग किया जा सकता है। इसीलिए जब सोमयाग का अनुष्ठान किया जाता है तब यह देखना आवश्यक हो जाता है कि सोमयाग करने वाले के पिता और पितामह ने सोमयाग किया था अथवा नहीं। यदि कर्त्ता के पूर्वज ने सोमयाग न किया हो तो दौर्ब्राह्मण्य संज्ञक दोष प्राप्त

---

१. श्यामलाम्ला च निष्पन्ना क्षीरिणी त्वचि मांसला।
   श्लेष्मला वमनी वल्ली सोमाख्या छागभोजनम्॥
   सोमाभावे पूतीकानभिषुणुयादित्यादिः प्रतिनिधिर्ग्राह्यः।
   स० श्रौ० टी० ७.१.१।
   यदि सोमं न विन्देयुः पूतीकानभिषुणुयुर्यदि न पूतीकानर्जुनानि।
   ता० ब्रा० ९.५.३।

२. दर्शपौर्णमासाभ्यामिष्ट्वा अन्येन यजेत। का० श्रौ० ७.१.१।

३. सोमेन वोपकल्प्तसोमः। का० श्रौ० ७.१.२।

हो जाता है। सोमयाग करने वाले को उपर्युक्त दोष की निवृत्ति के लिए ऐन्द्राग्नपशुयाग करना आवश्यक है[१]। यह ऐन्द्राग्नपशुयाग निरूढपशुबन्धयाग के समान किया जाता है।

अग्निष्टोम का समय

अग्निष्टोम याग करने का समय वसन्त ऋतु कहा है[२]। इसमें आरम्भ का दिन, दीक्षा का दिन और सुत्या का दिन इस प्रकार तीनों दिन शुभ होने चाहिए। परन्तु यदि यह सम्भव न हो और दीक्षा तथा सुत्या के शुभ दिन की प्राप्ति हो रही हो तो वसन्त ऋतु में किसी भी दिन अग्निष्टोमयाग का प्रारम्भ करे[3]। प्रायः यह याग शुक्लपक्ष की एकादशी को प्रारम्भ करके पूर्णिमा को समाप्त किया जाता है।

भूमिपूजन

यजनीय काल से पूर्व गुरु, माता, पिता प्रभृति पूज्यजनों से अनुमति प्राप्त करे। ज्योतिषी से भूमिपूजन का मुहूर्त्त जान ले। तदनुसार पुरोहित और दैवज्ञ के साथ पूजन सामग्री लेकर यजनीय स्थान पर जाय। पवित्र भूमि पर, सपत्नीक यजमान शुचिर्भूत होकर, पूर्वाभिमुख बैठे। सङ्कल्प करे[४]।

सङ्कल्प के अनुसार स्मार्त्तविधि से भूमि, कूर्म और अनन्त प्रभृति देवताओं का पूजन करे[५]। देवयजन का निर्माण कार्य प्रारम्भ करे।

---

१. यस्य यजमानस्य पित्रा पितामहेन वोभाभ्यां सोमयागः कृतो न भवति तस्य नैमित्तिको दौर्ब्राह्मण्यनिरासार्थमैन्द्राग्नः पशुर्भवति। स च आरम्भात्पूर्वस्मिन्पर्वणि पुण्याहे वा कर्त्तव्यः। दे० प० पृ० २३२।

यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपुरूषम्।
स वै दुर्ब्राह्मणो नाम ब्रह्मवादिषु गर्हितः॥ स० श्रौ० टी० ७.१।

ऐन्द्राग्नं पुनरुत्सृष्टमालभ्य द्विपुरुषा सोमपीथिनः। का० श्रौ० ७.१.६।

२. वसन्तेऽग्निष्टोमः। का० श्रौ० ७.१.५। तेन वसन्ते वसन्ते यजेत। स० श्रौ० ७.१.१।

३. पुण्याहे दीक्षा, क्रयः, प्रसव, उत्थानम्। प्रक्रमोत्थाने विरोधे। का० श्रौ० ७.१.२५-२६।

४. देशकालौ स्मृत्वा० अमुकगोत्रामुकप्रवरान्वितोऽमुकशर्मा सपत्नीकोऽहं करिष्यमाणाग्निष्टोम-संस्थज्योतिष्टोमोपयोगिप्राच्यादिदिक्साधनपूर्वकशालायतननिर्मातुं तदङ्गतया विहितानि स्वस्तिवाचनभूमिकूर्मानन्तवराहविश्वकर्मपुरोहितदैवज्ञपूजनानि करिष्ये। तत्रादौ निर्विघ्नता-सिध्यर्थं गणपतिगौरीपूजनञ्च करिष्ये।

५. श्रौतसूत्रों के अनुसार भूमिपूजन अपेक्षित नहीं है। फिर भी वर्तमान समय में पद्धतिकारों के मतानुसार याज्ञिक लोग सुमुहूर्त्त पूर्वक भूमि पूजन कराते हैं। निश्चित ही श्रौत पर यह स्मार्त्त का प्रभाव है। जिसे देखकर पद्धतिकारों ने इन कृत्यों को श्रौत के साथ अनुस्यूत कर दिया है।

याग का पूर्वाङ्ग

यदि प्रथम अग्निष्टोम याग हो तो पञ्चाङ्ग का अनुष्ठान करे। देवयजन के निकट भूमि पर पूर्वाभिमुख बैठकर यजमान सङ्कल्प करे। गणपतिपूजन, स्वस्तिवाचन, मातृकापूजन, वसोर्धारापूजन, आयुष्यमन्त्रजप और नान्दीश्राद्ध करे। यदि द्वितीय अग्निष्टोम का अनुष्ठान हो तो आभ्युदयिक का वैकल्पिक विधान है।

प्रधानसंकल्प

सपत्नीक यजमान पूर्वाभिमुख आसन पर बैठे। आचमन, प्राणायाम करके प्रधानसङ्कल्प करे। सुवर्ण, एक सौ गौ, वस्त्र और अश्व दक्षिणा से सम्पाद्यमान रथन्तरपृष्ठ, अग्निष्टोमसंस्थ ज्योतिष्टोमयाग करूँगा, इस प्रकार सङ्कल्प करे। यदि दौर्ब्राह्मण्य दोष हो तो सङ्कल्प में ऐन्द्राग्न पशुकृत्य को भी उच्चरित करे।

ऋत्विजों का निमन्त्रण

अन्यशाखा में यजमान पहले सोमप्रवाक संज्ञक ऋत्विज का वरण करके उसके द्वारा अन्य ऋत्विजों को निमन्त्रित करता है। कात्यायन के मत से यह कार्य यजमान ही स्वयं कर लेता है। सोमप्रवाक ऋत्विजों के घर जाकर निमन्त्रण करता है[1]। ऋत्विज द्वारा यज्ञ का नाम, दक्षिणा और यज्ञकार्य में सहयोगी के पूछने पर समुचित उत्तर दे। सोमप्रवाक द्वारा उत्तर पाकर यदि उसे स्वीकार हो तो वैसा मन्त्र पाठ करे[2]। यदि स्वीकार न हो तो "नमः सोमाय राज्ञे" कह दे। इस मन्त्र से ही सोमप्रवाक उसका आशय समझ ले। अनन्तर सोमप्रवाक को दही, नमक और ओदन का भोजन करावे[3]।

ऋत्विज और उनकी श्रेणी

इस याग में ऋत्विजों के चार गण होते हैं[4]।

प्रत्येक गण में चार ऋत्विज होते हैं।

अध्वर्युगण	ब्रह्मगण	होतृगण	उद्गातृगण
१ अध्वर्यु	ब्रह्मा	होता	उद्गाता
२ प्रतिप्रस्थाता	ब्राह्मणाच्छंसी	मैत्रावरुण	प्रस्तोता
३ नेष्टा	आग्नीध्र	अच्छावाक	प्रतिहर्त्ता
४ उन्नेता	पोता	ग्रावस्तुत्	सुब्रह्मण्य

---

१. असौ सोमेन यजते सत्वामार्त्विज्यं अभ्यर्थयते।

२. महन्मेवोचो भर्गं मे वोचो०। ता० ब्रा० १.१.१।

३. आवसथः सोमप्रवाकाय लवणमन्नं दध्नाहारयेत्। ला० श्रौ० १.१.१२।

४. ब्राह्मणाच्छंस्यग्नीत्पोतारो ब्रह्मणः। का० श्रौ० ७.१.९।

इसी क्रम से उन्हें याग की दक्षिणा दी जाती है। गण के प्रत्येक प्रथम को बारह गौ देते हैं। वे पूर्ण दक्षिणा वाले पूर्णी कहलाते हैं। द्वितीय को छः गौ देने का विधान है और वे अर्धी कहे जाते हैं। तृतीय को तृतीयांश चार गौ दक्षिणा देते हैं और वे तृतीयी कहे जाते हैं। गण के चतुर्थ को तीन गौ दक्षिणा देकर उन्हें पादी कहते हैं। इसी क्रम से उनकी प्रधानता में भी तारतम्य माना जाता है। इस क्रम से एक सौ गौ का दक्षिणा में विनियोग होता है। याग के कार्यों में अनुशासन भी इसी क्रम से होता है।

दैवर्त्विग्वरण

अप्रवृत्त व्यक्ति को कर्त्तव्य में प्रवृत्त करा लेना वरण कहा जाता है। यह वरण दो प्रकार का होता है। प्रथम दैवर्त्विग्वरण और दूसरा मानुषर्त्विग्वरण कहा है। दैवर्त्विग्वरण में यजमान को 'अग्निर्मे होता०' आदि मन्त्र का पाठ करना विहित है[1]।

मानुषर्त्विग्वरण

यजमान हाथ में अक्षत लेकर ऋत्विज के नाम गोत्र का उच्चारण करता है[2]। याग में कौन सा कार्य करना है, इसका उल्लेख करते हुए ऋत्विजों का वरण होता है। इस प्रकार ब्रह्मा से आरम्भ करके सोलहों ऋत्विजों का वरण किया जाता है।

मधुपर्कार्चन

वरण किये हुए ब्राह्मण पूर्वाभिमुख बैठें। स्वयं यजमान उत्तराभिमुख बैठे। यजमान विष्टर, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय और मधुपर्क प्रभृति से वरण किये हुए ब्राह्मणों का अर्चन करे[3]। वरण में प्राप्त वस्त्र और आभूषण को सब ऋत्विज् लोग धारण करें।

देवयजन की ओर प्रस्थान

यजमान ऋत्विजों से देवयजन की याचना करे[4]। अपनी अरणी में अग्नि का समारोप कर ले[5]। यज्ञ की उपयोगी समस्त सामग्री और अरणी साथ में ले। देवयजन दूर हो तो शकट द्वारा सामग्री ले जाय। पत्नी, ऋत्विज् और परिचारक के साथ मङ्गलघोष एवं मङ्गलपाठ करते हुए देवयजन के प्रति प्रस्थान करे।

---

१. अग्निर्मे होता, आदित्यो मेऽध्वर्युः, चन्द्रमा मे ब्रह्मा, पर्जन्यो मे उद्गाता, आपो मे होत्राशंसिनः, रश्मयो मे चमसाध्वर्यवः। महर्त्विग्व्यतिरिक्ता ब्राह्मणाच्छंस्याद्या द्वादशर्त्विजो होत्राशंसिन इत्युच्यन्ते। दे० प० पृ० २३३।

२. अमुकगोत्रामुकशर्मन्० अग्निष्टोमसंस्थेन ज्योतिष्टोमेनाहं यक्ष्ये। तत्र मे त्वं ब्रह्मा भव। दे० प० पृ० २३३।

३. ततस्तान्मधुपर्केणार्चयित्वा०। दे० प० पृ० २३३।

४. अग्निर्मे होता स मे देवयजनं ददातु इत्युपांशु, होतर्देवयजनं मे देहीत्युच्चैः, एवं सर्वत्र। दत्तमिति सर्वेषां होत्रादीनां प्रतिवचनम्। दे० प० पृ० २३३।

५. समारोह्याग्नी शालास्तम्भं पूर्वार्धं गृहीत्वारणिपाणीराहेदमगन्मेति। का० श्रौ० ७.१.३०।

देवयजन में पहुँचकर यजमान अपने बायें हाथ में लायी हुई अरणी ले। दक्षिणहस्त से यज्ञशाला के पूर्वद्वार के स्तम्भ का स्पर्श करे[1]। उसी द्वार से शाला में प्रविष्ट हो। सोम राजा को भी यदि साथ में लाये हों तो यज्ञशाला में उच्चासन पर स्थापित करे[2]। यदि साथ में सोम लाये हो तो हविष्यान्न अर्पित करे। मन्थन करके गार्हपत्यादि खरों पर अग्नि को स्थापित करे। रात्रि में ऋत्विजों के साथ वहीं पर निवास करे।

प्रथम दिन

यजमान याग में उपयोग आने वाली समस्त सामग्री को किसी योग्य व्यक्ति को समर्पित करे[3]। वह व्यक्ति याग की समाप्ति पर्यन्त समय-समय पर अपेक्षित सामग्री यजमान को देता रहे।

अप्सुदीक्षा

यज्ञशाला के उत्तर की ओर दीक्षा शाला बनानी चाहिए। उसके मध्य के गर्त्त में जलपूर्ण कलश स्थापित करे। दीक्षा की शेष सामग्री दीक्षाशाला में आसादित करे। अध्वर्यु उत्तराभिमुख और यजमान पूर्वाभिमुख बैठे। उत्तर में नापित बैठे। अध्वर्यु यजमान के दाहिने हाथ से प्रारम्भ करके दोनों हाथ के नाखून काटे। यजमान की दाहिनी कनपट्टी पर दर्भ रखकर[4] छुरे से दर्भसहित केश काटे[5]। अनन्तर उसी छुरे को नापित को देकर क्षौर करावे। औदुम्बर काष्ठ से दन्तधावन करके स्नान करे[6]। अहत धौतवस्त्र या क्षौमवस्त्र धारण करे[7]।

पत्नीदीक्षा

प्रकृतिशाला के पश्चिम में पत्नीशाला होती है। उसमें प्रतिप्रस्थाता पत्नी का दीक्षा-संस्कार करे[8]। केवल नखनिकृन्तन करके स्नानादि संस्कार यथावत् करे। अप्सुदीक्षा की विधि को समाप्त करके यज्ञशाला में उपस्थित हो।

दीक्षणीयेष्टि

प्रकृतिशाला में दीक्षणीयेष्टि का प्रारम्भ करे। अग्नाविष्णू देवता का ग्यारह कपाल का पुरोडाश करे[9]। समिष्टयजु की आहुति पर्यन्त ही इष्टि करे। इसप्रकार की मध्य में की जाने

---

१. एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे०। शु० य० ४.१।
२. शालायां राजानं निदधात्याहृतश्चेत्। का० श्रौ० ७.२.१।
३. क्रत्वर्थमपदिश्यान्यस्मै०। का० श्रौ० ७.२.५।
४. ओषधे त्रायस्व। शु० य० ४.१।
५. स्वधिते मैनं हिंसीः। शु० य० ४.१।
६. आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु। शु० य० ४.२।
७. दीक्षातपसोस्तनूरसि०। शु० य० ४.२।
८. याग की इस प्रकार की समस्त विधि में अध्वर्यु यजमान का और प्रतिप्रस्थाता पत्नी का सहायक होता है।
९. आग्नावैष्णव एकादशकपालः। का० श्रौ० ७.२.२३।

वाली इष्टियों में अग्न्यन्वाधान, व्रतोपायन प्रभृति कार्य नहीं करने चाहिए[१] । अध्वर्यु का प्रैष सुनकर प्रधानयाग के समय प्रस्तोता तार्क्ष्य साम का गान करे[२] ।

नवनीत दीक्षा

प्रकृतिशाला के पूर्व में दर्भ बिछाकर यजमान खड़ा हो । यजमान के दक्षिण में पत्नी खड़ी हो । अध्वर्यु यजमान को और प्रतिप्रस्थाता पत्नी को नवनीत दें । दोनों अपने शरीर में मक्खन लवावें[३] । सिर से आरम्भ करके पैर तक अनुलोमधर्म से मक्खन लगावे । शरीर के जिन अङ्गों में यजमान का हाथ न पहुँच सके वहाँ अध्वर्यु लगा दे ।

अञ्जनदीक्षा

अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता क्रमशः यजमान और पत्नी के आँखों में सलाई से सुरमा लगावें[४] । पहले दाहिनी आँख में और तब बायीं आँख में अञ्जन लगावे ।

यजमान पावन

अध्वर्यु हाथ में दर्भमुष्टि लेकर यजमान और पत्नी के शरीर को दर्भमुष्टि से सम्मार्जित करे[५] । यह सम्मार्जन विधि दक्षिणावर्त करनी चाहिए ।

मुष्टिबन्धन

उपर्युक्त दोनों ऋत्विज्, यजमान और पत्नी की मुट्ठी बाँधे । दोनों हाथों की अङ्गुष्ठ और तर्जनी अङ्गुलियों को छोड़कर शेष तीन अङ्गुलियों को कपड़े से बाँध दे[६] । यजमान और पत्नी को उनके आसन पर बैठावे ।

औद्ग्रभणहवन

अध्वर्यु आहवनीय में 'आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा' प्रभृति मन्त्रों से आज्याहुति करे[७] ।

---

१. अग्न्यन्वाधानव्रतोपायनारण्यभोजनदानब्रह्मवरणादीनि दीक्षणीयाप्रभृति प्रागुदवसानीयायाः सोमे कृतत्वात् । का० श्रौ० ८.१.४ । न सूक्तवाके यजमानस्य नाम गृह्णाति, प्राक् सवनीयात् । शां० श्रौ० ५.३.८ ।

२. तार्क्ष्यसाम्नोस्तार्क्ष्य ऋषिस्त्रिष्टुप् छन्दः इन्द्रो देवता दीक्षणीयायामिष्टौ विनियोगः ।
    ५र २र   १ १ १ १   २र
त्यमूषु । वाजि ना २ ३ ४ ५ म्० ॥१॥ इयइया २ हाई ॥२॥ वे० गा० ९.१ ।

३. अथाग्रेण शालां तिष्ठन्नभ्यङ्क्ते । श० ब्रा० ३.१.३.७ ।

४. स दक्षिणमेवाग्रावनक्ति । श० ब्रा० ३.१.३.१४ ।

५. अथैनं दर्भपवित्रेण पावयति । श० ब्रा० ३.१.३.१८ ।

६. अथाङ्गुलीर्न्यञ्चति० । श० ब्रा० ३.१.३.२५ ।

७. दीक्षाया यजूंष्यौद्ग्रभणानि० । श० ब्रा० ३.१.४.१ ।
अध्वर्युमन्वारभ्यौद्ग्रभणानि । शां० श्रौ० ५.४.१ ।

कृष्णाजिनदीक्षा

अध्वर्यु आहवनीय के दक्षिण में कृष्णाजिन बिछावे[१]। यजमान विधिपूर्वक कृष्णाजिन पर बैठे। अध्वर्यु यजमान के कटिप्रदेश में सन की मेखला बाँधे[२]। यजमान अपनी धोती की नीवी खोंसे और सिर पर पगड़ी बाँधे[३]। उत्तरीय वस्त्र ओढ़े। यजमान के उत्तरीय वस्त्र में कृष्णमृग का प्रादेशमात्र सींग बाँधे[४]। यजमान के पैर से मुँह तक लम्बा औदुम्बर काष्ठ का एक दण्ड यजमान को दे[५]।

जिस समय अध्वर्यु यजमान की कृष्णाजिन दीक्षा करता रहे उसी समय प्रतिप्रस्थाता पत्नी की दीक्षाविधि करे[६]। पत्नी की कटि में सन की मेखला बाँधे। सिर में जाल बाँधे। काष्ठ का प्रादेशमात्र शङ्कु पत्नी के आँचल में बाँधे[७]।

दीक्षितघोषणा

प्रतिप्रस्थाता प्रकृति शाला के पूर्व में खड़ा होकर 'दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः' कहते हुए तीन बार जोर से यजमान के दीक्षित होने की घोषणा करे[८]।

यजमान और पत्नी के नियम

मुष्टिबन्धन के अनन्तर सूर्यास्त तक वाग्यमन रखे। सूर्यास्त के बाद अध्वर्यु से आदेश मिलने पर वाग्यमन छोड़े और पुनः वाग्यमन कर ले। यथासमय अध्वर्यु द्वारा काँसे के पात्र में दिये हुए केवल दूध का ही आहार करे। पत्नी लौहपात्र से दूध पीये। दीक्षित होने पर यजमान और पत्नी शूद्र से भाषण न करें। अनिवार्य परिस्थिति में किसी त्रैवर्णिक के माध्यम से बातचीत करें। अत्यावश्यक परिस्थिति में यदि भाषण करना पड़े तो नाम के साथ विचक्षण, चनसित पद को जोड़कर बोले। ब्राह्मण के नाम में चनसित और क्षत्रिय और वैश्य के नाम में विचक्षण पद जोड़े। जोर की हँसी न हँसे। मुख पर हाथ रखकर केवल मन्दस्मित मात्र किया जा सकता है। गुरुजनों के उपस्थित होने पर भी उन्हें अभ्युत्थान न दें। क्योंकि दीक्षित के लिए केवल अग्निदेव ही एक मात्र उपास्य है और यष्टा उपासक है। गुरुजनों का

---

१. दक्षिणेनाहवनीयं प्राचीनग्रीवे कृष्णाजिने उपस्तृणाति। श० ब्रा० ३.१.५.१।

२. अथ मेखलां परिहरते। सा वै शाणी भवति। सा वै त्रिवृद् भवति। श० ब्रा० ३.१.५.१-१२।

३. अथ नीवीमुद्गूहते। श० ब्रा० ३.१.५.१५।

४. अथ कृष्णविषाणां सिचि बध्नीते। श० ब्रा० ३.१.५.१८।

५. अथास्मै दण्डं प्रयच्छति। औदुम्बरो० मुखसम्मितो भवति। श० ब्रा० ३.१.५.३२-३४।

६. एवं प्रतिप्रस्थाता पत्नीमभ्यञ्जनादि तूष्णीम्। का० श्रौ० ७.३.११।

७. औदुम्बरपलाशादेः प्रादेशमात्रः शङ्कुः। दे० प० पृ० २४३।

८. दीक्षितोऽयं ब्राह्मण इति निवेदितमेवैनमेतत्सन्तं देवेभ्यो निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापयदित्ययं युष्माकैकोऽभूत्तं गोपायत। श० ब्रा० ३.१.५.३९।

नाम न लें। मधुर एवं सत्य भाषण करें। वर्षा में स्नान न करें। केवल मदन्तीसंज्ञक पात्र में गरम किया हुआ जल उपयोग में लें। मद्य, मांस प्रभृति निषिद्ध पदार्थों का सेवन न करें। देवयजन को छोड़कर कहीं दूर न जायँ। सूर्योदय से सूर्यास्तपर्यन्त लघुशङ्का और शौच न करें। अनिवार्य अपरिस्थिति में वृक्ष की छाया में मल-मूत्रोत्सर्ग करें। शाला के पश्चिम द्वार से बाहर न जायँ। शाला के पूर्वद्वार से यजमान और दक्षिणद्वार से पत्नी, शाला में प्रविष्ट हों। प्रचलित याग से असम्बद्ध अन्य किसी प्रकार की आहुति न करें। अग्निहोत्रहवन, दर्शपौर्णमासयाग, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्या, वैश्वदेव और तर्पण प्रभृति कृत्य न करें। व्रत के निमित्त दिये हुए दूध से अतिरिक्त आहार ग्रहण न करें। किसी के सामने दूध न पीयें। वृक्ष पर न चढ़ें। नाव या रथ से यात्रा न करें।

प्रातःकाल एवं सायङ्काल शयन न करें। खिसककर न चलें। किसी पर क्रोध न करें। कृष्ण पक्षी, श्वान और शव को न देखें। धूप में कहीं न जायँ। यज्ञ के निमित्त गौ, वस्त्र और सुवर्ण के उपार्जन के निमित्त ही प्रवास करे। प्रवास में जाय उस समय अरणी में अग्नि का समारोप करके अरणी साथ में रखे। किसी प्रकार का नियम-भङ्ग हो जाय तो प्रायश्चित्तस्वरूप मन्त्रपाठ करें। पति-पत्नी परस्पर क्षमा-याचना करें। इसी प्रकार के अन्य साधारण नियमों का भी पालन करें[1]।

दीक्षित के प्रति दूसरों के नियम

दीक्षा ग्रहण करने के कारण दीक्षित अत्यन्त पवित्र माना जाता है। अतएव कोई उस दीक्षित का स्पर्श न करे[2]। दीक्षित का कोई नाम न ले। दीक्षित का पहना हुआ वस्त्र कोई न पहने। कोई भी दीक्षित का अशुभ न सोचे। उसका अन्न कोई न खाय।

---

१. वाचं यच्छति। अस्तमिते वाचं विसृजते। व्रतं श्रपयन्ति। व्रतं प्रयच्छति। व्रतं व्रतयति। अव्रत्यं वा व्याहरति क्रुध्यति वा तन्मिथ्या करोति। श० ब्रा० ३.२.१। १,४,१०,१६, १८,२४। नानृतं वदति। न स्त्रियमुपैति। नोपर्यास्ते। न निष्ठीवते। अबद्धं मन इत्यमेध्यं दृष्ट्वा जपति। मदन्तीर्जलं धत्ते। दक्षिणेन विहारं दीक्षितागारे विहरति। नक्तमेव मूत्रपुरीषे कुर्यात्, दिवा वा छायायाम्। नैनं शूद्रोऽनुप्रविशति। ब्राह्मणेन राजन्येन वैश्येन वा संभाषेत। न कञ्चन प्रत्युत्तिष्ठति। नाभिवादयते। लौकिकीं वाचं वदन्नामधेयेषु विचक्षणं चनसितं चान्ततो दधाति। स० श्रौ० १०.२.६-८। चनसितेति ब्राह्मणं विचक्षणेति राजन्य-वैश्यौ। आप० श्रौ० १०.१२.८। गार्हपत्ये दीक्षितस्य श्रपणं दक्षिणाग्नौ पत्न्याः। ये देवा इति व्रतयत्यमृण्मये। पत्नी लौहे। नाभिमालभते। मेक्ष्यन्कृष्णविषाणयालोष्ठं किञ्चिद्वादत्ते। का० श्रौ० ७.४.२४, २८-३१।

२. अग्निर्वै दीक्षितस्तस्मादेनं नोपस्पृशेत्। न चास्य नाम गृह्णीयात्। न दीक्षितवसनं परिदधीत। नास्य पापं कीर्त्तयेत्। नान्नमश्नीयात्। आप० श्रौ० १०.१३.१-२,१५।

यूपच्छेदन

अग्निष्टोमयाग में एक, तीन, चार, बारह और अनेक इस प्रकार दीक्षा के कई पक्ष कहे हैं। दीक्षा में यूपच्छेदन, महावीरसंभरण और वनीवाहन कृत्य किये जाते हैं[1]।

अध्वर्यु, यजमान और तक्षा के साथ दर्भ, कुठार और आज्य लेकर यूप काटने के निमित्त जङ्गल में जायँ[2]। पालाश या खदिर काष्ठ का यूप काटे। पाँच अरत्नी लम्बा यूप काटे। यूप में से पहले कटा हुआ टुकड़ा सुरक्षित रखे। यूप के पञ्चम भाग को छोड़कर शेष भाग अठपहलू बनावे। यूप के अग्र में पहनाने के लिए एक चषाल बनावे। विधिपूर्वक यूपच्छेदन करके यूप को शकट पर रखकर देवयजन में ले आवे।

महावीर सम्भरण

महावीर, प्रवर्ग्य और घर्म ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। दीक्षा में महावीर पात्र का निर्माण किया जाता है[3]। जिस परिवृत्त में अप्सुदीक्षा का विधान हुआ है, उसी में महावीर पात्र का निर्माण होता है। बाम्बी की मिट्टी, वराह द्वारा खोदी हुई मिट्टी, पूतीका और गवेधुका को कूटकर प्रादेशमात्र ऊँचा, चौड़े मुँह का, मेखलायुक्त और मध्य में कृश तीन पात्र बनाते हैं[4]। इसी के साथ स्रुची के मुँह जैसे दो पिन्वन पात्र और दो रौहिण कपाल बनाते हैं। अनन्तर महावीर पात्रों को गवेधुका से चिकनाते हैं[5]। अग्नि से पकाकर उन पात्रों पर दूध छोड़कर ठंडा करते हैं। इस प्रकार पात्रों का निर्माण करके इन्हें सुरक्षित रख दे।

द्वितीयदिन

प्रायणीयेष्टि

प्रथम दिन यजमान की दीक्षा हो जाने पर दूसरे दिन यह प्रायणीयेष्टि की जाती है[6]।

---

१. बहवो दीक्षापक्षाः—तद्यथा एका दीक्षा, तिस्रो दीक्षा, चतस्रो द्वादश वा अपरिमिता वेति। दीक्षासु यूपच्छेदनं, दीक्षासु महावीरसम्भरणं, दीक्षासु वनीवाहनमित्येवमादि यद् दीक्षामध्ये विहितं कर्म तदेकदीक्षापक्षे प्रथमदिन एव। दे० प० पृ० २४७।

२. आज्यशेषमादाय सतक्षा गच्छति यूपम्। पालाशं बहुपर्णमिशुष्काग्रमूर्ध्वशकलशाखं मध्याग्रोपनतमव्रणम्। प्रथमशकलं निदधाति। न दक्षिणा पतेत्। अष्टाश्रि करोत्युपरवर्जम्। का श्रौ० ६.१.५,८,१३,१७,२६।

३. दीक्षासु महावीरान् संभरति। का० श्रौ० २६.१.१।

४. प्रादेशमात्रमूर्ध्वमासेचनवन्तं मेखलावन्तं मध्यसङ्गृहीतमूर्ध्वं मेखलायास्त्र्यङ्गुलम्। का० श्रौ० २६.१.१७।

५. गवेधुकाभिः श्लक्ष्णयति। का० श्रौ० २६.१.२३। शु० य० ३७.८।

६. आदित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति। श० ब्रा० ३.२.२.१। दीक्षान्ते प्रायणीयमदित्यै चरुं निर्वपति। का० श्रौ० ७.५.१२।

देवता	हविर्द्रव्य
पथ्यास्वस्ति	आज्य
अग्नि	आज्य
सोम	आज्य
सविता	आज्य
अदिति	चरु

अध्वर्यु पात्रासादन करके चरु निर्माण करे। क्रमशः उपर्युक्त देवताओं का आज्य और चरु से यथाविहित याग करे। इस इष्टि का शंयुवाक पर्यन्त ही अनुष्ठान करने का विधान है[1]। प्रधानयाग के समय प्रवद्भार्गव साम का गान होना चाहिए[2]। चरुलिप्त चरुस्थाली और मेक्षण को उदनीयेष्टि के निमित्त सुरक्षित रखे।

सोमक्रयण

सोमक्रयण करने के समय प्रतिप्रस्थाता उपरव के निकट अनडुह् (बैल का) चर्म बिछावे सोम विक्रयी बैठकर अनडुह् चर्म पर सोमलता के टुकड़े करे।

यजमान अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, ब्रह्मा और पत्नी सोमक्रयणी गौ को लेकर सोमक्रयणार्थ प्रस्थान करें[3]। सोमक्रयणी गौ, सुवर्ण, वस्त्र और अजा देकर सोमविक्रयी से सोमक्रयण करना विहित है। अध्वर्यु सोमक्रयणी के चलने पर सप्तम पादनिक्षेप स्थान पर हवन करके वहाँ की मिट्टी किसी पात्र में ले। मृत्तिका सहित पात्र यजमान को दे और यजमान अपनी पत्नी को दे। सोमविक्रयी के निकट सब लोग बैठें। अध्वर्यु प्रैष करके सोम के लिए आस्तरण, आवरण और पगड़ी मँगाले[4]। वस्त्र को बिछा कर अपेक्षित सोम को यथाविहित दोनों हाथ की अङ्गुलियों से वस्त्र पर रखे[5]। बिछाये हुए वस्त्र के छोर को इकट्ठा करके पगड़ी बाँधे। गठरी में वायु और आकाश के अवकाश के निमित्त स्थान करे[6]।

---

१. शंय्वन्तं भवति। का० श्रौ० ७.५.२०।

२. प्रायणीयायां प्रवद्भार्गवम्। द्रा० श्रौ० २.२.२२।
यथा—प्रवद्भार्गवस्य भृगुऋषिः जगती छन्दः सोमो देवता प्रायणीयायां गाने विनियोगः।
२र   २ १
प्रोअयासाइत्। इन्दुरिन्दा०। ऊहगान ४.७।

३. अलक्षिताव्यङ्गाप्रवीतारज्जुबद्धा बभ्रुः पिङ्गला पिङ्गलाभावेऽरुणारुणाभावे रोहिण्यश्येताक्षी। का० श्रौ० ७.६.१२।

४. सोमोपनहनमाहर सोमपर्यणहनमाहरोष्णीषमाहर। श० ब्रा० ३.२.५.३।

५. द्विगुणं वा चतुर्गुणं वा प्राग्दशं वोदग्दशं वोपस्तृणाति तद्राजानं मिमीते।
श० ब्रा० ३.२.५.९।
एतया चतसृभिरेतया तिसृभिरेतया द्वाभ्यामेतयैकयैवैकयैतया द्वाभ्यामेतया तिसृभिरेतया चतसृभिरेतया सर्वाभिः समस्याञ्जलिनाध्यावपति। तद्दशकृत्वो मिमीते।
श० ब्रा० ३.२.५.१३;१७।

६. उष्णीषेण विग्रथ्नाति। मध्येऽङ्गुल्याकाशं करोति। श० ब्रा० ३.२.५.१८-१९।

सोमपणन

यहाँ बेचने और खरीदने वालों में मोल-भाव होता है[१]। अध्वर्यु द्वारा सोम बिकाऊ है ? पूछने पर सोमविक्रयी अपनी स्वीकृति देता है[२]। सोमविक्रयी अपने सोम का महत्त्व अधिक कहता है[3]। वह कहता है कि सोम राजा है। अतः उसका मूल्य अधिक है। अध्वर्यु गौ की विशेषता वर्णित करता है[४]। गौ से दूध, दही, मक्खन, घी प्रभृति वीर्यशाली दस पदार्थ प्राप्त होते हैं। सोमविक्रयी पुनः सोम को राजा कहकर अधिक मूल्य पर बेचना चाहता है। अध्वर्यु क्रमशः पाँच बार में गौ की कला, शफ, पाद, अर्द्धभाग और समस्त गौ से सोम खरीदने को कहता है[५]। सोमविक्रयी उतने मूल्य पर भी बेचना नहीं चाहता और सोम के बदले में अधिक पदार्थ लेने की इच्छा रखता है[६]। अन्त में अजा, सुवर्ण और गौ प्रभृति उसे देकर सोम खरीद लेते हैं। सोमविक्रयी को मूल्य स्वरूप दिया हुआ सुवर्ण उससे छीन लेते हैं और उसे वैकल्पिक पीट कर भगा देते हैं।

सोमशकटारोहण

सोम की खरीद हो जाने के अनन्तर यजमान मस्तक पर सोम को रख कर शकट के पास ले जाता है। अध्वर्यु शकट पर कृष्णाजिन बिछावे[७]। शकट पर सोम रखे। शकट में दो बैल जोते[८]। सुब्रह्मण्य हाथ में पलाश की शाखा लेकर शकट को हाँके। अध्वर्यु शकट के पश्चाद् भाग में लटकते हुए अपालम्ब संज्ञक शकट के पश्चात् भाग में लटकते हुए काष्ठ को पकड़ कर "सोमाय क्रीतायानुब्रू ३ हि" कहकर होता को प्रैष करे[९]।

---

१. स वै राजानं पणते। श० ब्रा० ३.२.६.१।

२. सोमविक्रयिन् ? क्रय्यस्ते सोमो राजा। क्रय्य इत्याह सोमविक्रयी। का० श्रौ० ७.८.२-३।

३. सोमो राजार्हति। का० श्रौ० ७.८.८।

४. गौर्वै प्रतिधुक्, तस्यै शृतं, तस्यै शरस्तस्यै दधि, तस्यै मस्तु, तस्या आतञ्चनं, तस्यै नवनीतं, तस्यै घृतं, तस्या आमिक्षा, तस्यै वाजिनम्। का० श्रौ० ७.८.८।

५. कला तु षोडशो भाग इत्यमरः। शफ=खुर।

६. भूय एवेत्यतः प्रभृति चतुरावर्त्तयति। स (अध्वर्यु) आह चन्द्रं ते वस्त्रं ते छागा ते धेनुस्ते मिथुनौ ते गावौ तिस्रस्तेऽन्या। का० श्रौ० ७.८.९-१५।

७. कृष्णाजिनमास्तृणाति। का० श्रौ० ७.९.५। तस्मिन्सोमं निदधाति। का० श्रौ० ७.९.६।

८. अनड्वाहौ युनक्ति। का० श्रौ० ७.९.१०।

९. कात्यायन महर्षि कहते हैं—पश्चात्परीत्यालम्बं गृहीत्वा। का० श्रौ० ७.९.१३। इस सूत्र में अपालम्ब को पकड़ कर वाचन करे। परन्तु इस अपालम्ब शब्द का अर्थ लोगों ने भिन्न-भिन्न किया है। यहाँ कर्काचार्य कहते हैं, अपालम्ब शब्देन पश्चादाबद्धा रज्जुरभिधीयते। का० श्रौ० क० भा० ७.९.१४। सरलावृत्तिकार काशीस्थ विद्याधर गौड कहते हैं—पश्चाद्भागे रज्जुरेकाबद्धा वर्त्तते। सा च यदा अनोनिम्नप्रदेशेषु शीघ्रं गच्छति तदा

अध्वर्यु सुब्रह्मण्याह्वान करे। अध्वर्यु द्वारा प्रैष करने पर यजमान मन्त्र वाचन करे[1]। प्रकृतिशाला के पूर्व में सोमशकट खड़ा करे[2]। प्रकृति शाला में आहवनीय के दक्षिण की ओर औदुम्बर काष्ठ की आसन्दी रखे[3]। सोम को शकट पर से लाकर आसन्दी पर स्थापित करे[4]।

आतिथ्येष्टि

प्राचीन समय से ऋषि लोग सोम को राजा मानते हैं और उसे वन्दनीय समझते हैं। उन्हीं के स्वागत रूप में यह आतिथ्येष्टि की जाती है[5]। शकट का केवल दाहिना बैल शकट से अलग कर यह इष्टि की जाती है। बायाँ बैल भी शकट से खोलना है परन्तु यज्ञीय विधान के अनुसार वह अनन्तर खोला जायेगा। इसीलिए इस इष्टि का कार्यकलाप त्वरितगति से करना पड़ता है। हवि का निर्वाप करने के अनन्तर शकट का बायाँ बैल खोला जाता है। इस इष्टि में विष्णु देवता के निमित्त नवकपाल पर पुरोडाश तैयार किया जाता है[6]। पालाश की परिधि के स्थान में श्रीपर्णी काष्ठ की परिधि होती है। काशमय प्रस्तर और ईख के अग्र भाग की विधृति होती है। इस इष्टि की गणना खण्डेष्टि में की जाती है।

खण्डेष्टि

प्रकृतियाग में कहे हुए कुछ कृत्य जिस याग में विधान के अनुसार छोड़ दिये जाते हैं उसे खण्डेष्टि कहते हैं। अग्नि का अन्वाधान, ब्रह्मवरण, व्रतोपायन, आरण्यभोजन, अन्वाहार्य-दक्षिणा, इडाविधान, अन्तर्धानकट, पूर्णपात्र और कर्मापवर्ग कृत्य प्रभृति कृत्य इन खण्डेष्टियों में

तदनो धारयितुमुपयुज्यते। का० श्रौ० स० वृ० ७.९.१४। हरिस्वामी कहते हैं—पश्चाद्भागे बद्धं लम्बायमानं काष्ठमेवापालम्बशब्देनोच्यते येनोर्ध्वप्रदेशमारोहतः शकटस्य स्तम्भनेन पर्यावर्त्तनं वार्यत इति हरिस्वामिनो याज्ञिकाश्च। दे० प० पृ० २९९। सैद्धान्तिक पक्ष यही है कि शकट के पीछे लटकते हुए काष्ठ को पकड़ कर प्रैष देना।

१. भद्रो म इति वाचयति। का० श्रौ० ७.९.१६।
भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते। शु० य० ४.३४।

२. समीपेऽन उपस्थाप्य। का० श्रौ० ७.९.२२।

३. औदुम्बरीमासन्दीं नाभिदघ्नामरत्निमात्राङ्गीभूतामाहरन्ति चत्वारः। का० श्रौ० ७.९.२४।

४. तस्मिन्सोमं निदधाति। का० श्रौ० ७.९.२७।

५. अतिथिर्वा एष एतस्यागच्छति, यत्सोमः क्रीतः० एतदातिथ्यं करोति। श० ब्रा० ३.३.२.२।
शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम्। श० ब्रा० ३.३.२.१।

६. वैष्णवं नवकपालम्। का० श्रौ० ८.१.१। प्रणवो नवमः पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री० तस्मान्नवकपालः पुरोडाशो भवति। श० ब्रा० ३.३.२.१५।

नहीं किये जाते[१]। इष्टि के मध्य में अग्निमन्थन होता है[२]। पहली बार की इडा विधि के अनन्तर इष्टि की समाप्ति होती है। शिरस्थानीय होने से इसकी विधि इडान्त होती है[3]।

तानूनप्त्रविधि

श्रौतयाग में यह विधि बहुत महत्त्व की है[४]। इस विधि में यजमान के व्रतग्रहण पात्र में आज्य रखते हैं। उसे छूकर ऋत्विज् लोग याग करते हुए परस्पर द्रोह न करना और सर्वात्मना याग को सम्पादित करने का शपथ ग्रहण करते हैं[५]। अनन्तर इस आज्य में दूध मिला कर यजमान को दिया जाता है।

अवान्तरदीक्षा

यजमान आहवनीय के अग्नि पर और यजमान पत्नी गार्हपत्य के अग्नि पर समित् का हवन करते हैं। पहले दीक्षा के समय यजमान और यजमान पत्नी इन दोनों की हाथ की मुट्ठी कपड़े से बाँधी गयी है। इस अवान्तर दीक्षा में बँधी हुई मुट्ठी को और अधिक कसकर बाँध देते हैं। यह अवान्तर दीक्षा का विधान कहा है[६]।

सोमालम्भन

मदन्ती के जल से हाथ धोकर हाथ में सुवर्ण पहनते हैं। तब समन्त्रक सोम का स्पर्श करते हैं। ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, उद्गाता, प्रतिप्रस्थाता और यजमान सोमालम्भन करते हैं[७]।

निन्हवविधि

आलम्भन विधि के अनन्तर यह विधि की जाती है। ऋत्विज् सहित यजमान हाथ

---

१. अग्न्यन्वाधानव्रतोपायनारण्यभोजनदानब्रह्मवर्णादीनि दीक्षणीयाप्रभृति प्रागुदवसानीयायाः सोमे कृतत्वात्। का० श्रौ० ८.१.४।

२. आसाद्य हवींष्यग्निं मन्थति। श० ब्रा० ३.३.२.१९।

३. शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं पूर्वार्धो वै शिरः पूर्वार्धमेवैतद्यज्ञस्याभिसंस्करोति० तस्मादिडान्तं भवति। श० ब्रा० ३.३.२.२६।

४. स तानूनप्त्रिणि ब्रह्मचारिणि च त्रिरात्रम्। पा० गृ० २.११.८।

५. यैः सह तानूनप्त्रमाज्यं स्पृष्टं तेभ्यः द्रोहोऽपकारो न कार्यः कदाचिदपि। दे० प० पृ० २६३। अनाधृष्टमसि। शु० य० ५.५। दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निधायावमृशन्त्यृत्विजो यजमानश्च० अद्रोहस्तेभ्यो न सतानूनप्त्रिणे द्रोग्धव्यमिति श्रुतेः। का० श्रौ० ८.१.२०-२१। तानूनप्त्रशब्देन शपथमात्रमुपलक्ष्यते। ऐ० ब्रा० सा० भा० ४.७.२४।

६. आहवनीये समिधमाधाय मदन्तीरुपस्पृश्य गाढतरं मुष्टिमेखलं कुरुते। का० श्रौ० ८.२.४। अग्निस्तपोदीक्षा तदवान्तरदीक्षामुपैति सन्तरामङ्गुली रचते सन्तरां मेखलां पर्यस्तामेवैनामेतत्सतीं पर्यस्यते। श० ब्रा० ३.३.४.३।

७. वज्रो वा आज्यं रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमं हिन सामेति तस्मान्मदन्तीरुपस्पृश्य राजानमाप्याययन्ति। श० ब्रा० ३.३.४.११।

धोते हैं। अनन्तर वेदि में स्थापित प्रस्तर के ऊपर समन्त्रक अपने दोनों हाथों को रखकर द्यावापृथिवी को नमस्कार करते हैं[१]।

सुब्रह्मण्याह्वान

अध्वर्यु आतिथ्येष्टि समाप्त करके शाला के पूर्व में खड़े होकर सुब्रह्मण्याह्वान करे। "सुब्रह्मण्ये सुब्रह्मण्यामाह्वय" प्रैष करे। पत्नी और यजमान द्वारा स्पर्श करते रहते सुब्रह्मण्य मन्त्रपाठ करे[२]। सुब्रह्मण्य द्वारा मन्त्रपाठ हो चुकने पर सुब्रह्मण्य को उपहारस्वरूप नारियल दे[३]।

प्रवर्ग्यविधि

पहले कहा है कि प्रवर्ग्य, घर्म और महावीर ये तीनों शब्द पर्यायवाची हैं। प्रवर्ग्य सम्बन्धी विधान को प्रवर्ग्यविधि कहते हैं। श्रौतयाग में यह एक महत्त्व की विधि मानी गयी है[४]। प्रथम याग में इसका अनुष्ठान वर्ज्य है। उसमें भी श्रोत्रिय के लिए विकल्प है। अवैदिक ब्राह्मण और यजमानपत्नी को इस विधि को देखने का अधिकार नहीं है[५]। इसीलिए इस विधि के प्रारम्भ करने से पूर्व यज्ञशाला के दरवाजे बन्द कर दिये जाते हैं[६]।

सामग्री

उपयमनी
महावीरपात्र
परीशास
पिन्वनपात्र २

---

१. प्रस्तरे निह्नुवत उत्तानहस्ता दक्षिणोत्ताना वा। का० श्रौ० ८.२.८।

२. आतिथ्यायां संस्थितायां दक्षिणस्य द्वारबाहोः पुरस्तात्तिष्ठनन्तर्वेदिदेशेऽन्वारब्धे यजमाने पत्न्यां च सुब्रह्मण्योमिति त्रिरुक्त्वा निगदं ब्रूयात्। ला० श्रौ० १.३.१।

२ १ २ १ २ १ र २ १ २ १र २ १रर२रर
३. सुब्रह्मण्यो३म् सुब्रह्मण्यो३म् सुब्रह्मण्योमिन्द्रागच्छ हरीव आगच्छ मेधातिथेर्मेष
१ २ रर १ रर २ १ २ र र १ २ १र २ १र २ र २ र १र
वृषणश्वस्य मेने। गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारकौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाण। त्र्यहे सुत्या-
र २ १र २ १ र २ १र २ १र २
मागच्छ मघवन्देवा ब्रह्माण आगच्छतागच्छतागच्छत। सुब्रह्मण्योमिति त्रिराह्वयेत्प्राचि वर्तमाने। ला० श्रौ० १.२.२०।

४. ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः शिरः प्रवर्ग्यः। तस्माद् यदि प्रवर्ग्यवान्भवति प्रवर्ग्येण प्रचर्योपसद्भिः प्रचरन्ति तद्ग्रीवाः प्रतिदधति। श० ब्रा० ३.३.५.१।
कामं तु योऽनूचानः श्रोत्रियः स्यात्तस्य प्रवृञ्ज्यात्। गो० ब्रा० उत्त० २.६।

५. पत्न्यदर्शनम्। अनर्तुक्तिभिश्च। का० श्रौ० २६.२.३-४।

६. अपिहितद्वारे प्रवर्ग्याचरणम्। का० श्रौ० २६.२.२।

रौहिणकपाल २
रौहिणहवणी
अनुत्कीर्णस्रुची २
स्थूणा
मयूख
धृष्टि
स्रुव
मुञ्जप्रलव (शरतृण)
वैङ्कतशकल
स्रुची
मौञ्जवेद
पवित्र
परिधि
रज्जुसन्दान
आसन्दी
कृष्णाजिन
अभ्रि
सिकता
आज्य
मौञ्जकूर्च
औदुम्बरसमित्
सुवर्णरुक्म
राजतरुक्म

इस विधि में ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, प्रस्तोता, आग्नीध्र, प्रतिप्रस्थाता और यजमान रहते हैं। प्रारम्भ में शान्तिपाठ करें[1]। अध्वर्यु गार्हपत्य के निकट पात्रासादन करे। होता को शंसन करने का[2] और प्रस्तोता को सामगान करने का प्रैष करे[3]। ब्रह्मा से अनुमति ले करके

---

१. ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणम्प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रम्प्रपद्ये।
वागौजः सहौजो मयि प्राणापानौ०। शु० य० ३६.१-२४।

२. होतरभिष्टुहीत्युक्तः। अनवानमेकैकां सप्रणवामभिष्टौति।
ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् विसीमतः सुरुचो वेन आवः।
सबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवो ३म्। शां० श्रौ० ५.९.४-५।

३. घर्माञ्जन के समय। शाङ्गंस्य कक्षीवान् ऋषिः जगतीछन्दः घर्मो देवता घर्माञ्जने

प्रवर्ग्यविधि का प्रारम्भ करे। यज्ञशाला के दक्षिणद्वार के बाहर गाय और बकरी को बाँधने के लिए खूँटी गाड़े[१]। एक गार्हपत्य के उत्तर में, दूसरा आहवनीय के उत्तर में और तीसरा आहवनीय के दक्षिण में खर बनावे[२]। सोमासन्दी के उत्तर में घर्मासन्दी रखे[३]। आसन्दी पर दो घर्मपात्र और अभ्रि रख कर वस्त्र से ढँक दे।

गार्हपत्य से उत्तर वाले खर पर घर्मपात्र रखे। खर में घर्मपात्र के नीचे रजतशतमान गाड़ दे। घर्मपात्र को आज्य से भर दे। प्रस्तोता को शुक्र साम कहने का प्रैष करे। प्रस्तोता प्रैष के अनुसार शुक्र साम का गान करे[४]। यह पहले कहा है कि पत्नी प्रवर्ग्यविधि को न देखे। अतः अब पत्नी वस्त्र से सिर और अपनी आँखें ढँक ले[५]। मुञ्जप्रलव को गार्हपत्य के अग्नि से जला ले। उसी अग्नि से घर्मपात्र के चारों ओर रखे हुए वैकङ्कत काष्ठ खण्ड को प्रज्वलित करे। सुवर्णशतमान से घर्मपात्र को ढँक दे[६]। अध्वर्यु द्वारा प्रस्तोता को चन्द्र साम गान करने का प्रैष करने पर प्रस्तोता साम गान करे[७]। बाहुमात्र पालाश की समित् के अग्रभाग में कृष्णाजिन-खण्ड लगाकर तीन धवित्र बनाते हैं। अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और आग्नीध्र एक-एक धवित्र हाथ में लेकर घर्म के खर की परिक्रमा करते हैं। खर के अग्नि को धवित्र से प्रज्वलित करते रहते हैं[८]। अध्वर्यु होता द्वारा पठित मन्त्रों के प्रत्येक प्रणव पर स्रुवा से घर्मपात्र में आज्य छोड़े। अध्वर्यु 'रुचितो घर्मः' कहते हुए उठे[९]।

---

४ ५ १ ३४५र ३४५र १३२ १३२
विनियोगः—हावांजा। ता २ ३ ४ इ। वियंजतें समंजते। एहिया। एहिया ३४। हाउ
५ १
क्रातूम्। रा २३४ यि०। वे० गा० १६.२.३३।

१. पूर्वया द्वारा स्थूणामयूखं निर्हृत्य दक्षिणतो निखनति होतुः सन्दर्शने। का० श्रौ० २६.२.२९।

२. गार्हपत्याहवनीया उत्तरेण खरौ निवपति। दक्षिणतोऽनुभित्युच्छिष्टखरम्।
का० श्रौ० २६.२.३०-३१।

३. पूर्वेणाहवनीयं० राजासन्द्या उत्तरतः। का० श्रौ० २६.२.३२।

४. रजतजातरूपे उपदधति तच्छुक्रचन्द्रे। द्रा० श्रौ० २.२.२६।
२र २१
हाउ।३। शुक्रम्।३। आ० गा० ३.२.७।

५. पत्नी शिरः प्रोणुते। का० श्रौ० २६.३.२।

६. सुवर्णशतमानेनापिदधाति। का० श्रौ० २६.३.९।
२र २१

७. हाउ।३। चन्द्रम्।३। आ० गा० ३.२.८।

८. कृष्णाजिनावकृत्तैर्धवित्रैरुपवाजयति त्रिभिर्दण्डवद्भिर्मधुमध्विति। का० श्रौ० २६.४.२।
अथ धवित्रैराधुनोति। त्रिर्धुन्वन्ति। श० ब्रा० १४.१.३.३०-३१।

९. यदि रुचितः स्याच्छ्रेयान्यजमानो भविष्यति, इति विद्यात्। श० ब्रा० १४.१.३.३३।
२१ रर २र
उद्यंल्लोकानरोचयः। आ० गा० ६.२.१०।

प्रतिप्रस्थाता हविर्ग्रहण करे। हविर्द्रव्य का संस्कार करके दो रौहिण पुरोडाश तैयार करे[१]। रौहिणहवणी पर दोनों पुरोडाशों को रखकर आहवनीय के दोनों ओर (दक्षिण और उत्तर में) रखे। अध्वर्यु प्रस्तोता को 'घर्मस्यतन्वौ गाय' प्रैष करे[२]। पत्नी सिर से कपड़ा हटा ले और आँखे खोल दे[३]। अध्वर्यु दक्षिण रौहिणपुरोडाश की आहवनीय में आहुति दे[४]। अध्वर्यु दक्षिणद्वार से यज्ञशाला के बाहर जाय। प्रैषपूर्वक गौ को बुलावे[५]। अध्वर्यु गौ को और प्रतिप्रस्थाता बकरी को पिन्वनपात्र में दूहे। प्रतिप्रस्थाता को धेनुसाम गाने का प्रैष करे[६]। दोहन विधि के अनन्तर पयःसाम गान का प्रैष करे[७]। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता परीशास से घर्मपात्र को पकड़ कर बाहर मैदान में ले जायँ[८]। एक बहुत बड़ी थाली में घर्मपात्र को रखे। पिन्वन पात्र में दूहा हुआ बकरी का दूध उपयमनी में लेकर घर्मपात्र में छोड़े।

यहाँ पर अध्वर्यु को घर्मपात्र में दूध छोड़ने के समय बहुत ही सावधानी बरतनी चाहिए[९]। उसका कारण यह है कि खौलते हुए आज्य में जब दूध छोड़ते हैं तो लगभग आठ फीट चौड़ी और पन्द्रह फीट ऊँची ज्वाला उत्पन्न होती है। उस समय अध्वर्यु के द्वारा थोड़ी भी असावधानी की गयी तो निश्चित रूप से भयंकर अग्निकाण्ड हो सकता है। आज्य में आठ-दस बार दूध छोड़ने तक ज्वाला होती ही रहती है। अनन्तर क्रमशः ज्वाला निर्बल होती हैं और घर्मपात्र का आज्य ठण्डा हो जाता है।

अध्वर्यु दूध दूहने के समय[१०] पयोगान का और परीशास लेने के समय वशिष्ठशफ

---

१. रौहिणावधिश्रपति तूष्णीम्० । का० श्रौ० २६.४.७ ।

२. अभीन्धते तद्घर्मस्य तन्वौ । द्रा० श्रौ० २.२.२७ ।
   रुचितं प्राहुस्तद् घर्मस्य वा रोचनमिन्द्रस्य वा । ला० श्रौ० १.६.२६ ।

३. अपोर्णौति पत्नी शिरः । का० श्रौ० २६.४.१४ ।

४. दक्षिणं रौहिणं जुहोति । का० श्रौ० २६.४.१६ ।
   अहः केतुना । शु० य० ३७.२१ ।

५. इड एहीति गामाह्वयति० पिन्वने दोग्धि । एवं प्रतिप्रस्थाताजामयूखे तूष्णीम् ।
   का० श्रौ० २६.५.१,५,८ । सरस्वती हि गौरथोच्चैराह्वयति । श० ब्रा० १४.१.५.७ ।

६. धेनुमुपसृजन्ति तद् धेनु० । द्रा० श्रौ० २.२.२९ ।

७. पयो गायेति प्रेष्यति । का० श्रौ० २६.५.९ ।

८. परीशासावादत्ते । ताभ्यां महावीरं परिगृह्णाति । का० श्रौ० २६.५.१२, १४ ।

९. अजापयसावसिच्य शान्ते गोः पयोऽवनयति० । का० श्रौ० २६.५.१६ ।

१०. पय आहरन्ति तत्पयः । ला० श्रौ० १.६.३० ।
   २ ३ २ २
   इयो ३ । इया । इयो ३ । आ० गा० ३.८ ।

गान करने का प्रस्तोता को प्रैष करे[१]। उपयमनी से घर्मपात्र में आज्य छोड़े[२]। घर्मपात्र से ही आहवनीय में आहुति करे[३]। घर्मपात्र को आहवनीय से उत्तरवाले खर पर रखे। वैकङ्कत काष्ठ खण्ड को घर्मपात्र में डुबो कर आहवनीय पर आज्य की आहुति दे और काष्ठ को प्रथमपरिधि के नीचे खोंसे[४]। वैकङ्कत काष्ठ की समित् से तीन बार उपर्युक्त विधि करके चौथी समित् बर्हि के नीचे खोंसे[५]। पाँचवीं और छठी समित् की विधि पूर्ववत् करे। सातवीं समित् को प्रतिप्रस्थाता को दे। प्रतिप्रस्थाता उसे उत्तर की ओर फेंक दे[६]।

घर्मप्राशन

हवन के अनन्तर उपयमनी में घर्मपात्र का आज्य छोड़ दे[७]। आहवनीय के उत्तर में स्थापित रौहिणपुरोडाश की आहुति दे[८]। आहवनीय के पश्चिम में परिधि के नीचे रखे हुए वैकङ्कत शकल की आहवनीय में आहुति दे[९]। उपयमनी में रखा हुआ घर्म सब ऋत्विजों को दे[१०]। यजमान और ऋत्विज् उपहवपूर्वक उसका प्राशन करें[११]। उपयमनी को उच्छिष्ट खर पर धोकर रख दे। घर्मदुघा गौ को तृण और जल दे[१२]। घर्म पात्र आसन्दी पर रखे।

उपसदिष्टि

यह पहले कहा जा चुका है कि प्रथमयाग में प्रवर्ग्यविधि नहीं की जाती। यदि प्रवर्ग्य

---

१. शफाभ्यां परिगृह्णाति तद्वसिष्ठशफौ। ला० श्रौ० १.६.३२।
   १   २   १   २   २   २र र
   हाउ प्राथाः। चयस्यसप्रथः। च ना २। मा ३उ वा ३। ईहा ।३। आ० गा० ३.५-७।
२. उपयमन्याऽऽसिञ्चति घर्मे। का० श्रौ० २६.६.१।
३. वषट्कृते जुहोति। का० श्रौ० २६.६.३।
४. विकङ्कतशकलैर्जुहोति घर्मे न्यज्यन्यज्य। का० श्रौ० २६.६.११।
   शाकलैर्जुहोति। श० ब्रा० १४.२.१.३१।
५. चतुर्थमुदङ्ङीक्षमाणो दक्षिणतो बर्हिष्युपगूहति। का० श्रौ० २६.६.१३।
६. सप्तमं प्रतिप्रस्थात्रे प्रयच्छति। तं स उत्तरतः शालाया उदञ्चं निरस्यति।
   का० श्रौ० २६.६.१४-१५।
७. अथ महावीरादुपयमन्याम्प्रत्यानयति। श० ब्रा० १४.२.१.४०।
   उपयमन्यामासिञ्चति। का० श्रौ० २६.६.१६।
८. अथ रौहिणौ जुहोति। श० ब्रा० १४.२.१.४१।
९. उपश्रितानि च प्रहरति। का० श्रौ० २६.६.१८।
१०. अथ यजमानाय घर्मोच्छिष्टम्प्रयच्छति। श० ब्रा० १४.२.१.४२।
११. वाजिनवद् भक्षयन्ति। का० श्रौ० २६.६.१९।
१२. यवसोदके धेनवे प्रयच्छन्त्येके। का० श्रौ० २६.६.२४।

विधान किया हो तो प्रवर्ग्य के बाद उपसदिष्टि करे। प्रवर्ग्य न किया हो तो भी इस समय उपसदिष्टि करनी चाहिए[1]।

प्रणीता संस्कार से इस इष्टि का प्रारम्भ करे। प्रधान याग में अग्नि, सोम और विष्णु के निमित्त याग करे[2]। पूर्ववत् सोमाप्यायन, निह्नव और सुब्रह्मण्याह्वान करे[3]। अग्नि अयःशया निमित्तक आहुति दे[4]। अयःशया निमित्तक आहुति होने के कारण यह इष्टि अयःशयोपसदिष्टि कही जाती है। अपराह्ण का प्रवर्ग्य और उपसदिष्टि करे।

व्रतप्रदान

अध्वर्यु गौ को दुहकर यजमान को व्रतप्रदान करे। आज पहला दिन है अतः एक गौ के तीन स्तन का, दूसरे दिन दो स्तन का और तीसरे दिन एक स्तन का दूध पीने को देना चाहिए। उसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता पत्नी को व्रतप्रदान करे। यजमान के व्रत के निमित्त अध्वर्यु गार्हपत्य के अग्नि पर दूध को गरम करके कांस्य के पात्र में यजमान को पीने को दे। पत्नी के निमित्त प्रतिप्रस्थाता दक्षिणाग्नि पर दूध को गरम करके लोहपात्र में पत्नी को पीने को दे। इसी प्रकार यजमान और यजमान पत्नी को व्रत प्रदान के निमित्त सर्वत्र समझना चाहिए[5]।

तृतीय दिवस

तीसरे दिन प्रातःकालीन कृत्य से निवृत्त होकर वाग्विसर्गान्त कृत्य करे। व्रतप्रैष और व्रतप्रदान करे। प्रातः प्रवर्ग्य और रजःशयोपसदिष्टि करे। इतने कृत्य के अनन्तर वेदिमान कृत्य करे। एक दीक्षा पक्ष में चौथे दिन अग्नीषोमीय पशुयाग होता है। उसी दिन को औपवसथ्य दिवस कहते हैं। औपवसथ्य के पूर्व दिन वेदिमान कृत्य करना चाहिए[6]।

वेदिमान

सोमयाग की वेदि का प्रक्रम दो पैर (२४ अंगुल) का एक प्रक्रम होता है। प्रकृति शाला के पूर्वान्त से तीन प्रक्रम स्थान छोड़कर वेदि का प्रारम्भ विहित है[7]। प्रारम्भ के स्थान से छत्तीस प्रक्रम की पूर्व में सीधी रेखा करे[8]। इसी रेखा को पृष्ठ्या

---

१. प्रवर्ग्योपसदावतः। उपसदेव वा अप्रवर्ग्ये। का० श्रौ० ८.२.१४-१५।

२. अग्नयेऽनुवाचयति। अर्धं हुत्वा सोमाय, विष्णवे समानीय। का० श्रौ० ८. २. ३०–३१।

३. सादयित्वा स्रुचौ सोमाप्यायनादासुब्रह्मण्याप्रैषात्। का० श्रौ० ८. २. ३२।

४. जुहोति स्रुवेण, अयःशयामन्वारब्धे। का० श्रौ० ८. २. ३३।

५. त्रिस्तनं प्रथमायां दोहयति। एकापचयेनोत्तरयोः। का० श्रौ० ८.३.१–२।

६. औपवसथ्यात्पूर्वेऽहनि पौर्वाह्णिक्या प्रचर्य वेदिं मिमीते। का० श्रौ० ८. ३. ६.।

७. पूर्वाध्यर्धात्स्तम्भात्पुरस्तात् त्रिषु प्रक्रमेषु शङ्कुं निहन्ति सोऽन्तःपात्यः।
का० श्रौ० ८. ३. ७।

८. तस्मात्पुरस्तात्षट्त्रिंशति। का० श्रौ० ८. ३. ८।

कहते हैं। अर्थात् यह वेदि छत्तीस हाथ लम्बी होती है। पूर्व में चौबीस हाथ[1] और पश्चिम में तीस हाथ चौड़ी होती है[2]। इस वेदि के विवरण के निमित्त आगे चित्र देखें।

सायं प्रवर्ग्यानुष्ठान और सायं रजःशयोपसदिष्टि करे। इसके अनन्तर प्रवर्ग्योत्सादन करे।

---

१. दक्षिणोत्तरी च पञ्चदशसु पञ्चदशसु। का० श्रौ० ८. ३. ९।

२. पूर्वार्घ्याच्च द्वादशसु द्वादशसु। का० श्रौ० ८. ३. ११।

अग्निष्टोमयागविहार

१. पत्नीशाला ५ × ५ × ५ अरत्नि, पूर्व की ओर द्वार २ × ४
२. दीक्षाशाला ” ” ”
३. मध्य में गर्त १८ × १८ × १८ अंगुल
४. प्रकृतिविहार दर्शपौर्णमास विहारवत्
५. प्रवृञ्जनीयखर १८ × १८ × ४ अंगुल
६. उद्वासनीयखर ”
७. उच्छिष्टखर ”
८. सोमासन्दी नाभि तक ऊँची ।
९. घर्मासन्दी
१०. पूर्व-दक्षिण एवं पश्चिम की ओर द्वार २ × ४ अरत्नि
११. महावेदि
१२. पश्चिम की ओर दक्षिण-उत्तर ३० अरत्नि
१३. पूर्व की ओर दक्षिण-उत्तर २४ अरत्नि
१४. मध्य-पूर्व-पश्चिम ३६ अरत्नि
१५. पश्चिम की ओर दक्षिणश्रोणी तथा उत्तरश्रोणी १५ अरत्नि
१६. पूर्व की ओर दक्षिणांस तथा वामांस १२ अरत्नि
१७. पृष्ठ्या, पश्चिम से पूर्व की ओर जाती हुई मध्य-रेखा
१८. सदोमण्डप १८ × ९ अरत्नि, पूर्व और पश्चिम की ओर द्वार
१९. औदुम्बरी अन्तःपात्य से छ प्रक्रम पूर्व और वहाँ से दक्षिण ४॥ अरत्नि दक्षिण
२० मैत्रावरुणधिष्ण्या १८ × १८ × ४ अंगुल
२१. होतृधिष्ण्या ”
२२. ब्राह्मणाच्छंसिधिष्ण्या ”
२३. पोतृधिष्ण्या ”
२४. नेष्टृधिष्ण्या ”
२५. अच्छावाकधिष्ण्या ”
२६. मार्जालीयशाला ५ × ५ × ५ अरत्नि । उत्तर की ओर द्वार
२७. मार्जालीयधिष्ण्या १८ × १८ × ४ अंगुल
२८. आग्नीध्रीयशाला ५ × ५ × ५ अरत्नि । दक्षिण एवं पूर्व की ओर द्वार
२९. आग्नीध्रीयाधिष्ण्या १८ × १८ × ४ अंगुल
३० हविर्द्धानमण्डप १० × १० अरत्नि पूर्व तथा पश्चिम की ओर द्वार
३१. उपरव २४ × २४ अंगुल (सोमाभिषवस्थान)
३२. दक्षिण शकटस्थान

३३. उत्तरशकट स्थान

३४. ग्रहासादन खर ३६ X ३६ अंगुल

३५. उत्तरवेदि ५ X ५ X १ अरत्नि

३६. नाभि १० X १० X १ अंगुल

३७. यूप ५ अरत्नि

३८. ब्रह्मासन

३९. यजमानासन

४०. उत्कर ४ अंगुल परकाल से बना वृत्ताकार। १२ अंगुल गर्त

४१. चात्वाल ३२ X ३२ X ४ अंगुल

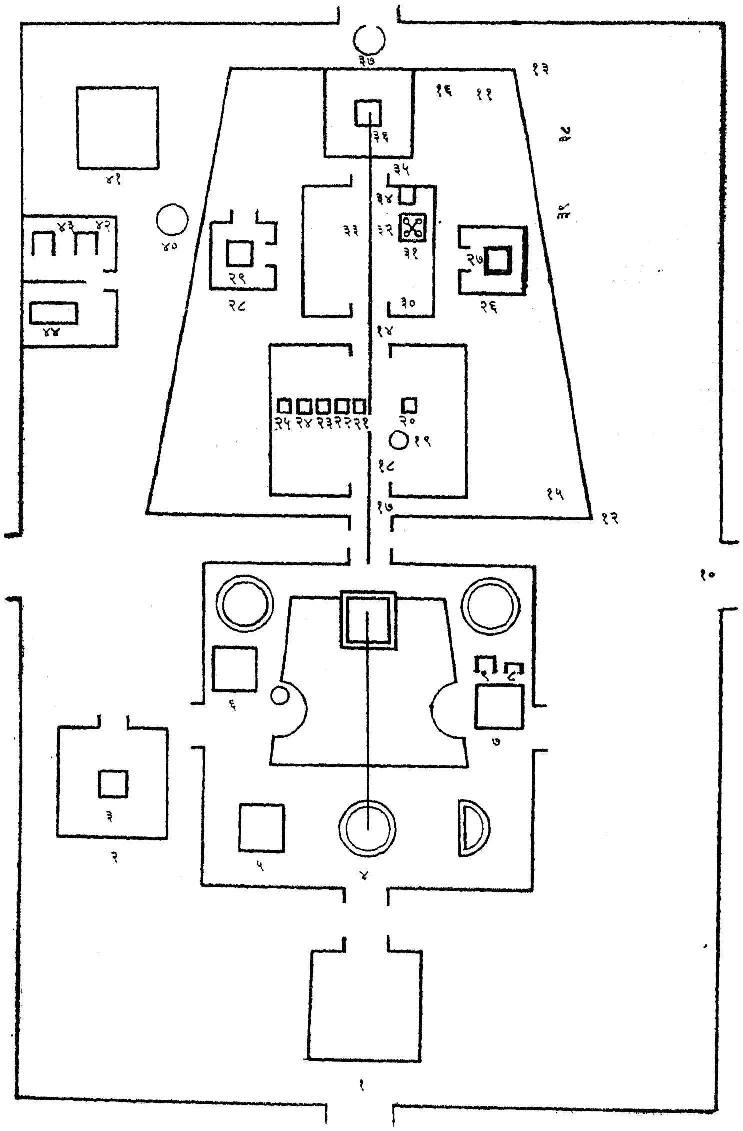
४२. शामित्रशाला अर्धपरिमाण। दक्षिण की ओर द्वार

४३. उखा "

४४. ऊबध्य "

इस देवयजन के बाहरी हिस्से में चारों ओर द्वार होते हैं।

अग्निष्टोमयागविहार



चतुर्थ दिवस

आज का दिन अग्नीषोमीया दिवस कहा जाता है। प्रातःकाल यागकृत्य का प्रारम्भ करे। गोदोहन के प्रैष तक की विधि समाप्त कर ले। अनन्तर प्रातःकालीन प्रवर्ग्यविधि और हरिशयोपसदिष्टि करे। अपराह्ण का प्रवर्ग्य और हरिशयोपसदिष्टि इसी समय करे।

घर्मोत्सादन

प्रवर्ग्य विधान हो जाने पर घर्म के उपयोगी पात्रों का विसर्जन घर्मोत्सादन कहलाता है[1]। प्रारम्भ में तीन शलाका ले। तीन दर्भमुष्टि को एक में बाँध कर एक शलाका होती है। इस प्रकार की तीन शलाका तैयार करे। आग्नीध्र उन शलाकाओं में-से एक शलाका ले। उसे आहवनीय के अग्नि में प्रदीप्त कर मुँह जितनी उँची उठा रखे[2]। अध्वर्यु शलाका पर आहुति दे। दूसरी शलाका को जलाकर नाभि के बराबर ऊँची उठा रखे। अध्वर्यु उस पर आहुति दे[3]। तीसरी शलाका जानु के बराबर उठा रखे। उस पर भी अध्वर्यु आहुति दे[4]। आहुति के अनन्तर तीनों बार शलाका को आहवनीय में छोड़ दे। प्रकृतिशाला से बाहर निकल कर अन्तःपात्य में ऋत्विज्, पत्नी और यजमान खड़े हों[5]। अध्वर्यु द्वारा प्रैष करने पर प्रस्तोता सामगान करे[6]। समस्त घर्मपात्र लेकर उत्तर वेदि के निकट जाय। साथ में लाये हुए घर्म के समस्त पात्रों को उत्तर वेदि पर यथाक्रम आसादित करे।

उत्तरवेदि पर मध्य में, उदक्संस्थ तीनों महावीर पात्र रखे[7]। उनके दोनों ओर दक्षिण और उत्तर में दोनों परीशास रखे। दोनों परीशासों के दोनों पार्श्व में दोनों रौहिणहवणी रखे। उत्तर की रौहिणहवणी के उत्तर में अभ्रि और दक्षिण रौहिणहवणी के दक्षिण में घर्मासन्दी रखे। अभ्रि के उत्तर में कृष्णाजिन रखे। समस्त पात्रों के दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में क्रमशः

---

१. उभाभ्यां चरिते प्रवर्ग्यमुत्सादयति। का० श्रौ० ८. ३. १८।

२. मुखदघ्ने धारयमाणो जुहोति। श० ब्रा० १४. २. २. २.। याते घर्मदिव्याशुग्या०। शु० य० ३८.१८।

३. नाभिदघ्ने धारयमाणो जुहोति। श० ब्रा० १४. २. २५।
याते घर्मान्तिरिक्षे०। शु० य० ३८. १८।

४. शलाकामादीप्य जानुदघ्ने धारयति। दे० प० पृ० २७७। याते घर्मपृथिव्यां शुग्या०। शु० य० ३८. १८।

५. पत्नीं पुरस्कृत्य सर्वे शालायाः पूर्वद्वारेण बहिर्निष्क्रामति। दे० प० पृ० २७७।

    २   ३ २ ३ ४ ५   २ ३   २ १   २र   ४   २र ३ ५

६. त्यग्नाइः। प्रतिदहती। हाउहौ ५ हाउ। अग्निठंहो। तारम्मा ३न्ये ३ दास्वन्तम्। वे० गा० १२. ४१।

७. उत्तरनाभ्या संस्पृष्टं प्रथमं प्रवर्ग्यमुत्सादयति। श० ब्रा० १४. २. २. १६।

तीनों घवित्र रखे। शेष पात्र यथाविधि रखे। गर्तवाले पात्रों में दूध भरे[१]। शेष दूध सुरक्षित रखे। सायंकालीन व्रतदुग्ध में इसे मिलाकर यजमान को पीने को दिया जायेगा। अध्वर्यु वेदि का सिञ्चन करके प्रस्तोता को वार्षाहर सामगान का प्रैष करे[२]। प्रस्तोता उपर्युक्त सामगान करे। इसी प्रकार घर्म के परिषेक के समय इष्टाहोत्रीय[३] साम और पत्नीशाला में जाकर श्यैतसाम का गान करे[४]। ऋत्विज् सहित यजमान चात्वाल के निकट मार्जन करे[५]। घर्मोत्सादन के अनन्तर शतमान सुवर्ण ब्रह्मा को दक्षिणा दे[६]। घर्मकृत्य के निमित्त जिस गौ को दूहा था उस गौ को अध्वर्यु को दे[७]। यजमान के व्रतग्रहण के निमित्त जिस गौ को दूहा था उसे होता को दे[८]। पत्नी के व्रत के निमित्त दूही गौ को उद्गाता को दे[९]।

अग्निप्रणयन

प्रकृतिशाला के आहवनीय में-से बाहुमात्र समित् जलाकर मिट्टी के पात्र में रखे। प्रकृतिशाला से उत्तरवेदि पर अग्निप्रणयन करे[१०]। अध्वर्यु अग्नि सहित मृत्पात्र को अपने हाथों में लेकर उत्तरवेदि की ओर चले। ब्रह्मा, यजमान, होता और आग्नीध्र अध्वर्यु का अनुगमन करे। होता ऋग्वेद का, अध्वर्यु यजुर्वेद का पाठ और उद्गाता सामगान करे[११]। प्रतिप्रस्थाता आहवनीय से उत्तरवेदि तक वज्र से रेखा करे। अध्वर्यु उत्तरवेदि पर पहुँच कर

---

१. अथास्मिन्पय आनयति। श० ब्रा० १४. २. २. २३।

२. परीशासावभितः। रौहिणहवन्यौ चावकृष्टे बाह्ये। अभ्रिमुत्तरतः। आसन्दीं दक्षिणतः। कृष्णाजिनमुत्तरतः। सर्वतो घवित्राणि। परिवोंश्च। का० श्रौ० २६. ७. १७–२३।

३. अथाह वार्षाहरं साम गायेति०। श० ब्रा० १४. २. २. २६।

२ १ २ ४ १ २र
अचिक्रदा ३ त्। आचिक्रदा ३ त्। अचिक्रदा ५ द। वृषाहरा ३ इ।
१र २ ४र २र
वार्षाहिरा ३ इ। वृषाहरा ५ ए। महान्मित्रा ३ः। वे० गा० १४. १।
५र४५ १२३ ५ २१

४. इष्टाहोत्राः। आसूक्षा २ ३ ४ ता। इन्द्रं वृधा०। वे० गा० ४. १२।
४ ३ ४ ५र

५. अभिप्रवः सुरा०। ऊ० गा० २. १. ३।

६. हिरण्यं शतमानं ब्रह्मणे ददाति। श० ब्रा० १४. २. २. ३२।

७. यैषा घर्मदुघा। तामध्वर्यवे ददाति। श० ब्रा० १४. २. २. ३३।

८. यैषा यजमानस्य व्रतदुघा। तां होत्रे ददाति। श० ब्रा० १४. २. २. ३४।

९. यैषा पत्न्यै व्रतदुघा। तामुद्गातृभ्यो ददाति। श० ब्रा० १४. २. २. ३५।

१०. अग्निं प्रणयति। का० श्रौ० ८. ३. १९।

११. प्रदेव्यं देव्याधिया भरता जातवेदसम्। हव्यानो वक्षदानुषो ३म्। ऋ० १०. १७६. २।
आशुःशिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्। शु० य० १७. ३३।
२र र ३र २र ३र र २ र र १ २
हाउ २हाउ। आ जा ओ वा ।३। अग्निर्मूर्द्धा दी ३वाः का १कू २त्०। आ० गा० ६.१।

प्रतिप्रस्थाता को अग्नि का पात्र दे। स्वयं उत्तरवेदि का प्रोक्षण संस्कार करे। मध्य में सुवर्ण रखकर आज्य से आहुति दे। गुग्गुलु, सुगंधितेजन (खस) और मेष के मस्तक के बाल उत्तरवेदि पर रख कर अग्नि रखे।

शकटस्थापन

शकट पर हविर्द्रव्य रखने के कारण शकट को भी हविर्धान कहते हैं। यहाँ पर दो शकट होते हैं। उनमें से एक बड़ा होता है। इन्हें उत्तरवेदि से पश्चिम की ओर हविर्धान मण्डप में खड़ा करते हैं[१]। वेदि की मध्यरेखा (पृष्ठ्या) के दोनों ओर (दक्षिण और उत्तर में) पूर्वाग्र इन्हें रखना चाहिए। दक्षिण शकट के नीचे सोमाभिषव होता है। उत्तरशकट पर जल-पात्र रखे जाते हैं। अध्वर्यु बड़े शकट को और प्रतिप्रस्थाता छोटे शकट को लाकर क्रमशः दक्षिण और उत्तर में उपस्थित करते हैं। इन शकटों पर मण्डप की छाया करने का सामान लादकर लाते हैं। तब हविर्धान मण्डप निर्माण, उस विहार की छाया और आड़ करते हैं। आजकल मण्डप पहले से ही बना होता है। समय पर केवल संस्कार मात्र किया जाता है। शकट को लाते समय उसके धुरे में पत्नी आज्य लगाती है। इससे चलने के समय शकट से आवाज नहीं होती और शकट की चाल हलकी होती है।

हविर्धानमण्डपनिर्माण

हविःस्थापन के निमित्त हविर्धानमण्डप का निर्माण किया जाता है[२]। यह दस हाथ का समचतुरस्र बनाना चाहिए। इसके पूर्व और पश्चिम में दो द्वार बनावे[३]। एतदर्थ स्तम्भ और खूँटे गाड़े। ऊपर चटाई (कट) से छाया करे[४]। छाया में मध्य का बाँस पूर्वाग्र होना चाहिए। बाकी के बाँस पूर्वाग्र या उदगग्र हों। छाया की चटाई भी इन्हीं बाँसों के अनुसार पूर्वाग्र या उदगग्र हों। पूर्वद्वार के ऊपर की ओर एक बाँस बाँधे। यह रराटी कहलाती है[५]। इस मण्डप में सोमाभिषव किया जाता है। सोमाभिषव बाहरी लोग न देखें[६]। एतदर्थ चटाई से आड़ करे। चटाई को काष्ठसूची से सी लेना चाहिए। इस मण्डप में सोम या हवि का भक्षण निषिद्ध है[७]।

---

१. हविर्धाने स्थापयति पृष्ट्यामुभयतः। का० श्रौ० ८. ३. १९।
२. हविर्वै देवानां सोमस्तस्माद्धविर्धानं नाम। श० ब्रा० ३. ४. ३. २।
३. उभयतो द्वारं हविर्धानं भवति। श० ब्रा० ३. ४. ३. ८।
४. तयोश्छदिरध्यवस्यति। का० श्रौ० ८. ३. २०।
५. रराट्यां पुरस्तादासजति। का० श्रौ० ८. ३. २३।
६. अद्वारेण सदोहविर्धाने प्रेक्षमाणं ब्रूयान्मा प्रेक्षथा इति। का० श्रौ० ~~८. ४. २४।~~
७. एतद्धै देवानां निष्केवल्यं यद्धविर्धानं तस्मात्तत्र नाश्नन्ति न भक्षयन्ति।
श० ब्रा० ३. ४. ५. २३।

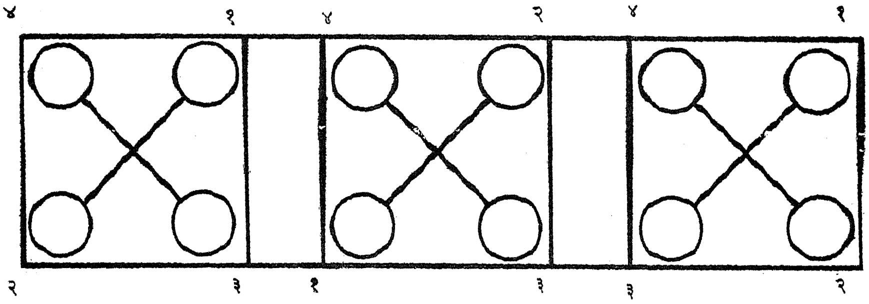
उपरव-निर्माण

दक्षिण शकट के नीचे जो गर्त्त बनाते हैं, उनकी उपरव संज्ञा है। प्रथम जमीन में चौबीस अंगुल का चतुरस्र आकार का गर्त्त बनाना चाहिए। इसके कोण विदिशाओं में हों। प्रत्येक कोण के भीतरी ओर छः अङ्गुल की परकाल घुमाकर चिह्न बनावे। चिह्नित स्थान में गर्त्त बनावे[1]। इन गर्त्तों की गहराई छत्तीस अङ्गुल होनी चाहिए। दो गर्त्तों के मध्य में प्रादेश मात्र अन्तराल होना चाहिए। इन गड्ढों के बनाने में निम्नाङ्कित तीन पक्ष कहे हैं।

प्रथमपक्ष	क्रमशः	आग्नेय, वायव्य, नैर्ऋत्य और ईशान क्रम से
द्वितीयपक्ष	"	वायव्य, आग्नेय, नैर्ऋत्य " " "
तृतीयपक्ष	"	आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य " " "

किसी भी पक्ष के आश्रयण करने पर अन्तिम गर्त्त ईशान कोण में ही बनाया जायेगा।

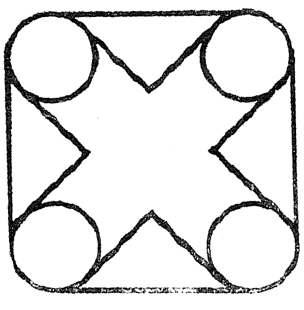
प्रथमपक्ष द्वितीयपक्ष तृतीयपक्ष



इनकी जोड़ाई का क्रम ऐसा होना चाहिए कि परस्पर सम्मुख बैठकर दो गर्त्तों में दो व्यक्तियों के हाथ छोड़ने पर गर्त्त के अन्दर दोनों के हाथ परस्पर एक-दूसरे के हाथ-से-हाथ मिल सकें। निम्नाङ्कित चित्र में प्रदर्शित प्रकार से जोड़ाई करने पर लक्ष्य सिद्धि होती है।

जोड़ाई किया हुआ उपरव

उपरव



---

१. तानेवैतदुत्किरति तस्मादुपरवान्खनति स दक्षिणस्य हविर्धानस्याधोधः प्रउगं खनति। तान्यथा परिलिखितमेव यथापूर्वं खनति। श० ब्रा० ३.४.४.३,८।
बृहन्नसि बृहद्रवाः। शु०य० ५.२२।

हस्त-सम्मर्शन

उपरव तैयार हो जाने पर अध्वर्यु उन गर्तों में पहले हाथ छोड़ कर परीक्षणार्थ स्वयं देख ले कि ठीक बना है अथवा नहीं। अर्थात् दोनों हाथ अन्दर मिलाने में किसी प्रकार की कठिनाई तो नहीं है[1]। अनन्तर एक गर्त्त में अध्वर्यु और सामने वाले दूसरे गर्त्त में यजमान हाथ छोड़े। अध्वर्यु भीतर की ओर अपने हाथ को यजमान के हाथ से मिलावे। यजमान अध्वर्यु से पूछे। अध्वर्यु यहाँ क्या है? अध्वर्यु—कल्याण है। यजमान—वह मुझे हो। अध्वर्यु उन गर्त्तों का प्रोक्षण करे[3]। गर्त्त में दर्भ रखे[4]। अनन्तर प्रादेशमात्र चौड़े और अरत्निमात्र लम्बे वारणकाष्ठ के दो तख्तों से, इन चारों गर्त्तों को ढँक दे। दोनों तख्ते पूर्व-पश्चिम लम्बे रखे जायँ। दोनों तख्तों के बीच में दो अङ्गुल जमीन छोड़े। बीच की जमीन में मिट्टी भरे और समान करे। इन पर लाल बैल का चर्म बिछावे[5]। चर्म के ऊपर सोमलता को कूटने के निमित्त पत्थर रखे[6]। इस उपरव प्रदेश से पूर्व की ओर पैंतालिस अङ्गुल जमीन छोड़कर एक चबूतरा बनावे[7]। यह चबूतरा एक अरत्नि चतुरस्र और चार अङ्गुल ऊँचा हो। इसी चबूतरे पर ग्रहपात्रों का आसादन किया जायेगा।

औदुम्बरी स्थापन

अन्तःपात्य से छः प्रक्रम पूर्व में जाकर वहाँ से तीन प्रक्रम दक्षिण में औदुम्बरी गाड़ने के लिए अभ्रि से गड्ढा खोदे[8]। उसमें ओदुम्बरी (गूलर की शाखा) खड़ी करे। इसकी ऊँचाई यजमान की लम्बाई के बराबर होनी चाहिए। इस ओदुम्बरी में जहाँ से शाखा फूटी हो, वहाँ सुवर्ण रखकर अध्वर्यु हवन करे[9]।

---

१. अवमर्शयति यथाखातं प्रतिमन्त्रम्। का०श्रौ० ८.५.१२।
स्वराडसि सपत्नहा। शु०य० ५.२४।

२. यजमानः पृच्छत्यध्वर्यो किमत्रेति भद्रमित्याह तन्म इति। कल्याणमेवैतन्मानुष्यै वाचो वदति तस्मात्पृष्टो भद्रमिति प्रत्याह। श० ब्रा० ३.४.४.१७।

३. प्रोक्षत्येनान्। का० श्रौ० ८.५.१९। रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान्। शु०य० ५.२५।

४. उपरि कुशान् कृत्वा धिषणे फलके द्व्यङ्गुलान्तरे प्रक्षालिते प्राची अरत्निमात्रे सन्तृण्णे वोपदधाति। का० श्रौ० ८.५.२२।

५. तयोश्चर्माधिषवणं परिकृत्तं सर्वलोहितम्। का० श्रौ० ८.५.२३।

६. तस्मिन्ग्रावणः पञ्च। का० श्रौ० ८.५.२४।

७. खरं पुरस्तात् करोति। का० श्रौ० ८.५.२५।

८. सोऽभ्रिमादत्ते। अथावटं परिलिखति। अथ खनति। यवमत्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति। तामुच्छ्रयति। अथ मिनोति। पर्यूहति। पर्यृषति। उपनिनयति।
श० ब्रा० ३.४.५. ४–७; १५–१९।

९. घृतेन द्यावापृथिवी पूर्वेथाम्। शु० य० ५.२८।

सदोमण्डपनिर्माण

प्रथम समभूमि करके ऊपर छाया करे। इस मण्डप के मध्य का बाँस उदगग्र होना चाहिए[1]। पूर्व में और पश्चिम में दोनों ओर गिरती (ढालू) छाया होनी चाहिए। यह मण्डप दीर्घ चतुरस्र बनाना चाहिए। इसकी लम्बाई अठारह, इक्कीस अथवा चौबीस अरत्नि और चौड़ाई नव अरत्नि होनी चाहिए[2]। यह दक्षिण-उत्तर लम्बा हो। आवश्यक स्तम्भ गाड़ कर ऊपर छाया करे। छाया के लिए ऊपर जो चटाइयाँ रखी जायँ उनका क्रम इस प्रकार होना चाहिए।

छायाक्रम

९	३	६
७	१	४
८	२	५

उपर्युक्त प्रकार से चटाई बाँध कर छाया करनी चाहिए[3]। इस मण्डप में पूर्व और पश्चिम में दो द्वार होने चाहिए। द्वार देश को छोड़कर चारों ओर आवश्यक ऊँचाई में आड़ करे। नीचे से ऊपर तक पूरा बन्द न करे। पूर्व-पश्चिम में दो-दो और दक्षिण-उत्तर में एक-एक इस प्रकार छः चटाई से आड़ करे। आड़ के मध्य में अवकाश न होना चाहिए।

आग्नीध्रीयानिर्माण

हविर्द्धानमण्डप की पूर्व की ओर की आधी लम्बाई का भाग छोड़ कर हविर्धान मण्डप

---

१. उदीचीनवंशं सदो भवति। श० ब्रा० ३.४.५.२३।

२. नव तिर्यगर्धयामो वा। औदुम्बरीं मध्ये, पृष्ठ्यामेके।
अष्टादशारत्न्येकविंशतिश्चतुर्विंशतिर्वा। का० श्रौ० ८.६.४–६।

३. अथ छदिरधिनिदधाति० तानि नव भवन्ति त्रिवृद्वै यज्ञो नव वै त्रिवृत्तस्मान्नव भवन्ति।
श० ब्रा० ३.४.५.२२।
इन्द्रस्य छदिरसि। शु० य० ५.२८।
नवतिर्यगर्धयामो वा। का० श्रौ० ८.६.४।

के उत्तर की ओर आग्नीध्रीया शाला का निर्माण होता है। यह आग्नीध्रीया शाला पाँच हाथ की समचतुरस्र और पाँच हाथ ऊँची बनानी चाहिए। यह शाला आधी अथवा पूरी वेदि से बाहर बनायी जा सकती है। इसमें दक्षिण और पूर्व में द्वार होने चाहिए[1]। द्वार की ऊँचाई चार हाथ और चौड़ाई दो हाथ होती है। मध्य भूमि में अठारह अङ्गुल की समचतुरस्र एक धिष्ण्या बनावे[2]।

धिष्ण्यानिर्माण

आग्नीध्रीया शाला में एक धिष्ण्या बनाने के अनन्तर सदोमण्डप में छ धिष्ण्या और बनावे[3]। इन धिष्ण्याओं के पश्चिम में ऋत्विज लोग बैठते हैं और हवन करते हैं। सदोमण्डप में होता की धिष्ण्या से अच्छावाक की धिष्ण्यातक पाँच धिष्ण्याओं में प्रत्येक दो धिष्ण्याओं के मध्य की दूरी अठारह अङ्गुल होनी चाहिए। पहली पृष्ठ्या के उत्तर की ओर होता की, दूसरी औदुम्बरी के दक्षिणपूर्व में मैत्रावरुण की धिष्ण्या बनावे। अनन्तर होता की धिष्ण्या के उत्तर की ओर क्रमशः ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा और अच्छावाक की एक-एक इस प्रकार चार धिष्ण्या बनावे।

मार्जालीया–मण्डप–निर्माण

हविर्धान मण्डप के उत्तर में जैसी आग्नीध्रीया शाला बनायी है उसी के बराबर नाप की हविर्धान मण्डप के दक्षिण में मार्जालीया शाला बनायी जाती है[4]। इसमें उत्तर में एक द्वार बनाना चाहिए। इस मार्जालीया में भी पूर्ववत् एक धिष्ण्या बनानी चाहिए। यज्ञपात्रों में अवशिष्ट हविःशेष का भक्षण करने के अनन्तर उन पात्रों का प्रक्षालन इसी मार्जालीया शाला में किया जाता है। इस प्रकार एक आग्नीध्रीया मण्डप में, छ सदोमण्डप में और एक मार्जालीया मण्डप में इस प्रकार कुल आठ धिष्ण्याएँ बनायी जाती हैं।

निर्मित प्रदेशों का निरीक्षण

उपर्युक्त प्रकार से मण्डप और धिष्ण्या शाला के निर्माण के अनन्तर सदोमण्डप के पूर्व

---

१. पञ्चारत्निपरिमितमपरभागमुत्तरेण पञ्चारत्निप्रमाणमेव समचतुरस्रं दक्षिणपूर्वद्वारमाग्नीध्रं साधयेत्। दे० प० पृ० २८९।

२. धिष्ण्यमष्टादशाङ्गुलं समचतुरस्रं कुर्यात्। दे० प० पृ० २८९।

३. सदोमध्यमरेखायां तत्रोदीचीं निरामया।
तस्याः प्राञ्चं पदं त्यक्त्वा ततो धिष्ण्यानि कारयेत्॥ दे० प० पृ० २८९।
अपरेण होतुः। दक्षिणपूर्वेणौदुम्बरीं मैत्रावरुणस्य। होतृधिष्ण्यनुत्तरेण चतुरः समानान्तरान्ब्राह्मणाच्छंसिपोतृनेष्ट्रच्छावाकानाम्। का० श्रौ० ८.६.१७–१९।

४. आग्नीध्राद् दक्षिणं सम्प्रति वेद्यन्ते दक्षिणामुखो मार्जालीयम्।
का० श्रौ० ८.६.२०।

द्वार के बाहर अध्वर्यु खड़ा हो। आहवनीय, बहिष्पवमान देश, चात्वाल, शामित्रशाला, औदुम्बरी, ब्रह्मासन, शालाद्वार्य और प्राजहित प्रभृति स्थानों का समन्त्रक अवलोकन करे[1]।

अग्नीषोमीय यागविधि

इस पशुयाग के निमित्त प्रकृतिशाला के आहवनीय में की जाने वाली विधि उत्तरवेदि पर और गार्हपत्य की विधि प्रकृतिशाला के आहवनीय पर की जाती है। अब से प्रकृतिशाला का आहवनीय शालाद्वार्य और गार्हपत्य प्राजहित कहा जाता है।

अग्नीषोमीया याग की सामग्री

आतिथ्या के सन्नहनावच्छादन	आतिथ्या की बर्हि
परिधि	पृषदाज्यपात्र २
विधृति	प्लक्षशाखा
आज्य	यूप का प्रथमशकल
होतृसदन	चषाल
वपाश्रपणी २	स्वरु
शूल	मैत्रावरुणदण्ड
उखा	तेहरी डोरी
असि	उपाकरणदर्भ
वसाहोमहवणी	अरणी
प्राशित्रहरण	दोहरी डोरी
इडापात्री	पशु
अन्तर्धानकट	शमिता
इध्मा	पान्नेजनी
बर्हि (एक गाड़ी)	सुवर्णखण्ड ६

अध्वर्यु यागविधि का प्रारम्भ करे। वाग्यमन करके मदन्ती के जल से पात्रों का प्रोक्षण करे। अपराह्ण में बर्हिप्रोक्षण के समय शकट पर रखी हुई बर्हि का प्रोक्षण करे। उत्तरवेदि, खर, उपरव और धिष्ण्या को छोड़कर शेष समस्त यागभूमि में बर्हि बिछावे[2]। प्रवर्ग्य के उत्सादन के समय से सुरक्षित दूध को व्रतदुग्ध में मिलाकर इस समय यजमान को पीने को दे। शाखा-छेदन और अपाकरण करे। शालाद्वार्य के पश्चिम में यजमान बैठे। गोद में सोम की गठरी ले[3]।

---

१. सदोद्वारं पूर्वेण तिष्ठन्ननुदिशत्याहवनीयबहिष्पवमानदेशचात्वालशामित्रौदुम्बरीब्रह्मासनशाला-द्वार्यप्राजहितान्। का० श्रौ० ८.६.२१।
सम्राडसि०। शु० य० ५.३२।

२. वेदेस्तरणमग्रहणं प्रस्तरस्यापराह्णे। का० श्रौ० ८.६.२७।

३. शालाद्वार्यमपरेणास्ते यजमान उपस्थे सोमं कृत्वा। का० श्रौ० ८.६.२९।

अध्वर्यु पहले से सुरक्षित रखी हुई सोमक्रयणी गौ की पादधूलि शालाद्वार्य के पश्चिम में छोड़ दे[1]।

आज्य संस्कार करके जुहू में आज्य ले। वहाँ से पूर्व में जाने के लिए सब कोई खड़े हों। यजमान के कुटुम्बी (पुरुषवर्ग) यजमान का स्पर्श किये रहें[2]। स्त्रीवर्ग यजमान पत्नी का स्पर्श किये रहें। इन सभी कुटुम्बी जनों पर एक वस्त्र से आच्छादन करे।

वैसर्जनहवन

अध्वर्यु स्रुची में संस्कृत आज्य लेकर शालाद्वार्य में समन्त्रक आहुति दे[3]। यजमान 'इदं सोमाय न मम' त्याग करे। अध्वर्यु 'अग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि' प्रैष करे। अध्वर्यु अग्नि को, यजमान सोम को और शेष ऋत्विज सोम कूटने के पाषाण, द्रोणकलश आदि लिये हुए उत्तरवेदि की ओर जायँ।

आग्नीध्रीया में हवन

जाते हुए अध्वर्यु मध्यवर्ती आग्नीध्रीया के उत्तर से जाय। आग्नीध्रीया के पूर्वद्वार से प्रविष्ट होकर स्रुची से समन्त्रक आहुति दे[4]। आज्य और सोम को छोड़ कर साथ में लायी हुई समस्त सामग्री उत्तरवेदि के उत्तर भाग में रखे। अध्वर्यु उत्तर वेदि के निरीक्षण से पूर्व ही समिदाधान करके उत्तरवेदि पर आहुति दे।

शकट पर सोमस्थापन

हविर्धान मण्डप में दक्षिण शकट पर कृष्णाजिन बिछावे। उस पर सोम रखे[5]। शकट पर सोम रखकर यजमान सोम का उपस्थान करे।

अङ्गुलिविसर्जन

हविर्धान मण्डप से बाहर आकर यजमान आहवनीय पर समित् की आहुति दे। मदन्ती के जल से हाथ धोकर बँधी हुई हाथ की अङ्गुलियों को समन्त्रक खोले[6]। इसी तरह यजमान पत्नी भी गार्हपत्य में समिदाधान करे और अपनी अङ्गुलियों को खोले।

व्रतविसर्जन

अङ्गुलियों को खोलने पर यजमान और पत्नी ने दीक्षा विधान के समय से जो व्रतग्रहण

---

१. शालाद्वार्यमपरेण सोमक्रयणी पदंपरिकिरति। का० श्रौ० ८.६.३०।

२. अपिव्रताश्चान्वारभन्ते यजमानम्। वाससा छादयत्येनान्। का० श्रौ० ८.६.३४–३५।

३. त्वं सोम तनूकृद्भ्यः। शु० य० ५.३५।

४. अयन्नो अग्निर्वरिवस्कृणोतु०। शु० य० ५.३७।

५. दक्षिणस्य हविर्धानस्य नीडे कृष्णाजिनमास्तृणाति। श० ब्रा० ३.५.२.१८।
दक्षिणेऽनसि कृष्णाजिनमास्तीर्य तस्मिन्त्सोमं निदधाति। का० श्रौ० ८.७.१६।

६. आहवनीये समिधमाधाय मदन्तीरुपस्पृश्याङ्गुलीर्विसृजते। का० श्रौ० ८.७.१८।
अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा०। शु० य० ५.४०।

किया था उसका विसर्जन होता है। व्रतविसर्जन के उपरान्त दीक्षित का नाम लिया जा सकता है। दीक्षित का अन्नग्रहण भी हो सकता है। दीक्षित केवल दूध का ही आहार न करके हविःशेष का भक्षण करता है। वह भी आज नहीं अपितु दूसरे दिन सवनीय पुरोडाश का भक्षण करे[1]।

यूपसम्पादन

अध्वर्यु यूप संस्कार से पूर्व आहवनीय में आहुति दे[2]। उत्तरवेदि से पूर्व में यूप गाड़ने के लिए एक गड्ढा खोदे[3]। यह गड्ढा यूप के पञ्चमांश जितना गहरा होना चाहिए[4]। गड्ढे में जल से प्रोक्षण करके दर्भ बिछावे। हवन से बचे हुए आज्य को यूप में लगावे। चषाल में आज्य लगाकर यूप में पहनावे। यूप काटने के समय से सुरक्षित प्रथम शकल को गर्त्त में छोड़े। यूप को खड़ा करे। गड्ढे में मिट्टी छोड़ कर मैत्रावरुणदण्ड से भूमि को सम करे। यूप में तेहरी डोरी बाँधे[5]। उसमें स्वरु खोंसे[6]। शास्त्रसम्मत एवं शुभ लक्षणों से युक्त छाग को लाकर यूप के पूर्व में उपस्थित करे[7]। अरणी से अग्निमन्थन करके उत्तरवेदि पर अग्निस्थापन करे[8]।

पशूपाकरण

पशु के सींग में डोरी बाँधकर यूप में बाँधे[9]। पशु का प्रोक्षण करके प्रोक्षणी का जल

---

१. नामग्रहणभोजने अस्यातः कुर्वन्ति। व्रत्यनिवृत्तिः। हविःशेषभक्षः।
 का० श्रौ० ८.७.२१–२३।
२. यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञेनैवैतद्यूपमच्छैति तस्माद्वैष्णव्यर्चा जुहोति। श० ब्रा० ३.५.३.२।
३. चातुर्वर्ण्यं प्रवक्ष्यामि वृक्षाणां पशुभिः सह।
 वृक्षाश्छेदेन विज्ञेया वर्णेन पशवस्तथा ॥ १ ॥
 श्वेतस्तु ब्राह्मणो ज्ञेयः पिङ्गलः क्षत्रियः स्मृतः।
 वैश्यस्तु धूम्रवर्णः स्यात्कृष्णं शूद्रं विनिर्दिशेत् ॥ २ ॥
 एतत्ते यूपलक्षणमेतत्ते यूपलक्षणमिति। यू० ल० १–२६।
४. उपरसम्मितं खनति। का० श्रौ० ६.२.९।
५. त्रिगुणा त्रिव्यामा कौशीरशना तया नाभिमात्रे त्रिवृतं परिव्ययति। का० श्रौ० ६.३.१३।
६. यूपशकलमस्यामवगूहयति। का० श्रौ० ६.३.१५।
७. अथातः सम्प्रवक्ष्यामि छागानां लक्षणं शुभम्।
 अशुभं चैव वर्ज्यानां तत्प्रवक्ष्याम्यतः परम् ॥ १ ॥
 एकवर्णो द्विवर्णश्च बहुवर्णस्तथैव च।
 तस्मादेवं विदित्वा तु लक्षणं पशुयूपयोः ॥ २ ॥
 यज्ञविद् यज्ञकर्माणि सोऽध्वर्युः कर्तुमर्हति।
 छा० ल० १.१८।
८. अग्निं मन्थत्याह्वोमात्करोति। का० श्रौ० ६.३.२२।
९. द्विगुणरशनया द्विव्यामया कौश्या पाशं कृत्वान्तरा शृङ्गमभिदक्षिणं बध्नाति यूपे।
 का० श्रौ० ६.३.२४-२५।

पिलावे। पशु के हृदय पर प्रोक्षणी का जल छिड़के[1]। उत्तरवेदि के पश्चिम में बैठकर होता को बुलावे। इध्मप्रैष और प्रयाजयाग तक का कृत्य करे। दसवाँ प्रयाजयाग हो जाने पर प्रैष देकर प्रतिप्रस्थाता से शस्त्र मँगावे। शस्त्र और स्वरु दोनों जुहू पर रख कर पशु के ललाट पर उनसे स्पर्श करे[2]। अध्वर्यु शमिता को शस्त्र दे। आग्नीध्र मिट्टी के पात्र में अग्नि ले। पशु, आज्य, शामित्रस्थान, यूप, चात्वाल और आहवनीय के अग्नि को लिये हुए परिक्रमा करे।

शामित्रशालागमन

आग्नीध्र हाथ में लिये हुए अग्नि को आहवनीय में छोड़ कर पुनः आह्वनीय में-से अग्नि ले। अग्नि को लिये हुए शामित्रशाला के प्रति जाय। आग्नीध्र के पीछे पशु की डोरी पकड़ कर शमिता चले। वपाश्रपणी से पशु का स्पर्श किये हुए प्रतिप्रस्थाता चले। प्रतिप्रस्थाता के पीछे अध्वर्यु और उसके पीछे यजमान इस प्रकार सब लोग शामित्रशाला में जायँ[3]।

शामित्रशाला में जाने से पूर्व अध्वर्यु वेदि में-से दो दर्भ उठावे और अध्रिगुसंज्ञक प्रैष करे[4]। प्रैष के अनुसार होता अध्रिगुपाठ करे[5]। अध्वर्यु शामित्रशाला में पशु के संज्ञपन के

---

१. पशुं प्रोक्षणीभिः प्रोक्षति। आस्य उपगृह्णाति। अधस्तादुपोक्षति।
   का० श्रौ० ६.३.२७-२९।

२. पशोर्ललाटे स्वर्वसिभ्यामुपस्पृशति। दे० प० पृ० २१५। घृतेनाक्तौ पशुं त्रायेथाम्।
   शु० य० ६.११।

३. पुनरादायोदङ् प्रतिपद्यते। पशुश्चान्वक्। प्रतिप्रस्थातान्वारभत एनं वपाश्रपणीभ्यां काष्मर्यमयीभ्यां विशाखाविशाखाभ्याम्। तमध्वर्युर्यजमानोऽध्वर्युम्।
   का० श्रौ० ६.५.५–८।

४. वेदितृणेऽध्वर्युरादायाश्राव्याह, उपप्रेष्य होतर्हव्या देवेभ्यः। का० श्रौ० ६.५.९।

५. दैव्याः शमितार उत च मनुष्या आरभध्वमुपनयत मेध्या दुर आशासाना मेधपतिभ्यां मेधम्॥ १॥
   प्रास्मा अग्निं भरत स्तृणीत बर्हिरन्वेनं माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः॥ २॥
   उदीचीनां अस्य पदो निधत्तात्सूर्यं चक्षुर्गमयताद्वातं प्राणमन्ववसृजतादन्तरिक्षमसुं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरम्॥ ३॥
   एकधास्य त्वचमाछ्यतात्पुरा नाभ्या अपिशसो वपामुत्खिदतादन्तरेवोष्माणं वारयध्वात्॥४॥
   श्येनमस्य वक्षः कृणुतात्प्रशसा बाहूशला दोषणी कश्यपेवांसाच्छिद्रे श्रोणी कवषोरु स्रेकपर्णाष्ठीवन्ता॥ ५॥
   षड्विंशतिरस्यवङ्क्रयस्ता अनुष्ठ्योच्च्यावयताद् गात्रं गात्रमस्यानूनं कृणुतात्॥ ६॥
   ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनतात्॥ ७॥
   अस्ना रक्षः संसृजतात्॥ ८॥

स्थान पर दर्भ रखे। शमिता को छोड़ कर शेष लोग शामित्रशाला से बाहर जायँ। बाहर आकर देवयजन में बैठें[१]। पशु के संज्ञपन के समय शमिता को छोड़कर अन्य कोई भी व्यक्ति शामित्रशाला में न रहे और संज्ञपन कृत्य को न देखे। अध्वर्यु देवतानिमित्तक परिपशव्याहुति करे।

संज्ञपनप्रकार

शामित्रशाला में अध्वर्यु द्वारा रखे हुए दर्भ पर शमिता पशु को लेटावे। पशु का सिर पश्चिम की ओर और पैर उत्तर की ओर रहने चाहिए। शमिता शास्त्रोक्त विधि से संज्ञपन कृत्य सम्पादित करे[२]। संज्ञपन के समय पशु का शब्द न होना चाहिए।

शमिता संज्ञपन कार्य सम्पन्न होने के अनन्तर अध्वर्यु को इसकी सूचना दे। अध्वर्यु नेष्टा को पशुशोधन के निमित्त पत्नी को ले आने का प्रैष करे। नेष्टा के कथनानुसार पत्नीशाला से पत्नी शामित्रशाला में आवे। पत्नी को लाते हुए नेष्टा पत्नी से मन्त्रवाचन करावे[३]। पत्नी अपने साथ पान्नेजनी लेती आवे। पत्नी शामित्रशाला में पशु के निकट उदङ्मुखी बैठ कर पशु के मुख, नासिका, नेत्र, कान, नाभि, मेढ्र, पायु और पैरों पर समन्त्रक जल छिड़के[४]।

अध्वर्यु पशु की नाभि को ऊपर करे। पशु की नाभि प्रदेश के पास एक दर्भ रखे[५]। दर्भ सहित पशु की त्वचा का छेदन करे। दर्भ को पशु के रक्त में डुबोकर राक्षसों के निमित्त उत्कर में छोड़ दे[६]। अनन्तर पशु की वपा निकाले[७]। वपा को वपाश्रपणी पर फैलाकर प्रतिप्रस्थाता को दे। प्रतिप्रस्थाता चात्वाल पर वपा का प्रक्षालन करके शामित्र के अग्नि पर तपावे।[८]

वनिष्ठुमस्य मा राविष्टोरूकं मन्यमाना नेद्वस्तोके तनये रविता रवच्छमितारः। इत्यध्रिगो नवम उच्छ्वासः। अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगो ३।
इति त्रिः परिधायोपांशु जपत्युभावपापश्चेति। शां० श्रौ० ५.१७.१-१०।
नवकृत्वोऽध्रिगावानीति। त्रिः परिदधात्यपरत्वाये। कौ० ब्रा० १०.४।

१. पुनरेत्याहवनीयमभ्यावृत्यासते। श० ब्रा० ३.६.२.१५।

२. सङ्गृह्यमुखं तमयन्त्यवाश्यमानम्। का० श्रौ० ६.५.१७।

३. माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्त०। शु० य० ६.१२-१३।

४. वाचन्तेशुन्धामीति मुखं, प्राणन्ते शुन्धामीति नासिके, चक्षुस्ते शुन्धामीत्यक्षौ, श्रोत्रन्ते शुन्धामीति कर्णौ, नाभिम्०, मेढ्रं०, पायुं०, पदश्चरित्रांस्ते शुन्धामि। श० ब्रा० ३.६.३-६।

५. उत्तानं पशुं कृत्वाग्रेण नाभिं तृणं निदधाति। का० श्रौ० ६.६.७।

६. रक्षसां भागोऽसि। शु० य० ६.१६।

७. उदर के चारों ओर लिपटी हुई श्वेतवर्ण की पतली झिल्ली को वपा कहते हैं। 'मेदस्तु वपा वसा' इत्यमरः। म० व० ६४।

८. चात्वालेऽवसिच्य शामित्रे प्रतपति। का० श्रौ० ६.६.१२।

अध्वर्यु वपा पर आज्य का अभिघार करे। जुह्वा में सुवर्णखण्ड रख कर वपा रखे। ऊपर से पुनः सुवर्णखण्ड रखे। आश्रावण-प्रत्याश्रावणपूर्वक मैत्रावरुण को मन्त्रपाठ का प्रैष करे। मैत्रावरुण होता को प्रैष करे[1]। वपायाग के अनन्तर वपाश्रपणी को आहवनीय के अग्नि पर छोड़ दे[2]। ऋत्विजों सहित यजमान चात्वाल के निकट मार्जन करे[3]।

वसतीवरीग्रहण

अग्नीषोमीय वपामार्जन के अनन्तर वसतीवरी ग्रहणविधि होती है। यज्ञकार्य के उपयोगी पर्याप्त जल का नाम वसतीवरी है। सोमलता को कूट कर जो रस निकाला जाता है, उसे बढ़ाने के लिए उसमें वसतीवरी संज्ञक जल मिलाते हैं। सूर्यास्त से पूर्व नदी पर जाते हैं। वहाँ जल में आहुति देकर घड़ों में भरकर जल ले आते हैं[4]। निकट में नदी न हो तो मणिक में से जल ले। वह भी न हो तो किसी सोमयाजी के घर से जल ले आवे। सोमयाजी भी निकट में न हो तो घड़े के ऊपर जलती हुई मसाल या सुवर्ण पकड़ रखे और पानी से घड़ा भर ले। वसतीवरीसंज्ञक जल ग्रहण कर लेने पर एकधन और पान्नेजनी संज्ञक समस्त पात्रों को उसी जल से भर ले[5]। सब पात्रों को देवयजन में ले आवे और शालाद्वार्य से पश्चिम की ओर रखे।

---

१. होता यक्षदग्नीषोमौ छागस्य वपाया मेदसो जुषेतां हविर्होतर्यज होतायक्षदग्नीषोमाविति प्रैषः। शां० श्रौ० ५.१८.७।

२. वपाश्रपण्यावनुप्रास्यति। का० श्रौ० ६.६.२६।

३. चात्वाले मार्जयन्ते। का० श्रौ० ६.७.२७। इदमापः प्रवहत०। शु० य० ६.१७।

४. अपो गत्वा० जुहोति। का० श्रौ० ९.३.४। देवीरापो अपान्नपाद्यो०। शु० य० ६.२७। यद्वसतीवरीरच्छैति। श० ब्रा० ३.७.३.२।

५. एकधनांश्चोन्नयन्ति। पान्नेजनांश्च। का० श्रौ० ९.३.७-८।

२ १र
अमुकशर्मा यजते

२ १ २१ २र अमुकशर्मणः पुत्रो यजते	२ १र २१ २र अमुकीदायाः पुत्रो यजते
२ १ २१ २र अमुकशर्मणः पौत्रो यजते	२ १र २१ २र अमुकीदायाः पौत्रो यजते
२ १ २१ २र अमुकशर्मणो नप्तो यजते	२ १र २र २र अमुकीदाया नप्ता यजते
२ १ २१ २र अमुकशर्मणः पिता यजते	२ १र २१ २र अमुकीदायाः पिता यजते
२ १ २र १ २र अमुकशर्मणः पितामहो यजते	२ १र २र १ २र अमुकीदायाः पितामहो यजते
२ १ २र १ २र अमुकशर्मणः प्रपितामहो यजते	२ १र २र १ २र अमुकीदायाः प्रपितामहो यजते

अध्वर्यु सुब्रह्मण्य को सुब्रह्मण्याह्वान का प्रैष करे। प्रैष के अनुसार सुब्रह्मण्य यजमान के पूर्वजों का और यजमान की प्रजा का नाम[1] लेते हुए सस्वर साम मन्त्रों का सामगान करे[2]। स्त्री के नाम ग्रहण में यदि मृता का नाम लेना हो तो देविदाया: और जीविता हो तो दाया: यह उच्चारण करना चाहिए[3]। अन्त में कल सुत्या होगी कहते हुए सामगान समाप्त करे।

पशुपुरोडाश

जिस देवता के निमित्त पशु होता है, उसी के निमित्त पिष्ट का पुरोडाश भी बनाया जाता है। यहाँ एक अग्नीषोम पशु का कृत्य प्रारम्भ से चला आ रहा है। अतः तन्निमित्त एकादश कपाल का पुरोडाश तैयार करे[4]। वैकल्पिक ऐन्द्राग्न पशु रहने पर दो पुरोडाश तैयार करना चाहिए।

अङ्गनिष्कासन

शामित्रशाला में पशु के शरीर में से याग के निमित्त शमिता निम्नाङ्कित अङ्गों को निकाले। ये अङ्ग टूटने नहीं चाहिए, अपितु अखण्ड ही निकलने चाहिए। इन अङ्गों में वपा का परिचय पहले दिया जा चुका है। शेष अङ्गों का परिचय इस प्रकार है।

---

१   २ २ २ २ १ २ १ २ १ २ २१ २ २
जनिष्यमाणानां पिता पितामहः प्रपितामहो यजते।
श्वः सुत्यामित्यादि०।

१. औरसा एव पुत्रा ये महापातकवर्जिताः।
तेषां नाम गृहीतव्यं सुब्रह्मण्यादिकर्मसु॥
पुत्राणां क्षेत्रजादीनां साधूनामपि नेष्यते।
तथैव भ्रातृपुत्राणां पुत्रिकासन्ततेरपि॥
जीवतामेवापत्यानां यथा ज्येष्ठं प्रकीर्तितम्।
स्त्रीप्रजानामधेयं च पुंवदेव प्रकीर्त्यते॥
नप्त्रादीनामपत्यानि यदि जातानि कानिचित्।
तेषामपि समस्तानां नामधेयं विनिर्दिशेत्॥
जनिष्यमाणापत्यानामिदानीं नाम वर्जयेत्।
जनिष्यमाणशब्देनैवेष्टं सम्बन्धकीर्तनम्॥ त्रि० म० १.१५०-१६३।

२. न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः। देवब्रह्मणोरनुदात्तः। पा० सू० १.२.३७-३८। अग्नीषोमीयवपायां हुतायां परिहृतासु वसतीवरीषु० असौ यजते इति प्रत्येकं गृह्णीयाद् यजमाननामधेयान्यमुष्य पुत्रः पौत्रो नप्तेति पूर्वेषाम्। अथावरेषां यथाज्येष्ठं स्त्रीपुंसां ये जीवेयुः। जनिष्यमाणानामित्युक्त्वा सुत्यादेशप्रभृति समापयेत्।
ला० श्रौ० १.३.१८-२०।

३. गो० गृ० सू० २.८.१६।

४. यद् देवत्यः पशुर्भवति। तद् देवत्यं पुरोडाशमनुनिर्वपति। श० ब्रा० ३.६.४.१।

१—हृदय[1] = आम फल के आकार जैसा।

२—जिह्वा = रसना[2]।

३—क्रोड = वक्षस्थल[3]।

४—सव्यसक्थिपूर्वनडकम् = वामांस के निकट की प्रथमनलिका[4]।

५,६—पार्श्व २ = दोनों ओर की तेरह-तेरह पसलियों से सम्बद्ध[5]।

७—यकृत् = दक्षिणपार्श्वस्थ पित्ताधारस्वरूप[6]।

८,९—वृक्क २ = गुर्दा[7]।

१०—गुद = मलप्रवहण[8]।

११—दक्षिण श्रोणि = दक्षिण कटि[9]।

इन उपर्युक्त ग्यारह अङ्गों के अवदान जुहू में रखे जाते हैं। एतदर्थ इन्हें जौहव अङ्ग भी कहते हैं। ये ही प्रधानयाग के उपयोगी हैं।

औपभृत्-अङ्ग

१—दक्षिणसक्थिपूर्वनडक = दक्षिणांस के निकट की प्रथमनलिका[10]।

२—गुदतृतीयाणिष्ठम् = गुद का तृतीयसूक्ष्मभाग[11]।

३—सव्याश्रोणिः = वामकटि[12]।

इन उपर्युक्त अङ्गों के अवदान उपभृत में रखने चाहिए। स्विष्टकृत् याग में इनका उपयोग किया जाता है।

---

१. आम्रफलाकारं मांसम्। दे० प० पृ० २२१। हृदयात् ते०। अ० सं० २.३३.३।

२. 'रसज्ञा रसना जिह्वा', इत्यमरः। जिह्वाया विवृहामि ते। अ० सं० २.३३.१।

३. न ना क्रोडं भुजान्तरम्। उरो वत्सं च वक्षश्च, इत्यमरः। म० व० ७७। वक्षः। स० श्रो० टी० पृ० ४३२।

४. सव्यबाहोः प्रथमा नलिका अंससन्निकृष्टा। दे० प० पृ० २२१।

५. वामदक्षिणे त्रयोदशास्थिसम्बद्धे। दे० प० पृ० २२१।

६. कालखण्डयकृती तु समे इमे, इत्यमरः।

७. पक्वाम्रफलतुल्यौ कुक्षौ वर्तमानौ गोलकौ महदाम्रफलतुल्यौ। दे० प० पृ० २२१।

८. गुदन्त्वपानं पायुर्ना, इत्यमरः।

९. कटिः श्रोणिः ककुद्मती, इत्यमरः। पश्चात्पादस्योपरि वर्तमानो मांसलः प्रदेशः। दे० प० पृ० २२१।

१०. दक्षिणबाहोः प्रथमानलिका। दे० प० पृ० २२२।

११. गुदस्य सूक्ष्मः तृतीयो भागः। दे० प० पृ० २२२। गुदाभ्यः एतत्संज्ञकाभ्यः आन्त्रसमीपस्थेभ्यो मलप्रवहणमार्गेभ्यः। अ० सं० सा० भा० २.३३.४।

१२. कटिः श्रोणिः ककुद्मती, इत्यमरः। म० व० ७४।

अन्य अवदान के अङ्ग

१—वनिष्ठ = गुद का स्थूलभाग ।
उपयड्ढोम में इसका उपयोग होता है ।

२—वनिष्ठु = स्थूल अन्त्र[१] । यह अपानरन्ध्र से सटा हुआ होता है । यह आग्नीध्र को दिया जाता है ।

३—जाघनी = पुच्छकाण्ड[२] । इसका उपयोग पत्नीसंयाज में होता है ।

४—क्लोम = फुफ्फुस[३] । यह ब्रह्मा को दिया जाता है ।

५—प्लीहा = शुक्तिकाकार[४] । यह यजमान को दिया जाता है ।

६—अध्यूध्नी = नलिका[५] । यह होता को दी जाती है ।

७—पुरीतत् = हृदयावरक[६] । यह अध्वर्यु को दिया जाता है ।

पशुबन्धयाग में उपर्युक्त क्लोम, प्लीहा, अध्यूध्नी और पुरीतत् का पशु शरीर में-से ग्रहण वैकल्पिक है । अग्नीषोमीय याग में इसका ग्रहण निषिद्ध है[७] । इस प्रकार जहाँ जितने पशु हों उनके अङ्ग निष्कासन का यही क्रम समझना चाहिए । अङ्ग निकालने का कार्य हो जाने पर शेष अंश ऊबध्य में छोड़ देना चाहिए । तदनन्तर रक्त को भी राक्षसों के निमित्त ऊबध्य में छोड़ दे[८] । हृदय को शूल में खोंस कर शामित्र के अग्नि पर तपावे । उखा में पानी भर कर अग्नि पर रखे । उसमें अङ्गों को छोड़ कर अधिश्रृत करे ।

---

१. स्थूलान्त्रम् । दे० प० पृ० २२२ । वनिष्ठोः स्थविरान्त्रात् । अ० सं० सा० भा० २.३३.४ ।

२. जघनप्रदेशभवा जाघनी । का० श्रौ० क० भा० ६.७.१० ।
जाघनीपशोः पुच्छम् । दे० प०, पृ० २२२ । विकल्प होने पर भी देवयाज्ञिक मत साम्प्रदायिक है ।

३. क्लोमा = गलनाडी । का० श्रौ० क० भा० ६.७.११ ।
क्लोमं गलनाडिका । दे० प० पृ० २२२ ।
हृदयसमीपस्थो मांसपिण्डविशेषः क्लोमा । अ० सं० सा० भा० २.३३.३ ।

४. प्लीहा प्रसिद्धः । का० श्रौ० क० भा० ६.७.११ ।
प्लीहं शुक्तिकाकारं मांसम् । दे० प० पृ० २२२ ।

५. अध्यूध्नी शतपुटः । दे० प० पृ० २२२ ।
अध्यूध्नी ऊधः प्रदेशस्योपरि भवति । का० श्रौ० क० भा० ६.७.११ ।
ऊधस उपरि सप्तपुटः प्रसिद्धः । का० श्रौ० क० भा० ६.७.११ ।

६. पुरीततं हृदयस्य प्रच्छादकं मांसम् । दे० प० पृ० २२२ ।
हृदयमवच्छादितं येन तत् । का० श्रौ० क० भा० ६.७.११ ।

७. एषामत्र विकल्पः । अन्यत्र नियमः । अग्नोषोमीये त्वभाव एव ।
का० श्रौ० क० भा० ६.७.११ ।

८. रक्षसां भागोऽसि० । शु० य० ६.१६ ।

शामित्रानुशासन

उखा में अङ्गों को छोड़ने के अनन्तर अध्वर्यु शमिता को निम्नाङ्कित आदेश करे। अध्वर्यु—आँच पर रखे हुए अङ्गों में पकाते हुए तीन उबाल आवे। अनन्तर शूल में से हृदय को निकाल कर उखा को अन्य अङ्गों के ऊपर रखना। शूल को जमीन पर न रखना। हवि का पाक सम्पन्न हुआ पूछने पर यदि पका हो तो केवल "श्रृतम्" शब्द का प्रयोग करना। न पका हो तो "हे भगवन् इदानीमपि न श्रृतम्" यह कहना[1]। अनन्तर अध्वर्यु शमिता से प्रश्न करे। शमिता द्वारा "श्रृतम्" उत्तर मिलने पर अध्वर्यु "तद् देवानाम्" कहे। अध्वर्यु पृषदाज्य से अङ्गों पर अभिघार करे। उखा को जमीन पर रखे। उखा में ऊपर की ओर तैरती हुई वसा को पात्र में निकाले। वंशपात्र में अङ्गों को निकाल कर रखे। अङ्गों पर प्राणदान (अभिघार) करे। अङ्गपात्रों को लाकर वेदि में आसादित करे। प्रतिप्रस्थाता अङ्गों का अवदान[2] करते हुए मैत्रावरुण को प्रैष करे[3]।

अङ्गावदान का विभाग

अङ्गों के अवदान कई प्रकार से विभक्त होते हैं। कुछ अङ्गों के अवदान सङ्ख्या में अधिक होते हैं और कुछ के कम। विशिष्ट यागों में इनकी न्यूनाधिकता भी कही है। कुछ का अवदान बाद में किया जायेगा। यहाँ उनका स्वरूप मात्र उपस्थित किया है। प्रतिप्रस्थाता अवदान करके अध्वर्यु को देता है और अध्वर्यु यथाविधि उन्हें पात्रों में रखता है। अवदान को सुवर्णखण्ड से सम्पुटित करना चाहिए।

अङ्गावदान विधि

अङ्गों के अवदान सावधानी से करने चाहिए। इनमें प्रधानरूप से जुहू में रखे जाने वाले अङ्गों के अवदान जौहव[4] और उपभृत् में रखे जाने वाले औपभृत् कहे जाते हैं[5]। तदितर अङ्गों के अवदान अन्यावदान संज्ञक समझने चाहिए[6]। कुछ का सम्मर्शन किया जाता है[7]।

---

१. त्रिःप्रच्यावयतात्, त्रिः प्रच्युतस्य हृदयमुत्तमं कुरुतात्। यत् त्वा पृच्छात् शृतं हविः शमिता ३ रिति श्रृतमित्येव ब्रूतान्न श्रृतं भगवो न श्रृतं हीति। श० ब्रा० ३.६.४.३-४।

२. पश्वसीवपावद् घृत्वा दक्षिणतः प्रतिप्रस्थाता वेद्यां प्लक्षशाखास्ववद्यति। का० श्रौ० ६.८.७।

३. मनोतायै हविषोऽवदीयमानस्यानुब्रू ३हि, इति प्रैषो मैत्रावरुणम्प्रति। दे० प० पृ० २२४। त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता०। ऋ० सं० ६.१.१-१३।

४. हृदयादीनां जौहवानां प्रत्येकं मध्यात्पूर्वार्धाच्च द्विर्द्विरवदायाध्वर्योर्हस्ते समर्पयति। अध्वर्युर्जुह्वामवदधाति। दे० प० पृ० २२४। शेषमिडापात्र्याम्। का० श्रौ० ६.८.१२।

५. जुह्वामवदाय तत उपभृति दक्षिणसक्थिगुदतृतीयसव्यश्रोणीनां द्विर्द्विरवदानम्। दे० प० पृ० २२४।

६. वनिष्ठुमग्नीधे। अध्यूध्नीं होत्रे। का० श्रौ० ६.९.४-५।

७. सम्मृशति। का० श्रौ० ६.९.१।

जौहव अङ्गावदान

	हृदय	जिह्वा	क्रोड	सव्य नडक	दक्षिण पार्श्व	सव्य पार्श्व	यकृत्	दक्षिण वृक्क	सव्य वृक्क	गुद	दक्षिण श्रोणी	योग
जुहू	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२२
प्राशित्रहरण	२	२	२	२	२	२	२	२	२	०	२	२०
इडापात्री	२	२	२	०	०	०	२	२	२	०	०	१२
सम्मर्शनार्थ	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१	१०
योग	७	७	७	५	५	५	७	७	७	२	५	६४

औपभृत अङ्गावदान

	दक्षिणनडक	गुद	सव्यश्रोणी	योग
उपभृत्	२	२	२	६
सम्मर्शनार्थ	१	०	१	२
योग	३	२	३	८

अन्य अङ्गों का उपयोग

१	वर्षिष्ठ	उपयड्ढोमार्थ	१
२	वनिष्ठु	आग्नीध्र को	१
३	जाघनी	पत्नीसंयाजार्थ	१
४	क्लोम	ब्रह्मा को	१
५	प्लीहा	यजमानको	१
६	अध्यूध्नी	होता को	१
७	पुरीतत्	अध्वर्यु को	१
योग			७

अग्नीषोमीय प्रधानयाग

अध्वर्यु पुरोनुवाक्या के पाठ का प्रैष करे[१]। यजतिस्थान पर पहुँचकर याज्या का प्रैष करे[२]। जुहोतिस्थान से प्रतिप्रस्थाता वसाहोम करे[३]। याज्या पाठ की समाप्ति होने पर अध्वर्यु

---

१. इन्द्राग्निभ्यां, अग्निषोमाभ्यां छागस्य हविषोऽनुब्रूहि। का० श्रौ० ६.८.१३।

२. इन्द्राग्निभ्यां, अग्निषोमाभ्यां छागस्य हविषः प्रेष्य। का० श्रौ० ६.८.१४।

३. अर्धर्चान्तरे याज्यायै वसैकदेशं जुहोति। का० श्रौ० ६.८.१६।

पृषदाज्य से प्रधानयाग करे[1]। उपभृत् में लिये हुए अवदान को जुहू में लेकर स्विष्टकृद्याग करे। वसाशेष से दिग्व्याघार करे। सम्मर्शन करे। इडाविधि सम्पादित करे। जाघनी के अवदान से पत्नीसंयाज करे[2]। यागसम्बन्धी शेषविधि समाप्त करे।

सुत्यानिमित्तक पूर्वदिन का कृत्य

अध्वर्यु "व्युत्क्रामत" कहते हुए सब को देवयजन से बाहर जाने का प्रैष करे[3]। प्रैष के अनुसार सब लोग देवयजन से बाहर चले जायँ। अनन्तर शालाद्वार्य से पश्चिम में पूर्वाभिमुखी पत्नी बैठे। उत्तरवेदि से पश्चिम में उत्सङ्ग में सोम की गठरी लेकर यजमान बैठे[4]। अध्वर्यु यथाविहित मार्ग से वसतीवरी (जलकलश) लाकर उत्तरवेदि की दक्षिणश्रोणी पर रखे। वहाँ से ले जाकर पत्नी के आगे रखे। पत्नी उसका स्पर्श करे। वहाँ से ले जाकर उत्तरवेदि की उत्तरश्रोणी पर रखे। वहाँ से ले जाकर आग्नीध्रीया में रखे[5]। सोम को यजमान के उत्सङ्ग से ले जाकर आग्नीध्रीया में आसन्दी पर रखे[6]। उस रात्रि में यजमान वहीं रहे और सोम की रखवाली करे[7]। सुब्रह्मण्याह्वान प्रैष और दोहनविधि करे। आज से दूसरे दिन अध्वर्यु को यागकार्य निमित्त अत्यधिक परिश्रम करना है। एतदर्थ यजमान शयनार्थ गृह, उबटन, तैल, अलङ्कार, मञ्जन प्रभृति और थकावट दूर करने की समस्त सामग्री अध्वर्यु को दे[8]।

पञ्चम दिन

अग्निष्टोम याग प्रारम्भ होकर आज पाँचवाँ दिन है। यहाँ पाँचवें दिन की विधि कही जाती है। यह दिन सौत्यदिवस है। इस अग्निष्टोम याग में आज होने वाली विधि प्रमुख समझी जाती है।

---

१. आश्राव्याह वनस्पतये० । का० श्रौ० ६.८.१८ ।

२. पञ्चावत्तीनां सर्वावदानेभ्यस्त्रिस्त्रिरवदानम् । मध्यात्पूर्वार्धात्पश्चार्धाच्च । त्रिर्जामदग्नीनां पश्चात्तृतीयमिति वचनात् । उपस्तरणवृध्या अभिघारणवृध्या वा पञ्चावत्तत्वं सम्पादनीयमिति शास्त्रदीपिकायाम् । दे० प० पृ० २२४-२२५ ।

३. व्युत्क्रामतेत्याह त्रिः । का० श्रौ० ८.९.१३ ।

४. शालाद्वार्यमपरेणास्ते पत्न्युत्तरवेदिमपरेण यजमान उपस्थे सोमं कृत्वा । का० श्रौ० ८.९.१४ ।

५. शालाद्वार्यमपरेण वसतीवरीः परिहरति । कलशं पत्न्यालभते । आग्नीध्रे । का० श्रौ० ८.९. १५—२१ ।

६. सोमं चासन्द्याम् । का० श्रौ० ८.९.२२ ।

७. दीक्षितश्च तत्र तां रात्रिं सोमं रक्षति । का० श्रौ० ८.९.२३ ।

८. आवसथोन्मर्दनालङ्करणदन्तप्रक्षालनान्यध्वर्योः । का० श्रौ० ८.९.२६ ।

ऋत्विक्प्रबोधन

पिछली रात में यजमान और उसके भृत्य, ऋत्विजों को जाकर जगाते हैं[1]। तदनुसार ऋत्विज लोग उठकर आवश्यक प्रातः कृत्य करके तुरन्त यज्ञशाला में उपस्थित होते हैं। अध्वर्यु यागविधि का प्रारम्भ करता है। शालाद्वार्य के दक्षिण में सविधि ब्रह्मा और उसके निकट यजमान बैठे। अध्वर्यु पात्रासादन करके उत्तरवेदि, शालाद्वार्य और दक्षिणाग्नि के चारों ओर परिस्तरण रखे[2]। आग्नीध्रीया मण्डप में प्रोक्षणी और आज्य का संस्कार करे। सोमाभिषव सामग्री लेकर उत्तरवेदि से उत्तर में रखे। जुहू, उपभृत्, ध्रुवा, आज्य और पृषदाज्य को उत्तरवेदि से पश्चिम में आसादित करे।

यज्ञसारथि सामगान

अध्वर्यु जब आज्य प्रणयन करता रहे उस समय प्रस्तोता आग्नीध्र मण्डप में अग्नि से पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठे। निम्नाङ्कित यज्ञसारथि संज्ञक सामगान करे[3]।

अभिषव के निमित्त सोमस्थापन

सोम के अभिषव की समस्त सामग्री हविर्द्धानशकट की ईषा के मध्य से अभिषवफलक पर ले। कूटने के पत्थर के मोटे हिस्से परस्पर सम्मुख रहें इस प्रकार फलक पर रखें। सोम का आधे से न्यून अंश ईषा के मध्य से फलक पर गिरावे। यजमान सोम का उपस्थान करे। उसी मार्ग से हिरण्य, परिप्लवा, दशापवित्र, निग्राभ्या और सम्भरणी आदि सामग्री नीचे की ओर ले।

लोकद्वारी सामगान

शालाद्वार्य से पश्चिम की ओर पूर्वाभिमुख यजमान बैठे। यथाविहित लोकद्वार वासव साम का गान करे[4]।

विश्वरूपा सामगान

यजमान उद्गाता से विश्वरूप संज्ञक सामगान करने की प्रार्थना करे। उद्गाता उसका

---

१. अपरराात्र ऋत्विजः प्रबोधयन्ति। का० श्रौ० ९.१.१।

२. ततः स्वस्वकर्माणि प्रवर्त्तन्ते। शालाद्वार्यमुत्तरेण पात्रासादनम्। दे० प० पृ० ३०२।

३. सुत्यायां यज्ञसारथ्यहरहः। ला० श्रौ० १.६.४०।

३ २ ३ ५ ३ २ ३ ५ १ २र १२ १
इमाऊँ स्तो २ ३ ४ माम्। अर्हते २ ३ ४ जा। ता वे दसे ३। होई।
३ २ ३ ५ १ २ १ २ १
रथामी २ ३ ४ वा०। वायंतवा ३। हो २ ३ ४ ५ इ। डा। वे० गा० २.३८।

४. पुष्कलऋषिः द्विपदा गायत्रीछन्दः वसवो देवता प्रातःसवनारम्भे विनियोगः।

१ र र – १र र २ १ – १ २ १ १ १
लोकद्वारमपावार्णू २ पश्येम त्वा वयऊँरा १ २ १ २। हुम्। आ २। जायो आ ३ ४ ५।

प्रत्याख्यान कर दे[१]। फिर भी यजमान प्रार्थना करे। यजमान द्वारा की गयी प्रार्थना को सुनने पर उपर्युक्त सामगान करने को तैयार हो और सामगान करे[२]।

प्रातरनुवाक

विश्वरूपा सामगान की समाप्ति होने पर अध्वर्यु होता को बुलावे। हविर्धान के पूर्व द्वार में पृष्ठ्या से उत्तर की ओर होतृषदन रखे। पक्षीगण के प्रातःकालीन प्रथम शब्द होने से पूर्व प्रातरनुवाक का उपाकरण करे। एतदर्थ होता को प्रैष करे।

प्रातरनुवाक

होता मन्त्रपाठ करके आग्नीध्रीया के अग्नि पर आहुति करे। अनन्तर हविर्धानमण्डप के पूर्वद्वार पर बैठे[3]। मध्यमस्वर से शाङ्खायन श्रौतसूत्र के अनुसार ऋग्वेद के विहित मन्त्रों का पाठ करे[४]। होता के मन्त्र प्रारम्भ होने पर अध्वर्यु उत्कर के निकट जाकर सुब्रह्मण्याह्वान का प्रैष करे[५]। होता के निकट बैठकर प्रातरनुवाक का श्रवण करे।

सवनीयनिर्वाप

आग्नीध्र शालाद्वार्य से पश्चिम की ओर पात्रासादन करे। इन्द्र के लिए एकादश कपाल का पुरोडाश, हरिवान् इन्द्र के निमित्त धाना, पूषावान् इन्द्र के लिए करम्भ, सरस्वती के लिए दही और मित्रावरुण के निमित्त पयस्या तैयार करे[६]।

पात्रयोजन

जब होता प्रातःसवन का पाठ कर रहा हो, उसी समय उन्नेता ग्रहपात्रों का आसादन करे। हविर्द्धान मण्डप में उपरव से पूर्व में जो खर बनाया गया है, उसी खर पर निम्नाङ्कित क्रम से सभी पात्रों का आसादन करना चाहिए[७]।

---

१. विश्वरूपाणां गानं यजमानेनोक्तः प्रत्याचक्षीत। गायेति चेदेव ब्रूयान्न मामनामन्त्र्य प्रातरनुवाकमुपाकुर्या इत्यध्वर्युं ब्रूयात्। ला० श्रौ० १.८ ५—६।

२. युंजे वाचं शतपदीम्०।

३. जपानन्तरं दक्षिणेन बाहूनावृत्याग्नीध्रीये अग्नौ भूर्भुवः स्वरित्येवमादिकैर्मन्त्रैः स्वाहाकारान्तैः षडाहुतीः स्रुवेण हुत्वा ततः सव्यावृद्धाविर्धानयोः पूर्वस्यां द्वार्युपविशेत्। शां श्रौ० भा० ६.३.९।

४. देवेभ्यः प्रातर्यावभ्य इत्युक्तो हिङ्कृत्य मध्यमया वाचा प्रातरनुवाकमन्वाह। त्राणि पदानि समस्य पङ्क्तीनामवस्येद् द्वाभ्यां प्रणुयात्। आपोरेवतीमनूच्य। आग्नेयं गायत्रं क्रतुम्। शां० श्रौ० ६.३ ९-११।

५. सुब्रह्मण्यां च प्रेष्यति। का० श्रौ० ९.१.१२।

६. अग्नीदैन्द्रमेकादशकपालं निर्वपति, हरिभ्यां धानाः, पूष्णे करम्भः, सरस्वत्यै दधि, मित्रावरुणाभ्यां पयस्याम्। का० श्रौ० ९.१.१५।

७. खरोत्तरपूर्वार्द्ध उपांश्वन्तर्यामियोः०। का० श्रौ० ९.२.२-१५।

पात्रासादन क्रम

ईशान — पूर्व — आग्नेय

अन्तर्यामपात्र उपांशुपात्र मन्थिपात्र शुक्रपात्र

ऐन्द्रवायवपात्र

मैत्रावरुणपात्र

आश्विनपात्र प्र० ऋतुपात्र अ० ऋतुपात्र

आदित्यपात्र उक्थ्यपात्र

उत्तर आदित्यस्थाली आग्रयणस्थाली उक्थ्यस्थाली दक्षिण

परिप्लवापात्र

वायव्य — पश्चिम — नैर्ऋत्य

दक्षिणहविर्धानशकट के नीचे द्रोणकलश रखे।[१] मेष के ऊन का बुना हुआ दशापवित्र सोमरस छानने के निमित्त शकट की ईषा पर से द्रोणकलश पर नीचे लटका रखे। इसी से सोमरस छाना जायेगा।

उत्तर शकटपर पात्रासादन

शकट के पूर्व की ओर ध्रुवस्थाली रखे[२]। शकट पर पूर्व की ओर पूतभृत् संज्ञकपात्र रखे। पूतभृत् से पश्चिम में चौड़े मुँह का आधवनीय पात्र रखे[३]। शकट से पूर्व में दस चमस-पात्र पूर्वाग्र रखे। शकट से पश्चिम में एकधन संज्ञक जल के घड़े रखे[४]। होता द्वारा अभूदुषा० मन्त्र[५] पढ़ने पर अध्वर्यु आहवनीय में आहुति दे[६]। वसतीवरी का जल होतृचमस में छोड़कर यजमान को दे। यहाँ होता का चमस जो यजमान को दिया है, उसे निग्राभ्या कहते हैं। सब लोग सोमाभिषव के निमित्त अपने-अपने स्थान पर बैठें[७]।

---

१. अधोऽधोक्षं प्रत्यञ्चं द्रोणकलशम्०। का० श्रौ० ९.२.१६।

२. पूर्वेणोपस्तम्भनमुत्तरं ध्रुवस्थालीमनन्तर्हिते। का० श्रौ० ९.२.१८।

३. पूतभृत्संज्ञं महाकलशं विस्तीर्णमुखमासादयति। आधवनीयसंज्ञं सादयति०। दे० प० पृ० ३०६।

४. प्रत्यगेकधनानयुग्मानुदहरणांस्त्रिप्रभृति, आ पंचदशभ्यः। का० श्रौ० ९.२.२२।

५. अभूदुषा रुशत्पशुः। ऋ० सं० ५.७५.९।

६. प्रचरण्याऽभिजुहोति०। का० श्रौ० ९.३.१।

७. उत्तरतोऽध्वर्युयजमानौ। का० श्रौ० ९.४.२।

सोमाभिषव के समय उपवेशनक्रम

पूर्व

अध्वर्यु — ब्रह्मा

प्रतिप्रस्थाता

सोम

उत्तर — नेष्टा — दक्षिण

यजमान — उन्नेता

प्रतिहर्ता उद्गाता प्रस्तोता

पश्चिम

अध्वर्यु अनामिका अङ्गुली में सुवर्ण बाँधे। यजमान हाथों से हृदय पर निग्राभ्या धारित कर रखे। उपांशुसवन सोम को कूटने के पाँचवे बट्टे का नाम है[1]। उस पर पाँच बार सोम छोड़े[2]। सोम का स्पर्श करे। क्षुल्लकाभिषव के निमित्त एक मुट्ठी सोम अलग निकालकर रख ले[3]। निग्राभ्या का जल भी अलग रखे। प्रतिप्रस्थाता सोम के छ टुकड़ों को लेकर दो-दो करके अपनी हाथ की अङ्गुलियों के बीच तीन जगह रख ले[4]। तृतीय सवन के निमित्त सोम अलग रख ले[5]।

महाभिषव

बीच में रखे हुए सोम पर निग्राभ्या का जल छिड़के। सोम को कूटने के समय अभिचार इष्ट हो तो शत्रु का ध्यान करके सोम कूटे। शत्रु के अभाव में तृण की भावना से कूटे। सोम का कूटना समन्त्रक होना चाहिए[6]। रस निकलने के योग्य होने तक कूटे।

क्षुल्लकाभिषव

इस क्षुल्लकाभिषव में पहले से अलग रखा हुआ सोम कूटने के स्थान पर रखे। इस बार अकेला अध्वर्यु सोम को कूटे[7]। अध्वर्यु निग्राभ्या का जल सोम पर छोड़े। कूटने के समय पूर्ववत् तृण का ध्यान करे। प्रतिप्रस्थाता दाहिने हाथ में ग्रहपात्र और बायें हाथ से पात्र के

---

१. उपांशुसवनो नाम ग्रावा पञ्चमः। ला० श्रौ० १.१०.१३।

२. उपांशुसवने सोमं मिमीते। का० श्रौ० ९.४.७।

३. मुष्टिमात्रं सोमं क्षुल्लकाभिषवार्थं पृथक् कृत्वा पात्रान्तरे स्थापयति। दे० प० पृ० ३१०।

४. अङ्गुल्यन्तरेषु द्वौ द्वौ कुरुते। का० श्रौ० ९.४.९।

५. तृतीयसवनार्थं पृथक्कृत्य निदधाति। दे० प० पृ० ३१०।

६. माभेर्मासंविक्था ऊर्जं धत्स्व धिषणे। शु० य० ६.३५।

७. क्षुल्लकाभिषव उच्यते। दे० प० पृ० ३११।

ऊपर की ओर अंशु पकड़े रहे। प्रतिप्रस्थाता के हाथ का ग्रहपात्र पवित्र (छन्ने) के नीचे रहे। छन्ने के ऊपर से अध्वर्यु सोम को निचोड़े। छन्ने में-से छन कर ग्रहपात्र में रस गिरे।

सोमरस का याग

ग्रहपात्र को छन्ने से पोछ दे। यजमान अपने हाथों में लिये हुए निग्राभ्यापात्र को दूसरे के हाथ दे दे। अध्वर्यु हविर्धानमण्डप से बाहर उत्तरवेदि की ओर जाय[1]। यजमान अध्वर्यु का स्पर्श करे। यजमान अध्वर्यु से वर मांगे[2]। इस ग्रहयाग को शीघ्र समाप्त करने की अध्वर्यु से प्रार्थना करे। अध्वर्यु उपांशु ग्रह से सोम की आहुति करे[3]। तृतीय सवन के लिए ग्रहशेष को आग्रयणस्थाली में छोड़े। ग्रहपात्र को यथास्थान रखे। उपांशुसवन (बट्टा) को ग्रहपात्र के निकट रखे। इतना कृत्य सूर्योदय होने से पूर्व समाप्त होना चाहिए[4]। क्षुल्लकाभिषव यहाँ समाप्त होता है। यजमान और पत्नी आवश्यकतानुसार अब लघुशङ्कादि कृत्य से निवृत्त हो लें।

महाभिषवशेषविधि

अधिषवण फलक पर चार बट्टे रखे। उसपर ऋजीष रखे। उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्त्ता ऋजीषपर द्रोणकलश रखे[5]। द्रोणकलश के ऊपर की ओर सोमरस को छानने के लिए दशापवित्र पकड़े रहे। पवित्र के मध्य में सुवर्ण रखे। उसपर निग्राभ्यापात्र पकड़े रहे। उन्नेता निग्राभ्या में सोम रस छोड़ता रहे। दशापवित्र से छन कर गिरते हुए सोमरस से अध्वर्यु ग्रहपात्रों को भरे। स्थालीपात्र भी भरे। अन्त में आधा द्रोणकलश भर ले[6]।

निष्क्रमण

यजमान सहित ऋत्विजों का हविर्धान मण्डप से बाहर निकलना निष्क्रमण है[7]। यह निकलना एक विशेष प्रकार का है। आगे अध्वर्यु, उसके पीछे क्रमशः प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्त्ता और यजमान चले। मृग को पकड़ने के समय व्याध जिस प्रकार झुककर चलता है, उसी प्रकार सब कोई एक दूसरे का स्पर्श किये और झुके हुए चलें। बायें हाथ से अपने और दाहिने हाथ से अपने से आगे वाले का कच्छ पकड़े रहें। इसतरह झुके हुए सब कोई चात्वाल तक जायें।

---

१. स्वाहेत्युक्त्वा० निष्क्रमणम्। का० श्रौ० ९.४.३०।
२. वरं वृत्वा ददाति च। का० श्रौ० ९.४.३२।
३. स्वाङ्कृतोऽसि। शु० य० ७.६।
४. सूर्योदयं प्रतीक्षन्ते। पत्नीयजमानयोर्मूत्रपुरीषादिकरणम्। दे० प० पृ० ३१४।
५. प्रोह्य द्रोणकलशमृजीषमुखेष्वद्रिषु निदधत्युद्गातारः। का० श्रौ० ९.५.१२।
६. पूर्णान् स्थालीग्रहान्, अर्धपूर्णं द्रोणकलशं कृत्वा सर्वमासिञ्चति सुन्वन्। का० श्रौ० ९.६.२४।
७. समन्वारब्धा अध्वर्य्वादयो हविर्धानान्निष्क्रामन्ति। दे० प० पृ० ३१८।

विप्रुड्ढोम

आहवनीय के निकट पहुँच कर क्रमशः सब कोई एक-एक स्रुवा आहवनीय के अग्नि पर आज्याहुति करे[1]। सोमरस का भूमि पर विन्दुरूप में भी गिरना अनुचित है। उसके प्रायश्चित्त स्वरूप यह विप्रुड्ढोम किया जाता है।

बहिष्पवमान

यह विधि सदोमण्डप से बाहर होने के कारण इसे बहिष्पवमान कहते हैं। चात्वाल के निकट पश्चिम मुख प्रस्तोता और उदङ्मुख उद्गाता बैठे, दोनों के निकट में प्रतिहर्त्ता बैठे। दोनों की दृष्टि द्यावापृथिवी की सन्धि पर रहे। इनके पास ही अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और यजमान पश्चिमाभिमुख बैठे। अध्वर्यु प्रस्तोता को पवमानोपाकरण के निमित्त दो दर्भ दे[2]। अध्वर्यु से दर्भ लेकर 'ब्रह्मन्स्तोष्यामः प्रशास्तः' कहते हुए उद्गाता को दे। प्रस्तोता बहिष्पवमान सामगान करे[3]।

अध्वर्यु का आदेश

अध्वर्यु स्तोत्र पाठ समाप्त हो जाय तब आग्नीध्र को अग्नि लाने का, वेदि में बर्हि बिछाने का और पुरोडाश को भस्मरहित करके आज्य से अलङ्कृत करने का प्रैष करे। प्रतिप्रस्थाता को यूप के निकट पशु लाने का प्रैष करे[4]। प्रैष के अनुसार आग्नीध्र आग्नीध्रीया

---

१. विप्रुषां होमं जुह्वति। का० श्रौ० ९.६.२८।

२. पवमानोपाकरणं प्रस्तोत्रे तृणे प्रयच्छन्। का० श्रौ० ९.६.३४।
प्रत्यङ्मुखः प्रस्तोता। उदङ्मुख उद्गाता। द्यावापृथिव्योः सन्धिमीक्षमाणाः०।
ला० श्रौ० १.११ १९-२०, २२। इत्युद्गात्रे प्रयच्छेत्। ला० श्रौ० १.१२.१।

३. सकृद् हिंकृत्य बहिष्पवमानेन स्तुवीरन्। ला० श्रौ० १.१२.७। ता० ब्रा० ६.९.?।

        १ २ २ २ २   १ २   २
हुम्। १ उपास्मै गायता नरोम्। अभिते मधुना पयोम्०।
१   १   २
सनः पवस्व शङ्गवोम्। २ दविद्युततिया रुचोम्। क० सू० १.४।
१ २ २ २   १   २
हिन्वा नो हेतृभिर्हितोम्। ऋधक्सोम सुवस्तयोम्०।
१ २   २   १ २ २
पवमानस्य ते कवोम्०। क० सू० १.४। अच्छा कोशं मधुश्चुतोम्०।
१ २   १   २ २ . २   २ १ २ २   २
अच्छा समुद्रमिन्दवोम्०। ओ मो ओ ओ ओ ओ ओ ओ २ ओ ओ ओ ओ ओ ओ।
  २   १   २
ओ ओ १ २ १ २। उद्गीथ, ओ ओ। उपद्रव। आ ३ ४ ५। निधन। प० सू० १.१।

४. अग्नीदग्नीन्विहर, बर्हिस्तृणीहि, पुरोडाशानलङ्कुरु, प्रतिप्रस्थातः पशुनेहि।
का० श्रौ० ९.७.४।

से अग्नि लेकर क्रमशः सातो धिष्ण्या पर रखे। निम्नाङ्कित क्रम से पञ्चबिलापात्री पर हविर्द्रव्य रखे। पञ्चबिलापात्री पर हविर्द्रव्य को आसादित करे।

पञ्चबिलापात्री में हविर्द्रव्य रखने का क्रम

		पूर्व		
उत्तर		धाना		दक्षिण
	पयस्या	पुरोडाश	करम्भ	
		दधि		
		पश्चिम		

प्रतिप्रस्थाता सवनीयपशु को लाकर यूप से पूर्व की ओर उपस्थित करे। अध्वर्यु ग्रहपात्रों को यजमान को दिखलाकर मन्त्रवाचन करावे[1]। ध्रुवपात्र की रक्षा के निमित्त किसी सबल क्षत्रिय युवक की नियुक्ति करके उसे यह रक्षा कार्य सौंपे[2]। अध्वर्यु अग्नि देवता के निमित्त यूप में पशु का नियोजन करे[3]। पशुप्रोक्षण करके होता का वरण करे[4]। अनन्तर प्रतिप्रस्थाता, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा और आग्नीध्र का वरण हो। वरण के अनन्तर सभी वृत लोग क्रमशः आहवनीय में हवन करें[5]। समस्त देवयजन प्रदेशों का अवलोकन करें।

सवनीय पुरोडाशयाग

आग्नीध्र सवनीय पुरोडाश को उत्तरवेदि के निकट आसादित करे। पञ्चबिलापात्री भी वहीं रखकर उत्कर पर वाजिन रखे। अध्वर्यु सशेष पुरोडाश का अवदान लेकर याग करे[6]। इडापात्री में सशेष हविर्द्रव्य को रखकर होता को दे। शेष हविर्द्रव्य को सुरक्षित रखे।

गमनागमनमार्ग

अध्वर्यु हविर्धान मण्डप से सदोमण्डप में जाने के समय हविर्धान को उत्तर करते हुए पूर्वद्वार से सदोमण्डप में प्रविष्ट हो[7]। ग्रहपात्र लेने के समय जब सदोमण्डप से हविर्धानमण्डप में जाना हो तब सदोमण्डप के पश्चिम द्वार से गमनागमन करना चाहिए।

---

१. प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे०। शु० य० ७.२७।
२. राजपुत्रो ध्रुवं गोपायतीति मानवे०। तं प्रत्यङ्मुखो राजपुत्रो रक्षेदिति कठसूत्रे। दे० प० पृ० ३२१।
३. परिव्ययणादि करोति। का० श्रौ० ९.८.१।
४. होतृवरणान्तं पशुवत्। दे० प० पृ० ३२१।
५. प्रवृत्तहोमौ जुहुति। का० श्रौ० ९.८.१५।
६. पुरोडाशैश्चरति। का० श्रौ० ९.९.२।
७. अध्वर्युर्ग्रहं हुत्वा त्वरमाण उत्तरेण हविर्धानं गत्वा। दे० प० पृ० ३२५।

ग्रहप्रचार

अध्वर्यु हविर्धान मण्डप से सदोमण्डप में जाय। ऐन्द्रवायव पात्र से आहवनीय में याग करे[१]। प्रतिप्रस्थाता आदित्य ग्रहपात्र से अनुवषट्कार के समय आहुति दे। अध्वर्यु ग्रहपात्र होता को दे। इसीतरह मैत्रावरुणपात्र और आश्विन[२]पात्र से याग करके होता को दे[३]। उन्नेता चमसपात्रों को उत्तरवेदि के पश्चिम में रखकर उनमें सोमरस भरे।

शुक्रामन्थिग्रहप्रचार

अध्वर्यु दो यूपशकल का प्रोक्षण करे। एक स्वयं ले और दूसरा प्रतिप्रस्थाता को दे। उसीप्रकार दोनों एक-एक अप्रोक्षित शकल ले। अध्वर्यु शुक्रग्रहपात्र और प्रतिप्रस्थाता मन्थि-ग्रहपात्र ले[४]। दोनों यूप से सटकर पश्चिमाभिमुख खड़े रहें। अध्वर्यु यूप के दक्षिण में खड़ा हो। प्रतिप्रस्थाता यूप से उत्तर में रहे। दोनों एक ही साथ कार्य करें। प्रोक्षित शकल से अपने-अपने ग्रहपात्र को ढँक दे। अप्रोक्षित शकल से ग्रहपात्रों का मार्जन करे[५]। दोनों अपनी दक्षिण अरत्नि को दूसरे की दक्षिण अरत्नि से सटावे[६]। अध्वर्यु उत्तरवेदि की दक्षिणश्रोणी पर और प्रतिप्रस्थाता वामश्रोणी पर ग्रहपात्र रखे। अप्रोक्षित शकल को दोनों ऋत्विज उत्कर में फेंक दें[७]। प्रोक्षितशकल को आहवनीय में छोड़े[८]।

चमसपात्र से याग

प्रत्येक चमसाध्वर्यु एक-एक चमसपात्र लेकर उत्तरवेदि के निकट में पूर्वाभिमुख खड़े हों[९]। आश्रावण-प्रत्याश्रावण के बाद वषट्कार होने पर क्रमशः अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और अन्त में चमसाध्वर्यु आहुति दें। इसी क्रम से दूसरी आहुति दें।

द्विदैवत्य चमसभक्षण

अध्वर्यु आग्नीध्र चमस को लेकर सदोमण्डप में जाय। होता के सम्मुख बैठे। ऐन्द्र-वायव चमस हाथ में ले। 'होतरुपह्वयस्व' कहकर होता से अनुमति मांगे। होता 'उपहूतः' कहते हुए अनुमति दे। अध्वर्यु पात्र को अपने मुख के चारों ओर घुमाकर उसमें-से सशेष सोम रस

---

१. वाग्घवा अस्यैन्द्रवायवः। श० ब्रा० ४.१.३.१।

२. अयं वां मित्रावरुणः। शु० य० ७.९।

३. अश्विनौ ह वा। श० ब्रा० ४.१.५.८।

४. शुक्रामन्थिभ्यां चरतः। शुक्रेणाध्वर्युर्मन्थिना प्रतिप्रस्थाता। का० श्रौ० ९.१०.१-२।

५. द्वौ प्रोक्षितौ यूपशकलौ भवतः। द्वावप्रोक्षितौ। अप्रोक्षितेन यूपशकलेनापमार्ष्टि०। श० ब्रा० ४.१.६.१३-१४।

६. तौ जघनेनाहवनीयमरत्नी संधत्तः। श० ब्रा० ४.१.६.१५।

७. अप्रोक्षितं यूपशकलं निरस्यति। श० ब्रा० ४.१.६.२०।

८. प्रोक्षितं यूपशकलमाहवनीये प्रास्यति। श० ब्रा० ४.१.६.२१।

९. अथ होत्राणां चमसानभ्युन्नयन्ति। श० ब्रा० ४.१.६.३१।

पीये[1]। अपने अङ्गों का स्पर्श करे। अध्वर्यु द्वारा विहित पानविधि से होता भी पान करे। ऐन्द्रवायव पात्र में थोड़ा पुरोडाश छोड़े[2]। मैत्रावरुणपात्र और आश्विनपात्र की पूर्ववत् भक्षण-विधि करके मैत्रावरुण पात्र में पयस्या और आश्विन पात्र में धाना छोड़े। पात्रों को उत्तर हविर्धान के निकट रखे[3]। अध्वर्यु इडापात्री होता को दे। होता इडोपह्वान मन्त्र पढ़े। इस समय चमसाध्वर्यु होता की इडापात्री की तरह चमसों को मुँह तक ऊपर उठा रखे। होता अवान्त-रेडा का भक्षण करे। सब कोई सविधि एक दूसरे से अनुमति प्राप्त कर शुक्रामन्थि पात्रों से सोम रस का पान करें।

नाराशंस चमस

अध्वर्यु, होता और प्रशास्ता परस्पर अनुमति प्राप्त कर प्रशास्तादि पाँच चमसों के सोमरस का पान करें[4]। इसी प्रकार क्रमशः अन्य चारों चमसों का सोमपान करें। पाँचों चमसों के नाम ये हैं। प्रशास्तृ, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा और आग्नीध्रचमस। तब उन्नेता पाँचों चमसों में सोमरस भरे। चमसाध्वर्यु इन चमसों को दक्षिण हविर्धान के निकट रखे। वैश्वदेव-ग्रहहोम पर्यन्त इन चमसों की नाराशंस संज्ञा है।

अच्छावाक चमस

अध्वर्यु इडापात्री में-से पुरोडाशखण्ड लेकर अच्छावाक को देते हुए उससे कहे 'अच्छावाक ! वदस्व यत्ते वाद्यम्'[5]। अच्छावाक के मन्त्रपाठ कर लेने पर अध्वर्यु उपर्युक्त चमस से याग करे। दोनों सविधि सोमरस का पान करें। अब से इस चमस की गणना आग्नीध्र चमस से प्रथम होगी।

इडाभक्षण

ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, आग्नीध्र और मैत्रावरुण अग्नीध्रीयाशाला में इडाभक्षण करें[6]। आग्नीध्र पहले अपना षडवत्तभाग का प्राशन करे। यजमान पञ्चबिलापात्री का शेष हविर्द्रव्य भक्षण करे। पत्नीशाला में स्मार्ताग्नि पर पकाया हुआ ओदन और मालपुआ यजमानपत्नी खाय[7]। अध्वर्यु याग की शेष विधि समाप्त करे[8]।

---

१. द्विदेवत्यान् भक्षयति। का० श्रौ० ९.११.११।

२. पुरोडाशमात्रामैन्द्रवायवे प्रास्यति पयस्यां मैत्रावरुण आश्विने धानाः। का० श्रौ० ९.११.२३।

३. दक्षिणस्य हविर्धानस्योत्तरे वर्त्मनि निदधाति। का० श्रौ० ९.११.२४।

४. ततश्चमसानां भक्षणम्। दे० प० पृ० ३३१।

५. अच्छावाकायैनत्प्रयच्छन्नाह०। का० श्रौ० ९.१२.१०।

६. ब्रह्महोत्राध्वर्य्वाग्नीध्रमैत्रावरुणाग्नीध्रगृहमध्ये इडां प्राश्नन्ति। दे० प० पृ० ३३४।

७. पत्नी चान्यच्छालायाम्। का० श्रौ० ९.१२.१७।

८. तत उत्तरवेदेः पश्चात्समस्य मार्जनम्। दे० प० पृ० ३३४।

ऋतुग्रहयाग

अच्छावाक के सदोमण्डप में बैठ जाने पर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता द्वादश ऋतुग्रहों से सोमरस का याग करें। ऋतुग्रह के सोमरस की सशेष और अशेष दोनों प्रकार की आहुति दे सकते हैं। यहाँ अशेषपक्ष में लाघव और सशेषपक्ष में गौरव है। यह ध्यान देने योग्य विषय है कि स्तोत्र, शस्त्र और ग्रह की सङ्ख्या समान होती है। अग्निष्टोम याग में यह सङ्ख्या बारह है[1]।

अशेषयागपक्ष

यहाँ सोम रस के याग के विषय में दो पक्ष कहे हैं। अशेषाहुति और सशेषाहुति। अशेषाहुति पक्ष से यदि अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता और होता को सोमरस का पान करना हो तो यह प्रकार होगा। अध्वर्यु होता और प्रतिप्रस्थाता से अनुमति प्राप्त कर पान करे। प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु और होता से अनुमति प्राप्त कर पान करे[2]। होता अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता से अनुमति प्राप्त कर पान करे।

सशेषयागपक्ष

यदि सशेषाहुति पक्ष का आश्रयण किया जायेगा तो निम्नाङ्कित प्रकार से गौरव होगा। यहाँ अधिक सङ्ख्या में उपहव की प्रार्थना करनी पड़ेगी, यही गौरव है। यह पूछना निमित्तोत्पत्ति क्रम से सम्पादित किया जाता है[3]। पहले होम करने वाले और तब वषट्कार करने वालों से पूछना निमित्तोत्पत्ति क्रम है। सोमद्रव्य का सभी ऋत्विजों से और यजमान से पूछकर भक्षण करना अनिवार्य है[4]। पहले होता के साथ अध्वर्यु, पोता के साथ प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा के साथ अध्वर्यु, आग्नीध्र के साथ प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी के साथ अध्वर्यु और प्रशास्ता के साथ प्रतिप्रस्थाता भक्षण करे[5]। एक बार इस प्रकार भक्षण करके पात्र को घुमाकर पात्र के दूसरे मुख से भक्षण करे[6]। होता के साथ अध्वर्यु, पोता के साथ प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा के साथ अध्वर्यु और अच्छावाक के साथ प्रतिप्रस्थाता भक्षण करे। पुनः पात्र के प्रथम मुख से होता के साथ अध्वर्यु और होता के साथ प्रतिप्रस्थाता भक्षण करे[7]। यह द्विदैवत्य ग्रहपात्र के रस के भक्षण का प्रकार हुआ।

---

१. ऋतुग्रहैश्चरतः। का० श्रौ० ९.१३.१।
द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य तस्मात्, द्वादशगृह्णीयात्। श० ब्रा० ४.२.५.५।

२. ततः प्रतिप्रस्थाताध्वर्यु होतारं च पृष्ट्वा भक्षयति। दे० प० पृ० ३३७।

३. सर्वेषामसर्वहुतत्वपक्षे विशेष उच्यते। तत्र पूर्वमध्वर्युः सर्वान् होत्रादीन्निमित्तोत्पत्तिक्रमेण पृष्ट्वा तैरनुज्ञातो भक्षयति। दे० प० पृ० ३३७।

४. निमित्तोत्पत्तिक्रमश्च पूर्वं होमकर्तुः पश्चाद्वषट्कर्तुः। दे० प० पृ० ३३७।

५. प्रथमं होत्रा सहाध्वर्युः। ततः पोत्रा सह प्रतिप्रस्थाता०। दे० प० पृ० ३३७।

६. ततः पात्रमुखं विपर्यस्य। दे० प० पृ० ३३७।

७. पुनः पात्रमुखं विपर्यस्य। दे० प० पृ० ३३७।

अब बारह ऋतुग्रहपात्र के भक्षण का यह प्रकार होगा। यदि अध्वर्यु को भक्षण करना है तो उसे क्रमशः अठारह बार पूछना होगा। जैसे १ होता, २ प्रतिप्रस्थाता, ३ पोता, ४ नेष्टा, ५ प्रतिप्रस्थाता, ६ आग्नीध्र, ७ ब्राह्मणाच्छंसी, ८ प्रतिप्रस्थाता, ९ प्रशास्ता, १० होता, ११ प्रतिप्रस्थाता, १२ पोता, १३ नेष्टा, १४ प्रतिप्रस्थाता, १५ अच्छावाक, १६ होता, १७ प्रतिप्रस्थाता और १८ होता यह क्रम होगा। जो उपहव कर्त्ता हो वह अपना नाम छोड़कर दूसरों से उपहव की प्रार्थना करता है। उपहव प्रार्थनीय चौबीस हैं। उनमें-से स्वीय ६ नाम निकल जाने से अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता के अठारह उपहव हैं। होता के बीस उपहव हैं। पोता और नेष्टा के बाईस उपहव हैं। आग्नीध्र, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रशास्ता और अच्छावाक के तेईस उपहव हैं[1]। यही इस पक्ष के आश्रयण करने में गौरव है।

ऋतुग्रहयाग के समय गमनागमन

अध्वर्यु आहवनीयपर ऋतुग्रहयाग करके जब हविर्धानमण्डप में प्रवेश करे तब प्रतिप्रस्थाता आहवनीय की ओर जाय। इसी प्रकार जब प्रतिप्रस्थाता हविर्धान मण्डप में आवे तब अध्वर्यु आहवनीय की ओर जाय। गमनागमन में प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु से उत्तर और उसका पात्र अध्वर्यु से दक्षिण में रहे[2]।

शस्त्रपाठ

होता द्वारा 'शोंसाव' कह कर बुलाने पर उसके सम्मुख अध्वर्यु बैठे। होता शस्त्रपाठ करे[3]। अध्वर्यु होता द्वारा पठित प्रणव पर और अवसान पर 'ओथामो दैव' और अन्त में प्रणव कहकर प्रतिगर करे[4]। यह प्रतिगर होता के उत्साह वर्धनार्थ किया जाता है।

ऐन्द्राग्नग्रहयाग

अध्वर्यु ऐन्द्राग्नग्रह का आहवनीय पर याग करे[5]। ब्रह्मा और यजमान याग के समय उत्तरवेदि के दक्षिण ओर बैठे। अनन्तर भक्षण के लिए सदोमण्डप में जाय। इन्हें प्रशास्ता की धिष्ण्या के दक्षिण से और हविर्धान-मण्डप एवं मार्जालीय-मण्डप के मध्य से जाना चाहिए।

---

१. होतुर्विंशतिराह्वाने पोतुर्नेष्टुर्द्विरुत्तरा।
त्रिरुत्तरा चतुर्णान्तु शेषे त्वष्टादश स्मृताः॥ दे० प० पृ० ३३८।

२. निष्क्रामत्येकः प्रविशतीतरः। का० श्रौ० ९.१३.९।

३. यत्स्तुते तद्धोता शस्त्रेण प्रजनयति० यदेनच्छ्रयति तस्माच्छस्त्रं नाम। श० ब्रा० ४.२.६.३।

४. अभिहुतः शोंसावेत्यावृत्योथामो दैवेति प्रतिगृणाति प्रणवावसानयोः।
ओमिति वा। शस्त्रान्ते नित्यम्। का० श्रौ० ९.१३.२९-३१।
गृणाति ह वा एतद्धोता यच्छंसति। तस्मा एतद् गृणते प्रत्येवाध्वर्युरागृणाति तस्मात्प्रतिगरो नाम। श० ब्रा० ४.२.६.१।

५. ऐन्द्राग्नमादायाश्राव्याह०। का० श्रौ० ९.१३.३३।

चमस कम्पन

ग्रहयाग के अनन्तर चमसाध्वर्यु अपने हाथों में चमसपात्रों को लिये हुए अपना हाथ लम्बा करें। अपने हाथ के चमसपात्रों को कम्पित करें[1]। सदोमण्डप में सबलोग यथाविधि सोमरस का भक्षण करें। सब लोग अपने चमसों से सोमरस का भक्षण करें। चमसाध्वर्यु चमसों को और अध्वर्यु ग्रहपात्रों को मार्जालीया में धोकर हविर्धानमण्डप में यथास्थान रखें।

वैश्वदेवग्रहयाग

अध्वर्यु वैश्वदेवग्रह पात्र उठावे[2]। उसमें सोमरस ले। अनन्तर पात्र को यथास्थान आसादित करे। दो दर्भ से वैश्वदेव ग्रह को छूकर स्तोत्रोपाकरण करे। स्तोत्र और शस्त्रपाठ हो चुकने पर प्रातःसवन के समान पञ्चबिलापात्री में रखे जाने वाले पुरोडाश और धाना प्रभृति को तैयार करे[3]। उखामें श्रपणार्थ पशु के अङ्ग छोड़ने तक की विधि करे। वैश्वदेवशस्त्र के बाद अध्वर्यु वैश्वदेवग्रह से और चमसाध्वर्यु चमसों से याग करें। चमसों का कम्पन करें। सदोमण्डप में चमसों से सोमरस का पान करें। मार्जालीयामण्डप में चमसों का प्रक्षालन करके यथास्थान रखें। तब तीन उक्थ्यविग्रहविधि करे।

प्रथम उक्थ्यविग्रह

अध्वर्यु उक्थ्यस्थाली में से उक्थ्यपात्र में तृतीयांश रस ले[4]। दो दर्भ से उक्थ्यपात्र को छूकर प्रस्तोता को दर्भ देते हुए स्तोत्रोपाकरण करे। उद्गाता स्तवन करे और मैत्रावरुण शंसन करे। मैत्रावरुण के निमित्त याग और याग से अवशिष्ट शेष का भक्षण करे।

द्वितीय उक्थ्यविग्रह

द्वितीय उक्थ्यविग्रह का यागविधान प्रतिप्रस्थाता करता है[5]। दो दर्भ से पात्र को छूकर प्रस्तोता को दर्भ देते हुए स्तोत्रोपाकरण करे। उद्गाता स्तवन और ब्राह्मणाच्छंसी शंसन करे। इन्द्र के निमित्त याग करे। शेष भक्षण करे। अध्वर्यु हविर्धानमण्डप में पूर्ववत् शकट की दोनों ईषा के मध्य से अधिषवणफलक पर सोम छोड़े। वसतीवरी का जल एकधन और आधवनी में ले।

तृतीय उक्थ्यविग्रह

प्रतिप्रस्थाता पूर्ववत् दो दर्भों से उक्थ्यपात्र को छूकर स्तोत्रोपाकरण करे। अच्छावाक शंसन करे[6]। उद्गाता स्तवन करे। इन्द्राग्नी के निमित्त याग करके शेष का भक्षण करे। पात्र

---

१. नाराशंसानां च कम्पने हूयमाने। का० श्रौ० ९.१३.३५।

२. अथ यद्वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति। विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णाति। श० ब्रा० ४.२.२५, २७।

३. अग्नये जुष्टमिति प्रथमं पुरोडाशस्य०। दे० प० पृ० ३४०:

४. उक्थ्यं विगृह्णाति। का० श्रौ० ९.१४.८.।

५. ततः प्रतिप्रस्थातोक्थ्यपात्रमादाय०। दे० प० पृ० ३४२।

६. अच्छावाकः शंसति। दे० प० पृ० ३४३।

को मार्जालीया मण्डप में धोकर यथास्थान रखे। प्रातःसवन में पठनीय साम के चार आज्यस्तोत्र[1]।

माध्यन्दिन सवन

यजमान आग्नीध्रीया से पश्चिम में उत्तराभिमुख बैठकर लोकद्वारी साम का गान करे[2]। यजमान सहित ऋत्विज लोग सर्पण से धिष्ण्याभिमन्त्रण तक का विधान करे[3]। अध्वर्यु

---

१. (१) अग्न आयाहि वीतय इत्याग्नेयं होतुराज्यम्

१ र र र
अग्न आयाहि वीतयोम्

१ र
तं त्वा समिद्भिरंगिरोम्

१ र
सनः पृथुश्रवायियोम्। ता० ब्रा० ११. २. ३।

(२) आनो मित्रावरुणेति० आज्यम्

१ र र
आनो मित्रावरुणोम्

१ र र
ऊरुशठं सानमोवृधोम्

१ र र
गृणाना जमदग्निनोम्। ता० ब्रा० ११. २. ३.।

(३) आया हि सुषुमा हि त ब्राह्मणाच्छंसिनमाज्यम्

१ र र र
आया हि सुषमाहितोम्

१ र र र
आत्वा ब्रह्मयुजाहरोम्

१ र र र
ब्रह्माणस्त्वायुजावयोम्। ता० ब्रा० ११. २. ३।

(४) इन्द्राग्नी आगतं सुतमित्यच्छावाकस्याज्यम्

१ र र र
इन्द्राग्नी आगतठं सुतोम्

१ र र
इन्द्राग्नी जरितुः सचोम्

१
इन्द्रमग्निं कविच्छदोम्। ता० ब्रा० ११. २. ३।

२. यजमानस्य लोकद्वारीयसामगानम्। दे० प० पृ० ३४५।

३. ऋत्विजः सयजमानाः प्रातः सवनवत्० सर्पणं कुर्वन्ति। दे० प० पृ० ३४५।

यजमान को होतृचमस दे। अभिषव के निमित्त सब लोग अधिषवण स्थान पर बैठें। सोम का उष्णीष ग्रावस्तुत् को दे[1]। 'इहा ३। इहा ३।' कहते हुए सोमाभिषव करें। प्रथम पर्याय में त्रैमात्रिक 'इहा ३। इहा ३' द्वितीयपर्याय में द्वैमात्रिक 'इहा २। इहा २।' और तृतीयपर्याय में एकमात्रिक 'इहा १। इहा १।' का उच्चारण करें[2]।

कूटे हुए सरस सोम को सम्भरणी में भरकर आधवनी में छोड़े। उसमें धोकर पुनः अधिषवणफलक पर रखे। यह तीन पर्याय का एक अभिषव हुआ। इसी प्रकार दूसरा अभिषव करे। दूसरे अभिषव के अनन्तर तीसरा अभिषव करे। इस अभिषव के मध्यम पर्याय में 'बृहद् बृहद्' मन्त्र का पाठ करे[3]। पूर्ववत् अधिषवणफलक पर द्रोणकलश रखे[4]। यजमान अपने हाथों में होतृचमस लिये रहे। उन्नेता उसमें सोमरस छोड़े। यजमान होतृचमस से द्रोणकलश में रस छोड़े। गिरती हुई सोमरस की धारा से अध्वर्यु पाँच ग्रहपात्र भरे। प्रातःसवनवत् शुक्रग्रह भरे। इसी प्रकार अन्य पात्रों को भी भरे। पूर्ववत् कच्छ पकड़े हुए देवयजन से निष्क्रमण करें[5]।

माध्यन्दिन पवमान

अध्वर्यु दो तृणों को सदोमण्डप में उपविष्ट उद्गाता को देते हुए पवमानोपाकरण करे[6]। उद्गाता माध्यन्दिन सवन में पढ़े जाने वाले मन्त्रों से सामगान करे[7]।

---

१. प्रयच्छत्युष्णीषं ग्रावस्तुते। का० श्रौ० १०. १. २।
२. इहा ३। इहा ३ इत्यभिषुणोति। श० ब्रा० ४. २. ७. १।
३. मध्यमे पर्याये बृहदिति मन्त्रेण। दे० प० पृ० ३४६।
४. उद्गातारो द्रोणकलशप्रोहणम्० कुर्वन्ति। दे० प० पृ० ३४६।
५. समन्वारब्धनिष्क्रमणादि करोति। का० श्रौ० १०. १. १५।
६. सदसि पवमानोपाकरणम्। का० श्रौ० १०.१.१६।
७. उच्चातेजा गायत्रमाहवीयवे, पुनानः सो० रौरवयौधाजये, प्रतुद्रवेत्यौशनम्।

(१) गायत्रम्—

१ र र र
उच्चा ते जातमन्धसोम्। ओकारेणाच्छादनम्।

१ र
सन इन्द्राय यज्यवोम्। ,, ,,

१र र र
एना विश्वानि अर्यओम्। ता० ब्रा० ६.३.११।

(२) आमहीयवम्—

५ र २ ४र ५
उच्चाता ३ इ जातमन्धसाः।

५ २ ४र ५
सन आ ३ इन्द्राय यज्यवाई।

अध्वर्यु प्रातःसवनवत् आग्नीध्र और प्रतिप्रस्थाता को प्रैष करे[1]। आग्नीध्र और प्रतिप्रस्थाता प्रैष के अनुसार कार्य करें। अध्वर्यु चमस पात्रों से सोमरस का याग करे। होता को इडापात्री देने तक का विधान सम्पन्न करे। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता होतृचमस के रस का पान करें। अध्वर्यु पञ्चबिलापात्री में स्थापित सवनीय हविर्द्रव्य का याग करे। सदोमण्डप में होतृधिष्ण्या के निकट इडापात्री रखे। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता पूर्ववत् प्रोक्षित और अप्रोक्षित शकलों को लेकर शुक्रामन्थि प्रचार करें। अध्वर्यु होता को अपना अभिलषित कहने की प्रार्थना करे। होता मन्त्र पढ़कर दधिघर्मयाग करने को कहे[2]।

५र२र २ ४र ५
एना वा ३ इस्वानि अर्यआ०। ता० ब्रा० ७.३.२। ऊहगान १-१-१।

(३) रौरवम्—

२र र १ ५
पुनानस्सोमा ३ धारा २ ३ ४ या।

१ र रर १ ५
उत्सो देवो हा ३ इ रण्या २ ३ ४ याः।

२ १ ५
प्रत्नंठँ सधस्था ३ मासा २ ३ ४ दात्। ता० ब्रा० ७.३.२। ऊहगान १-१-२

(४) यौधाजयम्—

३ २ २ ४५ २ ३ ५
पुना ३ १ ना ३ः सोम धारा २ ३ ४ या।

३ २ २ ४५२३ ५
उत्सो ३ १ दे ३ वोहिरण्या २ ३ ४ याः।

३ २ २ ४५२३ ५
प्रत्ना ३ १ ठँ सा ३ धस्थमासा २ ३ ४ दात्। ता० ब्रा० ७.३.२।
ऊहगान १-१-३।

(५) औशनम्—

१ २
प्रातू०।

१ २
सूवा।०

१ २
आर्षीः। ता० ब्रा० ७.३.२। ऊहगान १-१-४।

१. अग्नीदग्नीन्विहर० दधिघर्माय दध्याहर, दक्षिणा उपावर्तय। का० श्रौ० १०. १. १८।

२. होतर्वदस्व यत्ते वाद्यम्। दधिघर्मस्य यज। का० श्रौ० १०. १. २२।

पुरोडाशप्रचार

अध्वर्यु दोनों आज्यभागों का याग करे। अग्नि देवता के निमित्त पुरोडाश से याग करे[1]। निर्गुण स्विष्टकृद्याग करे[2]। यजमान सहित ऋत्विज लोग इडाभक्षण करें।

याजमानकृत्य

यजमान को मरुत्वतीयानुवाचन तक स्वकरणीय विधान करना चाहिए। ऋत्विजों को देखे। आग्नीध्रीया में बैठकर दक्षिणा का सङ्कल्प करे[3]। पत्नी भी 'ममापि दत्ता' कहे। ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु को बारह-बारह ब्राह्मणाच्छंसी, प्रस्तोता, मैत्रावरुण और प्रतिप्रस्थाता को छः-छः, पोता, प्रतिहर्ता, अच्छावाक और नेष्टा को चार-चार और आग्नीध्र, सुब्रह्मण्य, ग्रावस्तुत् और उन्नेता को तीन-तीन गौ दे। इसके सिवाय सुवर्ण प्रभृति दक्षिणा भी सङ्कल्प के अनुसार पूर्वोक्त अनुपात से दे। ऋत्विज लोग समन्त्रक दक्षिणा का प्रतिग्रह करें[4]।

इतरदक्षिणा

सङ्कल्प के अनुसार केवल सोलह ऋत्विजों को ही दक्षिणा देनी चाहिए। याग की विहित दक्षिणा के अनन्तर प्रसर्पक, उपगाता, चमसाध्वर्यु और इतर विद्वान् जो उपस्थित हों उन्हें निश्चित दक्षिणा से अतिरिक्त द्रव्य सङ्कल्पपूर्वक देना चाहिए[5]। किसी को भी सुवर्ण के सिवाय रजत नहीं दिया जा सकता।

शस्त्र और स्तोत्र

अध्वर्यु मरुत्वतीय याग के अनन्तर सदोमण्डप में होता के सम्मुख बैठे। होता मध्यम स्वर से शस्त्रपाठ करे और अध्वर्यु प्रतिगर करे[6]। उद्गातृगण स्तोत्रपाठ करें।

---

१. पशुपुरोडाशेन प्रचर्य पुरोडाशादि करोत्याधिष्ण्यनिधानात्। का० श्रौ० १०. १. २५।

२. निर्गुणस्विष्टकृद्याग में स्विष्टकृत् शब्द हटाकर केवल 'अग्नयेऽनुब्रू३हि और अग्नि यज' इतना ही कहना चाहिए।

३. अस्याग्निष्टोमसंस्थस्य ज्योतिष्टोमस्य समृध्यर्थं हिरण्यं शतं गा वासोऽश्वं दक्षिणा ब्रह्मादिभ्य ऋत्विग्भ्यो यथाशास्त्रविभागेनाहं सम्प्रददे। दे० प० पृ० ३५१।
पत्नी च ददाति। का० श्रौ० १०. २. ३५।

४. होता 'अग्नये त्वा' मन्त्र से सुवर्ण और 'रुद्राय त्वा' मन्त्र से गौ का प्रतिग्रह करे। शां० श्रौ० ७. १८. १–२।

५. यथासम्पन्नं हिरण्यमुद्गातृभ्यः प्रासर्पकेभ्यश्चमसाध्वर्युभ्योऽन्येभ्योऽपि देवयजनमागतेभ्यो ब्राह्मणेभ्योऽहं सम्प्रददे। दे० प० पृ० ३५३।

६. होता प्रभृति मरुत्वतीय, निष्केवल्य, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी और अच्छावाक इन पाँच शस्त्रों को माध्यन्दिन सवन में पढ़ें। आत्वारथम्०। ऋ० सं० ८. ६८. १।
माध्यन्दिने सवने०। शां० श्रौ० ७. १९. ६।

सवनीयनिर्वाप

अध्वर्यु सवनीय निर्वाप का प्रैष करे। आग्नीध्र प्रैष के अनुसार कार्य करे। पूर्ववत् पञ्चबिलापात्री में स्थापनीय हविर्द्रव्य तैयार करे। एकादशकपाल पर इन्द्र का और एक कपाल पर वरुण का पुरोडाश करे। प्रातःसवनवत् तीन उक्थ्यविग्रह प्रचार करे।

प्रसर्पण

प्रशास्ता के 'सर्पत' कहने पर सब कोई देवयजन से बाहर जायँ। आवश्यकतानुसार आवश्यक दैहिक विधि से निवृत्त एवं शुचिर्भूत होकर पुनः देवयजन में आवें।

---

१. उद्गाता प्रभृति के द्वारा पठनीय स्तोत्र—

(१) रथन्तरम्—

२र र र र १
आभित्वा शूरनोनुमोवा। ता० ब्रा० ७. ६. १। ऊह्यगान—१-१-१

२१
इशोवा। ता० ब्रा० ७. ७. २।

२१
नजोवा।

१ २र र रर १ २
ओं वाग्भाभुभाभिभभेभभभीभाभभभभभस्सुवा २ ३ दृंशाम्।

१ २ र र र र र१ २
ओं वाग्भाभिभभुभुभोभभाभाभभोभिभिभो नपा २ ३ थिवाः।

१ २ र र र १ २
ओं वाग्भोभभभिभभेभभाभभोभभभमिन्द्रवा २ ३ जिनाः।

रथन्तरेऽन्वक्षरं भकारान्स्वरवन्ति व्यंजनानि यथाक्षरं दर्शयेत्। संहि० ब्रा० ३.

(२) वामदेव्यम्—

३ र ४ २ ४र ५
का ५ यानश्चा ३ इत्रा ३ आभूवात्०।

३ र ४ २ ४५
का ५ स्त्वासत्यो ३ मा ३ दानाम्०।

३ र ४ २ ४५
आ ५ भीषुणा ३ : सा ३ खीनाम्। ता० ब्रा०, ७.८.१। ऊ० गा० १.५।

(३) नौधसम्—

१ र५ ४५र ४ ५
ता २ ३ ४ म् वोदस्ममृतीषाहाम्।

१ ५र४५ र ४ ५
आ २ ३ ४ इन्द्रंगीर्भिन्नंवामाहाइ०।

१ ५४र ४ ५
गा २ ३ ४ इरिन्न पुरुभोजासाम्। ऊ० गा० १.६।

अध्वर्यु कर्तृक प्रैष

स्तोत्र की समाप्ति होने पर अध्वर्यु आग्नीध्र और प्रतिप्रस्थाता को प्रैष करे[1]। प्रतिप्रस्थाता धिष्ण्या पर अग्नि रखे। वेदि में बर्हि बिछावे और पुरोडाश को भस्मरहित करे। प्रतिप्रस्थाता शमिता का अनुशासन करे[2]। अध्वर्यु उखा में शृत अङ्गों पर अभिघार करे। 'अग्नीषोमीययागवत्' अग्निदेवता के निमित्त पशु के अङ्गों से याग करे। सवनीय पुरोडाश का याग करे। चमसपात्र से सोमरस का याग करे। सदोमण्डप में होता को इडापात्री दे। होता अवान्तरेडा का प्राशन करे। चमस से सोम का भक्षण करे।

पिण्डदान

यजमान सहित सोलहों ऋत्विज पुरोडाश में-से थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर हविर्धानमण्डप में अपने-अपने चमस के निकट जायँ। यजमान के पितृनिमित्तक पिण्डदान करें[3]। जिन ऋत्विजों के चमस नहीं हैं वे अपने गण के चमस के निकट पिण्डदान करें। ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, प्रशास्ता और आग्नीध्र इडाका भक्षण करें। याग की शेष विधि को समाप्त करे।

हविर्धानमण्डप में जाकर उपांशुपात्र में या अन्तर्यामपात्र में सोमरस से सावित्रग्रहण करे[4]। खर पर यथास्थान आसादित करे।

तृतीयसवन

अध्वर्यु 'एहि यजमान' कहते हुए यजमान को पूर्वद्वार से हविर्धानमण्डप में ले जाय। ऋत्विज लोग भी वहाँ उपस्थित हों। आदित्यस्थाली से आदित्यपात्र में सोमरस लेकर याग करे। तृतीय सवन के प्रारम्भ का सर्पण विधान करे। अन्वारम्भ किये हुए देवयजन से बाहर निकलें।

---

(४) कालेयम्

५र २ ४र ५४ ५
तरोभा ३ इर्वोविदद्वसूम्।
५र२ ४५ ४र ५
हुवेभा ३ रन्न कारिणाम्।
५र२ ४ ५४ ५
मदेषु ३ शाइप्रमन्धसाः। ऊ० गा० १.७।

१. अग्नीदग्नीन्विहर इत्यादि। प्रतिप्रस्थातः पशौ संवदस्व। दे० प० पृ० ३६१।

२. शामित्रानुशासनं करोति। दे० प० पृ० ३६१।

३. प्रागिडाभक्षाद्धविर्धाने यथास्वं चमसेषूपास्यन्ति पुरोडाशमात्रा अनूदकाः पिण्डपितृयज्ञवद्दान-प्रभृति प्रागवघ्राणात्। का० श्रौ० १०.५.११।

४. तस्मात्सावित्रं गृह्णाति। श० ब्रा० ४.३.३.१।

स्तोत्रोपाकरण

अध्वर्यु उद्‌गाता को दो तृण देते हुए पवमानोपाकरण करे। उद्‌गाता आर्भवपवमान-संज्ञक स्तोत्रपाठ करे[१]।

---

१. (१) गायत्रम्

१र र
स्वादिष्ठया मदिष्ठयोम्।

१ र र
रक्षोहा विश्वचर्षणोम्।

१ २ र र
वरिवो धातमो भुवोम्। ता० ब्रा० ८.४.५।

(२) स ठँ हितम्

१र २र – १
स्वादिष्ठयाम दा २ इष्ठया

२ र १र – १
रक्षोहाविश्व चा २ र्षणाइः।

२ र १र – १
वरिवो धातमो २ भुवाः। ऊ० गा० १.८।

(३) सफमेकर्चम्

२१२ ४५
पवस्वा ३ मधु। ऊ० गा० १.९।

(४) पौष्कलमेकर्चम्

२ १ २ ४ ५
इन्द्रमा ३ च्छसु। ऊ० गा० १.१०।

(५) श्यावाश्वम्

३ २ २ ४ ५ २ ४ ५
पुरो ३ १ जी ३ ती वो अन्धा ३ स एहिया।

३ २ २ ४ ५ २ ४ ५
सखा ३ १ यो ३ दीर्घजिह्वा ३ य मेहिया।

३ २ २ ४ ५ २ ४ ५
इन्दू ३ १ आ ३ श्वो न कृत्वा ३ य एहिया। ऊ० गा० १.११

(६) आन्धीगवम्

२ र र २
पुरोजितीवो १ न्धासा:।

२ र र र २
सखायोदीर्घजा १ ह्वायाम्।

अध्वर्यु सोमरस से सावित्र और महावैश्वदेव याग करे[1]। द्विदैवत्यपात्रों को धोकर मार्जालीयाशाला में रखे। वैश्वदेव ग्रहयाग करके चमसभक्षण करें। ग्रहशेष का भक्षण करें। चमसपात्रों को वेदि से पश्चिम में आसादित करे। सौम्यचरु का याग करे[2]। सौम्यचरु में लौकिक आज्य छोड़कर सदोमण्डप में रखे।

धिष्ण्याहुति

अध्वर्यु आग्नीध्रीयाशाला की धिष्ण्या पर आज्य से आहुति देकर शेष आज्य से इतर धिष्ण्याओं पर आहुति दे[3]। पात्नीव्रतसंज्ञक आहुति दे। अध्वर्यु के प्रैष के अनुसार आग्नीध्र पात्नीव्रतपात्र लिये हुए सदोमण्डप में जाकर नेष्टा की गोद में बैठे[4]। उन्नेता चमसपात्रों में सोमरस भरे। अध्वर्यु दो दर्भोंको प्रस्तोता को देते हुए अग्निष्टोमयाग में अन्त में गेय यज्ञायज्ञिय स्तोत्र का उपाकरण करे[5]।

नेष्टा पत्नी को सदोमण्डप में ले आवे। पत्नी उद्गाता को देखे[6]। स्तोत्र के निधनपाठ के समय पत्नी पान्नेजनीपात्र का जल अपनी जाँघपर छोड़े[7]। स्तोत्रपाठ हो चुकने पर पत्नी

---

२ र र   २
इन्दुरश्वोन का १ त्वायिाः । ऊ० गा०, १.२

(७) कावम्

२ १   २ १   २ १
अभ्योवा । ऋतोवा० अवोवा० ऊ० गा० १.१३ ।

१. वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । श० ब्रा० ४.३.३.१० ।

२. सौम्येन चरुणा प्रचरति । श० ब्रा० ४.३.४.१ ।
आज्यमासिच्योद्गात्रे सौम्यं प्रयच्छति । का० श्रौ० १०.६.१३ ।

३. प्रचरणी स्रुग्भवति । तस्यां चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाध्वर्युः शालाकैर्धिष्ण्यान्व्याघारयति ! श० ब्रा० ४.३.४.७ ।

४. अग्नीन्नेष्टुरुपस्थमासीद । सपात्र आसीदति नेष्टुरुपस्थम् । का० श्रौ० १०.६.२०,२३ ।

५. यज्ञायज्ञियस्तोत्रमुपाकरोति । का० श्रौ० १०.७.१ ।

यज्ञायज्ञिय—

४३   ४   २   ४ ५
यज्ञा ५ यज्ञा ३ वो ३ ग्नायाई ।

१ २
प्रायाम् ।

१ २
दाशे० ।

ऊ० गा० १.१४ ।

६. उद्गात्रानुज्ञाता गच्छति ईक्षिता वा त्रिः । का० श्रौ० १०.७.५ ।

७. पान्नेजनीभिरभिषिञ्चति विवृत्य दक्षिणोरुकम् । का० श्रौ० १०.७.४ ।

पत्नीशाला में जाय। अध्वर्यु होता के सम्मुख बैठकर शस्त्र का प्रतिगर करे। अध्वर्यु और चमसाध्वर्यु चमसपात्रों से सोमरस का याग करे[१]। चमसभक्षण करे। चमसपात्रों को मार्जालीयामण्डप में धोकर चात्वाल के पश्चिम में आसादित करे। स्रुग्व्यूहन तक की विधि करे। प्रस्तर की आहुति दे। यजमान त्याग करे[२]।

द्रोणकलश से याग

द्रोणकलश में प्रागग्र दो दर्भ रखे। उसमें धाना छोड़े। उत्तरवेदि पर द्रोणकलश से सोममिश्रित धाना की आहुति दे[3]। उन्नेता और होता हविःशेष का भक्षण करे। द्रोणकलश को उत्तरवेदि से पश्चिम में आसादित करे। यजमान सहित सोलहों ऋत्विज द्रोणकलश में से तीन-तीन धाना ले। अवघ्राण कर उत्तरवेदि पर छोड़े[४]। यजमान सहित सोलहों ऋत्विज चात्वाल के पश्चिम में आसादित चमसपात्रों में जल भरें। चमसों पर दर्भ रख कर स्पर्श करें। यजमान सहित ऋत्विज लोग आग्नीध्रीया में दधिभक्षण करें[५]।

पत्नीसंयाज

अध्वर्यु जाघनी लेकर यूप और उत्तरवेदि के मध्य से और पत्नीशाला के पश्चिम से शालाद्वार्य के निकट जाय। जाघनी से यथाविधि पत्नीसंयाज करे[६]। दक्षिणाग्नि में हवन करे। समिष्टयजुसंज्ञक आहुति दे[७]।

अवभृथयाग

आसन्दी और औदुम्बरी को चात्वाल के निकट ले जाय[८]। चमस, द्रोणकलश प्रभृति सोमलिप्त पात्रों को भी वहीं रखे। अध्वर्यु यजमान से कृष्णविषाण और मेखला लेकर और प्रतिप्रस्थाता पत्नी से शंकु और मेखला लेकर चात्वाल में छोड़ दे[९]। अध्वर्यु प्रस्तोता को साम-

---

१. उक्थशा यजसोमानामिति, प्रैषः। दे० प० पृ० ३६९।

२. इदमग्नये वनस्पतये, इन्द्राय वसुमते रुद्रवत आदित्यवते ऋभुमते विभुवते वाजवते बृहस्पतिमते विश्वदेव्यावते देवेभ्य आज्यपेभ्योऽग्नये होत्राय वाजिभ्यो न मम। दे० प० पृ० ३६९।

३. विमुच्यस्रुचौ द्रोणकलशे हारियोजनग्रहणम्०। का० श्रौ० १०.८.१।

४. स यजमानाः षोडषर्त्विजो द्रोणकलशात्तिस्रस्तिस्रो धाना गृहीत्वा सदस्येव धाना अवघ्रायोत्तरवेदौ प्रक्षिपन्ति। दे० प० पृ० ३७०।

५. आग्नीध्रे दधिभक्षणम्। का० श्रौ० १०.८.१०।

६. पत्नीसंयाजाः पशुवत्। का० श्रौ० १०.८.११।

७. यस्मात्समिष्टयजूंषि नाम। या वा एतेन यज्ञेन देवताह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वै तत्ताः समिष्टा भवन्ति० तस्मात्समिष्टयजूंषि नाम। श० ब्रा० ४.३.६.३।

८. आसन्द्यौदुम्बर्यौ चात्वालंहरति, सोमलिप्तं च। का० श्रौ० १०.८.१३-१४।

९. यजमानसकाशात्कृष्णविषाणमेखले आदाय चात्वाले प्रास्यति। प्रतिप्रस्थातापत्न्याः शंकुयोक्त्रे चात्वाले प्रास्यति। दे० प० पृ० ३७१।

गान का प्रैष करे[१]। प्रस्तोता सामगान करे[२]। सब कोई सामगान के निधन का गान करें। सोमलिप्त समस्त पात्र, ऋजीषकलश, वारुणपुरोडाश, आसन्दी, आज्य, औदुम्बरी, हवन के पात्र और पहनने के वस्त्र लेकर नदी पर जायँ। देवयजन और नदी के मध्यमार्ग में सामगान करें। नदी पर पहुँचकर पुनः सामगान करें। अध्वर्यु बाहु पकड़कर यजमान को नदी में उतारें। जल में अवभृथ याग करे[3]। ऋजीषकलश को जल में छोड़े[४]। कलश का उपस्थान करे। यजमान की दीक्षा का कृष्णाजिन जल में डुबोकर यजमान के पुत्र को दे। यजमान प्रभृति ऋत्विज लोग स्नान करें। मन्त्रपाठ करते हुए देवयजन की ओर जायँ। देवयजन में पहुँचकर यजमान आहवनीय में और पत्नी शालाद्वार्य में समिदाधान करे। यजमान गोद में कृष्णाजिन रखकर पत्नीशाला में बैठे[५]। अध्वर्यु अग्नि देवता के निमित्त आहवनीय में आहुति करे। यजमान कृष्णाजिन को सुरक्षित रख दे।

उदयनीयेष्टि

यह इष्टि प्रकृतिशाला में करनी चाहिए। प्रायणीयेष्टि में जिस चरुस्थाली में चरु किया हो वही चरुस्थाली इस इष्टि में भी रखनी चाहिए। आज्यभाग के अनन्तर अग्नि, सोम, सविता और पथ्यास्वस्ति देवता के निमित्त आज्य से याग करे। तब चरु से अदितियाग करे[६]। शेषयागविधि समाप्त करे। इस इष्टि में प्रस्तोता द्वारा उद्वद्भार्गवसंज्ञक सामगान होना चाहिए[७]।

अनूबन्ध्यायाग

उदयनीयेष्टि के अनन्तर अनूबन्ध्यायाग करे। इसमें मित्रावरुण देवता के निमित्त अवत्सा गौ का आलभन विहित है[८]। कलि में इसे वर्ज्य कहा है अतः तत्स्थानीय अजा का आलभन होता है। पाशुक विधि से इस याग का अनुष्ठान करना चाहिए।

उदवसानीयेष्टि

पूर्वोक्त अनूबन्ध्या अथवा तत्स्थानीय पयस्येष्टि करके उदवसानीयेष्टि करे[९]। अग्नि का

---

१. अथाह सामगायेति। श० ब्रा० ४.४.१.६।

२. अवभृथसाम,

   ३ २ ३   ५   २ १   ३ २ ३ ४ ५   २ १

   अहावोहा२ ३ ४ वाः। ३। अग्निष्टपती। प्रतिदहति। अग्निठंहो०।

   वे० गा० १२.४०।

३. स वा अवभृथमभ्यवैति। श० ब्रा० ४.४.१.१।

४. ऋजीषकुम्भं प्लावयति। का० श्रौ० १०.९.१।

५. कृष्णाजिनमङ्के कृत्वा०। का० श्रौ० १०.९.९।

६. आदित्येन चरुणोदयनीयेन प्रचरति। श० ब्रा० १०.४.२.१।

   २ र १   २र १

७. अचोदासो २ ३। नो धनू वा २ ३। वे० गा० १६.७।

८. अथ मैत्रावरुणीं वशामनूबन्ध्यामालभते। श० ब्रा० ४.४.२.५।

९. अथोदवसानीययेष्ट्या यजते। श० ब्रा० ४.४.२.१३।

समारोप करे। मन्थन करके पुनः अग्निस्थापन करे। पुनराधान के समान पाँच कपालों पर आग्नेय पुरोडाश करके याग करे[१]। इस याग में सुवर्ण अथवा अनड्वान् दक्षिणा में दे[२]। प्रस्तोता यथासमय सामगान करे[३]।

ब्राह्मणभोजन

यजमान अग्निष्टोमयाग में विहित एकसहस्र ब्राह्मणभोजन का सङ्कल्प करे[४]। माङ्गलिक विधि को सम्पन्न करे। अग्नि का उद्धरण करके स्वयं सायङ्कालीन अग्निहोत्रहवन करे[५]। प्रातःकालीन हवन दूसरे दिन से करे। अग्निष्टोमयाग के प्रारम्भ से संध्या, तर्पण, वैश्वदेव प्रभृति जो कार्य वर्ज्य थे उनका पुनः प्रारम्भ करे[६]। अग्नि को प्रदीप्त अवस्था में छोड़कर देवयजन से निवासस्थान पर लौटे[७]।

●

---

१. उदवसानीयाग्नेयः पञ्चकपालाः समारूढनिर्मथिते। का० श्रौ० १०.९.१८।

२. हिरण्यं दक्षिणानड्वान्वा। का० श्रौ० १०.९.१९।

१र २ र र १ २ १
३. गायन्ति त्वा गायत्रीण आ। उदवसानीयायामुद्वंशीयम्। ला० श्रौ० १.६.४९।
ऊह्० गा० ६.१.८।

४. अस्याग्निष्टोमस्य समृद्धये यथासम्पन्नेन भोजनपर्याप्तेनान्नेन सहस्रं ब्राह्मणानहं तर्पयामि। दे० प० पृ० ३७९।

५. तदन्ते सायमाहुतिः। का० श्रौ० १०.९.२१।

६. नियतक्रियातः। का० श्रौ० १०.९.२४। अत ऊर्ध्वं सन्ध्यातर्पणवैश्वदेवादिनित्यक्रिया न ततः प्राक्। दे० प० पृ० ३७९।

७. आदीप्य प्रविशन्ति। का० श्रौ० १०.९.२६।

सप्तमाध्याय

सोमसंस्था

अत्यग्निष्टोमयाग : विकृति····ग्रहस्तोत्र और शस्त्र की सङ्ख्या····स्तोत्रोपाकरण।

उक्थ्ययाग : कामना····अन्य याग विधान····शेष विधान का मूल।

षोडशीयाग : ग्रहसङ्ख्या····उपाकरण····सवनीययाग।

वाजपेययाग : बृहस्पतिसव····अपरमत····वाजपेययाग की सप्तदशसङ्ख्या····रथ····दुन्दुभि····इषुप्रक्षेप····रथधावन····यूपारोहण····सम्राट् पदप्राप्ति।

अतिरात्रयाग : पशु की जाति····रात्रि पर्याय।

अप्तोर्याम : सङ्कल्प····दीक्षा और उपसदा····माहेन्द्रस्तोत्र····न्यूङ्ख।

अत्यग्निष्टोमयाग

सोमयाग की अत्यग्निष्टोम संज्ञक यह दूसरी संस्था है[1]। यह अग्निष्टोमयाग की विकृति है[2]। इसमें पत्नी सहित यजमान और सोलह ऋत्विज याग का कार्य सम्पादित करते हैं। कुछ विशेष विधि को छोड़कर शेष सब विधि प्रकृतिभूत अग्निष्टोमयागवत् होती है। यजमान के सङ्कल्प करने पर अध्वर्यु यागकृत्य प्रारम्भ करता है[3]।

इसमें एक आग्नेय पशु अज का आलभन होता है। इस याग में तेरह ग्रहपात्र, तेरह शस्त्र का पाठ और तेरह स्तोत्र का गान होता है। ग्रहपात्र के आसादन के समय खादिर काष्ठ का चतुरस्र मुँहवाला, षोडशी संज्ञक, एक ग्रहपात्र आसादित किया जाता है। इसे आश्विन ग्रहपात्र से पश्चिम की ओर रखना चाहिए। तीनों सवन में-से किसी एक सवन में आग्रयणग्रहण के अनन्तर अथवा पृष्ठ्योपाकरण से पूर्व इस पात्र में समन्त्रक सोमरस का ग्रहण होता है।[4]

तृणस्पर्श से स्तोत्रोपाकरण होता है। शस्त्र पाठ के समय अध्वर्यु 'ओथामो दैव, मोदामो दैव' और अन्त में प्रणव से प्रतिगर किया जाता है। षोडशीग्रहपात्र से इन्द्र के निमित्त किये गये याग का इन्द्र ही के निमित्त त्याग करना चाहिए। शेष अग्निष्टोमवत् याग की समाप्ति होती है। अन्त में याग के निमित्त एक सहस्र ब्राह्मणभोजन कराना चाहिए।

उक्थ्ययाग

यह सोमयाग की उक्थ्यसंज्ञक याग तीसरी संस्था है। यह अग्निष्टोमयाग की विकृति है[5]। पशु की अभिलाषा से उक्थ्ययाग करना चाहिए[6]। यजमान सङ्कल्प पूर्वक इसे प्रारम्भ करता है[7]। इसमें अग्नि के लिए एक और इन्द्र के लिए एक इसतरह दो अज पशु आवश्यक हैं[8]। इसी के अनुसार पाशुक पात्रासादन करना चाहिए। इस याग में ग्रह, स्तोत्र और शस्त्र इन तीनों की संख्या पन्द्रह रहती है।

---

१. षडुत्तरेऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्यामः। का० श्रौ० १०.९.२७।

२. उक्थ्यषोडश्यतिरात्राणामग्निष्टोमविकारत्वम्। अत्यग्निष्टोमस्य च। दे० प० पृ० ३७९।

३. हिरण्यशतगवदक्षिणेन वासोऽश्वदक्षिणेन चतुष्टोमेन रथन्तरपृष्ठेनात्यग्निष्टोमसंस्थेन ज्योतिष्टोमेनाहं यक्ष्ये।

४. आतिष्ठवृत्रहन् रथम्०। शु० य० ८.३३।

५. उक्थ्यषोडश्यतिरात्राणामग्निष्टोमविकारत्वम्। दे० प० पृ० ३७९।

६. उक्थ्येन पशुकामो यजेत। स० श्रौ० ९.७।

७. चतुष्टोमेन बृहत्पृष्ठेन हिरण्यशतगवदक्षिणेन वासोऽश्वदक्षिणेन चोक्थ्यसंस्थेन ज्योतिष्टोमेनाहं यक्ष्ये।

८. ऐन्द्राग्नश्चोक्थ्ये द्वितीयः। का० श्रौ० ९.८.३।

पुरोडाश के समय अग्नि का आठकपाल का और इन्द्राग्नी का बारह कपाल का पुरोडाश करना चाहिए। अङ्गावदानश्रपण के निमित्त दोनों हृदयों को एक ही शूल में खोंस कर तपाना चाहिए। एक ही उखा उपयोग में लेनी चाहिए।

पशु के अङ्गों के श्रपण के समय एक से दूसरे का मिश्रण नहीं होना चाहिए। एतदर्थ एक पशु के अङ्गों को वस्त्र से बाँध कर श्रपण करना चाहिए। यथासमय पुरोडाश तथा सवनीय प्रचार करे। शेष विधान प्रकृतिस्वरूप अग्निष्टोम के समान करना चाहिए।

षोडशीयाग

षोडशी संज्ञक याग सोमयाग की चौथी संस्था है। यह अग्निष्टोमयाग की विकृति है[1]। संस्थान्तर्गत विशेष विधान को छोड़ कर इसमें बाकी के सब कृत्य प्रकृतिवत् होते हैं। इस याग को वीर्य की कामना से करने का विधान है[2]।

यजमान सङ्कल्प पूर्वक याग का प्रारम्भ करता है[3]। इसमें पीले मुँहवाली और कृष्णकर्णवाली गो से सोमक्रयण होता है। इसमें ग्रहस्तोत्र और शस्त्र सोलह होते हैं। ग्रह-पात्रों में षोडशीसंज्ञक एकपात्र खैर की लकड़ी का, चतुरस्रमुँहवाला, अधिक होता है। इस याग में दो अज और एक मेष अपेक्षित है। अग्नि के लिए अज, इन्द्राग्नी के लिए अज और इन्द्र के लिए मेष होता है[4]। आग्रयण ग्रह के अनन्तर षोडशीग्रह विधान होता है। स्तोत्र के उपाकरण के समय पश्चिमाभिमुख कृष्ण अश्व खड़ा करना चाहिए। दर्भ और हिरण्य से स्तोत्र का उपाकरण करे।

इस याग में विजातीय पशु रहने के कारण अङ्गश्रपणादि विधान में एकीकरण नहीं होना चाहिए। एतदर्थ उखा, वपाश्रपणी प्रभृति की पृथक् व्यवस्था करनी पड़ती है। क्रमशः अग्नि, इन्द्राग्नी और इन्द्र देवता के निमित्त सवनीय याग होता है। याग की समाप्ति होने पर एक सहस्र ब्राह्मणभोजन कराना चाहिए। याग के अनन्तर सायङ्कालीन हवन से अग्निहोत्र हवन का प्रारम्भ करे। दूसरे दिन प्रातःकाल से प्रतिदिन अग्निहोत्र हवन करना उचित है।

वाजपेययाग

सोमयाग की सात संस्थाएँ कही गयी हैं। उन सातों संस्थाओं में वाजपेययाग यह पाँचवीं संस्था है। यह वाजपेय याग षोडशी नामक चतुर्थ सोमसंस्था की विकृति है। उसका कारण यह है कि वाजपेययाग के लिए विहित समस्त क्रियाकलाप का अतिदेश उसी षोडशी नामक सोमयाग की चौथी संस्था से प्राप्त होता है।

---

१. उक्थ्यषोडश्यतिरात्राणामग्निष्टोमविकारत्वम्। दे० प० पृ० ३७९।

२. षोडशिना वीर्यकामः। स० श्रौ० ९.७।

३. चतुष्टोमेन रथन्तरपृष्ठेन हिरण्यशतगवदक्षिणेन वासोऽश्वदक्षिणेन च षोडशिसंस्थेन ज्योतिष्टोमेनाहं यक्ष्ये।

४. ऐन्द्रो वृष्णिः षोडशिनि तृतीयः। का० श्रौ० ९.८.४।

फल और उपलब्धि

'वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राड् भवति'[1] इस श्रुति के आधार पर साम्राज्य की कामना से इसे करना चाहिए[2]। इस वाजपेययाग को ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही वर्ण के आहिताग्नि यजमान कर सकते हैं[3]। शरद् ऋतु में इस याग का अनुष्ठान किया जा सकता है[4]। इस वाजपेययाग के अनुष्ठान से सम्राट् पदकी उपलब्धि होती है।

परियज्ञ

वाजपेययाग से पूर्व एवं वाजपेययाग के अनन्तर बृहस्पतिसव संज्ञक याग किये जाते हैं। उन्हें परियज्ञ कहते हैं। इस परियज्ञ के अनुष्ठान के विषय में चार मत कहे हैं।

प्रथममत

वाजपेय याग से पूर्व और अन्त में बृहस्पतिसव नामक यज्ञ करने का विधान है[5]। वाजपेययाग करने से पूर्ववर्ती तथा वाजपेययाग की समाप्ति से परवर्ती शुक्लपक्ष में बृहस्पतिसव नामक परियज्ञ करने चाहिए।

आश्विनकृष्ण अमावास्या को यदि वाजपेययाग का प्रधानदिवस (सौत्यदिवस) हो तो वाजपेययाग से पूर्व के बृहस्पतिसव का सौत्यदिवस भाद्रपद शुक्ल पूर्णिमा को होना चाहिए। तदनुसार वाजपेययाग के अनन्तर अनुष्ठीयमान बृहस्पतिसव नामक परियज्ञ का सौत्यदिवस कार्त्तिकशुक्ल पूर्णिमा को होना चाहिए।

इसीप्रकार यदि कार्त्तिक कृष्ण अमावास्या को वाजपेययाग का सौत्यदिवस हो तो आश्विन शुक्ल पूर्णिमा को प्रथम बृहस्पतिसव का सौत्यदिवस और मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा को परवर्ती बृहस्पतिसव नामक परियज्ञ का सौत्यदिवस होना चाहिए[6]।

बृहस्पतिसव

इस बृहस्पतिसव को ब्राह्मणयज्ञ कहा है। इसका अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति स्थपति

---

१. श० ब्रा०। ५.१.१.१४।

२. अन्नाद्यकामस्य। अन्नं वाजः। तेनान्नाद्यकामो यजेत। शां० श्रौ० १५.१.२, ४, ११।
वाजपेयःशरदि। सर्वः सप्तदशः। वै० श्रौ० २७.१-२।

३. यदेनेन बृहस्पतिरयजत। यदेनेनैन्द्रोऽयजत। श० ब्रा० ५.१.१.११।
प्रजापतिरकामयत वाजमाप्नुयाम्। प्रजापतिर्वै सप्तदशः प्रजापतिमेवाप्नोति।
ता० ब्रा० १८.७.१, ५।

४. शरदि वाजपेयः। शां० श्रौ० १५.१,१। वाजपेयः शरदि। का० श्रौ० १४.१.१।

५. तत्र वाजपेयस्य पुरस्तादनन्तरे शुक्लपक्षे बृहस्पतिसवो भवति। दे० प० पृ० ४३६।
उभयतः शुक्लपक्षौ बृहस्पतिसवेन यजेत। का० श्रौ० १४.१.२।

६. वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवः। तेजस्कामस्य ब्रह्मवर्चसकामस्य च। शां० श्रौ० १५.४.१-२।

कहा जाता है[1]। किसी अग्निहोत्री को यदि स्थपति कहा जाता हो तो समझ लेना चाहिए कि उसने बृहस्पतिसव का अनुष्ठान किया है। तेज और ब्रह्मवर्चस् की कामना से इसे करना विहित है।

बृहस्पतिसव का कार्यकलाप

बृहस्पतिसवसङ्कल्प	प्रातः हरिशयोपसदिष्टि
ऋत्विग्वरण	सायंप्रवर्ग्य
शालाप्रवेश	सायंहरिशयोपसदिष्टि
अप्सुदीक्षा	प्रवर्ग्योत्सादन
दीक्षणीयेष्टि	अग्निप्रणयन
नवनीतदीक्षा	हविर्धानप्रवर्तन
कृष्णाजिनदीक्षा	उपरवसंस्कार
महावीरसम्भरण	सदोनिर्माण
यूपोच्छ्रयण	धिष्ण्या निवपन
व्रतग्रहण	यूपोच्छ्रयण
प्रायणीयेष्टि	अग्नीषोमीययाग
सोमक्रय	देवसूहविर्याग
सोममधुपर्क	प्रातरनुवाक
आतिथ्येष्टि	प्रातःसवन
अग्निमन्थन	माध्यन्दिनसवन
प्रातःप्रवर्ग्य	दक्षिणादान
प्रातः अयःशयोपसदिष्टि	तृतीयसवन
सायंप्रवर्ग्य	जलाशयगमन
सायं अयःसयोपसदिष्टि	अवभृथयाग
प्रातःप्रवर्ग्य	यज्ञशालाप्रत्यागमन
प्रातःरजःशयोपसदिष्टि	उदयनीयेष्टि
सायंप्रवर्ग्य	मैत्रावरुणीयाग
सायंरजःशयोपसदिष्टि	उदवसानीयेष्टि
प्रातःप्रवर्ग्य	समारोप

---

१. कात्यायन श्रौतसूत्र पर भाष्य और उसी सूत्र की पद्धति के रचयिता याज्ञिकदेव स्थपति थे। स्थपति महायाज्ञिक०। दे० प० पृ० ३८२।

बृहस्पतिसव की सामग्री

मधुपर्कसामग्री
दीक्षासामग्री
दीक्षणीयेष्टिसामग्री
प्रवर्ग्यसामग्री
यूप
सोमलता
आतिथ्येष्टिसामग्री
अग्निमन्थनसामग्री
वेदिनिर्माणसामग्री
अग्नीषोमीयासामग्री
देवसूहविर्यागसामग्री
अवभृथेष्टिसामग्री
उदयनीयेष्टिसामग्री
मैत्रावरुणीयागसामग्री
उदवसानीयेष्टिसामग्री
दक्षिणा १ अश्व, ३३ गौ
शेषसामग्री

प्रथमदिन की कार्यविधि

प्रातःकाल सपत्नीक यजमान शुचिभूत होकर धौतवस्त्र पहने। शाला से बाहर पवित्र स्थान में आचमन, प्राणायाम करके सङ्कल्प करे[1]। दैववरण और मानुषवरण दोनों प्रकार से विधिपूर्वक ऋत्विजों का वरण करे[2]। वरण करके मधुपर्क से ऋत्विजों का अर्चन करे। यथा-विधि यज्ञशाला में प्रविष्ट हों[3]।

अरणी से अग्निमन्थन करके गार्हपत्य में अग्निस्थापन करे। गार्हपत्य में-से आहवनीय-और दक्षिणाग्नि में अग्नि रखे। अध्वर्यु यजमान की दीक्षा करे[4]। दीक्षणीयेष्टि करे। नवनीत दीक्षा और कृष्णाजिन दीक्षा करे। महावीरसम्भरण, यूपोच्छ्रयण और व्रतग्रहण प्रभृति कृत्य करे।

दूसरे दिन की कार्यविधि

प्रातःकाल प्रायणीयेष्टि करे। तत्पश्चात् विधिवत् सोमक्रयण कर सोम का मधुपर्क से अर्चन करके आतिथ्येष्टि करे। प्रातःकालीन प्रवर्ग्यविधि और प्रातः अयःशयोपसदिष्टि करे। सायंप्रवर्ग्य और सायं अयःशयोपसदिष्टि करे।

तीसरे दिन की कार्यविधि

प्रातःप्रवर्ग्य और प्रातः रजःशयोपसदिष्टि करे। सायं प्रवर्ग्य और सायं रजःशयोपसदिष्टि करे।

---

१. अत्राद्य० रथन्तरपृष्ठेन त्रिवृत्स्तोमेनाश्वाधिकत्रयस्त्रिंशद्गवदक्षिणेन अग्निष्टोमसंस्थेन वाजपेयाङ्गभूतेन बृहस्पतिसवेनाहं यक्ष्ये। दे० प० पृ० ४३६।

२. ऋत्विजों की संख्या अग्निष्टोम जैसी रहेगी।

३. अग्निष्टोम के समान अग्निशाला अपेक्षित है।

४. इन कार्यों का विस्तृत विवरण अग्निष्टोम में देखें।

चौथे दिन की कार्यविधि

प्रातःप्रवर्ग्य और प्रातःहरिशयोपसदिष्टि करे। सायंप्रवर्ग्य और सायं हरिशयोपसदिष्टि करे। प्रवर्ग्योत्सादन करके गार्हपत्य में-से उत्तरवेदि पर अग्निप्रणयन करे। हविर्धानप्रवर्तन, उपरवसंस्कार, सदोमण्डपनिर्माण एवं धिष्ण्यासंस्कार करे। यथाविहित यूपसंस्कार करके यूपोच्छ्रयण करे। अग्नीषोमीय पशुपुरोडाश निर्माण तक का कृत्य करके देवसूहविर्याग करे[1]। देवसूहविर्याग और वारुणयाग के अनन्तर अध्वर्यु यजमान का दक्षिण बाहु पकड़कर मन्त्रपाठ करे[2]। स्विष्टकृत याग करे। सुत्या के समय पात्रासादन में विकङ्कत काष्ठ का एक पात्र अधिक रखे। अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता को पशु लाने का प्रैष करे। अग्नि और बृहस्पति देवता के निमित्त दो पशु का यूप में नियोजन करे। पशुप्रोक्षणादि संस्कार से वपायाग तक का कृत्य करे।

प्रातःसवन के समय नाराशंस और अच्छावाक चमसों को हविर्धान में रख लेने पर यजमान दक्षिणा में दी जाने वाली तैंतीस गौ में से ग्यारह गौ को ऋत्विजों के निमित्त व्यादिष्ट करे[3]। माध्यन्दिनसवन में पशुपुरोडाश का याग करे। इडाभक्षण से पूर्व एक अश्व और ग्यारह गौ का पुनः ऋत्विजों के निमित्त व्यादेश करे। प्रातःसवन और माध्यन्दिनसवन में दक्षिणा के निमित्त व्यादिष्ट पशुओं को शेष पशु के यूथ से स्थानान्तरित करे।

तृतीयसवन का अनुष्ठान करे। मरुत्वतीययाग के अनन्तर और माहेन्द्रग्रहण से पूर्व उत्तरवेदि से पश्चिम की ओर भूमि पर कृष्णाजिन बिछाकर उस पर यजमान को बैठावे। आज्य से मन्त्रोच्चारपूर्वक यजमान का अभिषेक करे[4]। इस अभिषेक के बाद से स्थपति यज्ञदत्तशर्मा, जो यजमान का नाम हो उससे पूर्व स्थपति जोड़कर यजमान को सम्बोधित करे। अनन्तर अध्वर्यु पश्वङ्गयाग करे। अवशिष्ट ग्यारह गौ का दक्षिणारूप में व्यादेश करे। यज्ञभूमि से पूर्व में उपस्थित दक्षिणा की गौ को यजमान-अभिमन्त्रित करे। दक्षिणा का सङ्कल्प करके ऋत्विजों को दक्षिणा अर्पित करे। बृहस्पतिसवयाग समाप्त।

द्वितीय मत

पहले वाजपेययाग के पूर्ववर्त्ती और उत्तरवर्त्ती परियज्ञ होते हैं, यह कहा जा चुका है। उसमें चार मत कहे हैं। उनमें-से प्रथम मत बृहस्पतिसव करने को कहा और संक्षेप में उसका

---

१. प्रकृत ग्रन्थ में देखें।

२. सविता त्वा सवानां० । शु० य० ९.३९-४०।

३. अस्मिन् गोयूथे एकादश गावो ब्रह्मादीनाम्, ऋत्विजाम्, इस रूप में ऋत्विजों के नाम से दक्षिणा की वस्तु का केवल उच्चारण मात्र करना व्यादेश है। दे० प० पृ० ४३६।

४. देवस्य त्वा० सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामि बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चाम्यसौ। शु० य० ९.३०। असाविति तन्नामग्रहणम्। शु० य० म० भा० ९.३०।

विधान कहा। द्वितीयमत में अग्निष्टोम संस्थ ज्योतिष्टोम का करना सूत्रकार ने कहा है[1]। यह परियज्ञ के विषय में द्वितीय मत है।

तृतीय मत

वाजपेययाग के पूर्ववर्त्ती बारह शुक्लपक्षों में और वाजपेययाग के परवर्ती बारह शुक्लपक्षों में परियज्ञ किये जाते हैं[2]। इसके अनुष्ठान में भी यह प्रकार होना चाहिए कि पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों ओर के विषमसङ्ख्यक शुक्लपक्षों में ज्योतिष्टोमयाग करे। शेष समसङ्ख्या वाले शुक्लपक्षों में कथित पाष्ठिक षडह करे। पूर्ववर्ती बारहयाग के बाद मध्य में वाजपेययाग का अनुष्ठान करे। तदनन्तर पुनः परवर्ती बारह याग का अनुष्ठान करे। साथ ही यह ध्यान रखना चाहिए की पूर्ववर्ती किये जाने वाले पृष्ठ षडह यथाक्रम हो तथा परवर्त्ती पृष्ठ षडहों का अनुष्ठान प्रतिलोम प्रकार से होना चाहिए। इस विधान के अनुसार वाजपेययाग का साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करना हो तो दो वर्ष से अधिक समय अपेक्षित हैं।

चतुर्थ मत

इस मत में वाजपेययाग के प्रारम्भ से पूर्व और वाजपेययाग के अनुष्ठान के बाद राजसूय याग में कथित अग्निष्टोमसंस्थ नव सोमयाग किये जाते हैं[3]। उनके नाम ये हैं। १ पवित्र सोम, २ अभिषेचनीयसोम, ३ दशपेयसोम, ४ केशवपनीयसोम, ५ व्युष्टिद्विरात्र का प्रथम अह, ६ व्युष्टि द्विरात्र का द्वितीय अह, ७ क्षत्रधृति सोम, ८ त्रिष्टोम सोम और ९ ज्योतिष्टोम। इन नव सोमयागों का अनुष्ठान वाजपेययाग से पूर्व करे। पौष मास से प्रारम्भ करके भाद्रपद मास तक नव महीनों में इनका अनुष्ठान करना चाहिए। प्रतिमास एक सोमयाग करने का विधान है।

इस प्रकार पूर्ववर्ती नव सोमयागों के अनुष्ठान के अनन्तर आश्विन शुक्ल दशमी को वाजपेययाग का प्रारम्भ करना चाहिए। आश्विन शुक्ल पूर्णिमा को वाजपेययाग का सौत्य-दिवस होना चाहिए। वाजपेययाग का सविधि अनुष्ठान समाप्त होने पर पुनः आगामी कार्त्तिक शुक्ल पक्ष से प्रारम्भ करके आषाढशुक्ल तक पहले कहे हुए नव सोमयागों के अनुष्ठान की आवृत्ति करे। इस बार के सोमयागों के अनुष्ठान में यह ध्यान रखने की बात है कि इस बार में प्रतिलोम प्रकार से सोमयागों का अनुष्ठान करना होगा। अर्थात् ज्योतिष्टोमयाग से प्रारम्भ करके पवित्रसोमान्तयागों का अनुष्ठान किया जायेगा।

---

१. बृहस्पतिसवस्थाने, अग्निष्टोमसंस्थो ज्योतिष्टोम एव भवति न बृहस्पतिसवः।
देo पo पृo ४३८।
ज्योतिष्टोमेन वा। काo श्रौo १४.१.३।

२. द्वादश वा पुरस्तादयुक्षु ज्योतिष्टोमः पाष्ठिकानीतरेषु।
प्रतिलोमं पाष्ठिकान्युपरि। काo श्रौo १४.१.४-६।

३. सर्वाग्निष्टोमैर्वा राजसूयसोमैः। प्रतिलोममुपरि। काo श्रौo १४.१.७-८।

वाजपेययाग का महत्त्व

सोमयाग की सातो संस्थाओं में इस वाजपेययाग का विशेष महत्त्व है। इस महत्त्व के दो कारण पाये जाते हैं। पहले कहा जा चुका है कि 'वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राड् भवति' इस शतपथ ब्राह्मण की उक्ति से इसका श्रुतिसिद्ध महत्त्व है। दूसरी महत्त्व की बात इस वाजपेययाग में यह है कि इसमें की कुछ विधियाँ साधारण जनता को भी आकृष्ट कर लेती हैं। जैसे, इस याग में और सत्रह दुन्दुभियों का एक साथ बजाना बहुत ही मनोरम होता है। उसी प्रकार सत्रह इषुप्रक्षेप सत्रह अश्वरथों का एक साथ निश्चित स्थान के प्रति दौड़ना और परस्पर एक दूसरे से आगे निकलने की प्रतियोगिता करना एक मनोहर दृश्य उपस्थित कर देता है। इसी तरह स्वर्गारोहण और अभिषेक प्रभृति कितने ही कार्य इस याग के महत्त्व को प्रदर्शित करते हैं।

वाजपेययाग की सप्तदश सङ्ख्या

वाजपेययाग में सप्तदश सङ्ख्या का विशेष महत्त्व देखने में आता है[1]। उसका विशिष्ट कारण यह है कि इस याग में महत्त्व की प्रत्येक वस्तु सप्तदश सङ्ख्या में है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि इसके प्रधान देवता प्रजापति सप्तदश स्वरूप वर्णित हैं। यद्यपि कार्यविधि में प्रत्येक वस्तु का वर्णन और उपयोग आ ही गया है तथापि सरलता से एक साथ सबके बोध के निमित्त एक साथ में यहाँ दिया जाता है।

[2]सप्तदशप्रजापति	[6]सप्तदश सुराग्रह
[3]सप्तदश दीक्षा	[7]सप्तदश पशु
[4]सप्तदश स्तोत्र	[8]सप्तदश अन्न
[5]सप्तदश सोमग्रह	[9]सप्तदश शरावचरु

---

१. चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै यज्ञात्मने नमः॥ इसका विवरण तै० सं० के अनुसार उद्धृत है। प्रकृत ग्रन्थ में पौर्णमासयाग के पञ्चम प्रयाज में देखें।

२. सप्तदशो वै प्रजापतिः। श० ब्रा० ५.१.२.११। प्रजापतिर्वै सप्तदशः। ता० ब्रा० १८.७.५।

३. सप्तदश दीक्षाः। का० श्रौ० १४.१.१०। सर्वः सप्तदशः। वै० श्रौ० २७.२।

४. सप्तदशस्तोत्राणि। ता० ब्रा० १८.६.५।

५. सप्तदशसोमग्रहान् गृह्णाति। श० ब्रा० ५.१.२.१०।

६. सतप्दशसुराग्रहान्। श० ब्रा० ५.१.२.१०।

७. सप्तदशप्राजापत्यान् पशून्। श० ब्रा० ५.१.३.७।

८. सप्तदशान्नानि सम्भरन्ति। श० ब्रा० ५.२.१.३।

९. बार्हस्पत्यः सप्तदशशरावः। का० श्रौ० १४.२.२६।

[1]सप्तदश रथ
[2]सप्तदश दुन्दुभि
[3]सप्तदशारत्नियूप
[4]सप्तदश यूपवेष्टन
[5]सप्तदशारचक्र
[6]सप्तदश इषुप्रासन
[7]सप्तदश शंकु
[8]सप्तदश मृत्तिकापुट
[9]सप्तदश वंशपात्री
[10]सप्तदश दासी
[11]सप्तदश गज
[12]सप्तदश शिबिका
[13]सप्तदश महानस
[14]सप्तदशशत वस्त्र
[15]सप्तदशशत अज
[16]सप्तदशशत अवि
[17]सप्तदशशत गौ

वाजयेययाग का कार्यकलाप

यागसङ्कल्प
मातृपूजन
आभ्युदयिक
दैवर्त्विग्वरण
मानुषर्त्विग्वरण
मधुपर्क
अग्निमन्थन
अग्निस्थापन
अप्सुदीक्षा
दीक्षणीयेष्टि

---

१. यजमानारूढं रथम्० अन्येषां षोडशरथानाम्० । दे० प० पृ० ४५४ ।
२. सप्तदश दुन्दुभीन् । श० ब्रा० ५.१.५.६ ।
३. यूपश्चात्र सप्तदशारत्निः । दे० प० पृ ४४३ ।
४. सप्तदशभिर्वासोभिर्यूपो वेष्टितः । श० ब्रा० ५.१.६.५ ।
५. ब्रह्मा सप्तदशाररथचक्रेऽभिगायति । ता० ब्रा० १८.७.१२ ।
६. क्षत्रियः सप्तदशेषुप्रव्याधानस्यति । का० श्रौ १४.३.१६ ।
७. सप्तदश शङ्कुयुक्तम् । दे० प० पृ० ४५३ ।
८. सप्तदशाश्वत्थपत्रोपनद्धानूषपुटान् । का० श्रौ० १४.५.१२ ।
९. कृतचिह्नासु वंशपात्रीषु । दे० प० पृ० ४५० ।
१०. सप्तदशवृषल्यो निष्ककण्ठ्यः । का० श्रौ० १४.२.३० ।
११. सप्तदश हस्तिनः । दे० प० पृ० ४५१ ।
१२. सप्तदश वह्यकानि । दे० प० पृ ४५१ ।
१३. सप्तदश महानसानि । दे० प० पृ० ४५१ ।
१४. सप्तदशशतानि वस्त्राणि । दे० प० पृ० ४५१ ।
१५. सप्तदशशतान्यजांश्च । दे० प० पृ० ४५१ ।
१६. सप्तदशशतान्यवींश्च । दे० प० पृ० ४५१ ।
१७. सप्तदशगवांशतानि ददाति । शां० श्रौ० १५.३.१२ ।

नवनीतदीक्षा
कृष्णाजिनदीक्षा
महावीरसम्भरण
यूपोच्छ्रयण
व्रतग्रहण
प्रायणीयेष्टि
सोमक्रय
सुराद्रव्यक्रय
सोममधुपर्क
आतिथ्येष्टि
प्रातःप्रवर्ग्य
प्रातरयःशयोपसदिष्टि
सायंप्रवर्ग्य
सायमयःशयोपसदिष्टि
प्रातःप्रवर्ग्य
प्रातः रजःशयोपसदिष्टि
सायंप्रवर्ग्य
सायंरजःशयोपसदिष्टि
प्रातःप्रवर्ग्य
प्रातः हरिशयोपसदिष्टि
सायंप्रवर्ग्य
सायं हरिशयोपसदिष्टि
प्रवर्ग्योत्सादन
अग्निप्रणयन
हविर्धानप्रवर्तन
उपरवसंस्कार
सदोनिर्माण
धिष्ण्यानिवपन
यूपोच्छ्रयण
अग्नीषोमीययाग
सुत्यारम्भ
प्रातरनुवाक
सोमाभिषव

सोमसुराग्रहण
बहिष्पवमान
सवनीययाग
सोमसुराग्रहप्रचार
माध्यन्दिनसवन
सोमाभिषव
ग्रहग्रहण
माध्यन्दिनपवमान
सवनीययाग
ग्रहप्रचार
रथारोहण
रथसंयोजन
चक्रारोहण
दुन्दुभिवादन
इषुप्रासन
आजिधावन
यूपारोहण
आसन्द्युपवेशन
यजमानाभिषेक
सम्राडुद्घोषणा
ग्रहप्रचार
तृतीयसवन
सोमाभिषव
ग्रहग्रहण
अवभृथेष्टि
उदयनीयेष्टि
मैत्रावरुणीयाग
त्रैधातवीष्टि
उदवसानीयेष्टि
अग्निसमारोप
ब्राह्मणभोजन
गृहप्रत्यागमन

वाजपेययाग सामग्री

मातृपूजन सामग्री	यूप
आभ्युदयिक सामग्री	पञ्चबिलापात्री
मधुपर्कसामग्री	रुक्म
सोम	कृष्णाजिन
सुराद्रव्य	अजाजिन
ग्रहपात्र	गोचर्म
खादिर चतुरस्रपात्र	असि
वैकङ्कत अतिग्राह्यपात्र	नीवारधान्य
औदुम्बरपात्र	यव
वैकङ्कतऐन्द्रपात्र	व्रीहि
सोमग्रहपात्र १७	समस्त अन्न (एक कम)
सुराग्रहपात्र १७	जल
मधुहिरण्यपात्र	दुन्दुभि १७
इध्मकाष्ठ	सम्राडासन्दी
दर्भ	प्रवर्ग्यासन्दी
शूल	सोमासन्दी
वपाश्रपणी	दीक्षासामग्री
निश्रेणी	दीक्षणीयेष्टिसामग्री
बर्हिचतुष्टय	प्रवर्ग्यसामग्री
स्रुक्पञ्चक	अग्नीषोमीयासामग्री
पान्नेजनीसप्तक	अवभृथेष्टिसामग्री
हिरण्यखण्ड २६	उदयनीयेष्टिसामग्री
सुवर्णशतमान	मैत्रावरुणीयाग सामग्री
रजतशतमान	त्रैधातवीष्टिसामग्री
वसतीवरी	उदवसानीयेष्टिसामग्री
उखापञ्चक	अज २०
द्विगुणरशना	मेष १
मन्थनचतुष्टय	मेषी १
शालानिर्माण सामग्री	धनुष
कपाल	बाण
खर्पर	सप्तदशारचक्र
औदुम्बरी	

दक्षिणानिमित्त सामग्री

गौ १९८९	रथ १७
वस्त्र १७००	रथके निमित्त अश्व ६८
अज १७००	कृष्ण अश्व १
निष्ककण्ठदासी १७	स्वर्णमाला १९
गज १७	हिरण्य
शिबिका १७	अन्य दक्षिणा
महानस १७	शेष सामग्री
अवान्तरदक्षिणा	

प्रथम दिन

यजमान और यजमान की पत्नी शुचिभूत होकर यज्ञभूमि पर उपस्थित हों। महर्षि कात्यायन के मत से यजमान द्वारा बुलाये गये एवं अन्य आचार्यों के मत से सोमप्रवाक संज्ञक ऋत्विज द्वारा आमन्त्रित समस्त ऋत्विज लोग भी यजनीय स्थान पर यजमान के निकट उपस्थित हों[1]। याग की समस्त सामग्री यजनीय प्रदेश पर उपस्थित करें। सपत्नीक यजमान गुरुजन एवं ऋत्विजों की अनुमति प्राप्त करके शुद्ध की हुई यज्ञभूमि पर पूर्वाभिमुख बैठे। आचमन और प्राणायाम करे। मातृपूजन और आभ्युदयिक श्राद्ध करे[2]। यथाविधि याग को सम्पादित करने का सङ्कल्प करे[3]। यजमान मधुपर्क से ऋत्विजों का अर्चन करे। यजमान एवं यजमानपत्नी ऋत्विजों के गले में सुवर्ण की माला पहनावे[4]। अग्निमन्थन करके गार्हपत्य में अग्निस्थापन करे। गार्हपत्य में से आहवनीय और दक्षिणाग्नि में अग्नि का उद्धरण करे।

अध्वर्यु यजमान की शुद्धि के निमित्त दीक्षाविधि सम्पन्न करे। अप्सुदीक्षा करके दीक्षणीयेष्टि करे। नवनीतदीक्षा और कृष्णाजिन दीक्षा करे। दीक्षाविधि समाप्त हो चुकने पर महावीर सम्भरण (महावीरपात्रनिर्माण) करे। सत्रह हाथ का अठपहलू यूप और

---

१. यजमानः सोमप्रवाकं प्रेषयेत्। ता० ब्रा० सा० भा० पृ० ४।

२. मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा। दे० प० पृ० ४४०।

३. रथन्तरपृष्ठेन सप्तदशस्तोमेन सप्तदशशतवस्त्राजाविदक्षिणेन सप्तदशशतनिष्ककण्ठवृषली-हस्तवह्यकमहानसदक्षिणेन गोद्रव्यदक्षिणेन वाजपेयेनाहं यक्ष्ये। दे० प० पृ० ४४०।
रथन्तरं साम भवति। ता० ब्रा० १८.६.१०।

४. हिरण्यस्रज ऋत्विजो भवन्ति। ता० ब्रा० १८.७.६।
हिरण्यस्रजोऽपिनह्यन्तेऽधिकृता यजमानः पत्नी च।
का० श्रौ० १४.१.२३।

गोधूमपिष्ट का चषाल तैयार करे[1]। यूप का संस्कार करके यूपोच्छ्रयण करे। यजमान व्रतग्रहण करे।

द्वितीय दिन के कृत्य

प्रायणीयेष्टि से दूसरे दिन का कार्यारम्भ करे। सोमक्रयणी गो एवं सुवर्णप्रभृति द्रव्य से सोमक्रयण करे। अनन्तर सीसा, वस्त्र आदि निश्चित द्रव्य से सुराद्रव्य का क्रयण करे[2]। पूर्वोक्त विधि से सुराद्रव्य को कूटकर यथाविधि सुरा का निर्माण करने के लिए कुम्भी में छोड़कर यज्ञशाला में नैर्ऋत्य कोण की ओर जमीन में कुम्भी को गाड़ रखे[3]। क्रीत सोम को प्रकृतिशाला में लाकर आहवनीय के निकट आसन्दी पर रखे। सोम की मधुपर्क से अर्चना करे। प्रातःकालीन प्रवर्ग्यविधि और प्रातः अयःशयोपसदिष्टि करे। सायङ्कालीन प्रवर्ग्यविधि और सायङ्कालीन अयःशयोपसदिष्टि करे।

तृतीयदिन के कृत्य

प्रातःकालीन प्रवर्ग्यविधि और रजःशयोपसदिष्टि करे। सायङ्कालीन प्रवर्ग्य और सायङ्कालीन रजःशयोपसदिष्टि करे।

चतुर्थदिन के कृत्य

प्रातः प्रवर्ग्यविधि और प्रातः हरिशयोपसदिष्टि करे। सायं प्रवर्ग्य और सायं हरिशयोपसदिष्टि करे। प्रवर्ग्योत्सादन, महावेदि पर अग्निप्रणयन, शालाद्वार्य के अग्निपर आहुति, हविर्धानप्रवर्त्तन, उपरव संस्कार, सदोमण्डपनिर्माण, औदुम्बरी का संस्कार, होता प्रभृति ऋत्विजों के निमित्त धिष्ण्या का संस्कार और अग्नीषोमीय याग करके सुत्याविधि का प्रारम्भ करे।

पंचम दिन के कृत्य

अपररात्रि में शुचिर्भूत होकर ऋत्विजों के साथ यजमान देवयजन में उपस्थित हो। उसी समय कार्यारम्भ करे। काष्ठनिर्मित ग्रहपात्रों का खर पर आसादन करे। एक पात्र खैर की लकड़ी का चतुरस्र, तीन विकङ्कत काष्ठ के अतिग्राह्य पात्र, एक औदुम्बर का चतुरस्र अंशुपात्र, पाँच विकङ्कत काष्ठ के ऐन्द्र ग्रहपात्र, सत्रह वारणकाष्ठ के सोमग्रह के पात्र और एक

---

१. सप्तदशारत्निर्यूपः सप्तदशारत्निर्भवतीति च विग्रथितो वा विच्छिन्नेषु प्रदेशेषु लम्बमानैर्बद्ध इति हरिस्वामिनः। व्युद्ग्रथनं चावचूलकरणमिति कर्काचार्याः। बैल्वो यूप इति शाङ्खायनः। मानवे विविधमूर्ध्वग्रथनं व्युद्ग्रथनं वा कुर्यात्। दे० प० पृ० ४४४।
सप्तदशवासोभिर्यूपो वेष्टितो वा विग्रथितो वा भवति। श० ब्रा० ५.१.६.५।
गौधूमं चषालं भवति। श० ब्रा० ५.१.६.६।
उत्कीर्णसमाग्रो गोधूमचषालः। का० श्रौ० १४.१.२२।

२. सोमात् क्रीयमाणात्सहितं दक्षिणतः सीसेन परिस्रुतः क्रयणं केशवात्। का० श्रौ० १४.१.१४।
केशवो–दीर्घकेशः। षण्ढ इति केचित्। का० श्रौ० क० भा० १४.१.१४।

३. वेष्टा सुरां करोति। का० श्रौ० १४.१.१७।

सुवर्ण का मधुग्रह पात्र आसादित करे। रराटी का स्पर्श करे। ऋत्विज लोग यजमान एवं पत्नी एकधन, वसतीवरी और पन्नेजनी संज्ञक जल देवयजन में लावे। उसी समय नेष्टा सुरा को लाकर यथास्थान आसादित करे[1]। सुरा को छानने के लिए एक पालाशपात्र रखे। गौ और अश्व के बाल से निर्मित पवित्र से सुरा छाने[2]।

प्रातःसवन जिस समय हो रहा हो उसी समय अध्वर्यु सोमाभिषव, महाभिषव और क्षुल्लकाभिषव करे। वितस्तिप्रमाण, उलूखलाकार ग्रहपात्रों में सोमरस का ग्रहण करके खर पर आसादित करे। उपांशुपात्र और अन्तर्यामपात्र में सोमरस का ग्रहण करके हवन करे। ऐन्द्र-वायवपात्र में सोमरस ग्रहण करे। चतुरस्र खैर की लकड़ी के षोडशी संज्ञक ग्रहपात्र में सोमरस का ग्रहण करे[3]। पाँच ऐन्द्रग्रह पात्रों में सोमरस का ग्रहण करे[4]।

अध्वर्यु वाजपेययाग सम्बन्धी अन्य सत्रह पात्रों में सोमरस का ग्रहण करे[5]। नेष्टा सत्रह सुराग्रह पात्रों में सुराग्रहण करके खरपर आसादित करे[6]। इन पात्रों में पूर्वाभिमुख होकर सोमरस का ग्रहण करना चाहिए। नेष्टा पश्चिमाभिमुख होकर सत्रह ग्रहपात्रों में सुरा का ग्रहण करे। पात्रों को खर पर आसादित करे। अध्वर्यु सुवर्ण के ग्रहपात्र में मधु का ग्रहण करे[7]। मधुग्रहण करके सुवर्णपात्र को खर पर मध्य में आसादित करे। उक्थ्य पात्र में और ध्रुवपात्र में सोमरस का ग्रहण करे। द्रोणकलश को सोमरस से आधा भर ले। हस्तप्रक्षालन करके विप्रुड्ढोम और यूप में स्वरु पहनाने तक का कृत्य करे।

अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता को यूप से पूर्व में पशु को उपस्थित करने का प्रैष करे[8]। प्रैषके अनुसार प्रतिप्रस्थाता अग्नि का एक अज, इन्द्राग्नी का एक अज, इन्द्र का एक मेष, सरस्वती की मेषी मरुत् उज्जेष देवता के निमित्त एक चितकबरी अजा और प्रजापति देवता के निमित्त सत्रह अज इसप्रकार बाईस पशु को यूप से पूर्व भूमि पर उपस्थित करे[9]। अध्वर्यु क्रमशः यूप में

---

१. एकधनप्रवेशनकाले सुरां नेष्टापरेण प्रवेश्य खरे करोति। का० श्रौ० १४.१.२६।
२. बालेन पुनाति। का० श्रौ० १४.१.२७।
३. प्रातःसवने अतिग्राह्यान् गृहीत्वा षोडशिनम्। का० श्रौ० १४.२.१।
४. पञ्च चैन्द्रान्। का० श्रौ० १४.२.१।
५. सप्तदशापरान्। का० श्रौ० १४.२.३।
६. नेष्टा च तावतः सौरान्। का० श्रौ० १४.२.४।
७. हिरण्मयेन मधुग्रहं गृहीत्वा खरमध्ये सादयति। का० श्रौ० १४.२.९।
८. प्रतिप्रस्थातः पशुभिरेहीति प्रैषः। दे० प० पृ० ४४६।
९. मरुत् उज्जेष देवता के निमित्त गौ का आलभन विहित है। कलि में गौ का आलभन निषिद्ध होने के कारण उस स्थान पर प्रतिनिधि स्वरूप अजा का ग्रहण होता है। पंचमी वशा पृश्निर्गौः। कलौ गोपशोर्लोकविद्विष्टत्वादस्वर्ग्यात्।
अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु।
इति निषिद्धत्वाच्चाधुना तस्याः स्थाने अजामालभन्ते। दे० प० पृ० ४४६-४४७।

पशुनियोजन कृत्य करे[1]। नियोजन प्रभृति कृत्य में जिस देवता के निमित्त कृत्य हो उस देवता का चतुर्थ्यन्त पद का उच्चारण करना चाहिए। जैसे—'अग्नये जुष्टं नियुज्मि'। प्रोक्षणी के जल से पशुप्रोक्षण करे। पशु के ललाट प्रभृति अङ्गों में आज्य का समञ्जन करे। असि और स्वरु से पशु के ललाट में स्पर्श करे। संज्ञपनार्थ पशु को शामित्रशाला में ले जाय।

अध्वर्यु वेदि में से उठाये हुए चौवालीस तृणों को शामित्रशाला में ले जाय। प्रत्येक पशु के संज्ञपन स्थान पर दो-दो तृण रखे। अध्वर्यु प्रभृति सब लोग वेदि के निकट आकर बैठें। संज्ञपन के अनन्तर पत्नी जलपूर्ण पान्नेजनीपात्र ले। नेष्टा संज्ञक ऋत्विज पशु के अङ्गशोधन के निमित्त पत्नी को शामित्रशाला में ले जाय। जल से पशु के अङ्गशोधन का कार्य करे। क्रमशः वपायाग करे[2]। प्रजापति देवता के सत्रह पशु की वपा की एक आहुति दे। वपायाग के अनन्तर यजमान प्रभृति सब ऋत्विज लोग चात्वाल पर मार्जन करें। पशुपुरोडाश का एवं सवनीय हविर्द्रव्य का निर्वाप करे।

देवता एवं पशुपुरोडाश[3]

देवता	कपालसङ्ख्या	हविर्द्रव्य
अग्नि	अष्टाकपाल	पुरोडाश
इन्द्राग्नी	द्वादशकपाल	पुरोडाश
इन्द्र	अष्टाकपाल	पुरोडाश
सरस्वती	अष्टाकपाल	पुरोडाश
मरुत् उज्जेष	द्वादशकपाल	पुरोडाश
प्रजापति	अष्टाकपाल	पुरोडाश

---

१. इन पशुओं के नियोजन में प्रथम चार पशु को साक्षात् यूप में बाँधे। शेष पशुनियोजन के निमित्त यूप में एक लम्बी डोरी बाँधे। उस डोरी में क्रमशः प्रत्येक पशु की डोरी बाँधे। पशु का क्रम भंग न हो सके एतदर्थ संख्यासूचक गाँठ बाँधकर पशु के पिछले पैर में डोरी बाँधनी चाहिए। इसके सिवाय आगे भी जिस वंशपात्र में पशु के अङ्ग रखे जायेंगे उनमें भी संख्यासूचक डोरी बाँधनी चाहिए।
दे० प० पृ० ४४७।

२. हिरण्यावधानम्। वपामवद्यन्नाह। अग्नये छागस्य वपायै मेदसोऽनुब्रूहि०। ततः पुनर्हिरण्यावधानम्। द्विरभिघारः। आश्राव्य, अग्नये छागस्य वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य। इदमग्नये न मम, इति त्यागो यजमानस्य। इसीतरह इन्द्राग्नी, इन्द्र, सरस्वती और मरुत् उज्जेष देवता के निमित्त वपायाग करे। दे० प० पृ० ४४९।

३. अग्नये, इन्द्राग्निभ्यां, इन्द्राय, सरस्वत्यै, मरुद्भ्य उज्जेषेभ्यो०। प्राजापत्यानामेक एव पुरोडाशो न प्रतिपशु। दे० प० पृ० ४४९।

देवता एवं सवनीयहविर्द्रव्य[1]

देवता	कपालसङ्ख्या	हविर्द्रव्य
इन्द्र	एकादशकपाल	पुरोडाश
इन्द्रहरिवान्		धाना
इन्द्रपूषण्वान्		करम्भ
बृहस्पति		नैवारचरु

पशुपुरोडाश और सवनीय हविर्द्रव्य का यथाविधि निर्माण करे। एक शूल में मेष का, दूसरे शूल में मेषी का और तीसरे अनेक शाखा वाले शूल में अवशिष्ट सब पशुओं के हृदयों को क्रमशः खोंस कर श्रपण करे। एक उखा में प्रथम दो पशुओं के, दूसरी उखा में मेष और मेषी के और तीसरी बड़ी उखा में बाकी के अठारह पशुओं के अङ्गों का श्रपण करे। अध्वर्यु शामित्रानुशासन करे। प्रजापति देवता के पशुपुरोडाशयाग तक का कृत्य करे। इडोपह्वान, इडाभक्षण करे। सब कोई मार्जन करें। शालाद्वार्य के अग्नि पर दाक्षिण होम करे। यजमान ऋत्विजों को दातव्य दक्षिणा का सङ्कल्प करे[2]।

सप्तदशरथ

आग्नीध्रीया के उत्तर में एक रथ के ऊपर दूसरा रथ रखे। ऊपर के रथ को समन्त्रक अध्वर्यु प्रमुख लोग जमीन पर उतार कर रखें[3]। रथ को चलाकर चात्वाल के दक्षिण भाग में वेदि के निकट लाकर खड़ा करे[4]। रथ में जोतने वाले अश्व को समन्त्रक नहलावे। अश्व को नहलाकर देवयजन में ले आवे। अश्व को रथ के दाहिनी ओर समन्त्रक जोते[5]। अनन्तर उत्तर की ओर दूसरा अश्व जोते। तीसरे अश्व को पहले जोते हुए अश्व के दक्षिण भाग में जोते। इस प्रकार रथ के दक्षिण भाग में दो अश्व और वाम भाग की ओर एक अश्व जोता जाय। चौथे अश्व को रथ में जोते नहीं अपितु रथ के पीछे लम्बी डोरी से बाँध दे। रथ के चलने के समय यह सजा हुआ चौथा अश्व रथ के पीछे-पीछे चले[6]। बार्हस्पत्य चरु को लाकर अश्व को

१. इन्द्राय, इन्द्राय हरिवते, इन्द्राय पूषण्वते, सप्तदशशरावस्य नैवारस्य बार्हस्पत्यस्य चरोर्ग्रहणम्। दे० प० पृ० ४४९।

२. अस्य वाजपेययागस्य समृध्यर्थं, एकोननवत्यधिकैकोनविंशतिशतानि गाः, सप्तदशशतानि वस्त्राणि च, सप्तदशशतान्यजांश्च, सप्तदशशतान्यवींश्च, सप्तदशनिष्ककण्ठीर्वृषलीश्च, सप्तदशहस्तिनश्च, सप्तदशवह्यकानि च, सप्तदशमहानसानि च दक्षिणाः ब्रह्मादिभ्य ऋत्विग्भ्यो यथाशास्त्रविभागेनाहं सम्प्रददे। दे० प० पृ० ४५१।

३. मरुत्वतीयान्ते 'इन्द्रस्य वज्र.'। शु० य० ९.५। रथावहरणम्। का० श्रौ० १४.३.१।

४. दक्षिणेन चात्वालमावर्तयति। का० श्रौ० १४.३.२।

५. दक्षिणं युनक्ति। का० श्रौ० १४.३.६।

६. अयुक्तश्चतुर्थोऽनुगच्छति सर्वयन्त्री। का० श्रौ० १४.३.९।

मुँघावे[१] । यह प्रधान रथ तैयार किया गया । इसके सिवाय सोलह रथ और हैं । मन्त्ररहित विधि से उन्हें भी तैयार करे । इन सोलहों रथों में दो अश्व दक्षिण में और दो अश्व वाम भाग में जोतने चाहिए । बौधायन के मत से प्रत्येक रथ में तीन-तीन घोड़े जोतने चाहिए[२] ।

चक्रारोहण

वेदि के उत्तर की ओर उत्कर के पास एक खम्भा गाड़ना चाहिए । उस खम्भे के ऊपरी हिस्से में एक चूर होना चाहिए । उस चूर में सत्रह आर वाला एक चक्र पहनावे । चक्र के ऊपर आसन बिछाकर ब्रह्मा बैठे[३] । सभी रथ जब दौड़ते रहें तब यथासमय उसी सप्तदशार चक्र पर आसन लगाकर बैठा हुआ ब्रह्मा मन्त्रपाठ करे । मन्त्रपाठ करते हुए अपने हाथों से चक्र को घुमाता रहे ।

सप्तदशदुन्दुभिवादन

आग्नीध्रीया के पश्चिम की ओर आग्नीध्रीया से निकट ही एक खम्भा गाड़े । उसी की सीध में पश्चिम की ओर दूसरा खम्भा गाड़े । इन दोनों खम्भों के ऊपर पूर्व-पश्चिम लम्बी एक मोटी और मजबूत लकड़ी रखे । ऊपर रखी हुई लकड़ी में सत्रह खूँटी होनी चाहिए । इन सत्रह खूँटियों में प्रत्येक में एक-एक दुन्दुभि लटकावे । अध्वर्यु एक दुन्दुभि को समन्त्रक बजावे[४] । शेष सोलह दुन्दुभियों को तूष्णीं बजावे[५] ।

सप्तदशइषुप्रक्षेप

दुन्दुभियों के बजने पर चात्वाल और उत्कर के मध्य में एक बलवान् क्षत्रिय युवक उपस्थित हो । धनुष और बाण उसके हाथ में हो । वह वीर क्षत्रिय पुरुष धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ावे । धनुष पर बाण रखकर उत्तर की ओर बलपूर्वक एक बाण छोड़े[६] । जहाँ बाण गिरे उस स्थान पर जाय और वहाँ से पुनः उत्तर की ओर दूसरा बाण छोड़े । इस तरह उत्तर दिशा में ही जहाँ बाण गिरे वहाँ से उत्तरी दिशा की ओर एक के बाद दूसरा बाण छोड़ता रहे और आगे की ओर बढ़ता रहे । बाण छोड़ते हुए सत्रहवाँ बाण जहाँ गिरे वहाँ पर चिह्न स्वरूप एक औदुम्बरी शाखा गाड़कर यज्ञभूमि पर लौट आवे[७] ।

---

१. बार्हस्पत्यमेनानाघ्रापयति । का० श्रौ० १४.३.१० । तद्यदश्वानवघ्रापयति । श० ब्रा० ५.१.४.१५ ।
२. अथास्मिन्वाजपेये सप्तदशानां रथानां त्रयस्त्रयोऽश्वाः । बौ० श्रौ० २५.३३ ।
३. ब्रह्मा रथचक्रमारोहत्युत्करे नाभिमात्रे स्थाणौ स्थितम् । का० श्रौ० १४.३.१२ ।
४. बृहस्पते व्वाजम् । शु० य० ९.११ ।
५. बृहस्पते वाजमित्येकं दुन्दुभिमाहन्ति तूष्णीमितरान् । का० श्रौ० १४.३.१५ ।
६. क्षत्रियः सप्तदशेषुप्रव्याधानस्यति तीर्थादुदीचः । का० श्रौ० १४.३.१६ ।
७. अन्त्ये मिनोत्यौदुम्बरीठंशाखाम् । का० श्रौ० १४.३.१७ ।
आजिर्धावनप्रदेशस्यावधिर्भूमिविशेषः । तै० ब्रा० सा० भा० १.३.२ ।

सप्तदशरथधावन

सर्वप्रथम जिस प्रमुख रथ में तीन घोड़े जोते गये हैं। उस रथ पर यजमान बैठे। उसी रथपर यजमान के पार्श्व में अध्वर्यु का एक शिष्य, ब्रह्मचारी अथवा विद्वान् ब्राह्मण बैठे[1]। अन्य सोलहों रथों में से केवल एक रथ पर एक क्षत्रिय या एक वैश्य बैठे[2]। जो यह क्षत्रिय या वैश्य बैठेगा उसे सुरायाग के अनन्तर सुराशेष दिया जायेगा। इतना हो चुकने पर रथ की दौड़ प्रारम्भ होती है। प्रत्येक रथ को निश्चित मार्ग से दौड़ते हुए औदुम्बरी शाखा की प्रदक्षिणा करके जहाँ से दौड़ शुरू हुई है, उसी स्थान पर लौट कर आना चाहिए[3]। इस दौड़ की प्रतियोगिता में यजमान के रथ को विजयी होना चाहिए[4]। यजमान के निकट बैठा हुआ व्यक्ति यथासमय यजमान से मन्त्रवाचन करावे[5]।

उसी समय अध्वर्यु अग्नि पर पाँच आहुति दे। इन आहुतियों का त्याग रथपर बैठा हुआ यजमान करे। अथवा आहुति का समय परिज्ञात न होने से त्याग करने की यजमान की असमर्थता के कारण देवयजन में स्थित पत्नी इन आहुतियों का त्याग करे[6]। जिस समय रथ दौड़ रहे हों उस समय सप्तदशार चक्र पर बैठा हुआ ब्रह्मा साममन्त्र का गान करे[7]। साथ ही ब्रह्मा अपने हाथों से जिस चक्र पर वह बैठा है उस चक्र को दक्षिणावर्त घुमाता रहे। दौड़ के समय दुन्दुभियाँ बजती रहें[8]।

रथसमर्पण

औदुम्बरी शाखा की परिक्रमा करके प्रत्येक रथ को लौटना चाहिए[9]। रथों के वापस लौट आने पर ब्रह्मा चक्र से नीचे उतरे[10]। दुन्दुभियों का बजाना बन्द करे। उन्हें खूँटी पर से

---

१. अध्वर्योश्च तूष्णीं ब्रह्मचार्यन्तेवासी वा वाचनाय। का० श्रौ० १४.४.१९।
२. अन्येषां षोडशरथानां मध्ये एकस्मिन् रथे क्षत्रियो वैश्यो वा सौरप्रतिग्रहार्थमारुह्योपविशति। दे० प० पृ० ४५४।
३. शाखां प्रदक्षिणं कृत्वा यन्ति। का० श्रौ० १४.४.७।
४. सुन्वन् जयति। का० श्रौ० १४.४.६।
५. वाजिन इति वाचयति। का० श्रौ० १४.३.२२। वाजिन०। शु० य० ९.१३।
६. त्यागा रथस्थेनैव यजमानेन कार्याः। इह स्थितया पत्न्या वा कार्याः। दे० प० पृ० ४५५।
७. ब्रह्मा त्रिः साम गायति। का० श्रौ० १४.४.१। वाजिनां साम ब्रह्मा रथचक्रेऽभिगायति। ता० ब्रा० १८.७.१२।
   गानकाले रथचक्रं बाहुभ्यां प्रदक्षिणं परिवर्तयन् गायेत्। द्रा० श्रौ० १५.४.१३।
८. दुन्दुभीन्वादयन्ति। का० श्रौ० १४.४.२।
९. शाखां प्रदक्षिणं कृत्वा यन्ति। का० श्रौ० १४.४.७।
१०. आगतेषु ब्रह्मावरोहति। का० श्रौ० २४.४.८। देवस्याहम्०। शु० य० ९.१०। एषाव०। शु० य० ९.१२। मन्त्रावहृतमवहरते। का० श्रौ० १४.४.९।

उतार कर जमीन पर रखे। यजमान के रथ में चौथा घोड़ा जोते। इस घोड़े को जिधर एक घोड़ा जोता था उसके वामपार्श्व में जोते। उन चारों घोड़ों को नीवारधान्य का चरु सुंघावे[1]। यजमान जिस रथ पर वह बैठा था उस रथ को सङ्कल्पपूर्वक अध्वर्यु को दे[2]। अवशिष्ट सोलहों रथों को अध्वर्यु प्रभृति प्रत्येक ऋत्विज को एक-एक रथ समर्पित करे[3]।

सुरासमर्पण

रथ पर बैठा हुआ क्षत्रिय वेदि की उत्तरश्रोणी के निकट बैठे[4]। नेष्टा देवयजन के पश्चिम की ओर से सुरापात्र उस क्षत्रिय के निकट ले जाय। पहले एक सुराग्रहपात्र को उस क्षत्रिय को दे। तत्पश्चात् अवशिष्ट सुराग्रहपात्र भी उसे दे। क्षत्रिय उस सुरा का यथेष्ट उपयोग करे[5]। सुवर्णपात्र जो कि मधुग्रहपात्र है, उस पात्र को ब्रह्मा को अर्पित करे[6]। अध्वर्यु आहवनीय में आहुति दे[7]।

यूपारोहण

नेष्टा यूपारोहण के लिए पत्नीशाला में से यजमान पत्नी को अपने साथ ले आवे[8]। पत्नी को दर्भ से बीना हुआ वस्त्र पहनने को दे[9]। अध्वर्यु यूप के सहारे यूप के दक्षिण ओर सीढ़ी खड़ी करे[10]। सीढ़ी विचलित न हो। यजमान स्वयं सीढ़ी पर चढ़ते हुए अर्द्धाङ्गिनी

---

१. वाजिन०। शु० य० ९.१९। यजुर्युक्तानाघ्रापयति। का० श्रौ० १४.४.१२।

२. चतुर्थं युक्त्वाध्वर्यवे ददाति। का० श्रौ० १४.४.१३।

३. सर्वेभ्यः षोडश। का० श्रौ० १४.४.१४।

४. स वेदेरुत्तरायां श्रोणा उपविशति। श० ब्रा० ५.१.५.२८।

५. नेष्टा च सौरान्पश्चिमेन निर्हृत्य शालामपरेण हृत्वैकं प्रयच्छन्नाह्वानेन त ऽइमं निष्क्रीणामि। का० श्रौ० १४.४.१६।
स यं भोगं कामयते तं कुरुते। श० ब्रा० ५.१.५.२८।

६. स हिरण्यपात्रमेव मधुग्रहं ब्रह्मणे ददाति। अमृतं हि आयुर्हिरण्यं तेन स यं भोगं कामयते तं कुरुते। श० ब्रा० ५.१.५.२८।

७. स एता द्वादशाप्तीर्जुहोति। अथ षट् क्लृप्तीर्जुहोति वा वाचयति वा।
श० ब्रा० ५.१.६.१; ३।

८. नेष्टः पत्नीमुदानेष्यन्। कौशं वासः परिधापयति। श० ब्रा० ५.१.६.८।

९. दर्भमयं परिधापयति। तै० ब्रा० १.३.७.१।
नेष्टा पत्नीमानेष्यन् कौशं वासः परिधापयति चण्डातकं दहरं वा। का० श्रौ० १४.५.३।
अर्धोरुकं वरस्त्रीणां वासश्चण्डातकं विदुः, इत्यमरः।
दहरं कौपीनम्, चण्डातकं चलनकम्। दे० प० पृ० ४५६।

१०. अथ निश्रयणीं निश्रयति। श० ब्रा० ५.१.६.९।

अपनी जाया को बुलावे[1]। यजमानपति के बुलाने पर पत्नी आवे[2] और अपनी स्वीकृति दे। यजमान आगे और पत्नी पीछे इस प्रकार सीढ़ी पर चढ़ें। यजमान यूप के अग्रभाग तक पहुँचकर गोधूमचषाल का स्पर्श करे[3]। यजमान सीढ़ी पर इतना ऊपर चढ़े कि उसका सिर यूप से अधिक ऊँचा हो सके[4]। सीढ़ी पर से दिशाओं का निरीक्षण करे[5]।

पुटोत्क्षेपण

पीपल के पत्तों में मिट्टी रखकर सत्रह गोले बनावे। यजमान के पुत्र, पौत्र प्रभृति सीढ़ी के नीचे भूमि पर खड़े होकर सत्रहों गोले ऊपर को उछाले[6]। सीढ़ी पर खड़ा यजमान उन गोलों को हाथ में लोके। यजमान भूमि का निरीक्षण करे[7]। अध्वर्यु भूमि पर अजचर्म बिछावे। उस पर रुक्म रखे। यजमान और पत्नी सीढ़ी पर से नीचे उतरें। सीढ़ी से नीचे उतरते हुए पहला कदम सोने के रुक्म पर रखकर उतरना चाहिए[8]।

अभिषेक

अध्वर्यु उत्तरवेदि के पश्चिम में उदुम्बर काष्ठ की एक आसन्दी रखे। आसन्दी के ऊपर अज का चर्म बिछावे[9]। अध्वर्यु यजमान को बाहु पकड़कर आसन्दी पर बैठावे[10]। बृहस्पति देवता के निमित्त नीवार अन्न के चरु की आहुति करे[11]। अध्वर्यु समस्त अन्न एकत्र करे[12]। उनमें से एक अन्न कम कर दे[13]। यजमान कम किये हुए अन्न का त्याग कर दे।

---

१. जाय एहि स्वो रोहावेति, रोहावेत्याह। श० ब्रा० ५.१.६.१०।
२. अर्धो हवा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते सर्वः। श० ब्रा० ५.१.६.१०।
३. तद् यद् गोधूमानुपस्पृशति। अन्नं वै गोधूमा अन्नं वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते। श० ब्रा० ५.१.६.१३। स्वरिति गौधूममालभते। का० श्रौ० १४.५.९।
४. शिरसा यूपमुज्जिहीते। का० श्रौ० १४.५.१०।
५. अथ दिशोऽनुवीक्षमाणो जपति। श० ब्रा० ५.१.६.१५।
६. सप्तदशाश्वत्थपत्रोपनद्धानूषपुटानुदस्यन्ति। का० श्रौ० १४.५.१२।
७. नमो मात्रे पृथिव्यै०। श० ब्रा० ५.१.६.१८।
८. अथ हिरण्यमभ्यवरोहति। श० ब्रा० ५.१.६.२०। स रुक्मे बस्तचर्मण्यवरोहति। का० श्रौ० १४.५.१५।
९. अथास्मा आसन्दीमाहरन्ति। श० ब्रा० ५.१.६.२२। उत्तरवेदिमपरेणौदुम्बरीमासन्दीं बस्तचर्मणास्तृणाति। का० श्रौ० १४.५.१७।
१०. अध्वर्युर्बाहुगृहीतं यजमानमस्यामासन्द्यामुपवेशयति। दे० प० पृ० ४५७।
११. नैवारेण प्रचरति। का० श्रौ० १४.५.१९।
१२. सप्तदशान्नानि सम्भरन्ति। श० ब्रा० ५.२.१.३।
१३. एकवर्जम्। का० श्रौ० १४.५.२१।

कम किये हुए उस अन्न को यावज्जीवन न खाय[1]। एकत्र किये हुए अन्न का सविधि चरु बनावे[2]। चरु की आहुति दे। आहुति से बचे हुए चरु से यजमान का अभिषेक करे[3]।

सम्राट् पदप्राप्ति

वाजपेय याग को करने वाला यजमान सम्राट् पद से विभूषित होता है। यजमान का नाम और शर्म का उच्चारण करते हुए तीन बार जोर से यह सम्राट् है यह घोषणा करे[4]।

वशा और सप्तदश प्राजापत्य पशु की वपा का याग करे[5]। वपायाग के अनन्तर मारुती संज्ञक हविर्याग करे। धारानुयाज के अनन्तर सप्तदश प्राजापत्य पशु के अङ्गों का याग करे[6]। वसायाग, वनस्पतियाग और स्विष्टकृत् याग करे। यज्ञायज्ञिय संज्ञक स्तोत्र पाठ हो चुकने पर वेदि के पूर्व में कृष्ण अश्व उपस्थित करे। षोडशीस्तोत्र का उपाकरण करे। होता शंसन करे। अध्वर्यु प्रतिगर करे। ग्रहहोम और शेष भक्षण करे। स्रुग्व्यूहन प्रभृति शेष कृत्य की समाप्ति करे।

षष्ठ दिवस कृत्य

आज का कृत्य पञ्चम दिन कर लेना योग्य है। किन्तु उस दिन का कृत्य बहुत अधिक होने के कारण यदि सम्भव न हो सके तो छठे दिन करे। प्रातः अवभृथयाग करने के लिए समस्त सामग्री लेकर जलाशय पर जाय। यजमान, पत्नी एवं समस्त ऋत्विजों को अवभृथयाग के निमित्त जलाशय पर जाना चाहिए। जलाशय पर जाकर अवभृथ याग करके पुनः देवयजन पर प्रत्यागमन तक का कार्य सविधि करे। अवभृथयाग करके जलाशय से वापस लौटकर देवयजन में उदयनीयेष्टि करे[7]। तत्पश्चात् मैत्रावरुणी इष्टि करे[8]। इसके बाद त्रैधातवी उदवसानीयेष्टि करे[9]। यजमान यूप में वेष्टित सत्रह वस्त्र अध्वर्यु को दे[10]। याग के प्रारम्भ में ऋत्विजों को पहनने के लिए जो सोने की मालाएँ दी गयी थीं, वे उन्हीं को दे दे[11]। याग का कृत्य समाप्त हो जाने पर अग्नि का समारोप करके सब कोई अपने निवास स्थान पर जायँ।

---

१. अभोजनं तस्योच्छ्वासात्। का० श्रौ० १४.५.२२।

२. सप्तदशान्नान्यावपति। का० श्रौ० १४.५.२०।

३. अथैनं परिशिष्टेनाभिषिञ्चति। श० ब्रा० ५.२.१.१२।

४. सम्राडयमसौ०। श० ब्रा० ५.२.१.१५। सम्राडयमसावित्याह नामग्राहं त्रिरुच्चैः। का० श्रौ० १४.५.२५।

५. सप्तदशानां प्राजापत्यानां वपाभिः प्रचारः। दे० प० पृ० ४६०।

६. प्राजापत्यानां हविः प्रचारः। दे० प० पृ० ४६०।

७. उदयनीया०। दे० प० पृ० ४६२।

८. इसका विस्तार द्वादशाह में देखें।

९. इसका परिचय द्वादशाह में देखें।

१०. उदवसानीयान्ते यूपवेष्टनान्यध्वर्यवे ददाति। का० श्रौ० १४.५.३५।

११. यथोपयुक्तं हिरण्यस्रजः। का० श्रौ० १४.५.३६।

संस्था वाजपेय

महर्षि कात्यायन से अतिरिक्त आचार्यों ने संस्था वाजपेय को भी अपनाया है[१]। संस्था वाजपेय को करने का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों को है[२]। इसका विस्तृत वर्णन कात्यायन श्रौतसूत्र पर रचित पद्धतियों से अतिरिक्त पद्धति में देखा जाता है। उन ग्रन्थों में एक याग, संस्था वाजपेय के नाम से भी विहित है। इसके अनुष्ठान का समय वसन्त ऋतु है। इस प्रकार में प्रधानयाग में सप्तदश प्राजापत्य पशु नहीं हैं। तदतिरिक्त पशु, जो संस्था पशु कहे जाते हैं उन्हीं की आवश्यकता होती है। सामवेदियों का एक और वाजपेययाग का प्रकार है, जो कुत्सवाजपेय कहा जाता है इसमें दक्षिणा रूप में सत्रह गौ दी जाती हैं।

वाजपेययाग समाप्त।

अतिरात्रयाग

यह सोमयाग की छठी संस्था है[३]। इसकी प्रकृति अग्निष्टोमयाग कही है[४]। ब्रह्मवर्चस की कामना से यह याग करना चाहिए[५]। इसमें ग्रह, स्तोत्र और शस्त्र की सङ्ख्या उनतीस होती है। यजमान सङ्कल्प पूर्वक याग का प्रारम्भ करता है[६]। इस याग के निमित्त कही हुई विशेष विधि को छोड़कर शेष समस्त कृत्य प्रकृतिवत् होता है। इस याग में चार पशु होते हैं। प्रथम अग्नि देवता के निमित्त अज, द्वितीय इन्द्राग्नी के लिए अज, तृतीय इन्द्र के लिए मेष और चतुर्थ सरस्वती के लिए मेषी होती है[७]। इनका यूप में क्रमशः नियोजन करते हैं। क्रमशः संज्ञपन और प्राणशोधन करते हैं।

माध्यन्दिनसवन से पूर्व आठ कपाल पर अग्नि का, द्वादश कपालपर इन्द्राग्नी का, ग्यारह कपाल पर इन्द्र का और आठ कपाल पर सरस्वती का इस प्रकार चार पुरोडाश तैयार करते हैं। दो उखा रखते हैं। प्रत्येक उखा में दो-दो सजातीय पशु के अङ्गों का चिह्न सहित श्रपण करते हैं। तृतीय सवन में सौम्यचरुनिर्वाप के अनन्तर दो कपाल पर आश्विन पुरोडाश और अवभृथयाग के निमित्त एक कपाल पर वारुण पुरोडाश तैयार करते हैं। आग्रयणग्रह के अनन्तर क्रमशः षोडशी और उक्थ्यग्रह का विधान करते हैं। यथाविधि सवनीय पशुयाग करते हैं।

---

१. अथ शाखान्तरोक्ता वाजपेयप्रकाराः। दे० प० पृ० ४६३।

२. संस्था वाजपेये तु वैश्योऽप्यधिकारी। दे० प० पृ० ४६३।

३. षडुत्तरेऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः। का० श्रौ० १०.९.२७।

४. उक्थ्यषोडश्यतिरात्राणामग्निष्टोमविकारत्वम्। दे० प० पृ० ३७९।

५. अतिरात्रेण ब्रह्मवर्चसकामः। स० श्रौ० ९.७।

६. बृहत्पृष्ठेन चतुष्टोमेन हिरण्यशतगवदक्षिणेन वासोऽश्वदक्षिणेन चातिरात्रसंस्थेन ज्योतिष्टोमेनाहं यक्ष्ये।

७. सरस्वत्यै चतुर्थोऽतिरात्रे मेषी वा। का० श्रौ० ९.८.५।

इसमें तीन रात्रिपर्याय होते हैं। प्रत्येक पर्याय में चार-चार स्तोत्र और शस्त्र होते हैं। स्तोत्रस्तवन उद्‌गाता करता है। शस्त्रशंसन में प्रथम होता, द्वितीय मैत्रावरुण, तृतीय ब्राह्मणाच्छंसी और चतुर्थ अच्छावाक होता है। इनमें प्रथम दो का प्रतिगर अध्वर्यु और अन्तिम दो का प्रतिगर प्रतिप्रस्थाता करता है। संधिस्तोत्र के उपाकरण के अनन्तर आश्विन शस्त्र का विधान होता है। इस शस्त्र की समाप्ति सूर्योदय के अनन्तर करनी चाहिए। तब आश्विन पुरोडाशयाग करे। अवभृथयाग प्रभृति शेष विधि प्रकृतिवत् करे। अन्त में एक सहस्र ब्राह्मण भोजन करावे।

अप्तोर्यामयाग

सोमयाग की सात संस्थाओं में-से यह अन्तिम और सातवीं संस्था है। यह अतिरात्र की विकृति है[1]। इसमें कही हुई विशेष विधियों को छोड़कर शेष विधि प्रकृतिवत् होती है। पशुप्राप्ति की कामना हो तो अतिरात्रयाग करने को कहा है[2]। इस याग में ग्रह, स्तोत्र और शस्त्र तैंतीस होते हैं। यजमान सङ्कल्प पूर्वक याग का प्रारम्भ करता है[3]। इस याग में एक, तीन, बारह या यथेष्ट दीक्षाएँ होती हैं। तीन उपसदा और एक सुत्या होती है। सवनीय पशु, अग्नि का अज, इन्द्राग्नी का अज, इन्द्र का मेष और सरस्वती की मेषी होती है[4]। अतिरात्रवत् समस्त पाशुक विधान करना चाहिए[5]। माहेन्द्रस्तोत्र का रथ के चलने के शब्द, अरणी, दुन्दुभि के शब्द और दर्भ से उपाकरण किया जाता है[6]। इस याग में उद्‌गाता के ऊरु पर अरणी रखकर अग्निमन्थन होता है[7]। होता के शस्त्रपाठ के समय न्यूङ्ख पूर्वक प्रतिगर होता है[8]। शेष विधि इसके प्रकृतिस्वरूप अतिरात्रयाग के समान करनी चाहिए[9]।

●

---

१. अतिरात्रविकारोऽप्तोर्यामः। दे० प० पृ० ३७९।

२. अप्तोर्यामेण पशुकामः। स० श्रौ० ९.७।

३. बृहत्पृष्ठेन वैराजादिसर्वपृष्ठगर्भेण चतुर्विंशचतुश्चत्वारिंशाष्टाचत्वारिंशाधिकसर्वस्तोमेन हिरण्यशतगवदक्षिणेन वासोऽश्वदक्षिणेन चाप्तोर्यामसंस्थेन ज्योतिष्टोमेनाहं यक्ष्ये।

४. अतिरात्रसंस्थे आग्नेयैन्द्राग्नैन्द्रसारस्वताश्चत्वारो यथोक्तजातीयाः। दे० प० पृ० ३००।

५. तस्याप्तोर्यामस्य प्रकार उक्तः। स० श्रौ० टी० ९.७।

६. पृष्ठकाले वेदिदक्षिणेन रथसंसारणम्। दे० प० पृ० ४०५।

७. उद्‌गातुरूरौ मन्थनम्। दे० प० पृ० ४०६।

८. ओ ओ ३ ॐ ओ ३ ओ ओ० ३। मोदैवेति। दे० प० पृ० ४०७।

९. तस्याप्तोर्यामस्य प्रकार उक्तः। स० श्रौ० टी० ९.७।

अष्टमाध्याय

याग

अग्निचयनयाग : इष्टकानिर्माण····वक्रेष्टका····उखासम्भरण····वनीवाहन····गार्हपत्यचयन····
सुपर्णचिति····अग्निक्षेत्रकर्षण····पाँच प्रस्तारों का चयन····शतरुद्रीयहवन····
पञ्चवातीयहवन ···· धिष्ण्याचयन ···· श्येनचिति ···· चतुरस्रश्येनचिति ····
परिमण्डल द्रोणचिति····रथचक्रचिति····प्रउगचिति····उभयतः प्रयुगचिति ।

अग्निचयनयाग

जिस याग में विशेष विधान से ईंट को जमा कर चिति बनायी जाती है वह अग्निचयन याग है। अग्नि शब्द का अर्थ वह्नि होता है। किन्तु 'अग्निं चेष्यमाणः, अग्निं प्रोक्षति,[1] अग्निं चित्वा और अग्निमारोहन्ति' इत्यादि वाक्यों में अग्नि शब्द के वह्नि रूप अर्थ के साथ चयन, आरोहण और प्रोक्षण रूप अर्थ असङ्गत है[2]। अतएव कर्कभाष्य के अनुसार यहाँ पर अग्नि शब्द का वह्निरूप अर्थ न लेकर अग्नि का आधारभूत स्थलविशेष चिति का ग्रहण करना चाहिए[3]। अथवा उत्तम तो यह है कि अग्नि शब्द का अर्थ अग्न्याधार स्वरूप ईंट समझना चाहिए।

इस याग में आहवनीय स्थानीय उत्तरवेदि न बनाकर तत्स्थानीय चिति बनायी जाती है। प्रत्येक चिति के पाँच प्रस्तार होते हैं। चिति बनाने के लिए पहले ईंटें बनानी चाहिए। यहाँ पर केवल मिट्टी से ईंट नहीं बनाते। इन्हें बनाने का विशेष प्रकार है। पहले पलाश की छाल और पत्तों को पानी में खूब उबाल कर काढ़ा बनाते हैं। तब मिट्टी में लोहे का और पत्थर का चूरा यथोचित मात्रा में मिलाकर एक मिश्रण तैयार करते हैं। उस मिश्रण में जल न मिलाकर जल के स्थान में उपर्युक्त क्वाथ को मिलाकर अच्छी तरह सान कर उखा और ईंट बनाने योग्य मिट्टी तैयार करते हैं[4]।

पूर्वोक्त प्रकार से तैयार की हुई मिट्टी से ईंटें बनायी जाती हैं, उन्हें पकाने और चिकनाकर पालिश करने का भी विधान है।

सूत्रकार के समक्ष यह समस्या भी थी कि जिस नाप की पकी ईंटें अपेक्षित हैं उनकी उपलब्धि के लिए उन्हें आर्द्रावस्था में किस नाप की ईंटें बनानी चाहिए। वे इस बात को जानते थे कि सूखने और पकने पर ईंटें छोटी हो जायेंगी। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि पक्वावस्था में ईंटों का जो नाप अपेक्षित हो उस नाप में प्रतिशत बत्तीस अंश अधिक जोड़कर ईंटों का आर्द्रावस्था का नाप समझना चाहिए। अर्थात् यदि पक्वावस्था में ईंटों का नाप दस इञ्च चतुरस्र अपेक्षित हो तो आर्द्रावस्था में उसका नाप तेरह इञ्च से कुछ अधिक होना चाहिए[5]। इसमें भी

---

१. का० श्रौ० १२.१.१५।

२. श० ब्रा० ६.२.१.१।

३. इष्टकाभिरग्निं चिनोति, इति च आरोहणप्रोक्षणे स्थलस्योच्येते।
का० श्रौ०, क० भा० १६.१.१।

४. पलाशपर्णक्वथितमुदकं मृत्पिण्डे सिञ्चेत्। एताः मृत्पिण्डे सिञ्चिता आपः पलाशपर्णक्वथिता भवेयुः। स्थिरत्वायैव। केवलमृदोखादिकरणे विशरणं स्यात्।
श० ब्रा०ह० भा० ६.३.६.१।

५. ह्रसते पाकशोषाभ्यां द्वात्रिंशद्भागमिष्टकाः।
तस्मादार्द्रप्रमाणं तु कार्यं मानाधिकं बुधैः॥

छोटी-बड़ी हरनाप की ईंटों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार से बढ़ा कर बनाने को कहा है। तदनुसार बनाने पर आज भी ईंटों के सूखने और पकने के अनन्तर अपेक्षित और सही नाप पाया जाता है।

इष्टका निर्माण

अग्निचयन याग की इष्टकाओं का निर्माण विधान से होता है। वह आगे यथास्थान कहा जायेगा, स्थूल रूप से यहाँ उसका विवरण दिखलाया है। पहले हर एक नाप की एक ईंट बनानी चाहिए। अनन्तर उसी नाप के लकड़ी के साँचे बनाने चाहिए। साँचे तैयार होने पर उन्हीं साँचों से अपेक्षित सङ्ख्या में ईंटें बना लेनी चाहिए। इष्टकाओं का नाप संख्या एवं उनका नाम तक निश्चित है। तदनुसार इष्टकाएँ बनानी चाहिए। ईंट बनाने के समय आवश्यकता से अधिक बनानी चाहिए। उसका कारण यह है कि सूखने और पकाने में कुछ टूट कर या फट कर या कट कर ईंटों की संख्या में कमी आ जाती है। फलतः समय पर अव्यवस्था हो जाती है। एतदर्थ बड़े नाप की ईंटें चौगुनी, मध्यम प्रमाण को दुगुनी और छोटी डेढ़गुनी बनानी चाहिए[1]। इनमें कुछ ईंटें यजमान और कुछ यजमानपत्नी को बनाना अनिवार्य है। बाकी की ईंटें बनवा लेनी चाहिए। 'कारयितव्याः' कहकर पद्धतिकार भी इससे सहमत हैं।

सुपर्णचिति के पाँच प्रस्तार होते हैं। पाँचों प्रस्तार में जमायी जाने वाली अग्नि से पकाई हुई इष्टकाओं की संख्या १११७० ग्यारह हजार एक सौ सत्तर कही है[2]। इनके दो भेद कहे हैं। प्रथम यजुष्मती और दूसरी लोकम्पृणा है। यजुष्मती का उपधान समन्त्रक होता है। दूसरे प्रकार की लोकम्पृणा के उपधान में केवल रखना (सादन) और स्थिरीकरण (सूददोह-साधिवदन) किया जाता है। इस विधान को श्रौतपरम्परा में नित्य कहते हैं। इन्हीं इष्टकाओं को जमाने से चिति तैयार होती है। ऊपर कही हुई संख्या से अतिरिक्त २८ अठाईस और इष्ट-

---

१. निष्पादनकाले महत्य इष्टकाश्चतुर्गुणाः कारयितव्याः। मध्यप्रमाणा द्विगुणाः। अर्धोत्सेधाश्चतुर्गुणाः। पादभागा अर्द्धपादभागा अध्यर्धगुणा निकृष्टपक्षे। तथा शोषपाकाभ्यामिष्टकाप्रमाणस्य ह्रासो भवति। तेन त्रिंशांशेन द्वात्रिंशांशेन वा पादभागस्यार्धप्रमाणमधिकं कार्यम्।
पद्याप्रमाणं द्वाभ्यां त्रिंशांशाभ्यां द्वाभ्यां द्वात्रिंशांशाभ्यां वाधिकं कार्यम्। जङ्घामात्रीप्रमाणं त्रिभिस्त्रिंशांशैरधिकं त्रिभिर्द्वात्रिंशांशैर्वा। बृहतीप्रमाणं चतुर्भिस्त्रिंशांशैरधिकं कार्यम्, चतुर्भिर्द्वात्रिंशांशैर्वा। वक्रताप्रमाणं च। एतेनैवार्द्धबृहतीत्रिग्राह्विण्यर्द्धादीन्युक्तानि। द्वितीयचयने सर्वासामिष्टकानां स्वस्वसप्तमभागेन वृद्धिः। द्वितीयादिषु चयनेषु प्रतिचयनं प्रथमचयनेष्टकानां स्वस्वसप्तमो भागो वर्द्धितेष्टकाप्रमाणमध्ये अधिकः कार्य इति तत्त्वम्।
दे० प० पृ० ५१८।

२. अयुतं च सहस्रं च शतं च सप्तर्ति तथा।
सङ्ख्यैषा शाण्डिलस्याग्नेस्तस्मै च मुनये नमः॥
इष्टकापूरण १०.१०।

काएँ गिनायी हैं, किन्तु इनमें ७–९, २०–२३ और २६-२८ सङ्ख्यांकित अग्नि से पकायी होती हैं[1]। वे नाम और सङ्ख्या में इस प्रकार हैं।

१ सिकता	२ पुष्करपर्ण
३ रुक्म	४ सुवर्णपुरुष
५ श्रीपर्णीस्रुची	६ औदुम्बरीस्रुची
७–९ स्वयमातृण्णा ३	१० दूर्वा
११ कूर्म	१२ उलूखल
१३ मुसल	१४–१८ पशुशिर ५
१९ विकर्णी	२०–२३ लोकेष्टका ४
२४ पृश्न्यश्मा	२५ उखा
२६–२८ निर्ऋति ३	

इनमें प्रथम पचीस की गणना यजुष्मती में की जाती है। शेष अन्तिम तीन जो निर्ऋति संज्ञक हैं वे यजुष्मती और लोकम्पृणा इन दोनों से भिन्न हैं।

समस्त इष्टकाओं के नाम, मान और सङ्ख्या

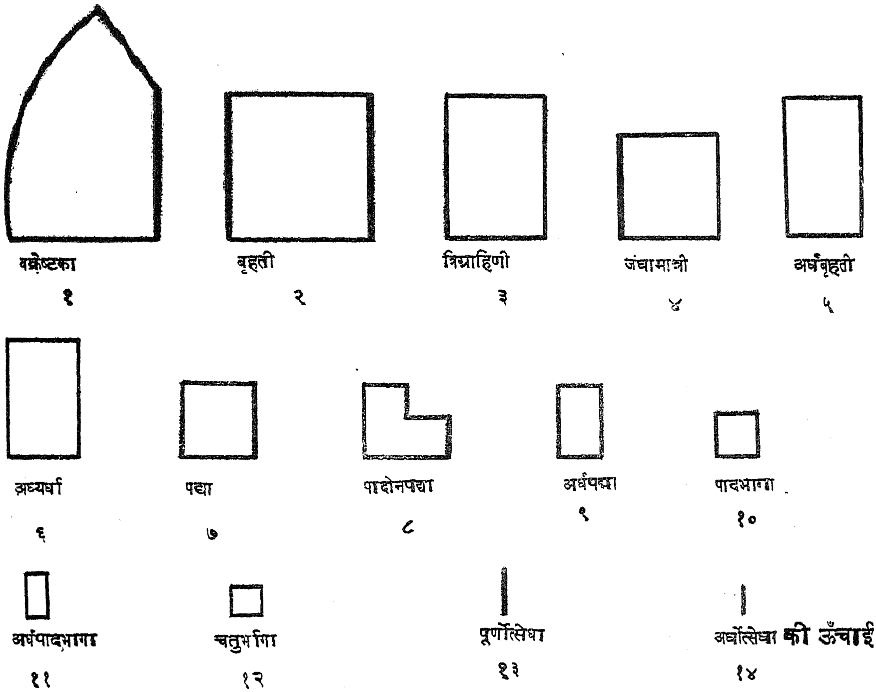
इष्टका नाम	मान अंगुल में	यजुष्मती	लोकम्पृणा	गार्हपत्येष्टका	धिष्ण्येष्टका	संख्या
अध्यर्धा	१८×१२×६	१७	९४			१११
अर्धपद्या	१२×६×६	७१	९९	२	८	१८०
अर्धपादभागा	६×३×६		६६८		१०	६७८
अर्धबृहती	२४×१२×६			४		४
अर्धोत्सेधा अर्धपद्या	१२×६×३	१६				१६
अर्धोत्सेधापद्या	१२×१२×३	१४				१४
चतुर्भागा	३×३×६				१२	१२
जंघामात्री	१८×१८×६	६	४४			५०
त्रिग्राहिणी	२४×१८×६		७०			७०
पद्या	१२×१२×६	२४४	५०२	७		७५३
पादभागा	६×६×६		१२१८		४८	१२६६

---

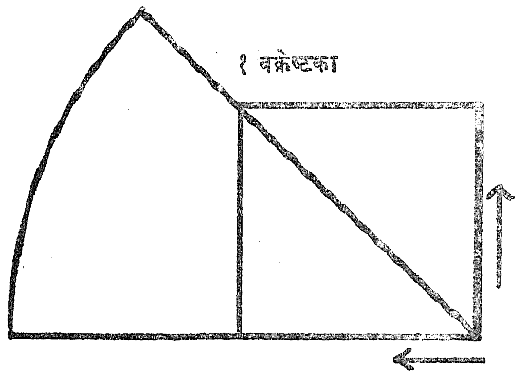
१. तुषपक्वास्ततोऽप्यन्यास्तिस्रो नैर्ऋतिसंज्ञकाः।
न ता लोकम्पृणा नापि यजुष्मत्य इति श्रुतेः॥
ज्ञेयास्तत्र यजुष्मत्यः पञ्चन्यूनचतुःशती।
अयुतं च शतान्यष्टौ ज्ञेया लोकम्पृणेष्टकाः॥
तिस्रो नैर्ऋतिसंज्ञाश्च भवन्त्येवमिहेष्टकाः।
अयुतं च सहस्रं च द्वाभ्यामूनं शतद्वयम्॥ पूरणश्लोकाः १४–१६।

पादोनपद्या	१२×१२×में १/४ कम, ६ ऊँची	२				२
बृहती	२४×२४×६		६			६
वक्रा	चित्रानुसार			८		८
		योग	योग	योग	योग	योग
		३७०	१०७०१	२१	७८	१११७०
पूर्वोक्त सिकता, पुष्करपर्ण प्रभृति		....	....	....	....	२८
					महायोग....	१११९८

इष्टकास्वरूप नाम और नाप



वक्रेष्टका का आकार



वक्रेष्टका निर्माण

गार्हपत्य के चयन के निमित्त वक्रेष्टका अपेक्षित है। एतदर्थ आठ वक्रेष्टकाएँ चाहिए। उन वक्रेष्टकाओं के निर्माण के लिए यह सफल प्रयोग है। पहले २४ अङ्गुल का एक चतुरस्र बनाना चाहिए। चतुरस्र मध्य में करके चारों ओर ४८ अङ्गुल का एक वृत्त बनाना चाहिए। चतुरस्र के बाहर वृत्त पर्यन्त दिशा और विदिशा में जाती हुई आठ रेखाएँ करनी चाहिए। इस प्रकार आठ वक्रेष्टकाओं की उपलब्धि हो जाती है। उन आठों में से किसी एक के नाप से वक्रेष्टकाएँ बना लेनी चाहिए। एतदर्थ चयन किया हुआ गार्हपत्य का चित्र देखें।

समस्त इष्टकाओं में कुछ की ऊँचाई छ अंगुल होती है और उन्हें पूर्णोत्सेधा कहते हैं। शेष की ऊँचाई तीन अंगुल की होती है और उन्हें अर्धोत्सेधा कहते हैं। प्रथम चिति की इष्टकाओं की संख्या में गार्हपत्य की इष्टकाओं की इक्कीस संख्या निहित है। उसीप्रकार पञ्चम चिति की इष्टकाओं की संख्या में आठ धिष्ण्याओं की अठहत्तर संख्या भी मिली हुई है। लौकिक इष्टकाएँ अधोमुखी रखी जाती हैं। परन्तु श्रौत की इष्टकाएँ ऊर्ध्वमुखी जमानी चाहिए।

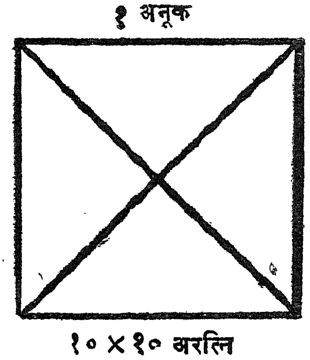
चिति के मध्य के भाग को चिति की आत्मा कहते हैं। चित्र में विदिशा में जाती हुई रेखा से अनूक दिखलाया है[१]। इष्टकाओं में पूर्वाग्र और उदगग्र चिह्न होते हैं। पूर्वाग्र रेखा-वाली इष्टकाओं को पूर्व और पश्चिम के अनूकपर और उदगग्र चिह्नाङ्कित इष्टकाओं को दक्षिण और उत्तर के अनूकों पर रखना चाहिए। खण्डित और काली इष्टकाएँ अनुपयोगिनी होती हैं[२]। इसके सिवाय गार्हपत्य और आठ धिष्ण्याओं का चयन भी इष्टकाओं से होता है।

---

१. तदुपलक्षितः प्रदेश उदगनूक इति कथ्यते। दे० प० पृ० ५३१।

२. भिन्नानां भग्नानामिष्टकानां कृष्णवर्णानां चयनं न कर्त्तव्यम्। दे० प० पृ० ५३२।

सुपर्णचिति की आत्मा



अग्निचयन याग का कार्यक्रम

- प्रारम्भविधि
- इष्टकापशुविधान
- उखानिर्माण
- इष्टकानिर्माण
- उखापाक
- इष्टकापाक
- उखासिञ्चन
- दीक्षणीयेष्टि
- उखाधिश्रयण
- रुक्मविमोक
- उखाधारण
- विष्णुक्रमण
- वनीवाहन
- भस्मप्रक्षेप
- चितिलक्षण
- गार्हपत्यचयन
- उखाग्निस्थापन
- अग्निक्षेत्रकर्षण
- सर्वौषधिवपन
- इष्टकोपधान
- पञ्चप्रस्तारचयन
- सुवर्णसे चितिप्रोक्षण
- शतरुद्रियहवन
- चित्यारोहण
- अग्निस्थापन
- वैश्वानरमारुतपुरोडाश
- वसोर्धाराहवन
- पार्थहवन
- वाजप्रसवीयहवन
- यजमानाभिषेक
- राष्ट्रभृत् हवन
- वातहवन
- धिष्ण्याचयन
- दैविकाहविर्निर्वाप
- अग्निचयनयाग नियम
- अन्यचितियाँ

प्रारम्भविधि

सोमयाग को प्रधान मान कर अग्निचयन को सोमयाग का अङ्ग कहा है[1]। अतएव इस याग में अग्निचयन की विधि को छोड़कर शेष विधान को सोमयाग की तरह समझना चाहिए। सोमयाग में अग्निचयन याग करने का विधान वैकल्पिक है। उसमें भी जिसका प्रथम सोमयाग हो वह अग्निचयन नहीं कर सकता[2]। जहाँ महाव्रत हो वहाँ नित्यरूप से अग्निचयन करना चाहिए[3]। यह अग्निचयन याग पाँच दिन में भी किया जा सकता है। यदि अधिक दिनों में करना चाहे तो एक वर्ष तक करने का विधान किया है। एक वर्ष के पक्ष में कुछ विधानों का विस्तार होता है। किसी भी पक्ष का आश्रयण करने पर चिति का चयन प्रधानयाग से पूर्व होता है।

इष्टकोपधान

चिति के चयन के लिए यथाविधि इष्टकाओं का रखना इष्टकोपधान है। ईंट जमाने के समय किस दिशा की ओर मुँह करके ईंट जमावे यह शास्त्रविहित है[4]। एक बार में कितनी ईंट जमावे उसका भी क्रम निर्धारित है[5]। उनके पौर्वापर्य का क्या क्रम होना चाहिए यह भी निश्चित है। चाहे जहाँ और चाहे जिस क्रम से एक भी ईंट नहीं जमायी जा सकती। यदि प्रस्तार की पूर्वीय ईंट जमानी है तो उत्तर की ओर मुँह करके बैठना होगा। उत्तर की ओर से प्रारम्भ करके जमाते हुए दक्षिण की ओर समाप्ति करनी होगी। वह भी एक बार में निश्चित सङ्ख्या में और निश्चित मन्त्रोच्चारण पुरस्सर निश्चित संख्या की ईंट जमा कर पुनः दूसरी और जमानी होगी। जिन इष्टकाओं का जमाना समुदाय रूप में कहा हो और उस समुदाय की इष्टकाएँ यदि विषम सङ्ख्या में हों तो मध्य की इष्टका अनूक संज्ञक रेखा के ठीक ऊपर आनी चाहिए[6]। जैसे पन्द्रह इष्टकाएँ हों तो आठवीं इष्टका अनूक के ऊपर और

---

१. अग्निः सोमाङ्गम्। का० श्रौ० १६.१.१।

२. न प्रथमाहारे। का० श्रौ० १६.१.३।

३. अन्तरिक्षं महाव्रतं द्यौर्महदुक्थं तस्मादेतानि सर्वाणि सहोपेयादग्निं महाव्रतम्।
श० ब्रा० १०.१.२.२।

४. सर्वत्र लोकम्पृणानां यजुष्मतीनां च चयनमध्वर्युणा आत्मसम्मुखं कर्त्तव्यम्, उपविष्टेन च। पूर्वासां चयनमुदङ्मुखोपविष्टेनोत्तरस्या अपस्या आरभ्यात्मसम्मुखं दक्षिणसंस्थम्।
दे० प० पृ० ५२९।
अध्यात्मं चयनमुपविश्य। का० श्रौ० १६.७.१२।

५. यथा पूर्वार्धं प्राणभृतो दशेति। दे० प० पृ० ५२९।

६. त्रिपञ्चमादीष्टकागणस्य या मध्यमा इष्टका सा अनूकस्योपर्युपधेया। पञ्चदशानामष्टमीमध्यमा। दे० प० पृ० ५३०। अयुग्मगणमध्यमानूके। एका च।
का० श्रौ० १६.७.२२.२३।

सात-सात इष्टकाएँ अनूक के दोनों ओर रखनी चाहिए। यदि इष्टकाएँ सोलह की सङ्ख्या में हों तो आठ-आठ इष्टकाएँ अनूक के दोनों ओर रखनी चाहिए[१]।

इष्टकापशुविधान

फाल्गुन कृष्ण प्रतिपदा को पौर्णमास याग करने के अनन्तर इष्टका पशुविधान किया जाता है[२]। यहाँ तीन पक्ष कहे हैं[३]। प्रथमपक्ष में काम्य अग्नि के निमित्त अश्व, गौ, अवि और अज ये चार पशु और एक पुरुष का सिर अपेक्षित है[४]। द्वितीय पक्ष में एक प्राजापत्यपशु और तृतीय पक्ष में एक वायव्य पशु कहा है। प्रथम पक्ष में संग्राम में मृत पुरुष का सिर लिया जा सकता है। बौधायन के मत से अथवा पाशुकविधि से आलभन करके सिर एकत्र करे। पद्धतिकारों ने यहाँ विकल्प भी कहा है। इस विधान में दक्षिणादान वैकल्पिक है। देना चाहे तो केवल ब्रह्मा को दक्षिणा दे। मिट्टी के बने सिर भी लिये जा सकते हैं[५]।

प्राजापत्यपशु विधान

ऊपर पञ्चपशुपक्ष कहा है। यदि प्राजापत्यपशु पक्ष का आश्रयण करना हो तो प्रजापति देवता के निमित्त शुक्ल कृष्ण रोम वाले एक पशु का आलभन करे[६]। याग के अन्त में एक सौ ब्राह्मणभोजन करावे। यहाँ दक्षिणा का विकल्प है। देना चाहे तो पशु, धेनु या वर ब्रह्मा को दे[७]। यहाँ कर्काचार्य ने अन्वाहार्य दक्षिणा कही है[८]।

वायव्यपशु विधान

इस पक्ष में वायु देवता के निमित्त एक पशु का आलभन करना चाहिए[९]। तीनों पक्ष में पशु के सिर को त्वचा और मज्जा से रहित करके अच्छीतरह आज्य लगाकर सुरक्षित रखना चाहिए[१०]।

---

१. अभितो युग्माः। का० श्रौ० १६.७.२४।
लोके हि अधोमुखीभिः चयनं प्रसिद्धम्। अत्र तूत्तानाभिः कार्यम्। दे० प० पृ० ५२१।

२. फाल्गुन्यां पौर्णमासे नेष्ट्वा पञ्चपशूनालभतेऽदक्षिणान्। का० श्रौ० १६.१.५।

३. एकस्मिन्पक्षे पुरुषाश्वगोऽव्यजाः पञ्च पशवो भवन्ति। द्वितीयपक्षे प्राजापत्यः पशुः। तृतीये वायव्यः। दे० प० पृ० ५०३।

४. आग्नेय्यो याज्यानुवाक्या कामवत्यः। का० श्रौ० १६.१.२७।

५. सङ्ग्रामहतानां पुरुषादीनां शिरांस्यानीयोपधेयानि। अथवा सौवर्णानि मृण्मयानि वा कार्याणि। दे० प० पृ० ५०५। परिवृते पुरुषसंज्ञपनम्। वैश्यः पुरुषो राजन्यो वा। का० श्रौ० १६.१.१४–१७। प्रत्यक्षाणि वा मार्तिकानि वा स्युरिति बौधायनः। बौ० श्रौ० २२.१।

६. श्यामतूपरो वा प्राजापत्यः। का० श्रौ० १६.१.३३।

७. दानपक्षे ब्रह्मण एव पशुधेनुवराणामन्यतमस्य दानम्। दे० प० पृ० ५०७।

८. कर्कमतेऽन्वाहार्यस्य। दे० प० पृ० ५०७।

९. अथ वायव्यपक्ष उच्यते। दे० प० पृ० ५०७।

१०. घृताक्तानि शिरांसि निदधाति। का० श्रौ० १६. १. ३०।

उखासम्भरण

अग्नि रखने के लिए मिट्टी की बनी मञ्जूषा को उखा कहते हैं। इसे सविधि बनाते हैं[१]। उसका विधान इसप्रकार है। आहवनीय में अग्नि का उद्धरण करे। एक हाथ का चतुरस्र गड्हा खोद कर उसमें मृत्पिण्ड रखे[२]। ब्रह्मवरण करके सावित्राहुति करे[३]। पिण्ड और आहवनीय के मध्य में बाँबी की छेदवाली मिट्टी रखे। आहवनीय के दक्षिण में पूर्वाभिमुख अश्व, उसके पीछे गर्दभ और सबसे पीछे अज को खड़ा करे। तीनों के मुँहपर तेहरी डोरी से बनी हुई पाँच अङ्गवाली मोहरी बाँधे[४]।

पञ्चाङ्गमोहरी

इस मोहरी के पाँच अङ्ग होते हैं। यह डोरी से बनायी जाती है। एक डोरी मुंह के चारों ओर घूमी रहती है। दूसरी आँख और कान के बीच से चारों ओर घूमी रहती है। तीसरी डोरी उपर्युक्त डोरी को परस्पर बाँधे रहती है। चौथी डोरी से मुँह का लोहा सम्बद्ध रहता है। पाँचवीं डोरी लगाम का काम करती है। उसी से घोड़े को दाहिने और बायें घुमाया जाता है[५]। आहवनीय खर के निकट एक अरत्नी लम्बी, दोनों ओर से नुकीली, पोली और चितकबरी बाँस की एक अभ्रि रखे[६]। कुछ लोगों के मत में यह अभ्रि सोने की होनी चाहिए[७]। आहवनीय के उत्तर की ओर चतुरस्र गड्ढा करे। एक पात्र में दक्षिणाग्नि की अग्नि पर पलाश की हरी छाल का क्वाथ बनावे। आवहनीय पर सावित्राहुति करे।

अध्वर्यु हाथ में अभ्रि उठाकर अश्व, रासभ और अज को अभिमन्त्रित करे। पूर्वस्थापित मृत्पिण्ड के निकट जाय। निरर्थक (अनद्धा) मनुष्य को देखे[८]। वल्मीकवपा की मिट्टी के छिद्र से मृत्पिण्ड को देखे[९]। घोड़े का अगला बाँयाँ पैर मृत्पिण्ड पर रखावे। पिण्ड के दक्षिण में प्राङ्मुख घोड़े को खड़ा करे[१०]। उसके पीछे क्रमशः रासभ और अज रहे। मृत्पिण्ड के गर्त्त में आहुति

---

१. अष्टकायामुखां सम्भरति। श० ब्रा० ६.२.१.२३।

२. आहवनीयस्य पुरस्तान्मत्या चतुरस्रे श्वभ्रे मृत्पिण्डमवदधाति भूमिसमम्।
का० श्रौ० १६.२.२।

३. तस्मात्सावित्राणि० एतामाहुतिं जुहोति। श० ब्रा० ६.२.३.७।

४. प्राञ्चोऽश्वगर्दभाजाः। का० श्रौ० १६.२.४।

५. आहवनीयं दक्षिणेन त्रिवृन्मुञ्जपञ्चाङ्गीबद्धास्तिष्ठन्ति। का० श्रौ० ६.२.४।
पञ्चाङ्ग्यश्चैवं निष्पाद्यन्ते। दे० प० पृ० ५०८।

६. सा वैणवी स्यात्। कल्माषी स्यात्। प्रादेशमात्री स्यात्। श० ब्रा० ६.२.३.३१-३३।

७. हिरण्मयीमेके। का० श्रौ० १६.२.६.।

८. एष ह वा अनद्धा पुरुषो यो न देवानवति न पितॄन् न मनुष्यान्। श० ब्रा० ६.२.३.२४।

९. दृष्ट्वा निदधात्येनम्। का० श्रौ० १६.२.१५।

१०. सोऽश्वमभिमन्त्रयते, अथ रासभम्। अथाजम्। श० ब्रा० ६.२.४.२-४।

करे। अभ्रि से मृत्पिण्ड पर तीन रेखा करे[१]। मृत्पिण्ड पर उत्तर की ओर अभ्रि से खनन करे[२]। मृत्पिण्ड से उत्तर की ओर प्राग्ग्रीव कृष्णाजिन बिछावे[३]। उस पर कमल का पत्ता रखे[४]। दोनों हाथों से मृत्पिण्ड को उठाकर कमल के पत्ते पर रखे। अञ्जलि में हवा बटोर कर मृत्पिण्ड पर छोड़े[५]। अनामिका अङ्गुलि से गर्त्त में मिट्टी छोड़े। कृष्णाजिन के छोर बटोर कर डोरी से बाँधे। दोनों हाथों से मृत्पिण्ड की गठरी उठावे।

नाभि के बराबर गठरी उठाकर अश्वादिकों को अभिमन्त्रित करे। क्रमशः अश्वादिकों के ऊपर गठरी उठा रखे। यहाँ गठरी से पशु का स्पर्श न हो। मृत्पिण्ड की गठरी परिवृत्त में ले जाय। अज के लोम काट कर रख ले और तीनों पशुओं को ईशान की ओर भगा दे[६]। दक्षिणाग्नि पर उबालने को रखे हुए क्वाथ में से ऊपर का फेन किसी पात्र में निकाले[७]। फेन, कंकड़ का चूर, पत्थर का चूर, लोहे का चूर और मिट्टी को उचित मात्रा में एकत्र करे। पलाश का क्वाथ मिलाकर मिट्टी को अच्छी तरह साने[८]। मजबूती को ध्यान में रखते हुए बकरी के लोम से इसे संसक्त करे[९]। आज की दुनिया में स्थापत्यकला निपुण लोगों को प्राचीन काल में इष्टका बनाने का यह उपर्युक्त प्रकार था इस विषय पर ध्यान देना चाहिए। साथ ही उत्खनन में प्राप्त इष्टकाओं का परीक्षण भी करना चाहिए।

उखा-निर्माण

इस उखा को यजमान स्वयं बनाता है। यह प्रादेशमात्र चतुरस्र और उतनी ही ऊँची बनानी चाहिए। यह एक पशुपक्ष है। यदि पाँच पशु का पक्ष ग्रहण किया हो तो यही पाँच प्रादेश के नाप की चतुरस्र बनायी जाती है। तृतीयांश पर मेखला बनानी चाहिए[१०]। मेखला के ऊपर चारों ओर स्तन का आकार होना चाहिए[११]। मध्य में एक मिट्टी की खड़ी रेखा हो।

---

१. अभ्र्या पिण्डं त्रिः परिलिखति। का० श्रौ० १६.२.२३।

२. पिण्डं गर्त्तपिण्डान्तरालप्रदेशे सर्वतः खनति। दे० प० पृ० ५११।

३. कृष्णाजिने सम्भरति। श० ब्रा० ६.३.२.६।

४. पुष्करपर्णे सम्भरति। श० ब्रा० ६.३.२.७।

५. एनां वायुना सन्दधाति। श० ब्रा० ६.३.४.३।

६. प्रागुदीचः पशूनुत्सृजति। का० श्रौ० १६.३.१४।

७. पर्णकषायनिष्पक्वा एते आपो भवन्ति। श० ब्रा० ६.३.६.१।

८. शर्कराचूर्णैरयोरसचूर्णैरश्मचूर्णैश्च सह पिण्डं संसृजति। शर्कराः—सूक्ष्माः कण्डुकाः। अयोरसः—कीटः। अश्मा—दृढः पाषाणः। दे० प० पृ० ५१३।

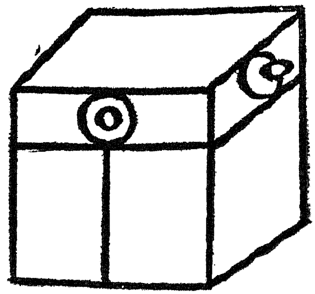
९. अजलोमैः संसृजति। श० ब्रा० ६.३.६.४।

१०. प्रादेशमात्रीं तिर्यगूर्ध्वां च। वितृतीय उत्तरे वर्तिं सर्वतः करोति। का० श्रौ० १६.३.२३,२९।

११. पूर्वकृतवर्तिपर्यन्तमूर्ध्वां वर्तिं कुर्यात्। दे० प० पृ० ५१४।

उखास्वरूप

१ उखा



उपर्युक्त नाप और चित्र के आकार की उखा बनानी चाहिए।

इष्टकानिर्माण

यजमान की प्रथम परिणीता स्त्री आषाढ़ासंज्ञक इष्टका बनावे। यह इष्टका यजमान के पैर के नाप की १२×१२×६ बनानी चाहिए। विश्वज्योतिसंज्ञक तीन इष्टकाएँ बनावे[1]। निर्माणक्रम की पहचान के लिए तीनों पर रेखा करनी चाहिए। उखा और इष्टका के निर्माण के अनन्तर शेष मिट्टी को सुरक्षित रख दे।

पाचन विधि

उपर्युक्त इष्टका और उखा के बन जाने पर दक्षिणाग्नि की अग्नि पर घोड़े की लीद को जलाकर उखा और इष्टका को धूप दे[2]। गड्ढा खोद कर उसमें इष्टका और उखा को रखे। तृणादिक रख कर अग्नि लगावे। कुछ समय बाद अग्नि को हटाकर इष्टका प्रभृति पकी या नहीं जाँच करे। न पकी हो तो पुनः अग्नि रखे। पक जाने पर बाहर निकाल कर रखे और उनपर बकरी के दूध का सिञ्चन करे[3]। इसके अनन्तर चिति के उपयोग में आने वाली अन्य इष्टकाएँ विहार के समीप उपस्थित करे। इनकी सङ्ख्या और विवरण आगे देखें।

दीक्षणीयेष्टि

उपर्युक्त कृत्य के अनन्तर फाल्गुन कृष्ण अमावास्या को पिण्डपितृयज्ञ करके दर्शयाग करे। आभ्युदयिक श्राद्ध और दीक्षणीयेष्टि करे। ऋत्विजों का वरण करे। एकादशकपाल पर अग्ना-विष्णू का पुरोडाश, वैश्वानर का द्वादशकपाल पर पुरोडाश और आदित्य के लिए केवल घी में

---

१. इष्टकास्तु तिस्रो विश्वज्योतिषः। का० श्रौ० १६.४.६।

२. अश्वशकैर्धूपयति। श० ब्रा० ६.४.१.९। रुद्रास्त्वाधूपयन्तु०। शु० य० ११.६०।

३. अजापयसावसिञ्चति। का० श्रौ० १६.४.२३।

पकाया हुआ चरु तैयार करे[१]। क्रमशः तीनों का उपांशुधर्म से याग करे। वेद और योक्त्र खोलने तक की विधि करके दीक्षाविधि करे। औद्ग्रभण हवन करे। अनन्तर दीक्षणीयेष्टि समाप्त करे।

उखाप्रतपन

उखा में सन और मूँज को छोड़कर आहवनीय की अग्नि पर रखे।[२] उखा को इतनी तपावे कि अन्दर के तृण जलने लगे। उखा की अग्नि पर समिद् की आहुति करे।[३]

रुक्मधारण

यजमान अपने गले में सोने का रुक्म पहने।[४] सोने की चद्दर से रुक्म बनाया जाता है। इसमें उभरी हुई इक्कीस कटोरी होती है। कटोरी का उभड़ा भाग ऊपर की ओर रहे। रुक्म गोल रहे और उसमें इक्कीस कटोरी चने के बराबर रहें।[५] रुक्म के तल भाग में कृष्णाजिन का टुकड़ा सीया रहे। तेहरी सन की डोरी में पिरोकर उखा को गले में पहनना चाहिए। यह नाभि के ऊपर तक लटकती रहे।[६]

शिक्यनिर्माण

सन की दो गोल गेंडुरी बनावे। दोनों गेंडुरी में सन की डोरी बाँध कर सिकहर बनावे। इन डोरियों में मिट्टी पोत देना चाहिए। अन्यथा अग्नि की उष्णता से डोरी जल जायेगी।

आसन्दी

सिकहर रखने के लिए एक आसन्दी प्रस्तुत करे[७]। उसके दस अङ्गुल ऊँचे चार पाये हों। एक अरत्नी चतुरस्र हो। यह आसन्दी तेहरी मूँज की डोरी से बीनी हुई होनी चाहिए।

---

१. आग्नावैष्णववैश्वानरौ। घृते चरुरादित्येभ्यः। का० श्रौ० १६.४.२८-२९।
(यहाँ आज्य में चरु का पाक कहा है। जल का अभाव है। जल के बिना चावल पक नहीं सकते। एतदर्थ पहले से चावल को दूध अथवा जल में भिगो रखे। तदनन्तर समय पर चावल को दूध या जल में से निकालकर पीस ले। समय पर आज्य में छोड़कर संस्कार कर ले।) तण्डुलानां कोमलत्वसम्पादनार्थं दुग्धादौ प्रक्षेपः कार्यः। दे० प० पृ० ५१९।

२. अध्वर्युयजमानयोरन्यतर उखामाहवनीयेऽधिश्रयति मुञ्जकुलायशणकुलायावस्तीर्णाम्०। का० श्रौ० १६.४.३१।

३. तां यदाग्निः सन्तपति। श० ब्रा० ६.४.४.८।

४. यजमानः कण्ठे रुक्मं प्रतिमुञ्चते। का० श्रौ० १६.५.१। दृशाना रुक्म०। शु० य० १२.१।

५. सौवर्णं रुक्मम्। वर्तुलमेकविंशतिपिण्डम्। पिण्डशब्देन चणकदलसदृशोट्टङ्कनेनोत्पादिता बिन्दवः। दे० प० पृ० ५२२।

६. रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति। कृष्णाजिने निष्यूतो भवति। तमुपरिनाभि बिभर्ति। श० ब्रा० ६.५.१.१;६;८।

७. आसन्द्यां चतुरश्राङ्ग्यां शिक्यवत्यां निदधाति। का० श्रौ० १६.५.५।

विष्णुक्रम

आसन्दी के ऊपर सिकहर रखे। सिकहर की डोरियों को चारों ओर फैला दे। अग्नि सहित उखा को सिकहर पर रखे। उखा सहित सिकहर को यजमान के गले में पहनावे। यजमान ईशान दिशा की ओर जाय[1]। सिकहर सहित उखा को आसन्दी पर रखे। अग्नि का वात्सप्र संज्ञक उपस्थान करे[2]। इस प्रकार क्रमशः एक दिन विष्णुक्रम और दूसरे दिन वात्सप्रविधान की आवृत्ति कर्त्तव्य है।

भस्मोद्वाप

सूर्यास्त के बाद उखा में से भस्म निकाले। उखा के अग्नि पर समिदाधान करे। प्रातःकाल पुनः रुक्मधारण से समिदाधान तक की विधि करे। यह उपर्युक्त विधि प्रतिदिन सायं प्रातः करनी चाहिए।

इस कृत्य के अनन्तर उसी समय चयनयाग की आगे की विधि को करना, छ महीने बाद करना और सालभर तक प्रतिदिन इस कृत्य को करते हुए पूरा वर्ष बिताना और तब आगे की विधि करना इस प्रकार तीन पक्ष हैं[3]। इनमें से किसी एक पक्ष का आश्रयण करना चाहिए।

वनीवाहन विधि

यज्ञोपकरणीय वस्तु को अर्जित करने के निमित्त प्रवास करना वनीवाहन विधि है[4]। दीक्षा के समय वनीवाहन विधि करना विहित है। यजमान इस विधि में उखा के अग्नि को शकट पर रख कर अपने साथ ले जाता है। बीच में जहाँ रुकना हो वहाँ शकट पर से आसन्दी सहित अग्नि को नीचे उतार कर रखे। उखा के अग्नि पर समिदाधान प्रभृति कृत्य करे। यदि कोई व्यक्ति यजमान को सुवर्ण, गौ आदि यागोपकरण दे तो समन्त्रक उसका स्पर्श करे। प्रतिग्राह्य वस्तु दूर हो तो केवल अभिमन्त्रण करे। कार्यसिद्धि हो जाने पर वापस यज्ञशाला को लौटे। अग्नि को यथास्थान स्थापित करे[5]।

---

१. अथ विष्णुक्रमान् क्रमते। श० ब्रा० ६.५.२.१०।
वात्सप्रविष्णुक्रमयोः सन्निपातः। बौ० श्रौ० २१.३।

२. ईशानाभिमुख उख्यमग्निमुपतिष्ठते। दे० प० पृ० ५२४।
वात्सप्रेणोपतिष्ठते। श० ब्रा० ६.५.४.१।

३. संवत्सरभृतिनोऽसंवत्सरभृतेऽपि। संवत्सरं सोष्यतः। संवत्सराहिताग्नेः। जातस्य च।
का० श्रौ० १६.६.९-१२।

४. दीक्षास्वेव क्रत्वर्थद्रव्योपार्जनार्थप्रयाणरूपं वनीवाहनसंज्ञं कर्म०। दे० प० पृ० ५२६।
स यदहः प्रयास्यन्त्स्यात् इति श्रुतेः। मानवेऽपि दीक्षितो भूतिं चिन्वीत। दे० प० पृ० ५२६।
वनीवाहनमेतद्दीक्षासु यदेच्छेत्। का० श्रौ० १६.६.२२।

५. वनीवाह्येताग्निं बिभ्रत्। श० ब्रा० ६.५.५.१।
प्रत्यागत्य शालायां तानग्नीन् स्थापयेत्। दे० प० पृ० ५२६।

भस्मापोऽभ्यवहरण

यज्ञशाला में आकर उखा में से निकाल कर एकत्र की हुई भस्म राशि को बड़ या पीपल के बड़े दोने में भरे[1]। अध्वर्यु उसे ले जाकर नदी में छोड़े। नदी में छोड़ी हुई भस्म में से अनामिका अङ्गुली पर थोड़ी भस्म वापस लाकर उखा में छोड़ दे। यजमान उखा के अग्नि का उपस्थान करे।

गार्हपत्य-चयन

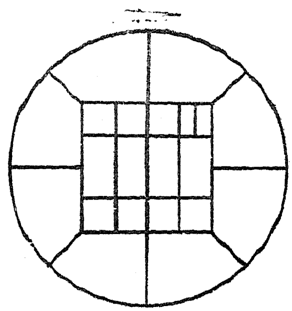
अग्निचयन याग में गार्हपत्य में भी इष्टका जमा करके गार्हपत्य का चयन किया जाता है। इसमें चयन के निमित्त इक्कीस इष्टकाएँ आवश्यक हैं। उनका नाम और नाप इस प्रकार है।

८ वक्रा पूर्वोक्त चित्रानुसार	७ पद्या १२ × १२ × ६
२ अर्धपद्या ६ × ६ × ६	४ अर्धबृहती १२ × २४ × ६
	योग २१

यजुष्मती की और लोकम्पृणा इष्टकाओं की सङ्ख्या

८ यजुष्मती	१३ लोकम्पृणा
	योग २१

गार्हपत्यचयन



1. समिधमाधाय भस्मापोऽभ्यवहरति। श० ब्रा० ६.५-४.१४।

गार्हपत्य के चयन के अनन्तर अध्वर्यु को उखा के अग्नि को गार्हपत्य के अग्नि में रखनी चाहिए । अध्वर्यु निर्ऋति संज्ञक तीन इष्टकाओं को लेकर देवयजन के बाहर नैर्ऋत्य की ओर जाय[१] । भूमि पर तीनों इष्टकाएँ जमावे । सिकहर, आसन्दी, गेंडुरी और रुक्म की डोरी वहीं पर छोड़ दे[२] । देवयजन की ओर लौट आवे । लौटते हुए पीछे न देखे । देवयजन में आकर गार्हपत्य के अग्नि का उपस्थान करे । प्रायणीयेष्टि करे[३] ।

चिति और उसके प्रकार

अग्निचयन याग में उत्तरवेदि स्थानीय चिति बनायी जाती है । उनके नाम इस प्रकार देखे जाते हैं[४] । सुपर्णचिति, श्येनचिति, द्रोणचिति, रथचक्रचिति, कङ्कचिति, प्रउगचिति, उभयतः प्रउगचिति और समूह्य पुरीष चिति । इन सब चितियों के आकार परस्पर भिन्न हैं । शतपथ ब्राह्मण में सुपर्णचिति का महत्त्व वर्णित है । अन्य चितियों के वहाँ केवल नाम मात्र गिनाये हैं । कुछ चितियों के चित्रपट मात्र उपलब्ध हो सके हैं । उन्हें यहाँ भी दिखाया है । पारम्परिक या शास्त्रीय दृष्टि से उनका विशेष विवरण वर्तमान में मिला नहीं है । इस विषय में अन्वेषण आवश्यक है ।

सुपर्णचिति का स्वरूप

यदि सुपर्णचिति के भाग किये जायँ तो चार भाग हो सकते हैं । मध्य में आत्मा १० × १० हाथ का चतुरस्र होता है । आत्मा के दोनों ओर दक्षिण और उत्तर में ६ × ५ हाथ के दो पक्ष होते हैं । आत्मा से पश्चिम की ओर ६ × ५ हाथ का एक पुच्छ होता है । उपर्युक्त चारों भाग मिलकर एक सुपर्णचिति का स्वरूप होता है । इसके पाँच प्रस्तार होते हैं । पाँचों प्रस्तारों का आकार समान है । एक पर दूसरे से पाँच प्रस्तारों तक का चयन होता है । विशेष विवरण के निमित्त आगे चित्र देखें ।

अग्निक्षेत्र कर्षण

भूमि की समता और शुद्धि के निमित्त चिति के चयन के स्थान पर पहले हल से कर्षण करना चाहिए । एतदर्थ औदुम्बर काष्ठ के हल में ६ बैल जोते जाते हैं[५] । यहाँ लौकिक ढंग से

---

१. नैर्ऋतीं हरन्ति । पादमात्र्यो भवन्ति । दिशं यन्ति । तिस्र इष्टका उपदधाति ।
 श० ब्रा० ७.१. ३.१.७.८.१४ ।

२. अथासन्दीं शिक्यम् । श० ब्रा० ७.१.३.१५ ।

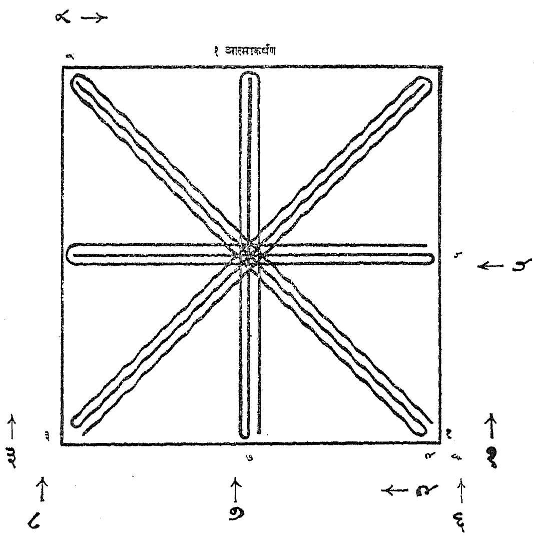
३. प्रायणीयेन प्रचरति । श० ब्रा० ७.१.४.२ ।

४. द्रोणचितं वा, रथचक्रचितं वा, कङ्कचितं वा, प्रउगचितं बोभयतः प्रउगं वा । समूह्यपुरीषं वा० । श० ब्रा० ६.५.२.८. ।
 द्रोणचिद्रथचक्रचित्कङ्कचित्प्रउगचिदुभयतः प्रउगः समूह्यपुरीषः । का० श्रौ० १६.५.९ ।

५. औदुम्बरं भवति । आत्मानमेव विकृषति । अथैनान् विमुञ्चति ।
 श० ब्रा० ७.१.४.३;८;२१ ।
 सीरं युनक्त्यौदुम्बरम् । का० श्रौ० १७.२.७ ।

बैल का जोतना अपेक्षित नहीं है। उसके लिए मूँज की बनी हुई मजबूत, तेहरी डोरी अपेक्षित है। डोरी का एक छोर औदुम्बर काष्ठ के हल में और दूसरा छोर जूए में बाँधना चाहिए। बैलों के पैर अग्निक्षेत्र में न पड़ें। अपितु वे क्षेत्र से बाहर रहें और केवल लम्बी डोरी के आधार पर अग्निक्षेत्र को जोतना चाहिए। इसका प्रकार चित्र की रेखाओं से अवगत होता है।

अग्निक्षेत्र कर्षण



चित्र में १ से ४ अंक तक हल से एक रेखा करने का बोधक है। ५ से ८ तक के अंक दक्षिणावर्त्त तीन-तीन रेखा के बोधक हैं।

क्षेत्रसिञ्चन और अन्नवपन

अध्वर्यु कुशस्तम्ब को आत्मा के मध्य में रखे[१]। आज्य से कुशस्तम्ब पर आहुति करे। जोते हुए स्थान पर औदुम्बर के चमसपात्र से जल छोड़े[२]। एक अन्न को छोड़कर शेष अन्न आत्मा पर छोड़े[३]। छोड़े हुए एक अन्न को यजमान यावज्जीवन न खाय।

प्रतिप्रस्थाता उपरव प्रदेश पर सोमनिर्वाप करे। अध्वर्यु तुषविमोकान्त आतिथ्येष्टि करे। ईशानकोण से प्रारम्भ करके आत्मा के चारों ओर मिट्टी के ढेले रखे। शम्या लेकर चात्वाल का मानादि कृत्य करे। आतिथ्येष्टि समाप्त करके प्रवर्ग्य और उपसदिष्टि करे। सोमक्रयणादि का विधान सम्पन्न करे।

प्रथम प्रस्तार चयन

सुब्रह्मण्याह्वान होने पर अन्तःपात्य प्रदेश में गोचर्म पर प्रथमचिति की समस्त इष्टकाएँ रखे[४]। अन्य चितियों के स्वयमातृण्णा नामक कङ्कड़ भी रखे। इससे पूर्व में अश्व को उपस्थित करे। दर्भ को घी में डुबोकर इष्टकाओं पर रखे। सब लोग मिलकर चर्म सहित इष्टकाओं को चयनीयस्थान से पूर्व में रखें। आत्मा और उत्तरपक्ष की सन्धि स्थान से घोड़े को चितिस्थान पर ले जाय और कर्षणक्रम से घुमावे। घोड़े को ईशान में छोड़ दे।

अध्वर्यु पूर्वाभिमुख होकर पूर्वस्थापित कुशस्तम्ब पर पुष्करपर्ण रखे[५]। उस पर सुवर्णका रुक्म रखे[६]। रुक्म का उभरा भाग नीचे की ओर रहे। रुक्म के मध्य भाग पर हिरण्यपुरुष रखे[७]। हिरण्य पुरुष पर आज्याहुति करे। यजमान अपने वक्षस्थल को हिरण्यपुरुष पर झुकाकर दोनों हाथों को पूर्व में फैलावे। हिरण्यपुरुष का स्पर्श न हो।

यजमान के हाथ जहाँ तक पहुँचे हों वहाँ चिह्न करके दोनों स्रुचियाँ रखे[८]। श्रीपर्णी काष्ठ की स्रुची में घी भर कर दक्षिण में और औदुम्बरी स्रुची में दही भरकर उत्तर में रखे।

---

१. दर्भस्तम्बमुपदधाति । श० ब्रा० ७.२.१.१ । कुशस्तम्बमुपदधाति मध्ये तूष्णीम् । का० श्रौ० १७.३.१ ।

२. उदचमसान्निनयति । आपो वै वृष्टिः, वृष्टिमेवास्मिन्नेतद्दधाति, औदुम्बरेण चमसेन । श० ब्रा० ७.२.२.१;२ ।

३. सर्वौषधं वपति । श० ब्रा० ७.२.२.१३ । तस्मिन्त्सर्वौषधमावपत्येकवर्जमभोजनं तस्योच्छ्वासात् । का० श्रौ० १७.३.६-७ ।

४. चर्मणि प्रथमचितेरिष्टका निदधाति । दे० प० पृ० ५४५ ।

५. आहवनीय एव पुष्करपर्णमुपदधाति । श० ब्रा० ७.२.३.९ ।

६. यह वही रुक्म है, जिसे यजमान ने पहना था । रुक्ममुपदधाति । श० ब्रा० ७.३.१.१० ।

७. रुक्ममध्ये हिरण्मयपुरुषस्योपधानम् । श० ब्रा० हि० भा० ७.३.१.१५ ।

८. काष्मर्यमयीं दक्षिणत उपदधाति । औदुम्बरीमुत्तरतः । श० ब्रा० ७.३.१.३७;३८ ।

स्वयमातृण्णासंज्ञक छेदवाला कङ्कड़ हिरण्यपुरुष पर रखे[१]। पुरुष के निकट शैवाल रखकर उस पर कूर्म रखे[२]। कूर्म को पृषदाज्य लगाकर शैवाल से ढँक दे। अनूक से उत्तर में उलूखल और मूसल रखे[३]। उलूखल के ऊपर उखा रखे[४]। उखा में आवश्यक मिट्टी भरकर उस में पशु का सिर रखे[५]। यदि पाँच सिर वाले पक्ष का आश्रयण किया हो तो पुरुष का सिर मध्य में और अश्व, गौ, अज और अवि, के सिर ईशान कोण से प्रारम्भ करके प्रदक्षिणक्रम से चारों विदिशा में चार सिर रखे[६]। सिर के मुँह, दो कान, दो नाक के छिद्रों में और दो आँखों में सुवर्णखण्ड रखे[७]। सिर का उपस्थान करे। आत्मा के पूरे प्रदेश में यथाविधि इष्टकाओं का चयन करे। आत्मा के बाद दक्षिणपक्ष, पुच्छ और वामपक्ष पर इष्टकाओं का चयन करे[८]।

प्रथमप्रस्तार की इष्टकाएँ

यह पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक प्रस्तार में लोकम्पृणा और यजुष्मती संज्ञक इष्टकाएँ जमायी जाती हैं। उन्हीं का विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

यजुष्मती इष्टकाएँ (मन्त्रमूलक)

द्वियजुः १	रेतस् २
विश्वज्योति १	ऋतव्या २
अषाढा १	अपस्या २०
प्राणभृता ५०	योग ७७

यजुष्मती इष्टकाएँ (मानमूलक)

पद्या ७१	अर्धपद्या ४	पादोनपद्या २
		योग ७७

---

१. स्वयमातृण्णामुपदधाति। श० ब्रा०। ७.३.२.३।

२. कूर्ममुपदधाति। श० ब्रा० ७.४.१.१। कूर्मं दधिमधुघृतैरनक्ति। का० श्रौ० १७.४.२७।

३. उलूखल और मुसल को आवश्यकतानुसार जमीन में इतना गाड़ देना चाहिए कि उनपर उखा को रखने पर उखा सीधी रह सके। अथोलूखलमुसले उपदधाति।
श० ब्रा० ७.४.१.१२।
औदुम्बरं चोलूखलमुसलम्। बौ० श्रौ० २२.६।

४. उखामुपदधाति। श० ब्रा० ७.४.१.२७। उलूखले उखां कृत्वा। का० श्रौ० १७.५.४।

५. पशुशीर्षाण्युपदधाति। श० ब्रा० ७.४.२.१।

६. तत उत्तरपूर्वकोणेऽश्वस्य शिर उपदधाति। दे० प० पृ० ५५१।

७. प्रतिशिरः सप्त सप्त हिरण्यशकलान्मुखे करोति। नासिकयोः। अक्ष्योः।
श्रोत्रयोः। सर्वानप्येकस्मिन्। का० श्रौ० १७.५.७-१२।

८. अभ्यात्मं चयनं कुर्वन्। दक्षिणपक्षं० पुच्छं० उत्तरपक्षम्। दे० प० पृ० ५५८।

लोकम्पृणा इष्टकाएँ

पद्या २३८	अर्धपद्या ४१	पादभागा १६५०
		योग १९२९

गार्हपत्य की इष्टकाएँ

पद्या ७	अर्धपद्या २	वक्रा ८
अर्धबृहती ४		योग २१
		महायोग २०२७

इन इष्टकाओं से बने हुए प्रथम प्रस्तार के लिए चित्र देखें।

सन्धिपूरण

उपर्युक्त इष्टकाओं का उपधान हो जाने पर उपधान क्रम से इष्टकाओं की सन्धि को मिट्टी से सम करना चाहिए[1]। प्रातःकाल और सायंकाल की उपसदिष्टि के मध्य में चिति का चयन होता है[2]। चिति पर अग्नि रखने तक प्रत्येक उपसदिष्टि में अश्व से चिति की तीन प्रदक्षिणा करावे[3]। प्रत्येक प्रस्तार के चयन के अन्त में उस प्रस्तार की अवशिष्ट इष्टकाओं को तोड़कर फेंक देना चाहिए।

---

१. मध्ये पुरीषं निवपति पूर्ववत्। का० श्रौ० १७.६.९।

२. उपसत्सु पौर्वाह्णिक्यापराह्णिक्यमन्तरे चयनपुरीषनिवपने। का० श्रौ० १७.७.३।

३. अश्वपरिणयनमग्निनिधानं यावद् भवति। दे० प० पृ० ५५९।

द्वितीय प्रस्तार का चयन

प्रथम प्रस्तार का चयनविधान समाप्त होने पर उसी समय द्वितीयप्रस्तार का चयन करे[1]। नाप में पाँचों प्रस्तार समान होते हैं। केवल इष्टकाएँ, उनका मान और इष्टकोपधान का क्रम भिन्न होता है।

द्वितीय प्रस्तार की इष्टकाएँ

प्रथम प्रस्तार की इष्टकाओं की तरह द्वितीय प्रस्तार की इष्टकाएँ इस प्रकार होती हैं।

यजुष्मती इष्टकाएँ (मन्त्रमूलक)

आश्विनी ५	ऋतव्या २
वैश्वदेवी ५	प्राणभृता ५
अपस्या ५	वयस्या १९
	योग ४१

यजुष्मती इष्टकाएँ (मानमूलक)

पद्या १४	अर्धपद्या ८
जंघामात्री २	अध्यर्धा १७
	योग ४१

लोकम्पृणा इष्टकाएँ

पद्या २४	अर्धपद्या १४
पादभागा १८०५	जंघामात्री २२
त्रिग्राहिणी ३४	अध्यर्धा ४५
अर्धभागा ६	योग १९५०
	महायोग १९९१

द्वितीय प्रस्तार का चयन करके अपराह्ण में तानूनप्त्र विधान और व्रतप्रदान करे[2]। इतना होने पर सायङ्कालीन उपसदिष्टि करके उस दिन का कार्यक्रम समाप्त होता है।

---

१. द्वितीयां चितिमुपदधाति। श० ब्रा० ८.१.५.१।

२. अपराह्णे सतानूनप्त्रं व्रतप्रदानम्। दे० प० पृ० ५६६।

तृतीय दिवस

प्रातःकालीन प्रवर्ग्य और उपसदिष्टि करके तृतीय प्रस्तार से पञ्चम प्रस्तार पर्यन्त तीनों प्रस्तारों का क्रमशः चयन करे।

तृतीय प्रस्तार का चयन

यजुष्मती इष्टकाएँ (मन्त्रमूलक)

दिश्या ५	विश्वज्योति १
ऋतव्या ४	प्राणभृता १०
छन्दस्या ३६	बालखिल्या १४
	योग ७०

यजुष्मती इष्टकाएँ मानमूलक

पद्या ५६	अर्धपद्या १०
अर्धोत्सेधा अर्धपद्या ४	योग ७०

लोकम्पृणा इष्टकाएँ

पद्या २३८	अर्धपद्या २०
पादभागा १६८८	बृहती ४
	योग १९५०
	महायोग २०२०

तृतीयप्रस्तार का यथाविधि चयन करके सन्धियों में मिट्टी भरकर भूमि समतल करनी चाहिए[1]। उपर्युक्त इष्टकाओं से बने हुए प्रस्तार के लिए चित्र देखें।

---

१. तृतीयां चितिमुपदधाति। श० ब्रा० ८.१.९.१।

तृतीय प्रस्तार का चयन करके उसी समय चतुर्थ प्रस्तार का चयन करना चाहिए[१]
चतुर्थप्रस्तार के उपयोग में आने वाली इष्टकाओं का विवरण इस प्रकार है।

चतुर्थ प्रस्तार का चयन

यजुष्मती इष्टकाएँ (मन्त्रमूलक)

स्तोम १८	ऋतव्या २
स्पृत् १०	सृष्टि १७
	योग ४७

यजुष्मती इष्टकाएँ (मानमूलक)

पद्या २७	अर्धपद्या १६
जंघामात्री ४	योग ४७

लोकम्पृणा इष्टकाएँ

पद्या २	अर्धपद्या २४
पादभागा १८०९	जंघामात्री २२
त्रिग्राहिणी ३६	अध्यर्धा ४९
अर्धपादभागा ६	बृहती २
	योग १९५०
	महायोग १९९७

१. चतुर्थी चितिमुपदधाति । श० ब्रा० हि० भा० ८.२.४.१ ।

पञ्चम प्रस्तार का चयन

चतुर्थ प्रस्तार के चयन के अनन्तर पञ्चम प्रस्तार का चयन करना चाहिए[1]। इस प्रस्तार की इष्टकाओं की संख्या में आठ धिष्ण्याओं की इष्टकाओं की संख्या भी सम्मिलित हैं।

यजुष्मती इष्टकाएँ (मन्त्रमूलक)

असपत्ना ५	विराजा ४०
स्तोमभागा[2] २९ + १ = ३०	नाकसदा ५
चूडा ५	गायत्री ३
त्रिष्टुप् ३	जगती ३
अनुष्टुप् ३	बृहती ३
उष्णिक् ३	ककुप् ३
पंक्ति ३	उदपंक्ति ३
अतिच्छन्दस् १	द्विपदा ३
गार्हपत्य १६	ऋतव्या २
विश्वज्योति १	योग १३४ + १ = १३५

यजुष्मती इष्टकाएँ (मानमूलक)

पद्या ७६	अर्धपद्या ३३
अर्धोत्सेधापद्या १४	अर्धोत्सेधा अर्धपद्या १२
	योग १३५

लोकम्पृणा इष्टकाएँ

पादभागा २२६६	अर्धपादभागा ६५६
धिष्ण्येष्टका ७८	योग ३०००
	महायोग ३१३५

---

१. पञ्चमीमुपदधाति । श० ब्रा० ८.३.२.१ ।
अथ पञ्चमीचितिरुच्यते । दे० प० पृ० ५७५ ।
पञ्चचितिकोऽग्निः । श० ब्रा० ८.४.५.९ ।

२. स्तोमभागा संज्ञक इष्टकाएँ २९ हैं । अन्य आचार्यों के मत से ३० होती हैं । यदि ३० का पक्ष ग्रहण किया हो तो उत्तरांस पर ७ स्तोम भागाएँ स्थापित होंगी ।
३० का पक्ष स्वीकृत किया जाय तो संख्यापूर्ति व्यवस्थित रूप से होती है । यहाँ ३० का आश्रयण किया है ।

समस्त इष्टकाओं का संकलन

(पाँचों प्रस्तारों की इष्टकाओं का संकलन)

प्रथम प्रस्तार की इष्टकाएँ, जिनमें गार्हपत्य की २१ इष्टकाएँ भी सम्मिलित हैं। २०२७

द्वितीयप्रस्तार की इष्टकाएँ १९९१

तृतीय प्रस्तार " " २०२०

चतुर्थप्रस्तार " " १९९७

पञ्चमप्रस्तार की इष्टकाएँ, जिनमें आठ धिष्ण्याओं की ७८ इष्टकाएँ भी सम्मिलित हैं। ३१३५

अतिरिक्त इष्टकाएँ पूर्वकथन के अनुसार २८

योग ११२९८

पाँचों प्रस्तारों की यजुष्मती और लोकम्पृणा प्रभृति इष्टकाओं की सङ्ख्या इस प्रकार है।

क्र०	प्रस्तार	यजु०	लोक०	अन्य	योग
१.	प्रथमप्रस्तार	७७	१९२९	२१	२०२७
२.	द्वितीयप्रस्तार	४१	१९५०	—	१९९१
३.	तृतीयप्रस्तार	७०	१९५०	—	२०२०
४.	चतुर्थप्रस्तार	४७	१९५०	—	१९९७
५.	पञ्चमप्रस्तार	१३४ + १ = १३५	२९२२	७८	३१३५
					२८
		३६९ + १ = ३७०	१०७०१	९९	११२९७ + १ =
				महायोग	११२९८

चित्युपस्थान

पञ्चम प्रस्तार का चयन हो चुकने पर यजमान चिति का उपस्थान करे। अध्वर्यु जलमिश्रित एकसहस्र सुवर्ण खण्ड से प्रत्येक प्रस्तार के निमित्त दो-दो सौ सुवर्णखण्ड से चिति का प्रोक्षण करे[1]।

---

१. हिरण्यशकलैः प्रोक्षति। द्वाभ्यां द्वाभ्यां शताभ्याम्। श० ब्रा० ८.४.५.८–९।

शतरुद्रिय हवन

उत्तरपक्ष के वायव्य कोण में जानुमात्री, नाभिमात्री और मुखमात्री इस प्रकार तीन परिश्रित (ढेला) रखे[1]। उनपर अग्नि रखे। गवेधुका (जंगली गेहूँ) और जर्तिल (जंगली तिल) ४०२५, चार मुट्ठी समन्त्रक ग्रहण करे। गवेधुका को भूनकर सत्तू बनावे। सत्तू और तिल को मिलाकर महापात्री में रखे। आहुति के निमित्त ८५० अवदान ग्रहण करे। दक्षिण हाथ में मदार का पत्ता और वामहस्त में हविर्द्रव्य ले। पहले जानुमात्री परिश्रित् पर आहुति करे। बायें हाथ के पात्र में से मदार के पत्ते पर हविर्द्रव्य गिराते हुए सतत आहुति करे[2]। अनन्तर नाभिमात्री और मुखमात्री परिश्रित् पर क्रमशः आहुति करे। पुनः प्रतिलोमक्रम से आहुति करे। प्रतिलोम क्रम से आहुति के लिए पहले मुखमात्री तब नाभिमात्री और अन्त में जानुमात्री परिश्रित् पर आहुति करे। अर्कपत्र को उत्कर में फेंक दे[3]। इष्टि समाप्त करे। अपाकरणादि करके बकरी के दूध का हवन करे, यह एक मत है। जैमिनी का भी यही मत है परन्तु इस मत में अपाकरण विधि और आहुति के लिए अर्कपत्र की अपेक्षा नहीं है। केवल दर्वि से दूध की आहुति देनी चाहिए।

आग्नीध्र दक्षिणपक्ष और आत्मा की सन्धि में (पश्चिम में) पाषाण रख कर जल-कुम्भ रखे। उसमें पानी भरे। कुम्भ के जल से तीन बार चिति की प्रदक्षिणा करे। प्रदक्षिणा पूरी चिति की करे और जल का सिञ्चन करता रहे[4]। अध्वर्यु उसी पाषाण को कलश में रखकर चिति से नैर्ऋत्य दक्षिण की ओर इस तरह फेंके कि अन्दर का पाषाण टूट जाय[5]। यदि फेंकने में पाषाण न टूटे तो उसे तोड़ दे। पीछे न देखते हुए देवयजन में लौटे। सायङ्कालीन प्रवर्ग्य, उपसदा और अश्वक्रमण करे।

अध्वर्यु एक बाँस में शैवाल, मेढक और बेंत को बाँधे। उसी बाँस से चिति पर सात रेखा करे[6]। मेढक छोड़ दे और बाँस को उत्कर में फेंक दे। चिति का स्पर्श करते हुए सामगान करे[7]। चिति के पूर्व में गायत्र साम, दक्षिणपक्ष पर रथन्तर साम, उत्तर पक्ष पर बृहत्साम, आत्मा की उत्तर श्रोणी पर वामदेव्यसाम, पुच्छपर यज्ञायज्ञियसाम और दक्षिण पक्ष से पश्चिम में प्रजापतिहृदय साम का क्रमशः गान करे। अध्वर्यु पञ्चगृहीत आज्य से चिति पर पाँच आहुति करे। दधि, मधु और घृत के मिश्रण में दर्भ को डुबोकर चितिपर छिड़के। अब से किसी को चिति पर चढ़ना हो तो समन्त्रक चढ़े और उतरे।

१. परिश्रित्सु जुहोति। जानुदघ्ने। नाभिदघ्ने। मुखदघ्ने। श० ब्रा० ९.१.१.१०–१३।

२. शतरुद्रियं जुहोति, अन्नमस्मै सम्भराम। जर्तिलैः। अर्कपर्णेन जुहोति। श० ब्रा० ९.१.१.१–४।

३. अर्कपर्णं चात्वाले प्रास्यति। श० ब्रा० ९.१.१.४२।

४. अग्नीत्परिषिञ्चति। श० ब्रा० ९.१.२.४।

५. तमश्मानमुदहरणेऽवधाय० नैर्ऋत्याम्० दक्षिणा निरस्यति। श० ब्रा० ९.१.२. ९,१२।

६. विकर्षति। मण्डूकेनावकया वेतसशाखया०। श० ब्रा० ९.१.२.२०।

७. सामभिः परिगायति। श० ब्रा० ९.१.२.३३।

प्रवर्ग्योत्सादन करे। पृश्नि संज्ञक पाषाण को पृष्ट्यासंलग्न रखे। पुनः उठाकर सुरक्षित रख दे। चिति पर समन्त्रक आरोहण करे। स्वयमातृण्णा पर अग्नि रखे। कृष्णा गौ के श्वेत वत्स का अपाकरण करे। उक्त गौ के दूध से हवन करने के निमित्त इष्टि का प्रारम्भ करे।

वैश्वानर मारुत हवि का आसादनक्रम

मा० ७ क० पु०	वै० १२ क० पु०	मा० ७ क० पु०
मा० ७ क० पु०		मा० ७ क० पु०
मा० ७ क० पु०		मा० ७ क० पु०
	मा० ७ क० पु०	

इस इष्टि में उपर्युक्त क्रम से वेदि में हवि का आसादन होना चाहिए।

वसोर्धाराहवन

यजमान प्रचुर आज्य का, बड़े स्रुवा और स्रुची का संस्कार करके वाजश्च म० इत्यादि आठ अनुवाक के मन्त्रों से आहुति करे[1]। यजमान चार सौ एक त्याग करे। अनन्तर भाष्योक्त मन्त्रविभागानुकूल आहुति करे। स्रुची को अग्नि में छोड़ दे।

वाजप्रसवीयहवन

इष्टि का प्रारम्भ करे। चार-चार करके चौदह बार हविर्ग्रहण करे। औदुम्बर पात्र में आटे से अन्तराल करे। एक भाग में जल भरे। दूसरे भाग में सब प्रकार के अन्न छोड़े। उसी-तरह दूध में सब प्रकार के अन्न छोड़े। औदुम्बर स्रुवा से दूध, जल और धान्य के मिश्रण की सात आहुति करे[2]। अनन्तर अन्न से सात आहुति करे। इष्टि की समाप्ति करे। औदुम्बर स्रुवा को अग्नि में छोड़ दे।

यजमान का अभिषेक

चिति के पुच्छपर कृष्णाजिन बिछाकर यजमान बैठे। अध्वर्यु चमसपात्र के जल और धान्य से यजमान का अभिषेक करे[3]। अभिषेक के अनन्तर चमसपात्र को अग्नि में छोड़ दे। पहले से सुरक्षित पृश्न्यश्मा को चिति पर रखे।

पार्थाहुति और राष्ट्रभृत् हवन

अध्वर्यु आज्य से पार्थाहुति करे। राष्ट्रभृत् हवन करे[4]।

पञ्चवातीय हवन

ऋत्विज लोग मिलकर चिति के अग्नि पर रथ को उठाये रहें। अध्वर्यु आज्य से रथ के मस्तक पर (अग्रभाग पर) आहुति करे[5]। रथ को लाकर वेदि में पूर्वाग्र रखे। अध्वर्यु

१. वसोर्धारां जुहोति। श० ब्रा० ९.२.४.१।

२. वाजप्रसवीयं जुहोति। श० ब्रा० ९.३.२.१

३. अथैनं कृष्णाजिनेऽभिषिञ्चति। श० ब्रा० ९.३.२.१०।

४. राष्ट्रभृतो जुहोति। राजानो वै राष्ट्रभृतस्ते हि राष्ट्राणि बिभ्रति। श० ब्रा० ९.३.३.१।

५. रथशीर्षे जुहोति। श० ब्रा० ९.३.३.१३।

अञ्जलि में वायु लेकर रथ के धुरे पर वायु की आहुति करे[1]। अनन्तर रुङ्मरुतीसंज्ञक और वारुणी संज्ञक हवन करे[2]।

धिष्ण्याचयन

यहाँ पर अध्वर्यु क्रमशः आग्नीध्र, होता, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक और मार्जालीय धिष्ण्याओं का इष्टकाओं से यथाविहित चयन करे[3]।

धिष्ण्याओं की इष्टकाओं का विवरण

होतृधिष्ण्या	ब्राह्मणाच्छंसिधिष्ण्या
३ पादभागा	७ पादभागा
६ अर्धपादभागा	४ अर्धपादभागा
१२ चतुर्भागा	योग ११
योग २१	

आग्नीध्र, मैत्रावरुण, पोतृनेष्टृच्छावाकधिष्ण्या	मार्जालीयधिष्ण्या
५ अर्धपद्या	३ अर्धपद्या
३५ पादभागा	३ पादभागा
योग ४०	योग ६
	महायोग ७८

समस्त धिष्ण्याओं की संख्या आठ हैं। इनमें पाँच धिष्ण्या की इष्टकाएँ समान हैं। एतदर्थ पाँचों की संख्या एक साथ लिखी हैं। इन धिष्ण्याओं की इष्टकाओं की संख्या चिति के पञ्चमप्रस्तार की इष्टकाओं की संख्या में सम्मिलित हैं। धिष्ण्याओं का नाप अठारह अङ्गुल चतुरस्र और छ अङ्गुल ऊँचा होता है। प्रत्येक दो धिष्ण्याओं की दूरी अठारह अङ्गुल होनी चाहिए। इन्हें चित्र में देखें।

---

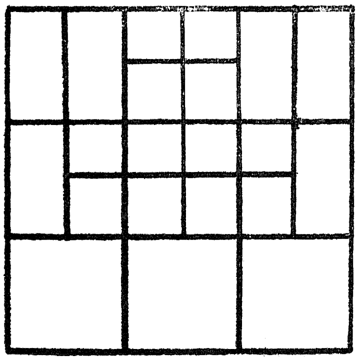
१. अथ वातहोमाञ्जुहोति। श० ब्रा० ९.३.४.१।
त्रीणि वातनामानि जुहोति। आप० श्रौ० १७.२०.११।

२. रुङ्मरुतीर्जुहोति। वारुणीं जुहोति। श० ब्रा० ९.३.४.१२;१५।

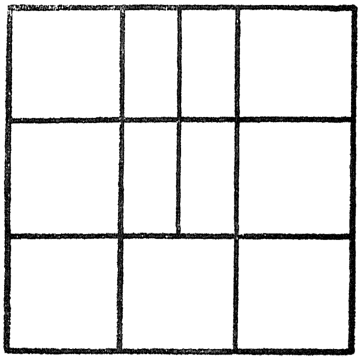
३. धिष्ण्यानां काले धिष्ण्यान्निवपति। श० ब्रा० ९.३.५.१।

धिष्ण्याचयन

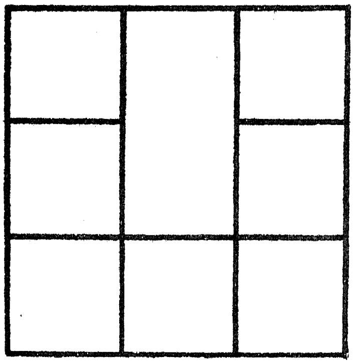
१ होतृधिष्ण्या



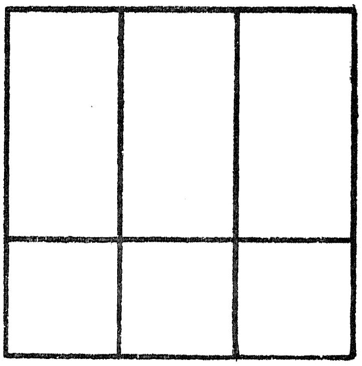
१ ब्राह्मणाच्छंसिधिष्ण्या



–५ प्रशास्तृपोतृनेष्ट्रच्छावाकाग्नीध्रधिष्ण्या



१ मार्जालीयधिष्ण्या



राजसूययाग में कथित क्रमानुसार यहाँ भी देवसू हवि तैयार करे। पशुपुरोडाश तैयार करे। पशुपुरोडाश का याग करे। उपांशुधर्म से देवसूहविर्याग करे। अध्वर्यु बायें हाथ में स्रुची लेकर यजमान के निकट बैठे। दाहिने हाथ से यजमान की बाहु पकड़कर मन्त्रपाठ करे। सवनीययाग करे[1]।

अग्निनियोजन

अध्वर्यु प्रातरनुवाक के उपाकरण से पूर्व मध्यम परिधि को छूकर अग्निनियोजन विधान करे[2]।

दक्षिणादान

यजमान प्रकृतिवत् दक्षिणादान करे। यागसम्बन्धी दक्षिणा दान के अनन्तर कर्षण के निमित्त हल में जोते हुए बैल, वातहोम वाला रथ और तीन अश्वों को सङ्कल्पपूर्वक अध्वर्यु को दे[3]। यह पहले कहा जा चुका है कि यह अग्निचयन विधान अनेक यागों में विहित है। यहाँ पर अग्निष्टोमयाग में अग्निचयन कहा है। एतदर्थं इस में होने वाले शेष विधानों को यथासमय करते रहना चाहिए। अन्त में मैत्रावरुणीपयस्या याग करके अग्निचयन याग की समाप्ति करे।

अग्निचिद्याजी के लिए नियम

आहिताग्नि को अग्निचयनयाग करने के अनन्तर सौत्रामणीयाग करना चाहिए। उसे बरसते पानी में कहीं न जाना चाहिए। पक्षी का मांस न खाय। प्रथम अग्निचयन करने के अनन्तर शूद्रा स्त्री का संसर्ग न करे। द्वितीय चयनयाग करने पर सवर्ण से इतर स्त्री का संसर्ग न करे। तृतीयचयनयाग कर लेने पर सवर्ण स्त्री का भी संसर्ग छोड़ दे और ब्रह्मचर्य का पालन करे। इस व्रत का पालन यावज्जीवन करना चाहिए। यदि यह सम्भव न हो सके तो एक वर्ष तक इन नियमों का पालन अवश्य करना चाहिए[4]।

पहले सुपर्णचिति का विवरण दिया गया है। उसके सिवाय भी कुछ चितियाँ श्रौतसूत्रों में पायी जाती हैं। उनकी इष्टकाएँ एवं इष्टकाओं की सङ्ख्या भिन्न हैं। उसी तरह चितियों का आकार भी सुपर्णचिति से सर्वथा भिन्न है। कामना विशेष के अनुसार उनका चयन किया जाता है। संक्षेप में उनका परिचय निम्नाङ्कित है[5]।

---

१. अध्वर्युर्यजमानसमीपे स्रुचौ सव्ये हस्ते कृत्वा दक्षिणेन हस्तेन यजमानस्य दक्षिणं बाहुं गृहीत्वा जपति। दे० प० पृ० ६०७।
सविता त्वा सवानाम्। शु० य० ९.३९–४०।

२. प्रातरनुवाकमुपाकरिष्यन्नग्निं युनक्ति। श० ब्रा० ९.४.१.१.।

३. प्राकृतदक्षिणादानानन्तरं० अनडुहाम्० त्रयाणामश्वानां चाध्वर्यवे दानम्। दे० प० पृ० ६०८।

४. देवे वर्षति सति इतस्ततो गमनं न कुर्यात्। पक्षिणो मांसं नाश्नीयात्।
प्रथमेऽग्निचयने कृते शूद्रां भार्यां नोपेयात्। द्वितीये चयने कृते स्वसमानवर्णाया एव। तृतीय-चयनानन्तरं ब्रह्मचार्येव भवेत्। दे० प० पृ० ६१०।

५. काम्यानग्नीन्व्याख्यास्यामः। स० श्रौ० १२.८.१।

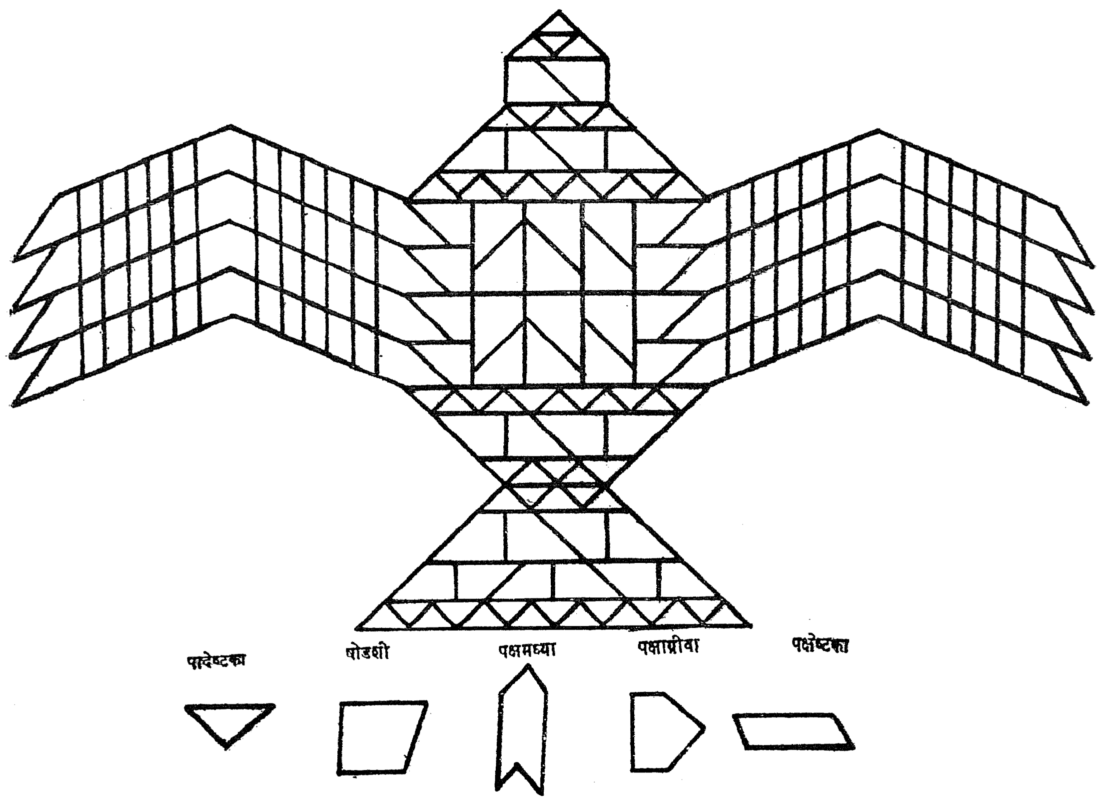
श्येनचिति

स्वर्गप्राप्ति की कामना से श्येनचिति का चयन करने को कहा है[1]। इस चिति का आकार श्येनपक्षी की तरह होता है। इसके पाँच प्रस्तार होते हैं। प्रत्येक प्रस्तार में सिर, आत्मा, दो पक्ष और एक पुच्छ होता है। इसके पक्ष वक्राकृति होते हैं। एक प्रस्तार में दो सौ इष्टकाएँ होती हैं। इस प्रकार पाँचों प्रस्तार अथवा पूर्णचिति की इष्टकाओं की संख्या एकसहस्र होती है। एतदर्थ आगे चित्र देखें।

---

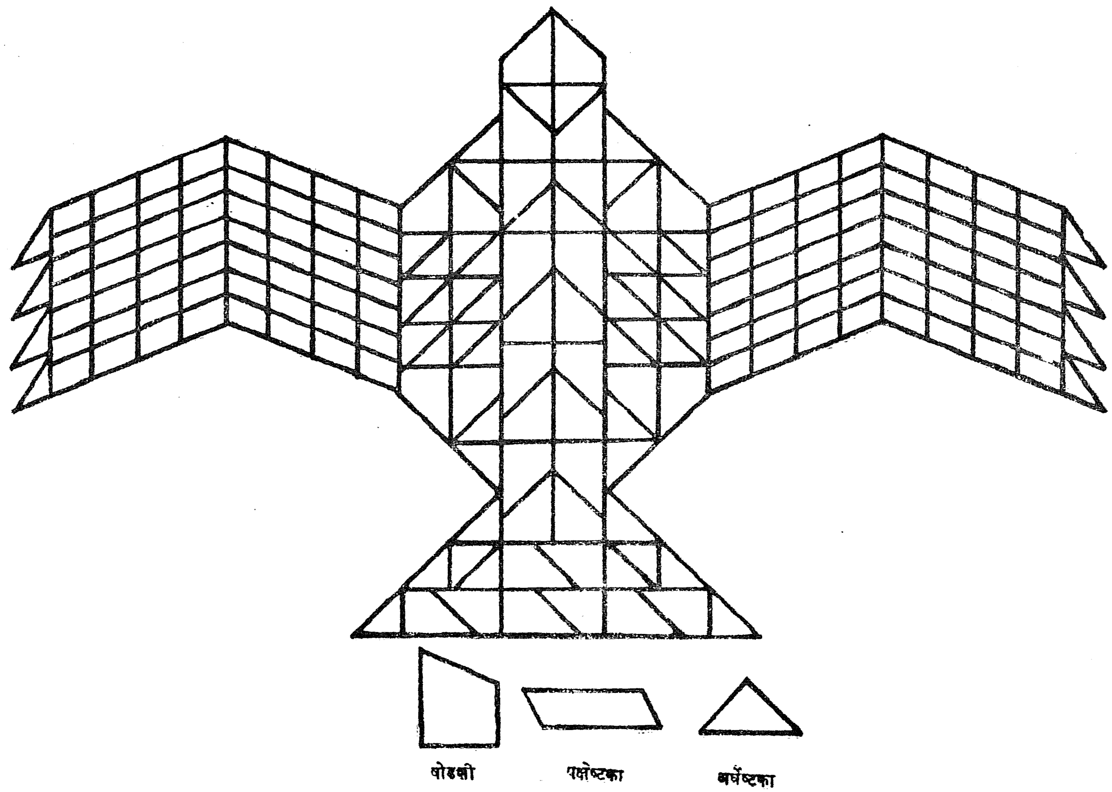
१. द्रोणचितं वा, रथचक्रचितं वा, कङ्कचितं वा, प्रउगचितं वा, उभयतः प्रउगं वा समुह्यपुरीषं वा। श० ब्रा० ६.५.२.८। द्रोणचिद्रथचक्रचित्कङ्कचित्प्रउगचिदुभयतः प्रउगः समुह्यपुरीषः। का० श्रौ० १६.५.९। श्येनचितिं चिन्वीत सुवर्गकामः। श्येनो वै वयसां पतिष्ठः श्येन एव भूत्वा सुवर्गलोकं पतति। तै० सं० ५.४.११। श्येनचितं चिन्वीत सुवर्गकामः० वक्रपक्षो व्यस्तपुच्छः श्येनाकृतिर्भवति। स० श्रौ० १२.८.३।

श्येनचिति
प्रथमप्रस्तार

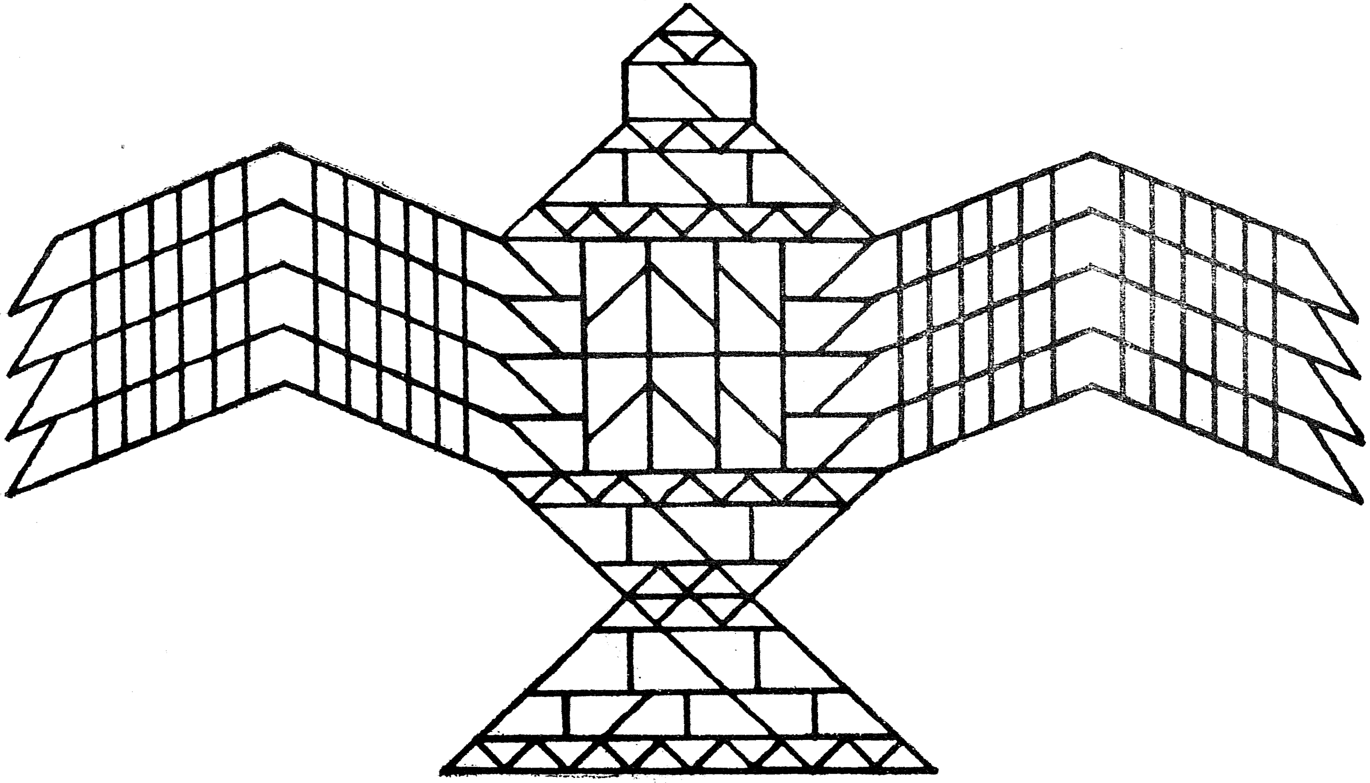


श्येनचिति

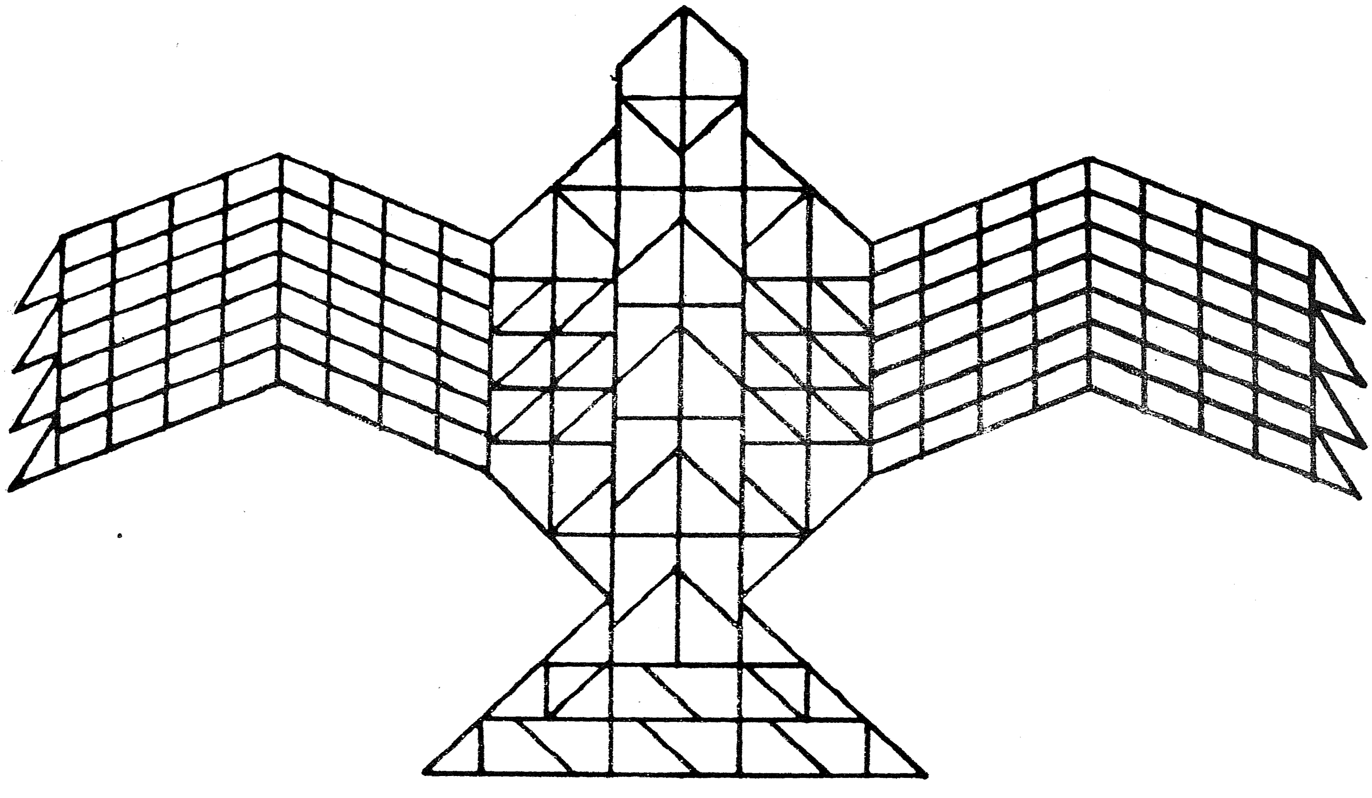
द्वितीयप्रस्तार



श्येनचिति
तृतीयप्रस्तार

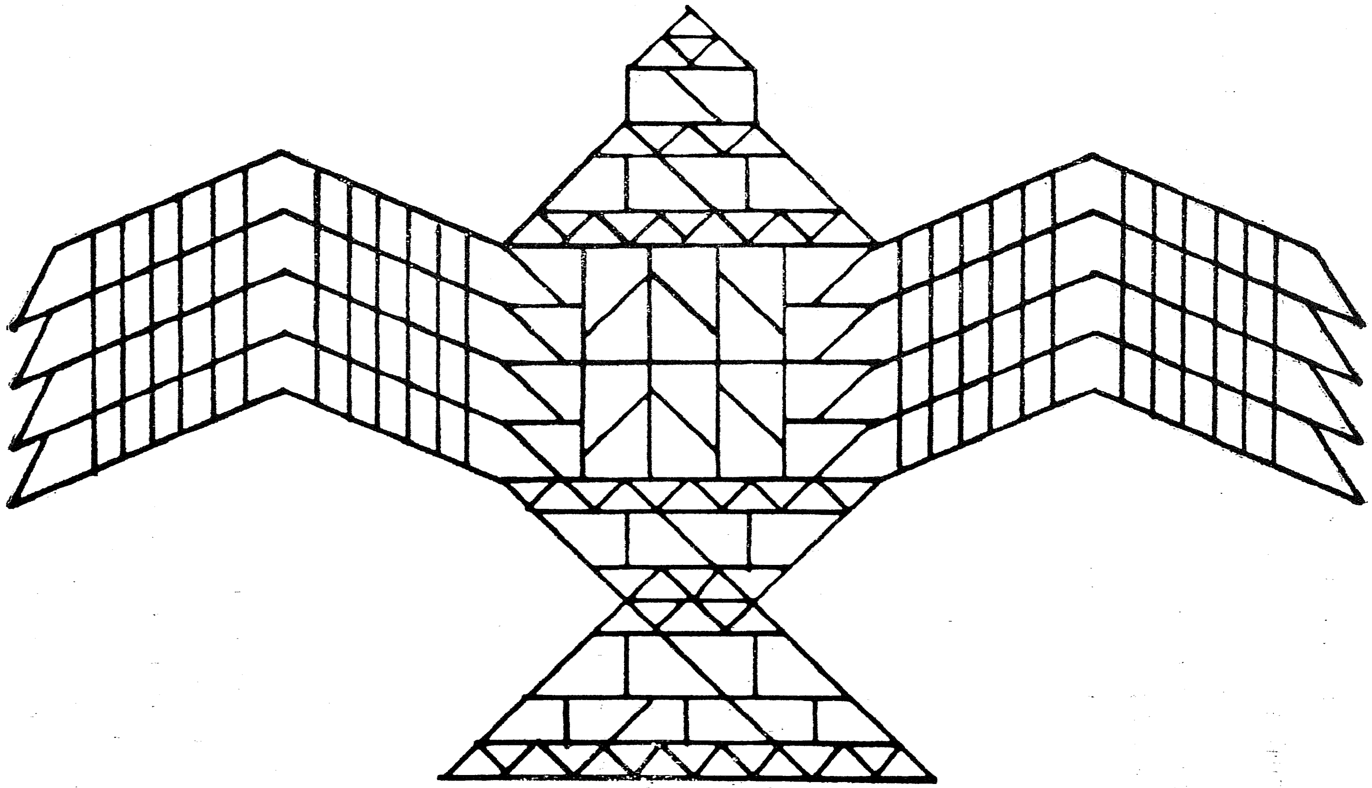


श्येनचिति
चतुर्थप्रस्तार



श्येनचिति

पञ्चमप्रस्तार



चतुरस्रश्येनचिति के दो प्रस्तार उपलब्ध हुए हैं। चित्र आगे देखें।

द्रोणचिति

अन्न की कामना से द्रोणचिति के चयन का विधान है[१]। द्रोण में अन्न भरा जाता है। इसी आधार पर उपर्युक्त कामना से इसका चयन कहा है चित्र आगे देखें।

रथचक्रचिति

शत्रु द्वारा आक्रान्त आहिताग्नि को इस चिति का चयन करना चाहिए[२]। इसका आकार रथ के चक्र के समान वृत्ताकार होता है। चित्र आगे देखें।

प्रउगचिति

शत्रु से घिरा हुआ व्यक्ति इस प्रउगचिति का चयन करे[3]। इसका आकार शकट के अगले हिस्से सा होता है। चित्र आगे देखें।

उभयतः प्रउगचिति

उत्पन्न शत्रु के नाश और भविष्य में उत्पन्न होने वाले शत्रु के रोक की कामना हो तो इस चिति का चयन करे[४]। पहली प्रउग चिति पूर्वाग्र होती है। उस प्रउगचिति में एक दूसरी पश्चिमाग्र प्रउगचिति को जोड़ने से जो आकार होगा वैसी उभयतः प्रउगचिति होती है।

पशु की कामना से इस समूह्यपुरीषचिति का चयन होता है[५]। इसमें इष्टका-स्थानीय मिट्टी के ढेले रखे जाते हैं। कुछ ईंट रखने का प्रकार भेद करके परिचाय्य और सपरिचाय्योपचाय्य ये दो चितियाँ ग्रामकामना हो तो करे।

---

१. द्रोणचितं चिन्वीतान्नकामो, द्रोणे वा अन्नं भ्रियते सयोन्येवान्नमवरुन्धे।
तै० सं० ५.४.११।

२. रथचक्रचितं चिन्वीत भ्रातृव्यवानिति परिमण्डलो भवति। स० श्रौ० १२.८.८।

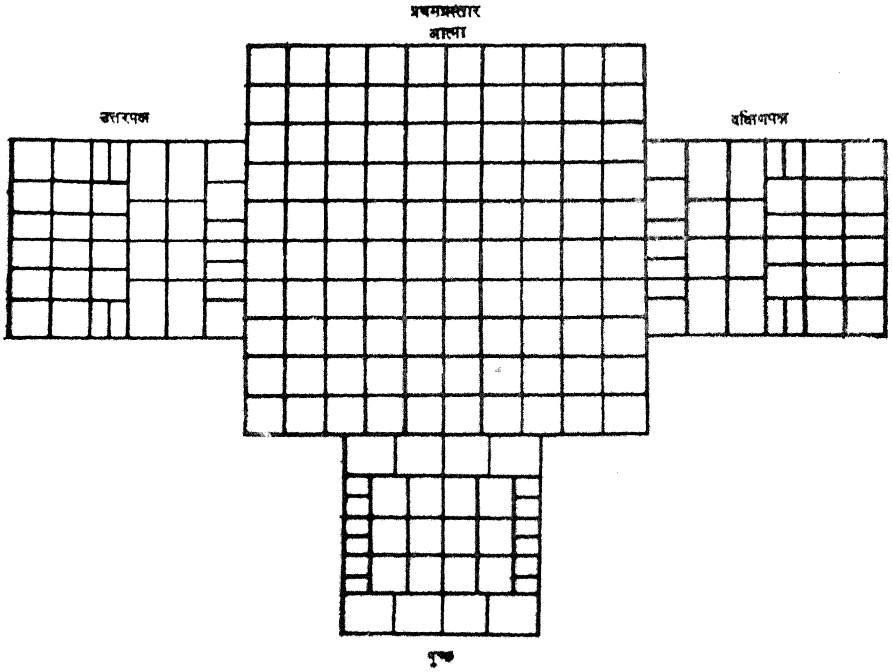
३. प्रउगचितं चिन्वीत भ्रातृव्यवान्। स० श्रौ० १२.८.६।

४. उभयतः प्रउगं चिन्वीत यः कामयेत प्रजातान्भ्रातृव्यान्नुदेय प्रतिजनिष्यमाणानित्युभयतः शकटाकृतिर्भवति। यथा विमुखे शकटे। स० श्रौ० १२.८.७।

५. समूह्यं चिन्वीत पशुकाम इति समूहन्निवेष्टकामुपदधाति। स० श्रौ० १२.८.११।

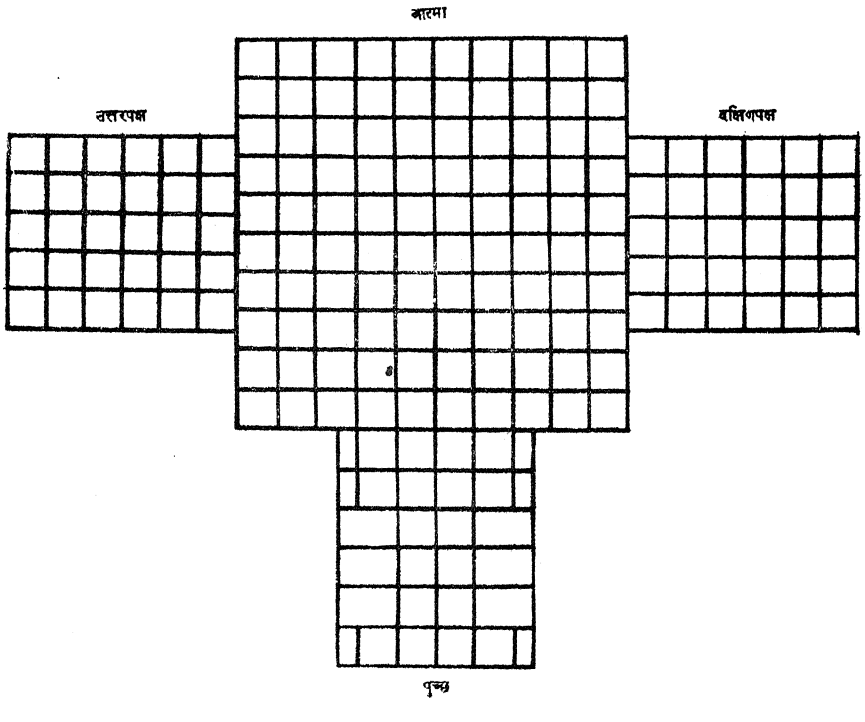
चतुरस्रश्येनचित्

प्रथमप्रस्तार



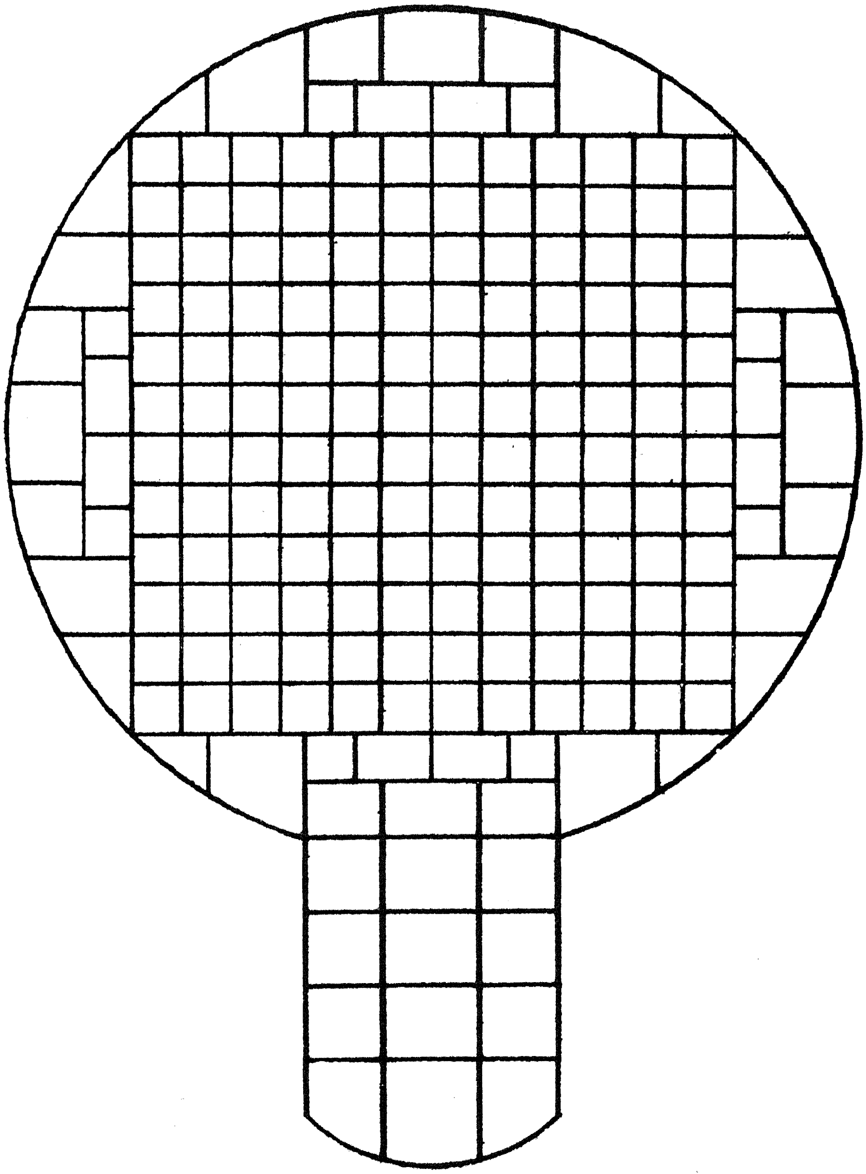
चतुरस्रश्येनचिति

द्वितीयप्रस्तार



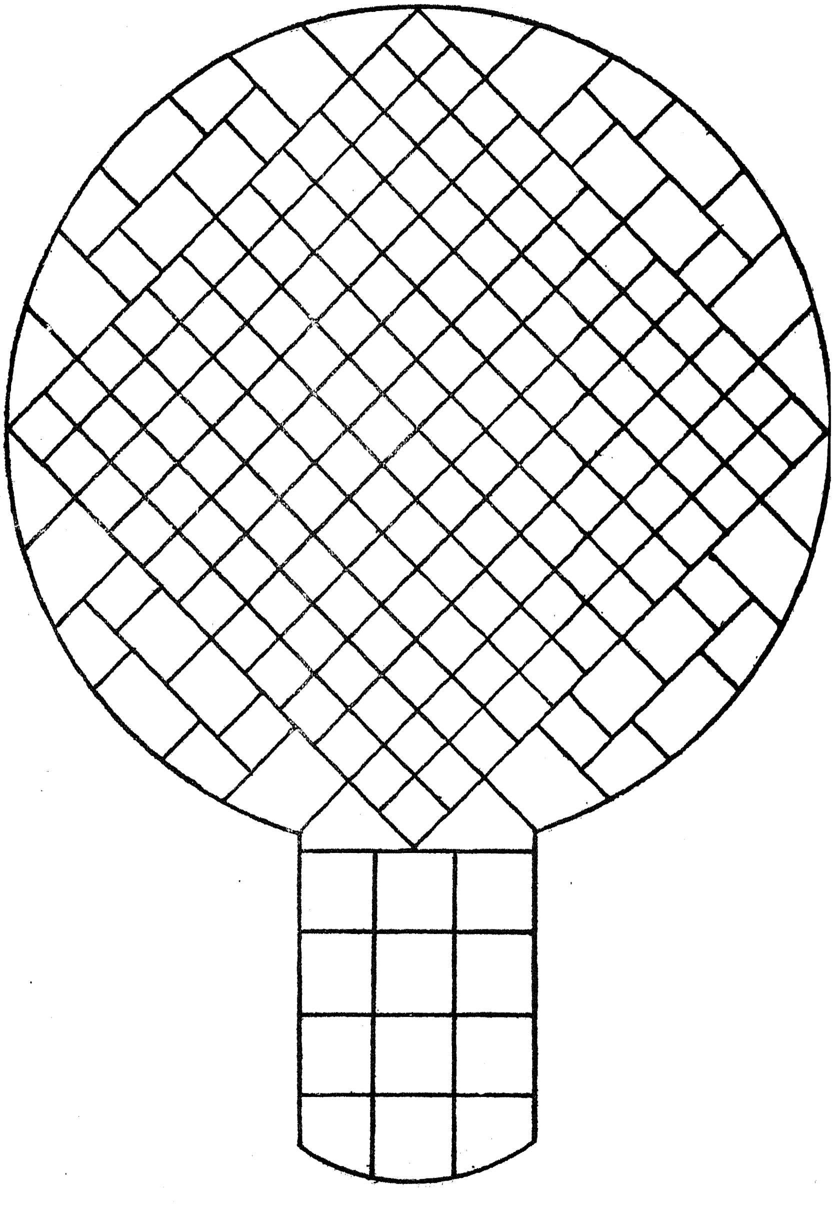
परिमण्डलद्रोणचिति

प्रथमप्रस्तार



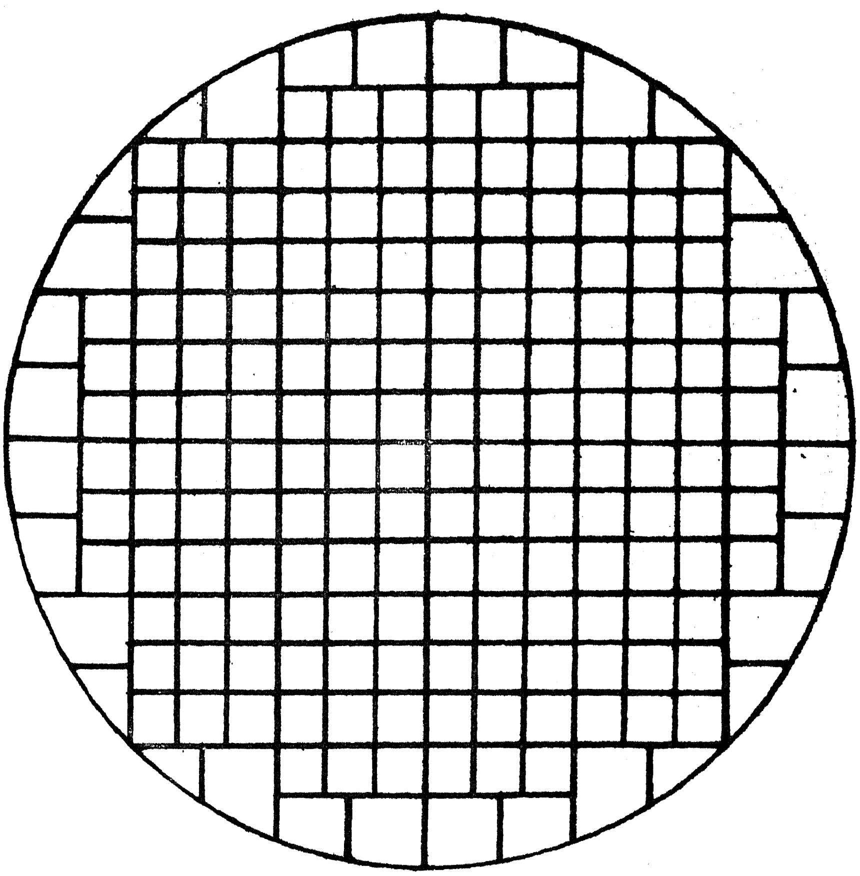
परिमण्डलद्रोणचिति

द्वितीयप्रस्तार

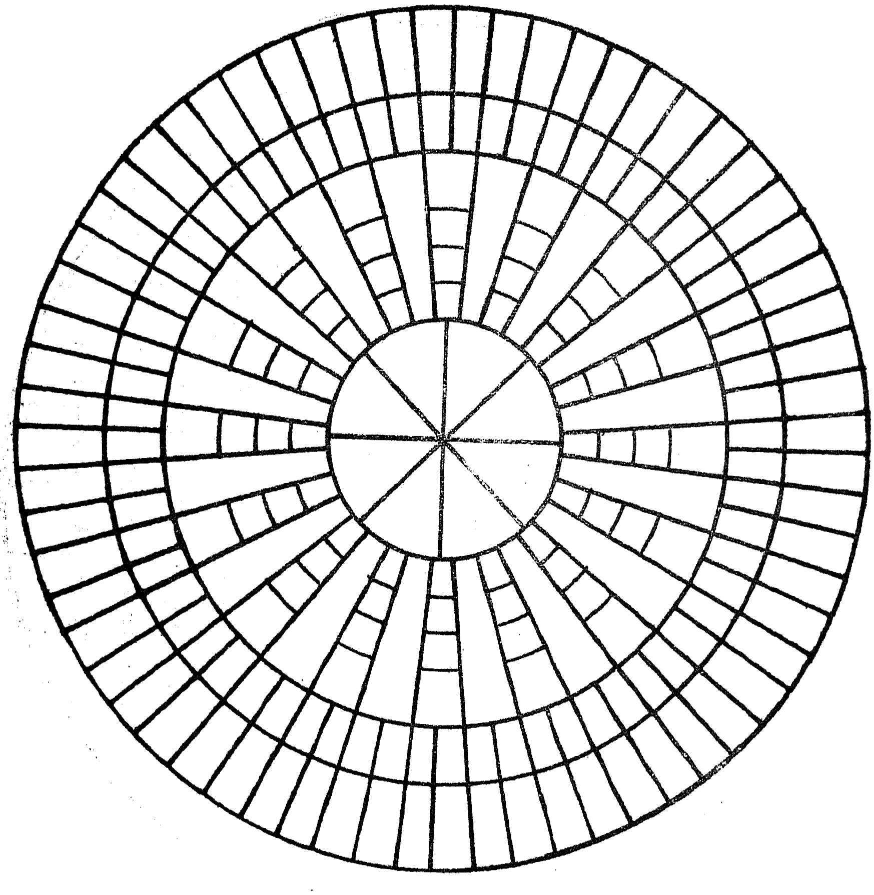


रथचक्रचिति

प्रथमप्रस्तार

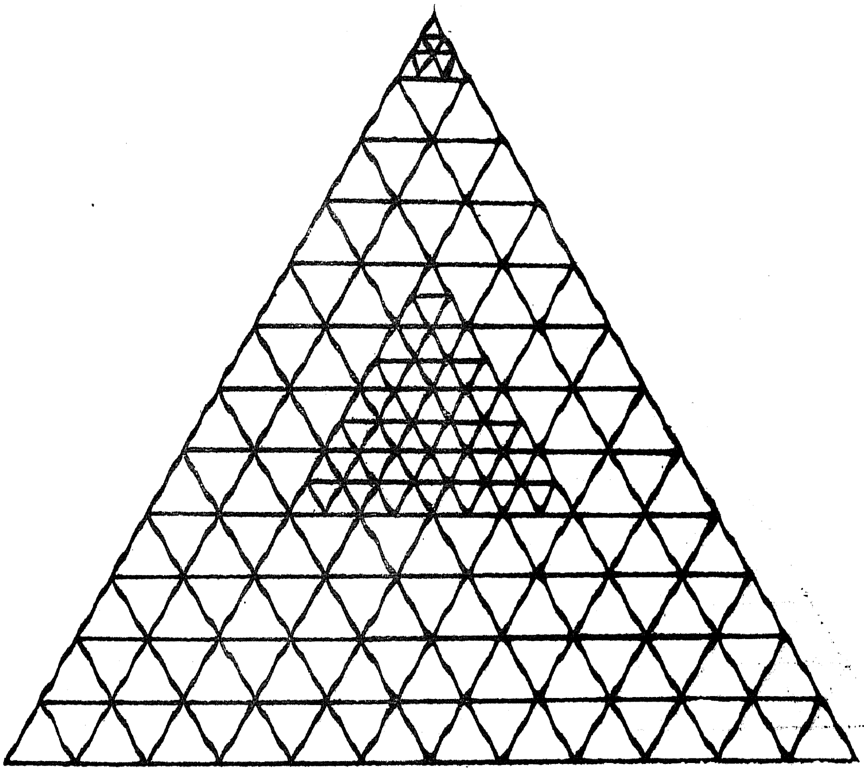


रथचक्रचिति



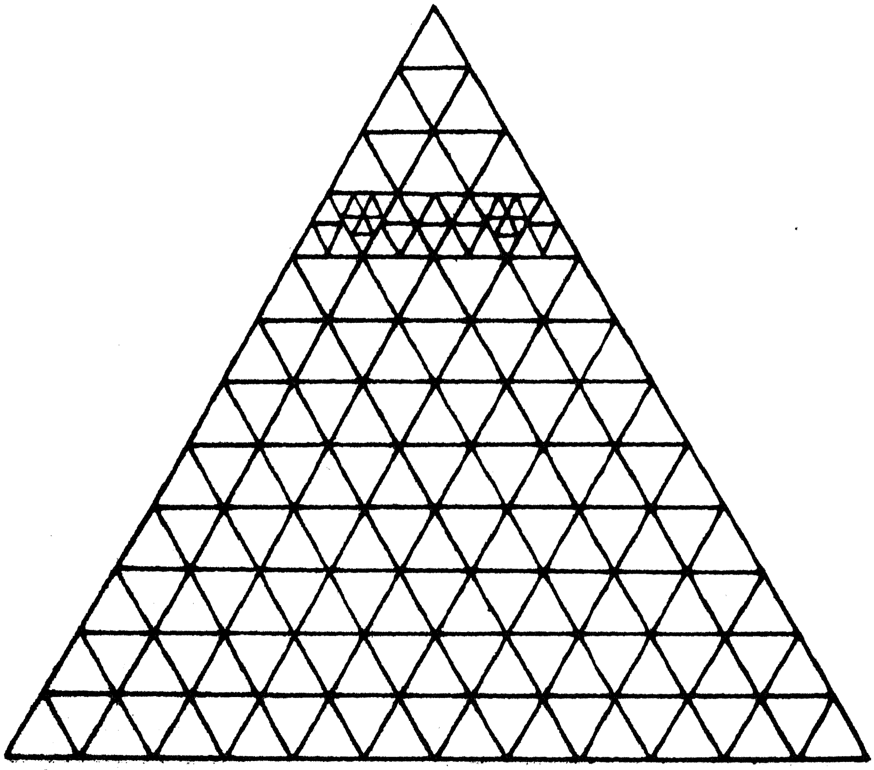
प्रउगचिति

प्रथमप्रस्तार



प्रकर्षचिति

द्वितीयप्रस्तार



नवमाध्याय

याग

'जसूययाग : पवित्रसोमयाग....इन्द्रतुरीययाग....अपामार्गहवन....रत्नहविर्याग.....देवसूहविर्याग ....अभिषेकजल....वरयाचना....संसृपाहविर्याग....दशपेययाग.....प्रयुग्घविर्याग.... केशवपनीय अतिरात्रयाग....व्युष्टिद्विरात्रयाग ।

राजसूययाग

राजसूययाग एक विशिष्ट याग है। इसको सर्वप्रथम राजा हरिश्चन्द्र ने वरुण से प्राप्त किया था। हरिश्चन्द्र कृत राजसूययाग में विश्वामित्र होता, आङ्गिरस उद्गाता और जमदग्नि अध्वर्यु थे, यह प्रसिद्ध आख्यायिका है[1]।

इस याग को केवल क्षत्रिय राजा ही कर सकता है[2]। साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह केवल साधारण राजा न हो, अपितु उसे चक्रवर्ती राजा होना आवश्यक है[3]। वह भी ऐसा होना चाहिए जिसने पहले कभी वाजपेय याग न किया हो[4]। उसका कारण यह है कि वाजपेय-याग करने से सम्राट् पद की प्राप्ति कही है। राजसूययाग के करने से राट् (राजा) होता है। वाजपेययाग के द्वारा उत्तमपद की प्राप्ति के अनन्तर मध्यमपद की आकाङ्क्षा किसी को रह नहीं जाती।

याग का स्वरूप

इसमें अनुमति आदि इष्टियाँ, दर्विहोम आदि हवन, अदिति आदि पशुयाग और पवित्र-सोम प्रभृति सोमयाग होते हैं। एतदर्थ यह राजसूययाग इष्टि, हवन, पशुयाग और सोमयागात्मक कहा जाता है। इस याग के अनुष्ठान में जिस समय सोमयाग हो रहा हो उन दिनों को छोड़कर शेष दिनों में नित्य अग्निहोत्र हवन स्वयं अग्निहोत्री को ही करना चाहिए। याग के दिनों में यजमान एवं यजमानपत्नी यवागु का आहार करें[5]। इस राजसूययाग के अनुष्ठान में तैंतीस मास का समय अपेक्षित है।

पवित्रसोम

फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा के दिन मातृपूजन और आभ्युदयिक श्राद्ध प्रभृति प्रारम्भिक

---

१. तस्मै हरिश्चन्द्राय वरुणो एतं राजसूयाख्यं यज्ञक्रतुं प्रोक्तवान्। तस्य क्रतोर्विश्वामित्रो होता बभूव। अथास्य आङ्गिरस उद्गातासीत्। जमदग्निर्नामर्षिः सोऽध्वर्युरासीत्। तदानीं बभूव। शां० श्रौ० भा०, १५.२०.२१।

२. राज्ञो राजसूयः। का० श्रौ० १५.१.१.। राजा राजसूयेन स्वर्गकामो यजेत। शतसहस्रं सर्वेषु राजसूयिकेषु सोमेषु क्रमशः प्रतिविभज्यान्वहं ददाति। सत्या० श्रौ० १३.३.१,६। यद्राजसूयेन यजते सर्वेषां राज्यानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति। शां० श्रौ० १५.१२.१।

३. सर्वं वै पूर्णं सर्वं परिगृह्य सूया। श० ब्रा० ५.२.२.४१।

४. अनिष्ठितो वाजपेयेन। का० श्रौ० १५.१.१।

५, यवागू राजन्यस्य। का० श्रौ० ६.४.२५।

कृत्य करके प्रधानकृत्य का प्रारम्भ करना चाहिए। पहले बार[1] दीक्षा वाले पवित्र सोम का सङ्कल्प करे[2]। इसका अनुष्ठान अग्निष्टोम के समान होता है। इसमें अध्वर्यु दर्भ के एक सौ पवित्र से यजमान को पवित्र करता है। यजमान हविःशेष का भक्षण न करे। अपितु अध्वर्यु आहवनीय में उसका हवन करे। यहाँ यजमान के क्षत्रिय होने पर भी दीक्षणीयेष्टि में 'दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः' यह घोषणा जो की जाती हैं, वह यथाविधि उसीप्रकार से करे। यहाँ ब्राह्मण शब्द की जगह क्षत्रिय शब्द न कहे। सोम के आहरण के अनन्तर सोम का क्रयण होता है। सोम के क्रयण के अनन्तर न्यग्रोधस्तिभी (बड की कली) का भी आहरण और क्रयण करना चाहिए[3]। सोमाभिषव के समय केवल सोम का ही अभिषव किया जाता है। न्यग्रोधस्तिभी के हवन के समय चमसपात्र में न्यग्रोधस्तिभी को दही के साथ मिलाकर हवन करना चाहिए[4]। सोमरस के पान के समय यजमान को दही और न्यग्रोधस्तिभी दिया जाता है। वही यजमान का सोमरस स्थानीय पेय होता है। इस अग्निपर गरम किया हुआ आज्य क्षत्रिय को नहीं दिया जा सकता। अतएव यहाँ तानूनप्त्र विधि नहीं की जाती[5]।

इस याग में दक्षिणास्वरूप एक सहस्र गौ ऋत्विजों को दी जाती है[6]। इसप्रकार उपर्युक्त विधि के अनुसार पवित्रसोमयाग की समाप्ति करे। तत्पश्चात् तीन अनूबन्ध्या याग करे। त्रैधातवी उदवसानीयेष्टि करे। अष्टमी को पवित्रसोम याग की साङ्गोपाङ्ग समाप्ति करे।

पूर्णाहुति

अध्वर्यु नवमी को यजमान के घर पर पूर्णाहुति हवन करे। यह पूर्णाहुति प्रजापति देवता के निमित्त की जाती है[7]। आज्यसंस्कार करके स्रुची को आज्य से भरले। समिदाधान पूर्वक आहवनीय में आहुति दे। यजमान त्याग करे। यजमान अध्वर्यु को वर दक्षिणा दे[8]।

अनुमतीष्टि

दूसरे दिन अनुमति संज्ञक इष्टि करे। इसमें अनुमति देवता के लिए आठ कपाल का

---

१. चतुर्दीक्षः। का० श्रौ० १५.१.३।

२. अथ राजसूयः तैष्याः पुरस्तात्पवित्रः। वै० श्रौ० ३६.१-२।

३. वटस्य फलानि अकुङ्राश्च। सोमनिधानानन्तरमुपरवदेशे न्यग्रोधस्य च निधानम्। दे० प० पृ० ४६४।

४. दध्नोन्मर्दितान् न्यग्रोधस्तिभीन् जुहुयात्। दे० प० पृ० ४६४।

५. तानूनप्त्रस्य यजमानपदार्थत्वादग्नावधिश्रितस्याज्यस्य क्षत्रियस्य भक्षप्रतिषेधादत्र तानूनप्त्राभावः। दे० प० पृ० ४६५।

६. सहस्रदक्षिणा। का० श्रौ० १५.१.३।

७. इदं प्रजापतये इति हरिस्वामिनः। दे० प० पृ० ४६६।
पूर्णाहुतिं जुहोति। श० ब्रा० ५.२.२.१।

८. तस्यां वरं ददाति। श० ब्रा० ५.२.२.१।

पुरोडाश करे[1]। इस इष्टि में हविर्द्रव्य को पीसने के समय जो हविर्द्रव्य कृष्णाजिन पर गिर जाय उसे खादिर स्रुव में रखे। यजमान ब्रह्मा और अध्वर्यु दक्षिण दिशा की ओर जायँ। साथ में दक्षिणाग्नि में से अग्नि ले जायँ। पृथ्वी के प्राकृतिक गर्त्त में अथवा ऊषरभूमि पर अग्निस्थापन करे[2]। निर्ऋति देवता के निमित्त आहुति करे[3]। यह हवन शान्त्यर्थं किया जाता है। आहुति करके पीछे न देखते हुए सब कोई वापस देवयजन में आवें। जल से हाथ पैर धोयें। बिहार में आकर इष्टि की शेष विधि की समाप्ति करें। ऋत्विजों को दक्षिणा में वस्त्र दे[4]।

दूसरे दिन अग्नि का उद्धरण करके इष्टि करे। इसमें अग्नाविष्णू देवता के निमित्त ग्यारह कपाल का पुरोडाश करे। सुवर्ण दक्षिणा दे[5]। द्वादशी को पुनः उद्धरण करके इष्टि करे। इसमें अग्नीषोम देवता के निमित्त ग्यारह कपाल का पुरोडाश करे। पुनरुत्सृष्ट वृषभ दक्षिणा में दे[6]। त्रयोदशी की इष्टि में इन्द्राग्नी का द्वादश कपाल का पुरोडाश करे। साण्ड ऋषभ दक्षिणा में दे[7]। चतुर्दशी के दिन यवाग्रयणेष्टि करे। इसमें इन्द्राग्नी का द्वादशकपाल का पुरोडाश, विश्वेदेवा का चरु, और द्यावापृथिवी का एक कपाल का पुरोडाश करे। एक कपाल पर अविश्रित द्यावापृथिवी देवता के पूरे पुरोडाश की आहुति सर्वत्र विहित है। प्रथमोत्पन्न गोवत्स दक्षिणा दे[8]।

राजसूय सम्बन्धी चातुर्मास्ययाग

फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को चातुर्मास्ययाग का वैश्वदेव संज्ञक प्रथमपर्व करे[9]। प्रतिपदा से अमावास्या पर्यन्त पूरे कृष्णपक्ष में पौर्णमासेष्टि करनी चाहिए। शुक्लपक्ष भर रोज दर्शेष्टि करनी चाहिए। इसीप्रकार चातुर्मास्ययाग की समाप्ति पर्यन्त अनुष्ठान का क्रम चालू रखना चाहिए। आषाढ की पूर्णिमा को वरुणप्रघास नामक पर्व का अनुष्ठान करे[10]। कार्त्तिक की

---

१. अनुमत्यै हविरष्टाकपालं पुरोडाशम्। श० ब्रा० ५.२.२.२।
२. दक्षिणा गत्वा स्वयं प्रदीर्णे ईरिणे वा। का० श्रौ० १५.१.८।
   नैर्ऋतमेककपालं कुर्यात्। सत्या० श्रौ० १३.३.१४।
३. एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व। श० ब्रा० ५.२.२.३।
४. वासो देयम्। का० श्रौ० १५.१.१०।
५. हिरण्यमाग्नावैष्णवे। का० श्रौ० १५.१.११।
६. पुनरुत्सृष्टो गौरग्नीषोमीये। का० श्रौ० १५.१.१२।
७. अनड्वान् साण्ड ऐन्द्राग्ने। का० श्रौ० १५.१.१३।
८. प्रथमजो गौर्दक्षिणा। दे० प० पृ० ४६७।
९. वैश्वदेवेन यजते। श० ब्रा० ५.२.३.१।
   चातुर्मास्यान्यालभते। आप० श्रौ० १८.९.३।
१०. वरुणप्रघासैर्यजते। श० ब्रा० ५.२.३.२।

पूर्णिमा को साकमेध पर्व का अनुष्ठान करे[1]। फाल्गुन की पूर्णिमा को शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान करे[2]। यह राजसूययाग करते हुए चातुर्मास्य याग का प्रयोग कहा है। इसके सिवाय नित्य चातुर्मास्य याग, दर्श एवं पौर्णमासयाग के समय पर यथासमय प्रत्येक नित्य याग तो करने ही चाहिए। प्रथम नित्य याग करके अनन्तर राजसूययाग में विहित याग करने का विधान है।

पञ्चवातीय हवन

इस हवन में गार्हपत्य के अग्नि में से आहवनीय में अग्नि का उद्धरण करने के पश्चात् आहवनीय में रखे हुए अग्नि का पाँच विभाग किया जाता है[3]। मध्य के अग्नि में से चारों दिशा में अग्नि रखे जाते हैं। मध्य में पहले से ही है। इसतरह पाँच भाग करे। ब्रह्मवरणादि कृत्य करके अध्वर्यु आज्य संस्कार करे। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और मध्य के अग्नि पर क्रमशः आहुति करे। तीन अश्वों से जुता हुआ रथ दक्षिणा में दे।

इन्द्रतुरीय याग

दूसरे दिन इन्द्रतुरीय संज्ञक याग करे। इस याग में अग्नि का आठ कपाल का पुरोडाश, वरुण के लिए यव का चरु, रुद्र के लिए गवेधुका का चरु और इन्द्र के लिए वाहिनी गौ का दही प्रस्तुत करे[4]। यथाविधि याग करे। दही को छोड़कर शेष हवि का चतुर्धाकरण करे। जिस गौ का दही, याग के उपयोग में लिया है उसी गौ को दक्षिणा में दे[5]।

अपामार्गहवन

पूर्वोक्त इन्द्र तुरीययाग के अनन्तर दूसरे दिन रात्रि के समय अपामार्ग हवन करे[6]। तूष्णीं और जुहोति धर्म से कर्मापवर्गान्त कृत्य करे। दक्षिणाग्नि में अग्नि का उद्धरण और अन्वाधान करे। ब्रह्मवरण करे। पात्रासादन में कपाल की जगह खर्पर रखे। यहाँ होतृषदन,

---

१. अथ साकमेधैर्यजते। श० ब्रा० ५.२.३.३।

२. अथ शुनासीर्येण यजते। श० ब्रा० ५.२.३.४।
माध्यां शुनासीरीयम्। शां० श्रौ० १५.१२.१०।

३. पञ्चवातीयमाहवनीयम्। का० श्रौ० १५.१.१८।

४. स्त्री जाति वाली गौ, जो वहन कार्य करती हो उसका दही होना चाहिए।
दे० प० पृ० ४६९।
अनडुह्यै वहलाया ऐन्द्रं दधि भवति। श० ब्रा० ५.२.३.१३।

५. दक्षिणालम्भने वहिनी गौरसीति। दे० प० पृ० ४७०।
वहिनी धेनुर्दक्षिणा। आप० श्रौ० १८.९.८।

६. अथापामार्गहोमं जुहोति। श० ब्रा० ५.२.३.१४।
अपामार्गहोमेन चरन्ति। आप० श्रौ० १८.९.१५।
निशायामपामार्गहोमेन चरन्ति। सत्या० श्रौ० १३.३.३२।

श्रृतावदान, प्राशित्रहरण और अन्तर्धानिकट नहीं है। अपामार्ग का फल हविर्द्रव्य है। उसी का संस्कार करके चावल बनाले[1]। दक्षिणाग्नि में से अग्नि लेकर उत्तर की ओर जाय। अग्नि स्थापन करके वैकङ्कत स्रुव और जुहू आदि का संस्कार करे[2]। समन्त्रक आहुति करे[3]। हवन करके राक्षसों के बध की कामना से उसी दिशा की ओर स्रुवा फेंक दे जिस दिशा की ओर हवन के लिए गये हों[4]। पीछे की ओर न देखते हुए वापस आवें।

त्रिषंयुक्तेष्टि

यह इष्टि फाल्गुनशुक्ल प्रतिपदा के दिन की जाती है। इस इष्टि में अग्नाविष्णु का ग्यारह कपाल का पुरोडाश, इन्द्राविष्णु का चरु और विष्णु का तीन कपाल का पुरोडाश किया जाता है। इस याग की दक्षिणा का विष्णु देवता से सम्बन्ध है। विष्णु वामन (ह्रस्वाङ्ग) है। एतदर्थ इस याग में दक्षिणास्वरूप ह्रस्वांग वाली गौ को देने का विधान है[5]। दूसरे दिन दूसरी त्रिषंयुक्ता इष्टि करे[6]। इसमें आग्नापौष्ण के लिए एकादशकपाल का पुरोडाश, ऐन्द्रापौष्ण के लिए चरु और पौष्ण के लिए चरु इस तरह तीन हवि तैयार करे। कृष्णा गौ दक्षिणा में दे। तीसरे दिन तीसरी त्रिषंयुक्ता इष्टि करे[7]। इसमें अग्नीषोमीय एकादशकपाल का पुरोडाश, ऐन्द्रापौष्ण चरु और पौष्ण चरु इस तरह तीन हवि तैयार करे। दक्षिणास्वरूप दी जाने वाली गौ का रंग भूरा होना चाहिए।

द्विहविष्केष्टि

चौथे दिन दो हविवाली इष्टि की जाती है। इस इष्टि में वैश्वानर का द्वादशकपाल का पुरोडाश और वरुण के लिए यव का चरु करे[8]। अन्वाहार्य दक्षिणा दे।

रत्नहविर्याग

ये रत्नहविर्याग सङ्ख्या में बारह होते हैं। इनमें से प्रत्येक का अनुष्ठान सेनापति

---

१. अपामार्गतण्डुलान् कृत्वा। का० श्रौ० १५.२.२।

२. स्रुवे पलाशे वैकङ्कते वा। का० श्रौ० १५.२.२।

३. देवस्य त्वा। श० य० ९.३८।

४. रक्षसां त्वेति स्रुवमस्यति। का० श्रौ० १५.२.७।

५. वामनः ह्रस्वङ्गांगः—
यतो वामनो विष्णुसम्बन्धी, अतो वैष्णवयागे दक्षिणात्वेन भवितुं युज्यत इत्यर्थः।
श० ब्रा० हृ० भा० ५.२.४.४।

६. ततः श्वो भूते द्वितीयां त्रिसंयुक्तसंज्ञां त्रिहविष्कामिष्टि निर्वपेत्। दे० प० पृ० ४७१।

७. ततः श्वो भूते तृतीयां० इष्टि कुर्यात्। दे० प० पृ० ४७२।

८. श्वो वैश्वानरो० वारुणश्चैकतन्त्रे। का० श्रौ० १५.२.१८।

प्रभृति के घर जाकर याग सम्पादित किया जाता है[1]। इनका प्रारम्भ फाल्गुन शुक्ल तृतीया या चतुर्थी से होकर प्रतिदिन एक याग का अनुष्ठान होता है। प्रारम्भ में अग्नि का समारोप करके मन्थन किया जाता है। विवरण इस प्रकार है।

यागगृह	देवता	हविर्द्रव्य	दक्षिणा
सेनापति	अग्नीरनीकवान्	अष्टाकपालपुरोडाश	सुवर्ण
पुरोहित	बृहस्पति	चरु	श्वेतपृष्ठा गौ
स्वगृह	इन्द्र	एकादशकपालपुरोडाश	ऋषभ
प्रथमपरिणीतापत्नी	अदिति	चरु	धेनु
सूत	वरुण	चरु (यव का)	अश्व
ग्रामणी (ग्रामनेता)	मरुत्	सप्तकपालपुरोडाश	विचित्रवर्णा गौ
प्रतीहार	सविता	द्वादशकपालपुरोडाश	श्वेतवृषभ
रथयोजक	अश्वि	द्विकपालपुरोडाश	युग्म गौ
परिवेषक	पूषा	चरु	श्याम गौ
स्वगृह	रुद्र	चरु (गवेधुका का)	श्वेतबाहुगौ आदि
दूत	अध्वदेव	आज्य	धनुष
अपुत्रापत्नी	निर्ऋति	चरु (कृष्णव्रीहि का)	रुग्णा गौ

उपर्युक्त बारह रत्नवियोगों को यथाविधि सम्पन्न करे। बारहवें याग में विशेष यह है कि अपुत्रा पत्नी के घर याग करने के अनन्तर उसे घर छोड़कर चले जाने को कहे। यजमान के कथनानुसार वह घर छोड़कर चली जाय और फिर किसी ब्राह्मण के यहाँ निवास कर अपना शेष जीवन यापन करे।

सोमारौद्रयाग

उपर्युक्त बारह रत्नहविर्याग करके सोमारौद्रयाग करना चाहिए[2]। यह याग फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को होता है। इसमें श्वेत गौ के दूध में सोमारौद्र देवता के निमित्त चरु बनाकर

---

१. सेनान्यो गृहान्०, पुरोहितस्य०, सूयमानस्य०, महिष्यै गृहान्०, सूतस्य गृहान्०, ग्रामण्यो गृहान्०, क्षत्तु र्गृहान्०, सङ्ग्रहीतुर्गृहान्०, भागदुघस्य गृहान्०, सूयमानस्य गृहे०, पालागलस्य गृहान्०, परिवृत्त्यै गृहान्०। श० ब्रा० ५.२.५.१-१३।
द्वादशान्वहं रत्निनां हवींषि। आप० श्रौ० १८.१०.१२।
श्वो भूते त्रयोदश रत्निनां हवींषि। सत्या० श्रौ० १३.४.१।
द्वादशाहेन रत्निनां हवींषि। बौ० श्रौ० २६.१।
दे० प० पृ० ४७२।

२. सोमारौद्रोऽतश्चरुः। का० श्रौ० १५.३.२२।
उपरिष्टाद्रत्नानां सोमारौद्रेण यजते। श० ब्रा० ५.२.६.१।

याग करे। उसी गौ को दक्षिणा में दे। जिसका दूध याग में लिया गया है। उसी दिन चरु बनाकर मैत्राबृहस्पति के निमित्त याग करे[1]। पीपल के पेड़ में पूर्व दिशा की ओर बढ़ी हुई पीपल की शाखा को काटकर ले आवे। उसी काष्ठ की स्थाली तैयार करे। दूध जमाकर दही करे। दही को चर्मघट में रखकर रथ में रखे। रथ को खूब शीघ्रगति से दौड़ावे। इस तरह रथ के हिलने से जो मक्खन तैयार हो उसे पीतल की स्थाली में भरे। ऊपर से चावल भी उसी में छोड़े। गरमी से ही चरु का पाक हो। उसी चरु से याग करके दक्षिणा में गौ दे। दूसरे दिन राजसूय सम्बन्धी वैश्वदेवपर्व करे। इस प्रकार फाल्गुन शुक्ल पक्ष की समाप्ति होने पर फाल्गुन कृष्ण में याग सम्बन्धी विश्राम रहे।

दो सोमयाग का युगपत् सङ्कल्प

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को राजसूयान्तर्गत अभिषेचनीय और दशपेय संज्ञक दो सोमयागों का प्रारम्भ करे। प्रारम्भ में दो देवयजन का निर्माण किया जाता है। जिस देवयजन में अबतक का कार्य हुआ है, उससे दक्षिण की ओर प्रथम और उत्तर की ओर द्वितीय इस प्रकार दो देवयजन तैयार करावे। दक्षिण वाले देवयजन में अभिषेचनीय सोमयाग और उत्तरवाले देवयजन में दशपेय सोमयाग किया जाता है।

अभिषेचनीय सोमयाग

इस सोमयाग में भृगु गोत्रोत्पन्न होता होना चाहिए। इसमें एक दीक्षा, तीन उपसदा और एक सुत्या की जाती है। इस याग का अनुष्ठान पाँच दिनों में सम्पन्न होता है। दोनों यागों के लिए यूपसंस्कार एक साथ होता है। दक्षिण देवयजन में मन्थन करके अग्नि का स्थापन करे। दोनों के सोम और न्यग्रोधस्तिभी का क्रयण एक साथ करे। सोम और न्यग्रोधतिस्भी के दो विभाग करके अभिषेचनीय सोमयाग के लिए किये हुए विभाग से कार्य करे और दशपेय सोमयाग के लिए सोम और न्यग्रोधस्तिभी को ब्रह्मा के निवास स्थान पर सुरक्षित रख दे।

देवसूहविर्याग

एकादशकपाल के अग्नीषोमीय पशुपुरोडाश के लिए हविर्द्रव्य का निर्वाप करके अनन्तर देवसूसंज्ञक हवि का निर्वाप करे। यहाँ उन-उन देवताओं के लिए निश्चित हविर्द्रव्य का निर्वाप इस प्रकार होता है[2]।

---

१. मैत्रा बार्हस्पत्यश्चरुः। का० श्रौ० १५.३.२६-३१।
अथ मैत्रा बार्हस्पत्यं चरुं निर्वपति। श० ब्रा० ५.२.६.४।

२. सवित्रे सत्यप्रसवाय०, अथाग्नये गृहपतये०, सोमाय वनस्पतये०, बृहस्पतये०, इन्द्राय ज्येष्ठाय०, रुद्राय पशुपतये०, मित्राय सत्याय०, वरुणाय धर्मपतये०।
श० ब्रा० ५.२.७.२-९।

देवता और हविर्द्रव्य

देवता	पुरोडाश या चरु			हविर्द्रव्य
सवितासत्यप्रसव	८ या १२ कापालिक पुरोडाश			प्लाशुक—एकबार काटने पर पुन उगी व्रीहि
अग्निगृहपति	८	,,	,,	आशु—तीन पक्ष में उगनेवाली व्रीहि
सोमवनस्पति			चरु	श्यामाक व्रीहि
बृहस्पति			,,	नीवार—बिना बोये उगी व्रीहि
इन्द्रज्येष्ठ			,,	व्रीहि—एक वर्ष में पकने वाली व्रीहि
रुद्रपशुपति			,,	गवेधुका—जङ्गली गेहूँ
मित्रसत्य			,,	नाम्ब—बिना बोये उगी व्रीहि
वरुणधर्मपति			,,	यव

ऊपर जिस द्रव से जो हवि तैयार करने को कहा है, उसी प्रकार तैयार करे। क्रमशः निश्चित देवता के लिए याग करे। याग हो चुकने पर अध्वर्यु यजमान का हाथ पकड़ कर मन्त्रपाठ करे। मन्त्र में यजमान के, यजमान की माता, पिता और देश के नाम को जोड़ कर मन्त्रपाठ करे[1]। मन्त्रपाठ के द्वारा प्रजा को राजा की सेवा करने के लिए प्रेरित करे। अनन्तर स्विष्टकृत् याग करे। ऋत्विजों को हविःशेष देने तक का कृत्य करे।

अभिषेक का जल

अभिषेक के लिए सत्रह स्थान के जल को एकत्रित करते हैं। उनमें से जो दूर से लाने योग्य जल है, उन्हें पहले से ही लाकर सुरक्षित रखना चाहिए। निकट के जल समय पर एकत्र कर ले[2]।

---

१. सविता त्वा० शु० य० ९.३९-४०। यहाँ 'इमं देवा०' इस द्वितीय मन्त्र में अमुकवर्माणम्, अमुकवर्मणः पुत्रम्, अमुकिदायाः पुत्रम्। यजमान के और उसके माता-पिता का नामोच्चारण करे।
पाञ्चाल्यै विशे, एष वः०, पाञ्चालो राजा सोमोऽस्माकं० पाठ करे।
दे० प० पृ० ४७८।

२. अपः सम्भरति, सारस्वतीरेव प्रथमा गृह्णाति।
श० ब्रा० ५.३.१.१.३।

सरस्वती नदी का जल	निकट के तालाब का जल
अन्य नदी का जल	समुद्र का जल
पहाड़ में रुका हुआ नदी का जल	अन्तरिक्ष में ही गृहीत वर्षा का जल
छोटे तालाब का जल	कूएँ का जल
ओस[1]	उल्ब जल[2]

उपर्युक्त प्रकार के समस्त पवित्र जल को उदुम्बर काष्ठ के बड़े पात्र में समय पर एकत्र करे[3]। उसमें मधु, दूध और आज्य मिलावे। इस तरह एकत्र करके मैत्रावरुण की धिष्ण्या के निकट रखे। पास ही में पलाश, गूलर, अश्वत्थ और वट के अभिषेक पात्र रखे। पशुपुरोडाश का शेष ऋत्विजों को दे। पशु के अङ्ग निष्कासित करे। चैत्रशुक्ल पञ्चमी को ऋत्विक्प्रबोधन प्रभृति याग का कृत्य उक्थ्य याग के समान करे। अग्नि और इन्द्राग्नी का सवनीय याग करे[4]। प्रातः सवनवत् मैत्रावरुणी पयस्यायाग करे। मरुत्वतीय ग्रहयाग के अनन्तर मैत्रावरुणधिष्ण्या के पूर्व में व्याघ्रचर्म बिछावे[5]। व्याघ्र चर्म पर सीसा रखे। पार्थसंज्ञक छ आहुति करे[6]। दर्भ के पवित्र में सुवर्ण बाँधे। औदुम्बरपात्र में एकत्र किया हुआ जल पवित्र से विभक्त करके चारों अभिषेकपात्र में निकाले।

अभिषेकार्थ वस्त्रपरिधान

यजमान दीक्षावस्त्र उतार दे। अध्वर्यु यजमान को तार्प्य वस्त्र पहनने को दे और यजमान अध्वर्यु प्रदत्त वस्त्र को पहने[7]। तार्प्य के ऊपर पाण्डव संज्ञक श्वेत ऊर्णावस्त्र पहने[8]। नाभि से ऊपर का वस्त्र पहने। सिर में पगड़ी बाँधे। पगड़ी के दोनों छोर आगे की ओर नाभि के दोनों पार्श्व में खोंसे। अध्वर्यु धनुष और तीन बाण यजमान को दे। सदोमण्डप के

१. रात्रि के समय वृक्ष आदि पर गिरे ओस पर वस्त्र को गीला करके पात्र में वस्त्र को निचोड़ कर सङ्ग्रह करना चाहिए।

२. जब गौ का प्रसव हो रहा हो उस समय गर्भावरण के अन्दर से निकला हुआ जल ग्रहण करे 'यथोल्बेनावृतो गर्भः'। भगवद्गीता।

३. इडान्तेऽपो गृह्णाति। का० श्रौ० १५.४.२१।

४. आग्नेयैन्द्राग्नौ द्वौ सवनीयौ। दे० प० पृ० ४८०।

५. मरुत्वतीयान्ते पात्राणि पूर्वेण व्याघ्रचर्मास्तृणाति। का० श्रौ० १५.५.१।

६. पार्थानामग्नये स्वाहेति षड् जुहोति। का० श्रौ० १५.५.३।

७. ततो यजमानं प्रति तार्प्यं परिधत्स्वेत्यध्वर्युः प्रेष्यति। दे० प० पृ० ४.८.१।
तृपा एक ओषधि है। उसके वल्कल के तेहरे सूत से बोना हुआ वस्त्र तार्प्य कहलाता है। इस वस्त्र में कशीदे से स्रुवा, स्रुची, चमस आदि यज्ञपात्र बनाये जाते हैं। उसी वस्त्र को यजमान पहने।

८. पाण्डवं रक्तनेपालकम्बलम्। दे० प० पृ० ४८१।

निकटस्थित बड़ी मूँछ और दाढ़ी वाले केशव संज्ञक पुरुष के मुँह में ताँबा छोड़े[१]। अध्वर्यु यजमान की बाहु पकड़ कर दिशाओं में क्रमण करावे[२]। व्याघ्रचर्म पर रखे हुए सीसे को पैर से हटा दे[३]। यजमान व्याघ्रचर्म पर पूर्वाभिमुख खड़ा हो। अध्वर्यु यजमान के पैरे के नीचे सुवर्ण-रुक्म रखे। सिरपर नवछिद्रवाला रुक्म रखे।

यजमान का अभिषेक

सदोमण्डप में यजमान बैठे। विहितपात्रों में जल लेकर यजमान का अभिषेक करे[४]। पूर्व की ओर अध्वर्यु या पुरोहित पलाश के पात्र के जल से अभिषेक करे। पश्चिम की ओर खड़े होकर उदुम्बर पात्र के जल से क्षत्रिय (यजमान के आत्मीय) अभिषेक करे। वटपात्र के जल से यजमान का मित्र (क्षत्रिय) अभिषेक करे। अश्वत्थपात्र के जल से वैश्य अभिषेक करे। अभिषेक के अनन्तर अध्वर्यु पूर्ववत् पार्थाहुति करे। अध्वर्यु के प्रैष करने पर होता शुनःशेप शस्त्र पढ़े[५]। यजमान अध्वर्यु और होता को एक-एक सौ गौ दक्षिणा में दे। अभिषेक का अवशिष्ट जल यजमान के प्रिय पुत्र को दे। पालाशपात्र से अभिषेकोदक का आग्नीध्रीया में हवन करे। युद्ध में शान्तिक पौष्टिक कृत्य के निमित्त अग्नि रखकर यजमान अपने साथ एक शकट ले जाय। पहले उस शकट को देवयजन में लाकर पूर्व की ओर खड़ा करे।

उस शकट पर एक रथ रखे। शकट पर स्थापित रथ को अध्वर्यु नीचे उतारे। रथ में अश्व जोते। यजमान और सारथि रथ पर बैठें। यजमान रथ को अपने भाई की गौ के समूह के बीच ले जाय। धनुष्कोटि से एक गौ का स्पर्श करे। उस यूथ में जितनी गौ हों उनसे अधिक गौ गोस्वामी को दे। रथ को वापस ले आवे। यजमान वराहचर्म के जूते पहने। यजमान रथ से उतरे सारथि सहित रथ को पुनः शकटपर रखे। सारथी भी रथ से नीचे उतरे। रथचक्र में सुवर्ण बाँधे। रथ के मार्ग में औदुम्बरी गाड़े। व्याघ्रचर्म के निकट पयस्या रखे। यजमान अपने दोनों हाथ पयस्या में रखे। अध्वर्यु पयस्या की आहुति दे। स्विष्टकृत् याग से पूर्व तक का कृत्य करे।

---

१. केशवस्य पुरुषस्य। नवा एष स्त्री न पुमान्। श० ब्रा० ५.३.३.२।
लोहायसमाविध्यति केशवस्यास्ये सदोऽन्त उपविष्टाय।
का० श्रौ० १५.५.२२।

२. अथैनं दिशः समारोहति। श० ब्रा० ५.३.३.३।

३. शार्दूलचर्मणो जघनार्धे। सीसं निहितं भवति तत्पदा प्रत्यस्यति। श० ब्रा० ५.३.३.९।

४. अभिषिच्यमानमभिमन्त्रयते। आप० श्रौ० १८.१६.६।

५. शौनःशेपं च प्रेष्यति। का० श्रौ० १५.६.१।
ऋचो गाथामिश्राः परश्शताः परःसहस्रा वा। आप० श्रौ० १८.१०.११।
शौनःशेपाख्यान—हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजपुत्र आस० तदेतच्छौनः शेपमाख्यानं परः-शतर्गाथमपरिमितम्। तद्धोताभिषिक्तायाचष्टे। हिरण्यकशिपावासीन आचष्टे। हिरण्यक-शिपावासीनः प्रतिगृणाति। ओमित्यृचः प्रतिगरः। शां० श्रौ० १५.१७-१५,२७।

यजमान द्वारा वरयाचना

खदिरकाष्ठ की आसन्दी मैत्रावरुण धिष्ण्या से पूर्व की ओर रखे। उस पर वस्त्र बिछावे। अध्वर्यु आसन्दी पर यजमान को बैठावे[1]। यजमान के हाथ में सुवर्ण के पाँच अक्ष दे। अध्वर्यु यज्ञकाष्ठ से यजमान की पीठ पर मारे। यजमान अध्वर्यु से राज्य और यश माँगे।

द्यूतभूमि निर्माण

यजमान बहुकार, श्रेयस्कर और भूयस्कर प्रभृति पुरुषों को बुलावे। अध्वर्यु यजमान को वज्र दे। यजमान अपने भाई को, भाई सूत या स्थपति को, स्थपति ग्राम के नेता को और ग्रामनेता सजात को वज्र दे। सजात और प्रतिप्रस्थाता वज्र से द्यूतभूमि तैयार करें[2]। मध्य में सुवर्ण रखकर अध्वर्यु आहुति करे।

द्यूतक्रीडा

कृत, त्रेता, द्वापर और कलि इस तरह युग के नाम पर चार प्रकार का द्यूत कहा जाता है[3]। राजा कृत नामक, राजा के भाई त्रेता नामक, सूत और स्थपति द्वापर नामक और ग्रामणी कलि संज्ञक द्यूत खेलते हैं। इस राजसूय याग में कृत या कलि संज्ञक द्यूत की क्रीडा होती है। यजमान गौ की बाजी लगाकर द्यूत खेलने को कहता है। बाजी में लगाई गौ का स्पर्श करना होता है। अनन्तर स्विष्टकृत् हवन प्रभृति यागविधि करे। अध्वर्यु पृष्ठोपाकरण तक यागविधि करके यजमान को आसन्दी पर से उठकर सदोमण्डप में जाने को कहे। यहाँ यजमान चाहे तो पुनः दीक्षा के वस्त्रों को पहने। यह याग अग्निष्टोमसंस्थ किया जाता है। अन्त में अवभृथयाग करे। उदयनीयेष्टि और अनूबन्ध्येष्टि करके द्वादश शतमान सुवर्ण दक्षिणा में दे। त्रैधातवी उदवसानीयेष्टि करे।

संसृपाहविर्याग

चैत्र शुक्ल षष्ठी के दिन संसृपाहविर्याग करे। इसमें दस याग होते हैं[4]। जिस देवयजन

---

१. खादिरीमासन्दीं रज्जूतां व्याघ्रचर्मदेशे निदधाति स्योनासीति। अधीवासमस्यामास्तृणाति क्षत्रस्य योनिरिति। सुन्वन्तमस्यामुपवेशयति स्योनामासीदेति। का० श्रौ० १५.७.१-३।

२. द्यूतभूमिं कुरुतः। का० श्रौ० १५.७.१३।

३. राज्ञः कृतः, राजभ्रातुस्त्रेता, सूतस्थपत्योरन्यतरस्य द्वापरः, ग्रामण्यः पञ्चकलिङ्गादिसंज्ञः। दे० प० पृ० ४८९।

४. अथैतानि हवींषि निर्वपति। सावित्रं द्वादशकपालम्०, सारस्वतं चरुं निर्वपति०, त्वाष्ट्रं दशकपालम्०, पौष्णं चरुं निर्वपति०, ऐन्द्राग्नमेकादशकपालम्०, बार्हस्पत्यं चरुम्०, वारुणं यवमयं चरुम्०, आग्नेयमष्टाकपालं पुरोडाशं, सौम्यं चरुं, वैष्णवं त्रिकपालं पुरोडाशम्०। श० ब्रा० ५.४.२.६-१६। दशोत्तराणि संसृपा हवींषि निर्वपति। का० श्रौ० १५.८.१। अथोत्तरं देवयजनमध्यवस्यति। तत्संसृपामिष्टिभिर्यजति। शां० श्रौ० १५.१४.१-२।

में अभिषेक किया गया है, उससे उत्तर में अग्निस्थापन करके प्रथमयाग करे। उससे उत्तर में द्वितीययाग करे[1]। इस प्रकार नवयाग करे। तत्पश्चात् उत्तर के दशपेय संज्ञक देवयजन में दसवाँ याग किया जाता है।

देवता	हविर्द्रव्य	दक्षिणा
१. सविता	१२ कपाल पुरोडाश	सुवर्णकमल
२. सरस्वती	चरु	,,
३. त्वष्टा	१० कपाल पुरोडाश	,,
४. पूषा	चरु	,,
५. इन्द्र	११ कपाल का पुरोडाश	,,
६. बृहस्पति	चरु	,,
७. वरुण	चरु (यव का)	,,
८. अग्नि	८ कपाल पुरोडाश	,,
९. सोम	चरु	,,
१०. विष्णु	३ कपाल पुरोडाश	,,

इस उपर्युक्त याग में यजमान को दीक्षास्थानीय द्वादश पुण्डरीक की माला पहनायी जाती है[2]।

दशपेययाग

इस याग में एक चमसपात्र से दस व्यक्ति सोम रस का पान करते हैं। इसीलिए इस याग को दशपेय संज्ञा कही है[3]। चैत्र शुक्ल सप्तमी को इसका प्रारम्भ होता है। पहले ब्रह्मा के निवास स्थान पर जो सोम और न्यग्रोधस्तिभी रखी है, उसे इस समय ले आवे। इसमें आतिथ्येष्टि और यजमान का पूर्ववत् पवित्र से पावन किया जाता है। अग्नि का आठ-कपाल का पुरोडाश, सोम का चरु और विष्णु का तीन कपाल का पुरोडाश, इस प्रकार उपसदा में तीन हवि तैयार किये जाते हैं। इसमें सत्रह स्तोत्र होते हैं। चैत्र शुक्ल दशमी को इस याग का सौत्यदिवस होता है। इसमें प्रत्येक ऋत्विज को दक्षिणाद्रव्य भिन्न-भिन्न दिया जाता है। जैसे—ब्रह्मा को बारह गर्भिणी गौ, उद्गाता को सुवर्ण के कमलपुष्प की माला[4],

---

१. देवयजनान्तरमेकैकेनोत्सर्पति। शालायामन्त्यम्। का० श्रौ० १५.८.२-३।

२. प्रतीष्टि पुण्डरीकाणि प्रयच्छति। हिरण्मयानि वा। का० श्रौ० १५.८.५-६।

३. दशदशैकं चमसमनु भक्षयन्ति। का० श्रौ० १५.८.१८। शतं ब्राह्मणाः सोमं भक्षयन्ति। शां० श्रौ० १५.१४.९।
दशपेयोऽग्निष्टोमः। सत्या० श्रौ० १३.७.९।
दशम्यां दशपेयः। शां० श्रौ० १५.१४.५।

४. ब्रह्मणे ददात्यंशुवद्दक्षिणा। हिरण्मयीस्रजमुद्गात्रे०। का० श्रौ० १५.८.२२-२३।

होता को रुक्म, अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता को सुवर्ण की दो दीयट, प्रस्तोता को अश्व, मैत्रावरुण को वन्ध्या गौ, ब्राह्मणाच्छंसी को ऋषभ, नेष्टा और पोता को वस्त्र, अच्छावाक को यवपूर्णशकट, आग्नीध्र को सवत्सा गौ, प्रतिहर्ता को गौ, सुब्रह्मण्य को अज, उन्नेता को वत्सतरी गौ और ग्रावस्तुत् को तीन गोवत्स देने चाहिए। शेष प्रवर्ग्योत्सादनादि कर्मापवर्गान्त कृत्य प्रकृतिवत् करे। इस याग में दाक्षिण होम में अश्वाहुति नहीं होती। अन्त में उदयनीया, अनूबन्ध्या और उदवसानीयेष्टि करे। इसके अनन्तर अमावास्या पर्यन्त यागकृत्य बन्द रहता है।

यजमान के नियम

इस याग के अनुष्ठान के अनन्तर यजमान को पालन करने योग्य कुछ आवश्यक नियम इस प्रकार हैं[1]। जिनका पालन करना यजमान के लिए अनिवार्य है। जैसे—एक वर्ष तक वपन नहीं कराना। दीक्षणीयेष्टि प्रभृति विशेषस्थान में भी यदि वपन कार्य आ पड़े तो संस्कारार्थ केवल केशकर्तन मात्र करवा ले। जूते पहने बिना यावज्जीवन जमीन पर पैर न रखे।

पञ्चबिलयाग

इस याग में पाँच हवि होते हैं। एतदर्थ इसे पञ्चबिलयाग कहते हैं। वैशाख शुक्ल में किसी दिन इस याग का अनुष्ठान किया जाता है[2]। पयस्या के लिए शाखाच्छेदन प्रभृति कृत्य किये जाते हैं। निम्नांकित प्रकार के हवि तैयार किये जाते हैं।

देवता और हविर्द्रव्य

अग्नि	आठ कपाल पुरोडाश
इन्द्र	ग्यारह कपाल पुरोडाश
विश्वेदेवा	चरु
मित्रावरुण	पयस्या
बृहस्पति	चरु

पाँचों हवि को तैयार करके निम्नाङ्कित रूप में वेदि में आसादित करे। पूर्व में अग्नि का पुरोडाश, दक्षिण में इन्द्र का पुरोडाश, पश्चिम में विश्वेदेवा का चरु, उत्तर में मित्रावरुण की पयस्या और मध्य में बृहस्पति का चरु, आसादित करना चाहिए। याग में प्रत्येक देवता के याग की समृद्धि के लिए ऋत्विजों को दक्षिणा भी विभिन्न रूप में दी जाती है[3]। जैसे—

---

१. अभिषेचनीयान्ते केशवपनार्थे निवर्तनं संवत्सरम्। भूम्यनधिष्ठानं च। अनुपानत्कस्य यावज्जीवम्। का० श्रौ० १५.८.२४-२६।

२. उत्तरे शुक्ले पञ्चबिलः। का० श्रौ० १५.९.१।

३. आग्नेयो हिरण्यदक्षिणाग्नीध्रे०। का० श्रौ० १५.९.५।

देवता	ऋत्विज	दक्षिणा
आग्नेय	आग्नीध्र	सुवर्ण
ऐन्द्र	ब्रह्मा	ऋषभ
वैश्वदेव	होता	गौ (धूसर)
मैत्रावरुण	अध्वर्यु और आग्नीध्र	गौ (पृषती)
बार्हस्पत्य	ब्रह्मा	गौ (वशा)

राजसूय याग से अतिरिक्त समय में अन्न की कामना से भी यह याग किया जाता है।

द्वादश प्रयुग् संज्ञक हविर्याग

पञ्चबिल याग के अनन्तर प्रयुग् नामक बारह हविर्याग किये जाते हैं[1]। इस याग का अनुष्ठान स्थान और समय भेद से तीन प्रकार का कहा है[2]। प्रथमपक्ष में वैशाख शुक्ल पूर्णिमा से प्रारम्भ करके चैत्र शुक्ल पूर्णिमा तक प्रत्येक मास की पूर्णिमा को एक-एक याग किया जाता है, जैसे—

समय		देवता	हविर्द्रव्य	दक्षिणा
वैशाख पूर्णिमा		अग्नि	आठकपाल-पुरोडाश	अन्वाहार्य
ज्येष्ठ	,,	सोम	चरु	,,
आषाढ	,,	सविता	बारहकपाल-पुरोडाश	,,
श्रावण	,,	बृहस्पति	चरु	,,
भाद्रपद	,,	त्वष्टा	दसकपाल-पुरोडाश	,,
आश्विन	,,	वैश्वानर	बारहकपाल ,,	,,
कार्तिक	,,	सरस्वती	चरु	,,
मार्गशीर्ष	,,	पूषा	,,	,,
पौष	,,	मित्र	,,	,,
माघ	,,	क्षत्रपति	,,	,,
फाल्गुन	,,	वरुण	,,	,,
चैत्र	,,	अदिति	,,	,,

---

१. स वै प्रयुजां हविर्भिर्यजते० तानि वै द्वादश भवन्ति। द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य तस्माद् द्वादश भवन्ति। श० ब्रा० ५.४.४.१-२।
द्वादशोत्तराणि प्रयुग्घवींषि। का० श्रौ० १५.९.७।

२. तेषां चानुष्ठाने त्रयः पक्षाः। दे० प० पृ० ४९६। प्रथमपक्षे, वैशाख्यामाग्नेयः, ज्येष्ठ्यां सौम्यश्चरुः, आषाढ्यां सावित्रो द्वादशकपालः०, श्रावण्यां बार्हस्पत्यश्चरुः, भाद्रपद्यां त्वाष्ट्रो दशकपालः, आश्विन्यां वैश्वानरो द्वादशकपालः, कार्त्तिक्यां सारस्वतश्चरुः, मार्गशीर्ष्यां पौष्णश्चरुः, पौष्यां मैत्रश्चरुः, माघ्यां क्षत्रपत्यश्चरुः, फाल्गुन्यां वारुणश्चरुः, चैत्र्यां आदित्यश्चरुर्द्वादशम्। दे० प० पृ० ४९६।

द्वितीय प्रकार

इस द्वितीय पक्ष में वैशाख शुक्ल पूर्णिमा के दिन बारहों यागों का अनुष्ठान करे[1]। देवयजन में खड़ा होकर अध्वर्यु पूर्व में शम्या फेंके। जहाँ शम्या गिरे वहाँ गार्हपत्य का मध्य मानकर पूरा देवयजन बनाकर याग करे[2]। पुनः पूर्वः में शम्या फेंके। पूर्ववत् शाला बनाकर द्वितीययाग करे। इसीप्रकार पूर्व की ओर आगे बढ़ते हुए छ हविर्याग करे। छ हविर्याग हो चुकने पर पश्चिम की ओर वापस लौटे। अन्तिम छठा याग जिस शाला में किया है, उसके गार्हपत्य खर के निकट खड़े होकर पश्चिम की ओर शम्या फेंके। जहाँ शम्या गिरे उस स्थान को आहवनीय खर का मध्य मान कर शाला बनावे और याग करे। पूर्ववत् शम्या फेंकते हुए पश्चिम की ओर बढ़ते जायें और याग करते जायें। इस प्रकार ग्यारह याग तक करे। बारहवाँ याग प्रथम याग की शाला में किया जायेगा। शेष विधि पूर्ववत् करे।

तृतीय प्रकार

इस तीसरे प्रकार में एक ही स्थान में प्रथम छ हविर्याग का अनुष्ठान एक साथ करे[3]। अग्निवाहक शकट के बैल दक्षिणा में दे। पुनः सातवें याग से बारहवें याग तक का अनुष्ठान करे। पूर्ववत् दक्षिणा दे। इसके अनन्तर वैशाख की अमावास्या को दो अनूबन्ध्या याग यथाविधि करे और दक्षिणा में गौ दे।

केशवपनीय अतिरात्र

ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी से पूर्णिमापर्यन्त पाँच दिन में इस केशवपनीय अतिरात्र याग का अनुष्ठान सम्पन्न होता है[4]। पौर्णमासी को इस याग की सुत्या होती है। राजसूय याग में होने वाले विशेष कृत्य पवित्रसोम के समान होते हैं। दीक्षा और दक्षिणा प्रकृतिवत् होती है। इसके अनन्तर अवशिष्ट चार सोमयाग और होते हैं। इन चारों की सुत्या का दिवस पूर्णिमा होना चाहिए।

व्युष्टि द्विरात्र

आषाढ़ में व्युष्टिद्विरात्र याग किया जाता है[5]। यह अहीन संज्ञक होने के कारण इसका

---

१. द्वितीयपक्ष उच्यते। दे० प० पृ० ४९६।
२. शम्याप्रास आग्नेय०। का० श्रौ० १५.९.८।
३. अथ तृतीयः पक्ष उच्यते। दे० प० पृ० ४९७।
४. केशवपनीयोऽतिरात्रः। का० श्रौ० १५.९.२१।
अत ऊर्ध्वं केशवपनीयः। शां० श्रौ० १५.१६.१।
अथ श्येनीं विचित्रगर्भामदित्या आलभते। पृषतीं विचित्रगर्भां मरुद्भ्य आलभते। श० ब्रा० ५.४.४.८-९।
अथायं प्रतीचीनस्तोमः केशवपनीयोऽतिरात्रः षोडशिको भवति। बौ० श्रौ० २६.२।
५. व्युष्टि द्विरात्रः। का० श्रौ० १५.९.१७। सन्तिष्ठते व्युष्टिद्विरात्रः। बौ० श्रौ० २६.२।

प्रारम्भ ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया को होता है। इस याग का अनुष्ठान एक मास में समाप्त होता है। इसमें सोलह दीक्षा, बारह उपसदा और दो सुत्याएँ होती हैं।

क्षत्रधृति

इसके अनन्तर अग्निष्टोमसंस्थ क्षत्रधृति संज्ञक सोम याग किया जाता है[1]। इसका अनुष्ठान एक मास में समाप्त होता है। भाद्रपदमास में त्रिष्टोम अतिरात्र, आश्विन में ज्योतिष्टोम अतिरात्र और अन्त में कार्तिक मास में राजसूय याग में विहित चरकसौत्रामणी का अनुष्ठान किया जाता है। इस प्रकार राजसूय याग की समाप्ति होती है। कात्यायन के मत से राजसूय याग में तैंतीस मास का समय अपेक्षित है। किन्तु बौधायन साढ़े सत्रह मास का समय कहते हैं[2]।

यह राजसूय याग का संक्षिप्त विवरण हुआ। राजसूय याग में कुल चार सौ उनचास इष्टियाँ, दो पशुयाग, आठ सोमयाग और सात दर्विहोम होते हैं। इसके सिवाय अङ्गभूत कितने ही कृत्य होते हैं, जिनका विवरण यथास्थान वर्णित है।

●

---

१. क्षत्रधृतिः। का० श्रौ० १५.९.१९। अथैतेन क्षत्रस्य धृतिना यजते।
शां० श्रौ० १५.१०.८। अथैतस्मिन्नेव पक्षावशेषे क्षत्रस्य धृतिनाभिविधत्ते।
बौ० श्रौ० २६.२।

२. राजसूयोऽर्धसप्तदशैर्मासैः सन्तिष्ठतेऽर्धषोडशैर्वा तस्मिन्सोमसंस्थाः पञ्चैकाहा अहीनो द्विरात्रः, षट् छाला, अष्टौ यूपाः, षडुहाग्निष्टोमिका द्विपशौ पशुबन्धे सौत्रामण्यामष्टमस्तावन्त एवाभृथाः। बौ० श्रौ० २६.१।

दशमाध्याय

मेध

अश्वमेध : देवयजन....ब्रह्मौदन....यज्ञशाला में नियम....अश्वमेध का अश्व....उत्तरमन्द्रागान ....अश्वरक्षक...अश्वचिकित्सा....अश्वमेध के यूप....अखण्डहवन....जलघटी....ब्रह्मौद्य ....अश्वमेध के प्राणी।

पुरुषमेध : उत्कृष्ट पदकामना....एकादशयूप....पुरुषनियोजन....पुरुषमोचन।

सर्वमेध : द्वादशाह धर्म का अतिदेश....समस्त अन्न से हवन।

पितृमेध : समय....ऋत्विज,....चितिचयन....गृहप्रत्यावर्धन।

अश्वमेधयाग

श्रौतसूत्रों में अश्वमेधयाग का बहुत महत्त्व देखा जाता है। इस याग को सार्वभौम क्षत्रिय राजा कर सकता है[1]। समस्त प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के हेतु इस याग का अनुष्ठान कहा है[2]। ब्रह्महत्या प्रभृति समस्त महापातक भी इस याग के अनुष्ठान से दूर होते हैं[3]। सर्वप्रथम इस याग का अनुष्ठान प्रजापति ने किया था।[4] याग परम्परा में यह अग्निष्टोम-याग की विकृति कही है।

फाल्गुन शुक्ल अष्टमी या नवमी को इस याग का प्रारम्भ होता है[5]। ग्रीष्म ऋतु में शुक्लपक्ष की पञ्चमी को भी इसका प्रारम्भ कहा है[6]। मातृपूजन और आम्युदयिक करने के अनन्तर प्रधानकृत्य का प्रारम्भ करे। समस्त कामनाओं की पूर्ति होना इस याग का फल है।

देवयजन

अश्वमेध करने के लिए कुरुक्षेत्र, वाराणसी और पुष्करवन सदृश किसी पवित्र तीर्थ स्थान में देवयजन बनाना चाहिए[7]। यह देवयजन नदी के तट पर तैयार करना चाहिए। जहाँ देवयजन बनाया जाय वहाँ अधिक गरमी सौर ठण्डक न हो।

ब्रह्मौदन

अध्वर्यु किसी पात्र में अथवा बैल के चर्म पर चार पात्र भरकर चावल का निर्वाप करे। पश्चात् चार अञ्जली भरकर उसपर चावल छोड़े। अनन्तर चार प्रसृत भरकर चावल छोड़े। उसका प्रक्षालन करके गार्हपत्य के अग्नि पर पकावे। उसमें आज्य छोड़े। इस ब्रह्मौदन

---

१. अथाश्वमेधः। वै० श्रौ० ३६.१४। राज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य। का० श्रौ० २०.१.१।
राजाश्वमेधेन यजेत। स० श्रौ० १४.१.१।
प्रजापतिरश्वमेधमसृजत। श० ब्रा० १३.१.४.१।

२. यः कामयेत सर्वा व्युष्टीर्व्यश्नुवीयेति। स० श्रौ० १४.१.२।
अश्वमेधेन यजते सर्वान्कामानाप्नोति सर्वा व्युष्टीर्व्यश्नुते। शां० श्रौ० १६.१.१।

३. सर्वस्य वा एषा प्रायश्चित्तिः सर्वस्य भेषजं सर्वं वा एतेन पाप्मानं० तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते, य उ चैनमेवं वेद। तै० सं० ५.३.१२।

४. प्रजापतिकामयत० तेनाऽयजत। शां० श्रौ० १६.१.१।

५. अष्टम्यां नवम्यां वा फाल्गुनीशुक्लस्य। का० श्रौ० २०.१.२।

६. ग्रीष्म एके। का० श्रौ० २०.१.३।

७. पुण्यनामधेयं चित्रं देवयजनमध्यवस्यति। यस्य पुरस्तादपः सुखाः सूपावगाहा अनपस्वरीः। स० श्रौ० १४.१.३।

संज्ञक ओदन को ब्रह्मा, होता, उद्गाता और अध्वर्यु को खाने को दे[1]। ओदन में आज्य छोड़ने पर बचे हुए आज्य को अश्व को बाँधने की डोरी में लगाने के हेतु सुरक्षित रखे[2]। उपर्युक्त चारों ऋत्विजों को एक-एक सहस्र गौ दे। एक-एक सुवर्ण शतमान भी उन्हें दे[3]। अध्वर्यु यजमान के गले में निष्क पहनावे। यजमान को मन्त्रवाचन करावे। यजमान को वाग्यमन का प्रैष करे।

यजमान, पत्नी और दासी

इस याग में सब प्रकार के अलङ्कारों को पहने हुए रानियों को उपस्थित होना चाहिए। उनमें पहली प्रथम परिणीता पटरानी, दूसरी प्रिया, तीसरी अप्रिया और चौथी दासीपुत्री इस तरह चारों तरह की रानियाँ हों[4]। प्रत्येक रानी के साथ एक-एक सौ दासियाँ भी रहनी चाहिए। दासियाँ भी उत्तम अलङ्कार और वस्त्रों से विभूषित हों। प्रथम परिणीता रानी की दासियाँ राजपुत्री होनी चाहिए। प्रिया पत्नी की दासियाँ क्षत्राणी हों। तीसरी अप्रिया पत्नी की दासियाँ सूतपुरुष से ग्रामणी स्त्री में उत्पन्न होनी चाहिए। चौथी पत्नी की दासियाँ दूत पुरुष से सारथि की स्त्रियोंमें उत्पन्न होनी चाहिए[5]। उपर्युक्त प्रकार की दासियों के सहित चारों रानियाँ देवयजन के निकट यजमान के पास आवें। इनमें पहली महिषी, दूसरी वावाता, तीसरी परिवृक्ता और चौथी पालागली नाम से पहचानी जाती हैं। इन रानियों के उपस्थित होने पर यजमान रानियों के साथ देवयजन में प्रवेश करे। पूर्वद्वार से यजमान और दक्षिणद्वार से रानियाँ देवयजन में प्रविष्ट हों।

यज्ञशाला में शयन

सायङ्काल के समय अग्निहोत्र हवन स्वयं यजमान करे। अग्निहोत्रहवन के अनन्तर रात्रि में पत्नी सहित यजमान देवयजन में ही शयन करे। गार्हपत्य के पश्चिम में उत्तर की ओर सिर करके वावाता सोये। वावाता की गोद में सिर रख कर यजमान शयन करे[6]। उनके चारों

---

१. फाल्गुन्यां ब्रह्मौदनमुद्गातृचतुर्भ्यो ददाति। वै० श्रौ० ३६.१५। ब्रह्मौदनम्पचति चतुर्णां पात्राणामञ्जलिप्रसृतानां च। का० श्रौ० २०.१.४।

२. अक्त्वाज्यशेषेण। का० श्रौ० २०.१.७।

३. तेभ्यश्चत्वारि सहस्राणि ददाति शतमानांश्च तावतः। का० श्रौ० २०.१.६। ब्रह्मौदने सुवर्णं हिरण्यं ददाति रेतो वा ओदनो रेतो वा हिरण्यं रेतसैवास्मिंस्तद्रेतो दधाति शतमानं भवति शतायुर्वै पुरुषः शतेन्द्रिय आयुरेवेन्द्रियं वीर्यमात्मन्धत्ते। श० ब्रा० १३.१.१.४।

४. पत्न्यश्चायन्त्यलङ्कृता निष्किण्यो महिषी,वावाता,परिवृक्ता, पालागली सानुचर्यः शतेन शतेन। का० श्रौ० २०.१.१२।

५. राजदुहितरः प्रथमायाः, राजन्यानां द्वितोयायाः, सूतग्रामण्यां तृतीयायाः, क्षात्रसंगृहीतॄणां चतुर्थ्याः। का० श्रौ० २०.१.१३-१६।

६. जघनेन गार्हपत्यमुदङ् वावातया सह संविशति। शां० श्रौ० १६.१.७।

और अन्य महिषी प्रभृति पत्नियाँ सोयें। यहाँ इनके विषय में अन्य प्रकार की भावना न होनी चाहिए। कारण यह कोई विहारभूमि नहीं है। साथ ही सूत्रकार भी कहते हैं—'ब्रह्मचारी'[1] अर्थात् इस प्रकार की कामोद्दीपक सामग्री की उपस्थिति में भी ब्रह्मचर्यावस्था अखण्ड रहनी चाहिए।

पूर्णाहुतिहवन

इस प्रकार रात्रि व्यतीत करके प्रातःकाल स्नानादि आवश्यक कृत्य करके यजमान स्वयं अग्निहोत्रहवन करे[2]। अध्वर्यु पूर्णाहुति के निमित्त आहवनीय में अग्नि का उद्धरण करे। आज्यसंस्कार करके आज्य से पूर्ण स्रुची को लेकर आहवनीय के निकट जाय। परिस्तरण और समिदाधानपूर्वक आहवनीय में पूर्णाहुति करे। यह पूर्णाहुति प्रजापति देवता निमित्तक की जाती है। आज से पूर्वदिन किया हुआ वाग्यमन इस समय यजमान विसर्जित करे। ब्रह्मा को वर दक्षिणा दे[3]। यजमान अपने गले में पहना हुआ निष्कसंज्ञक आभूषण अध्वर्यु को दे।

पथिकृदिष्टि

पूर्णाहुति के अनन्तर यजमान अग्नि का उद्धरण करके अग्नि देवता के निमित्त पथिकृदिष्टि का सङ्कल्प करे[4]। अध्वर्यु इस याग में पथिकृत् अग्नि के लिए आठ कपाल पर पुरोडाश करके याग करे। 'अग्नये पथिकृते' इस प्रकार चतुर्थ्यन्त पद का हविर्ग्रहण प्रभृति में उच्चारण करे। यजमान शतमान सुवर्ण दक्षिणा दे[5]। अध्वर्यु कर्मापवर्गान्त समस्त याग-विधि सम्पन्न करे।

पौष्णचरुयाग

यजमान गार्हपत्य में से आहवनीय और दक्षिणाग्नि में अग्नि का उद्धरण करे। सङ्कल्प करके ब्रह्मवरण करे। अध्वर्यु पात्रासादन करके याग का प्रारम्भ करे। पूषा देवता के निमित्त चरु तैयार करे। पूषा देवता के निमित्त याग करके यागसम्बन्धी शेष कृत्य की समाप्ति करे। इस याग में यजमान एक सौ वस्त्र दक्षिणा में दे[6]।

रशनाञ्जन

इस याग में अश्व को बाँधने की डोरी में आज्य लेपन (रशनाञ्जन कृत्य) किया

---

१. तत्र एवंविधस्थाने कामोद्दीपकस्थाने सुप्तोऽपि ब्रह्मचारी भवति। दे० प० पृ० ६३९।
संविशत्यूर्वन्तरे वावाताया ब्रह्मचारी। का० श्रौ० २०.१.१७।

२. एवं रात्रिमतीत्य प्रातरग्निहोत्रं जुहोति। दे० प० पृ० ६४०।

३. पूर्णाहुत्यन्ते ब्रह्मणे वरदानम्। अध्वर्यवे च प्रतिमुक्तं निष्कम्। का० श्रौ० २०.१.१९-२०।

४. पुरोडाशोऽग्नये पथिकृते। का० श्रौ० २०.१.२१।

५. अत्र सौवर्णं शतमानं दक्षिणा। दे० प० पृ० ६४०।

६. पौष्णं चरुं निर्वपति, वासः शतं दक्षिणा। का० श्रौ० २०.१.२४।

जाता है। अश्व को बाँधने के लिए दर्भ को बट कर डोरी तैयार की जाती है[1]। यह डोरी लम्बाई में बारह अथवा तेरह अरत्नि लम्बी होनी चाहिए[2]। अध्वर्यु ब्रह्मा से अनुमति प्राप्त करके अश्व को बाँधे।

अश्वमेध का अश्व

यह अश्व तीन रङ्ग का होना चाहिए[3]। अश्व का अगला हिस्सा (पूर्वार्ध) कृष्ण वर्ण का होना चाहिए। पिछला हिस्सा (उत्तरार्ध) श्वेत हो और अश्व के ललाट में कृत्तिका-शकट पुण्ड्र का चिह्न होना चाहिए[4]। अन्य गतिशाली अश्वों में यह अश्व गति में सर्वप्रथम होना चाहिए। इस अश्व का मूल्य एक सहस्र गौ के समान होना चाहिए।

अश्वप्रोक्षण

उपर्युक्त प्रकार के सुलक्षणों से युक्त अश्व को अध्वर्यु याग के निमित्त बाँधे। अश्व को नदी पर ले जाकर उसे समन्त्रक नहलावे[5]। आयोगव को चतुरक्ष कुत्ते को मारने का प्रैष करे[6]। अध्वर्यु का प्रैष पाकर आयोगव मुसल से कुत्ते को मारे। अध्वर्यु बेंत की चटाई से मरे हुए कुत्ते को अश्व के नीचे करे[7]। अध्वर्यु अश्व को देवयजन में ले आवे। अश्व को आहवनीय के निकट खड़ा करे[8]। आहवनीय के अग्नि पर आज्याहुति करे। इन आहुतियों की समाप्ति तभी तक हो जानी चाहिए जब तक अश्व के शरीर पर से पानी टपकता रहे।[9]

---

१. दर्भमयी रशना भवति। श० ब्रा० १३.१.१.२।

२. अकृत्वाज्यशेषेण रशनां द्वादशारत्निं त्रयोदशारत्निं वा। का० श्रौ० २०.१.७।
द्वादशारत्निर्भवति द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरमेव यज्ञमाप्नोति। श० ब्रा० १३.१.२.१।

३. अश्वं त्रिरूपम्। सर्वरूपं वा। शीघ्रम्। दक्षिणधुर्यसमम्। साहस्रम्। ललामम्। कृत्तिकाञ्जि वा। पूर्वकायकृष्णं शुक्लापरम्। कृष्णसारङ्गं वा। का० श्रौ० २०.१.२७-३४।
श्वेतः, कृष्णः, पिशङ्गः, सारङ्गोऽरुणपिशङ्गो वा। स० श्रौ० १४.१.२१। सर्वरूपमश्वं जवेन सम्पन्नम्। शां० श्रौ० १६.१.१५। कृष्णः, श्वेतः, पिशङ्गः, सारङ्गोऽरुणपिशङ्गो वा। यस्य वा श्वेतस्याल्पं कृष्णं स्यात्तमालभेत। मातृमन्तं पितृमन्तं पृष्ठे वहे च दान्तम्, सोमपं सोमपयोः पुत्रम्। आप० श्रौ० २०.२.९-१०।

४. अश्व के ललाट में शकट के आकार का चिह्न होना चाहिए।
कृत्तिका शकटमिव यस्य ललाटे पौण्ड्रम्। दे० प० पृ० ६४१।

५. शूद्राद्वैश्यायां जात आयोगवः। दे० प० पृ० ६४१।

६. चतुरक्षस्याभावाद्यस्याक्षिसमीपे पौण्ड्राणि स गुणवृत्या चतुरक्ष इति कर्कः।
दे० प० पृ० ६४१।

७. वेतसकटेनाधोऽश्वं प्लावयति। का० श्रौ० २०.२.२।

८. अग्निसमीपमानीय। का० श्रौ० २०.२.३।

९. आश्वस्रवणविरमात्। का० श्रौ० २०.२.५।

सावित्रीष्टि

यजमान गार्हपत्य में से आहवनीय में अग्नि का उद्धरण करे। अध्वर्यु द्वादश कपाल पर पुरोडाश करके कर्मापवर्गान्त तीन सावित्रीष्टि करे[1]। इन तीनों इष्टियों में क्रमशः सवित्रे प्रसवित्रे, सवित्रे आसवित्रे और सवित्रे सत्यप्रसवाय पदों से सविता प्रसविता, सविता आसविता और सविता सत्यप्रसव के निमित्त याग करना चाहिए। यजमान तीनों इष्टियों में से पूर्व और उत्तर की इष्टियों में सुवर्णशतमान और मध्य में रजतशतमान दक्षिणा दे।

उत्तरमन्द्रागान

इन तीनों इष्टियों में जिस समय प्रयाज होता रहे उस समय ऋत्विजों से अन्य एक ब्राह्मण देवयजन के दक्षिण की ओर उपस्थित हो। सङ्गीत शास्त्र में प्रसिद्ध उत्तरमन्द्रा संज्ञक वीणा बजावे। वह ब्राह्मण स्वनिर्मित, यजमान के स्तुतिपरक पदों का वीणा बजाते हुए गान करे[2]। इन पदों से यजमान की अनेक प्रकार के यज्ञ करने की स्तुति अभिव्यक्त होनी चाहिए।

अश्व के कर्ण में मन्त्रपाठ

तीनों सावित्रीष्टि के समाप्त होने पर अध्वर्यु और यजमान अश्व के निकट जायँ। अश्व के कान में शुक्ल यजुर्वेदोक्त मन्त्र का सस्वर पाठ करे[3]। मन्त्रपाठ हो चुकने पर ईशान में पहले से स्थित एक सौ अश्व के झुण्ड में इस प्रमुख अश्व को जाने दे।

अश्व के रक्षक

अनन्तर एक वर्ष तक अश्व को दिशाओं में घूमने के लिए छोड़े। यजमान राजा का ऐसा पराक्रम होना चाहिए कि इस अश्व को पकड़ने वाला और कोई दूसरा विपक्षी न हो। यदि कोई इस अश्व को पकड़ भी ले तो युद्ध में विपक्षी को परास्त करके तुरन्त अश्व को स्वायत्त करना चाहिए। एतदर्थ उत्तम कोटि के चार सौ शूर योद्धा अश्व के साथ रह कर अश्व की रक्षा करते हैं[4]। इन चार सौ रक्षकों में एक सौ कवचधारी क्षत्रिय युवक, एक सौ खड्ग-

---

१. सावित्र्या एवेष्टेः। श० ब्रा० १३.१.३.७। द्वादशकपालान्निर्वपति। का० श्रौ० २०.२.६।

२. प्रयाजेषु दक्षिणतो ब्राह्मणो यजमानस्य यज्ञदानयुक्ताः स्वयङ्कृतास्तिस्रो गाथा गायत्युत्तरमन्द्रायाम्। का० श्रौ० २०.२.७।
यदा वै पुरुषः श्रियं गच्छति वीणास्मै वाद्यते ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ संवत्सरं गायतः। श० ब्रा० १३.१.५.१।

३. अध्वर्युयजमानौ दक्षिणेऽश्वकर्णे जपतो विभूर्मात्रेति। का० श्रौ० २०.२.९।
विभूर्मात्रा प्रभूः पित्राश्वोऽसि हयोऽस्यत्योऽसि मयोऽस्यर्वासि सप्तिरसि वाज्यसि वृषासि नृमणा असि०। शु० य० २२.१९।

४. अश्वचतुःशतसङ्ख्याकान् रक्षकानादिशति। दे० प० पृ० ६४२।

धारी, एक सौ धनुर्धारी और एल सौ दण्डधारी योद्धा होने चाहिए[१]। इस अश्व के रक्षकों को अध्वर्यु आवश्यक आदेश देता है।

अश्वरक्षकों को आदेश

अध्वर्यु—यज्ञ के अश्व को नदी या तालाब में स्नान करने से रोकना चाहिए[२]। यज्ञ के अश्व को वडवा के निकट जाने से सर्वथा निवारण करना[३]। जो ब्राह्मण अश्वमेध का आर्त्विज्य नहीं कर सकता उसका द्रव्य छीन कर अपना जीवन निर्वाह करना[४]। अश्वमेध यज्ञ को न जानने वाले ब्राह्मणों से भी मोदक, तण्डुल और पिष्ट प्रभृति खाद्य पदार्थ लिया जा सकता है। रात्रि के समय अश्व सहित अपना निवासस्थान रथकार के घरों में रखना। साथ ही अध्वर्यु रक्षकों से कहे कि इस प्रकार नियम से रहते हुए एक वर्ष में जब आप लोग अश्व को सुरक्षित लेकर वापस आवेंगे तब आप लोगों का राज्याभिषेक होगा[५]। उपर्युक्त प्रकार से अश्वरक्षकों को आदेश देकर एक सौ अश्व और चार सौ शूरों के साथ यज्ञ के अश्व को एक वर्ष के लिए बिदा करे[६]। अनन्तर सावित्र वेदि के दक्षिण में सोने की चौकी पर अध्वर्यु और यजमान बैठें। इनके सामने आसन पर होता, ब्रह्मा और उद्गाता बैठें। अध्वर्यु होता को पारिप्लवशस्त्र पाठ करने का प्रैष करे। प्रैष के अनन्तर होता उपर्युक्त शस्त्र का पाठ करे[७]। शस्त्रपाठ के अनन्तर वीणा लेकर निकट में बैठे हुए गायकों से वीणा बजाकर यजमान की स्तुति का गान करने को कहे। अध्वर्यु दक्षिणाग्नि और आहवनीय में आहुति करे[८]।

---

१. अनुचरीजातान्। कवचिनिषङ्गिकलापिदण्डिनः। शतं राज्ञः पुत्राः कवचिनः कवचिनः सन्नाहयुक्ताः। शतं क्षत्रियजातीनां पुत्रा निषङ्गिणः। खड्गिन इति हरिस्वामिनः। खड्गपाणय इति वासुदेवः। शतं सूतग्रामण्यां पुत्राः कलापिन इषुवर्षिणः। शतं क्षात्रसंगृहीतॄणां पुत्रा दण्डधारिणः। दे० प० पृ० ६४२-६४३।

२. प्रस्नेयाच्चोदकात्। का० श्रौ० २०.२.१३।

३. वडवाभ्यो वारणम्। का० श्रौ० २०.२.१२।

४. यद् यद् ब्राह्मणजातमुपेयुस्तान्पृच्छेयुः कियद् यूयमश्वमेधस्य वित्थेति। यो न विद्यात्तं जित्वा तस्य गृहात्खादं पानं चोपनिवपेयुः। आप० श्रौ० २०.५.१५-१६।
ब्राह्मणोऽश्वमेधेऽविद्वान् वृत्तिः स वः। का० श्रौ० २०२.१४।

५. अभिषेक्या भविष्यत समाप्नुवन्त इत्याह राजपुत्रान्। का० श्रौ० २०.२.१७।

६. सर्वरूपमश्वं जवेन सम्पन्नं संवत्सरायोत्सृजन्ति। शां० श्रौ० १६.१.१५।

७. मनुर्वैवस्वतो राजेत्येवमादिकमाख्यानं परिप्लवाख्यं प्रथमेऽहन्याचष्टे।
शां० श्रौ० भा० १६.२.१।

८. दक्षिणाग्नौ जुहोति हिङ्काराय स्वाहेति। का० श्रौ० २०.३.३। आहवनीयेऽस्तमिते चतस्रो धृतीरिह रन्तिरिति। का० श्रौ० २०.३.४।

सांवत्सरिक कर्त्तव्य

यदि फाल्गुन शुक्ल अष्टमी को अश्वमेधयाग का प्रारम्भ किया हो तो एक वर्ष बीतने पर पुनः फाल्गुन आवे तब फाल्गुन शुक्ल सप्तमी तक एक वर्ष पर्यन्त प्रतिदिन नियमित रूप से उपर्युक्त कृत्य करे। रात्रि के समय वावाता के साथ देवयजन में शयन करे और ब्रह्मचर्य का पालन करे। तीन सावित्री संज्ञक इष्टियाँ करे। उत्तरमन्द्रागान और परिप्लवाख्यान कथन करे। धृतिहोम और अग्निहोत्रहवन करे। प्रत्येक गायक को एक-एक सौ गौ दक्षिणा दे[1]।

अश्व के रोग और उपाय

विजय के निमित्त प्रस्थित अश्व कहाँ है और किस परिस्थिति में है इसकी सूचना यजमान को बराबर मिलती रहनी चाहिए। अश्व को यदि कोई रोग हो तो उसका उपाय भी करना चाहिए। यदि स्राम (खञ्जता) रोग हो तो पूषा देवता के निमित्त चरु करके याग करे[2]। नेत्र रोग हो तो सूर्य के लिए चरु करके याग करे।[3] अश्व यदि जल में गिरकर मर जाय तो वरुण देवता के निमित्त यव का चरु करके याग करे[4]। अश्व को ज्वरादि रोग का आक्रमण हो तो वैश्वानर निमित्तक याग करे[5]। इस याग में पुरोडाश के श्रपण निमित्त कपाल स्थानीय भूमि का ही उपयोग करे[6]। यदि अश्व की मृत्यु हो जाय तो पुरोडाश, पय और चरु इस प्रकार तीनों हवि तैयार करके क्रमशः द्यावापृथिवी, वायु और सूर्य देवता के निमित्त याग करे[7]। यदि अश्व वडवा से संभोग करके स्खलित वीर्य हो जाय तो वायव्य पय से याग करे[8]। इस परिस्थिति में पूर्ववत् दूसरे अश्व का संस्कार करके याग करे।

एक वर्ष के बाद का अनुष्ठान

उपर्युक्त विधि के अनुसार नियम पूर्वक एक वर्ष बीतने पर फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को इष्टका पशुविधान, उखासम्भरण और ऋत्विजों का वरण करे[9]। सप्तमी तक प्रतिदिन

---

१. वीणागाथिभ्यां ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां पृथक् पृथक् गवामेकैकं शतं ददाति। दे० प० पृ० ६४५।

२. स्रामः सिङ्घाणकसंज्ञोऽश्वरोगविशेषः, शालिहोत्रे प्रसिद्धः। दे० प० पृ० ६४५।

३. पौष्णः स्रामे। का० श्रौ० २०.३.१३।

४. सौर्योऽक्ष्यामये। का० श्रौ० २०.३.१४।

५. वारुणोऽप्सुमृते। का० श्रौ० २०.३.१५।
उदकमध्येऽश्वे मृते वारुणो यवमयश्चरुः। दे० प० पृ० ६४५।

६. भूमिकपालो वैश्वानरोऽरिष्ट्यामये। दे० प० पृ० ६४५।

७. नाशे तन्त्रेण द्यावापृथिव्यः, पयो वायव्यं, सौर्यः। का० श्रौ० २०.३.१८।

८. प्रजाते वायव्यम्। का० श्रौ० २०.३.२०।
यद्यश्वमुपतपद्विन्देदाग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्। स० श्रौ० १४.२.२२।

९. आगामिनि वर्षे फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां प्राजापत्य एवेष्टका पशुः। दे० प० पृ० ६४६।

दीक्षणीयेष्टि करे। चैत्र कृष्ण अमावास्या को अग्नीषोमीय याग करे। प्रतिपदा से तृतीया तक तीन सुत्या करे। चतुर्थी के दिन दीक्षणीयेष्टि करे। इसतरह प्रतिदिन एक दीक्षा करते हुए बारह दिनों में बारह दीक्षा करे। इन बारह दीक्षा के दिनों में किसी एक दिन यूप संस्कार करे।

अश्वमेध के यूप

अश्वमेधयाग में इक्कीस यूप आवश्यक होते हैं। प्रत्येक यूप की लम्बाई इक्कीस अरत्नि होनी चाहिए। ये इक्कीस यूप दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा की ओर पङ्क्तिबद्ध सम रेखा में हों। पहला यूप मध्य का रज्जुदाल काष्ठ का होता है[1]। इसके अगल-बगल के एक-एक यूप देवदारु काष्ठ के होते हैं। देवदारु यूप के दक्षिण और उत्तर में दोनों ओर तीन-तीन यूप बिल्व काष्ठ के होने चाहिए। उनके अगल-बगल तीन-तीन खदिर (खैर) की लकड़ी के होते हैं। इनके भी दोनों ओर तीन-तीन पालाश काष्ठ के होने चाहिए। इनको जोड़ने से कुल इक्कीस होते हैं। दक्षिण की ओर से उत्तर की ओर बढ़ते हुए यूप के काष्ठ और यूप की सङ्ख्या की गणना की जायेगी तो इक्कीस यूप की एक पङ्क्ति इसप्रकार होती है।

पा. पा. पा. ख. ख. ख. बि. बि. बि. दे. र. दे. बि. बि. बि. ख. ख. ख. पा. पा. पा.

३ पालाश काष्ठ के +	३ खदिर काष्ठ के +	३ बिल्व काष्ठ के +
१ देवदारु काष्ठ का +	१ रज्जुदाल काष्ठ का +	१ देवदारु काष्ठ का +
३ बिल्व काष्ठ के +	३ खदिर काष्ठ के +	३ पालाश काष्ठ के = २१

अश्वमेध याग की चिति

अग्निचयन में जो चिति कही है, उस चिति की अपेक्षा अश्वमेध की चिति दूनी या तिगुनी बड़ी होती है। फिर भी इष्टका की संख्या ग्यारह हजार एक सौ सत्तर जो अग्निचयन याग में कही है, उतनी ही रहेगी। केवल प्रत्येक इष्टका बड़ी होने के कारण चिति भी बड़ी होती है[2]। जैसे, सौत्रामणी में प्रक्रम बनाया जाता है। उसी विधि से यहाँ भी दूना या तिगुना प्रक्रम बढ़ा लेना चाहिए। इसप्रकार चिति की वृद्धि होने पर भी अन्तःपात्य और गार्हपत्य प्रभृति का विस्तार नहीं होता[3]।

---

१. राज्जुदालः—श्लेष्मान्तकः। गुन्दी इति लोके प्रसिद्धः। दे० प० पृ० ६५०।
यथैवात्मा तथा यूपो यूपे ह्यात्मा प्रतिष्ठितः।
आत्मा वै यजमानस्य यूपत्वमनुगच्छति ॥ यू० ल० ४।
एकविंशतिर्यूपाः। राज्जुदालो मध्ये। अभितः पैतुदारवौ। षट् षट् बैल्वखादिरपालाशाः। का० श्रौ० २०.४.१६-१९।

२. सर्वासामिष्टकानां प्रमाणानि ऊहयित्वा कार्याणि। दे० प० पृ० ६४९।

३. अन्तःपात्यगार्हपत्ययोस्तु वृद्धिर्न भवति। दे० प० पृ० ६४९।

अश्वमेध याग में अग्निष्टोमयाग

वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को अग्निष्टोम याग का प्रारम्भ करे[1]। इस याग में दो एकादशिनी के पशु होने के कारण पशु संख्या बाईस होती है। यूप में मध्य का यूप प्रधान होता है। किस देवता का पशु किस यूप में नियुक्त करना यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। यहाँ दक्षिण से उत्तर की ओर जाते हुए इक्कीस यूप के पशु और देवता इस प्रकार हैं[2]।

१ वारुणपशु १ अज	८ पौष्णपशु १ अज	१५ बार्हस्पत्यपशु १ अज
२ सावित्रपशु १ अज	९ सौम्यपशु १ अज	१६ वैश्वदेवपशु १ अज
३ ऐन्द्राग्नपशु १ अज	१० सारस्वतपशु १ मेषी	१७ ऐन्द्रपशु १ अज
४ मारुतपशु १ अज	११ आग्नेयपशु २ अज	१८ मारुतपशु १ अज
५ ऐन्द्रपशु १ अज	१२ सारस्वतपशु १ मेषी	१९ ऐन्द्राग्नपशु १ अज
६ वैश्वदेव पशु १ अज	१३ सौम्यपशु १ अज	२० सावित्रपशु १ अज
७ बार्हस्पत्यपशु १ मेषी	१४ पौष्णपशु १ अज	२१ वारुणपशु १ अज

ऋत्विजों की दक्षिणा

उपर्युक्त प्रकार से यूप में पशु नियोजन और प्रोक्षणादि कार्य करके यथाविधि याग करे। यथासमय ऋत्विजों को दक्षिणा दे। दिग्विजय में जो द्रव्यादि प्राप्त हुआ है, उसमें से भूमि, पुरुष और ब्राह्मणस्व पहले अलग कर दे। शेष जो द्रव्य बचा हो उसमें से ऋत्विजों को दक्षिणा दे[3]। विजय में पूर्व दिशा से प्राप्त जो द्रव्य हो उसमें से तृतीयांश होता को दे। दक्षिण दिशा से प्राप्त द्रव्य का तृतीयांश ब्रह्मा को, पश्चिम दिशा से प्राप्त द्रव्य का तृतीयांश अध्वर्यु को और उत्तर दिशा से प्राप्त द्रव्य का तृतीयांश उद्गाता को दे। उसी में का अंशांश शेष

---

१. प्रातरग्निष्टोमः। एकादशिन्यौ सवनीयाः पशवो भवन्ति। का० श्रौ० २०.४.२१-२३।

२. आग्नेयसारस्वतसौम्यपौष्णबार्हस्पत्यवैश्वदेवैन्द्रमारुतैन्द्राग्नसावित्रवारुणान्।
का० श्रौ० ८.८.२५।
पश्वैकादशिन्यां, आग्नेयं सौम्यं वैष्णवं सारस्वतं पौष्णं बार्हस्पत्यं वैश्वदेवं ऐन्द्रं ऐन्द्राग्नं सावित्रं वारुणम्। वै० श्रौ० २२.२०।

३. विजयमध्याद् होतुः प्राचीदिक्, दक्षिणा ब्रह्मणो, अध्वर्योः प्रतीची, उद्गातुरुदीची। तृतीयं तृतीयमन्वहं ददाति भूमिपुरुषब्राह्मणस्ववर्जम्। का० श्रौ० २०.४.२७।
प्राचीं दिशमध्वर्यवे। दक्षिणां ब्रह्मणे। प्रतीचीं होत्रे। उदीचीमुद्गात्रे। अपि वा प्राचीं होत्रे। प्रतीचीमध्वर्यवे। आप० श्रौ० २०.१०.१।
प्राचीं दिशमध्वर्यवे, दक्षिणां ब्रह्मणे, प्रतीचीं होत्रे, उदीचीमुद्गात्रे। अपि वा प्राचीं होत्रे। प्रतीचीमध्वर्यवे। स० श्रौ० १४.२.४४-४५।
प्राची दिग्घोतुः, दक्षिणा ब्रह्मणः, प्रतीच्यध्वर्योः, उदीच्युद्गातुः। शां० श्रौ० १६.९.१८-२१।

ऋत्विजों को भी यथाविधि अर्पण करे। इस स्थान पर भी पूर्ववत् वीणावादन और गान करने का विधान है[1]। याग के अन्त में जलाशय पर अवभृथयाग करे।

रात्रि में अखण्डहवन

यह हवन सूर्यास्त से प्रारम्भ करके सूर्योदय पर्यन्त किया जाता है। प्रत्येक प्रहर की आहुति का द्रव्य भिन्न-भिन्न रहता है। प्रथम प्रहर की समाप्ति और दूसरे प्रहर के प्रारम्भ की जानकारी के निमित्त समय-सूचक जलघटी आदि की व्यवस्था आवश्यक है[2]।

जलघटी

चौड़े मुँह वाले दो पात्रों में जल भरे। एक ताँबे के कटोरे में यथाविधि निश्चित प्रकार का छेद करे। यह छेद इस नाप का होना चाहिए कि कटोरा निश्चित समय (एक घड़ी) में ही पानी में डूबे। प्रातः सूर्योदय के समय जलपात्र में यह कटोरा तैराना चाहिए। यह कटोरा ठीक एक घड़ी में पानी में डूबता है। इस कटोरे के जल में डूबते ही दूसरे जल पात्र में दूसरा कटोरा तैरावे। इसप्रकार समय ज्ञान बराबर होता रहेगा। इसके सिवाय एक बालु का घटीयन्त्र भी पूर्वकाल में प्रचलित था। सूर्यछाया घटी भी समयज्ञान का तीसरा साधन प्राचीन काल में था। परन्तु पहले दो प्रकार दिन और रात दोनों ही समय समय बताने में सफल होते हैं। यह तीसरा प्रकार रात्रि में असफल रहता है।

हवन का समयज्ञान

इस हवन की आहुतियाँ निश्चित समय में समाप्त होनी चाहिए। इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए यज्ञ से पूर्व इतर समय में विधिरहित केवल आवृत्ति मात्र करके अनुभव प्राप्त कर लेना चाहिए। ऐसा कर लेने से यागविधि की पूर्णता में सन्देह नहीं रहता[3]।

अखण्डहवन और हविर्द्रव्य

प्रारम्भ में सङ्कल्प और वरण करके याग का प्रारम्भ करे। इसी याग में रात्रि के याग का हविर्द्रव्य ग्रहण करके उसका संस्कार करे। यथोक्त हविर्द्रव्य तैयार करे। सूर्यास्त से पूर्व रात्रि के अखण्डहवन की पूरी सामग्री प्रस्तुत कर लेनी चाहिए।

सूर्यास्त होते ही हवन प्रारम्भ करे[4]। प्रथम प्रहर में आज्य से हवन करे। दूसरे प्रहर में सत्तू की आहुति दे। तीसरे प्रहर में धाना और चौथे प्रहर में लाजा का हवन करे। अध्वर्यु

---

१. अत्र ब्राह्मणो वीणागाथी गायति। आप० श्रौ० २०.६.५।
सायंप्रातर्ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ गायेताम्। आप० श्रौ० २०.७.१।

२. निर्व्यापारे काले प्रहररूपकालपरिमाणज्ञानार्थं जलकुण्डिकायां घटीपात्रनिधानाद्युपायं कृत्वा०। दे० प० पृ० ६५३।

३. अवैधशुष्कहोमम्। दे० प० पृ० ६५३।

४. आज्यसक्तुधानालाजानामेकैकं जुहोति प्राणाय स्वाहेति प्रतिमन्त्रं सर्वरात्रमावर्त्तम्। का० श्रौ० २०.४.३१।

सावधान होकर समय और विधि का ध्यान रखते हुए इस हवन को करे। अध्वर्यु के इस हवन में व्यस्त रहने के कारण रात्रि के उत्तरार्ध का अन्य कृत्य प्रतिप्रस्थाता सम्पादित करता रहे। प्रातः यथासमय ऋत्विजों का प्रबोधन करके याग कृत्य प्रारम्भ करे[1]। पात्रासादनादि करे। पाशुक पात्रासादन में शास (खड्ग) के स्थान पर स्वर्णजटित खड्ग रखे। अध्वर्यु द्वारा हवन की समाप्ति करने से पूर्व प्रति प्रस्थाता दिन में किये जाने वाले याग के पूर्वाङ्ग की समाप्ति कर ले[2]।

अध्वर्यु सूर्योदय होने पर प्रारब्ध हवन की समाप्ति करे। प्रतिप्रस्थाता द्वारा सम्पादित पूर्वाङ्गकृत्य से आगे की विधि का प्रारम्भ करे। अन्तर्यामग्रह हवन से प्रारम्भ करके आगे का कृत्य करे। सर्पण के समय अश्व की पूँछ का स्पर्श करके सर्पण करे[3]। यहाँ पर अश्व को घोड़ी दिखलावे[4]। घोड़ी को देखकर अश्व के हिनहिनाने का शब्द ही इस अश्वमेधयाग का बहिष्पवमान संज्ञक स्तोत्र है। अथवा उद्गाता उपर्युक्त स्तोत्र पढ़े और यजमान उद्गाता को सुवर्ण शतमान दक्षिणा दे। अपाकरण के समय पहले दो पश्वेकादशिनी के पशुओं का उपाकरण करे। अनन्तर प्रधान याग के निमित्त अश्व का उपाकरण करे। होता अश्व की स्तुति करे[5]। अश्व को स्वर्णालङ्कार से विभूषित करे। इस अश्व के सिवाय अन्य तीन अश्वों को और एक रथ को आभूषणों से सुसज्जित करे।

रथसंयोजन

अध्वर्यु सुसज्जित रथ में प्रधान अश्व को जोते[6]। अनन्तर अन्य तीन अश्वों को भी उसी रथ में जोते। यजमान और अध्वर्यु दोनों उस रथ पर बैठें। अध्वर्यु रथ को हाँक कर तालाब की ओर ले जाय। रथ के अश्वों को पानी में जाने दे। उसी समय अध्वर्यु यजमान से मन्त्रवाचन करावे। मन्त्रवाचन के अनन्तर रथ को घुमाकर देवयजन की ओर ले आवे।

अश्व की सजावट

अध्वर्यु रथ को देवयजन पर लाकर रथ से अश्वों को अलग करे। यजमानपत्नी अश्व के शरीर में आज्य लगावे[7]। राजमहिषी अश्व के पूर्वाङ्ग में, वल्लभा मध्यभाग में और अप्रिया

---

१. प्रथमप्रहरपर्यन्तमाज्यहोमः। द्वितीयप्रहरान्तं सक्तुहोमः। तृतीये प्रहरे धानाभिर्होमः। चतुर्थे प्रहरे लाजैर्होमः। दे० प० पृ० ६५४।
२. उपांशुसवनसादनान्तं सर्वं प्रतिप्रस्थातैव करोति। दे० प० पृ० ६५५।
३. बहिष्पवमानाय सर्पणमश्वमालभ्य। का० श्रौ० २०.५.३।
४. वडवा दर्शयति, अभिरसति तत्स्तोत्रम्। का० श्रौ० २०.५.४।
५. अश्वमभिष्टुहीति प्रेष्यति। का० श्रौ० २०.५.९।
६. युनक्त्येनं। का० श्रौ० २०.५.१०।
युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तम्। शु० य० २३.५।
७. गायत्रेणच्छन्देसेति महिष्यभ्यनक्ति०। त्रैष्टुभेनच्छन्दसेति वावाता०। जागतेनच्छन्दसेति परिवृक्ता०। श० ब्रा० १३.९.१५.४-६।

अश्व के उत्तराङ्ग में आज्य लगावे। अनन्तर प्रत्येक राजपत्नी, एक सौ एक सुवर्णमणि लेकर अश्व को आभूषित करें[१]। सिर, गर्दन, पूँछ, नाल और रोम में मणि पहनावे। दासी भी मणि पहनावे। इस प्रकार यहाँ तीन आचार्यों ने तीन मत प्रदर्शित किये हैं[२]। इस प्रकार आभूषणों से पूरी तरह अश्व को सजावे। रात्रि के हवन का शेष हविर्द्रव्य अश्व को खिलावे[3]। यदि हविर्द्रव्य को अश्व न खाय तो हवि का जल में प्रक्षेप करे[४]।

ब्रह्मोद्यकथन

यूप के दक्षिण में उत्तराभिमुख ब्रह्मा और उत्तर में दक्षिणाभिमुख होता बैठे। ब्रह्मा "कः स्विदेकाकी चरति" प्रभृति होता से प्रश्न करे और होता यथाशास्त्र उसका उत्तर दे। इस तरह ब्रह्मोद्य का कथनोपकथन करे[५]।

प्रधान कृत्य

अग्निमन्थन करके अग्निस्थापन करे। पूर्ववत् दो एकादशिनी के पशुओं का यूप में नियोजन करे। इसके अनन्तर मध्यम यूप में प्रधान अश्व तूपर और गोमृग का नियोजन करे।

---

१. अभ्रंश्यमानान्मणीन्त्सौवर्णानिकशतमेकशतं केसरपुच्छेष्वावपन्ति। अनुचर्यश्च तूष्णीमेकेषाम्। का० श्रौ० २०.५.१६-१७।

२. आबघ्नन्तीति हरिस्वामिनः। शिरोग्रीवापुच्छनालेष्विति वासुदेवः। अनुचर्योऽपि मणीन्प्रवयन्ति केषांचिदाचार्याणां मते। दे० प० पृ० ६५७।

३. अश्वाय रात्रिहुतशेषं प्रयच्छति। का० श्रौ० २०.५.१८।

४. अप्स्ववहरणमखादति। का० श्रौ० २०.५.१९।

५. ब्रह्मणि वेदे वदनं ब्रह्मोद्यम्०। श० ब्रा० हृ० भा० १३.१.१५.९।

प्र०	ब्रह्मा —	कः स्विदेकाकी चरति	उ०	होता—	आदित्य एकाकी चरति
,,	,,	किंस्विद् हिमस्य भेषजम्	,,	,,	अग्निर्वै हिमस्य भेषजम्
,,	,,	क उस्विज्जायते पुनः	,,	,,	चन्द्रमा वै जायते पुनः
,,	,,	किं वाऽऽवपनं महत्	,,	,,	अयम् वै लोक आवपनं महत्
,,	,,	कास्विदासीत्पूर्वचित्तिः	,,	,,	द्यौर्वै वृष्टिः पूर्वचित्तिः
,,	,,	किंस्विदासीद् बृहद्वयः	,,	,,	अश्वो वै बृहद्वयः
,,	,,	कास्विदासीत्पिलिप्पिला	,,	,,	श्रीर्वै पिलिप्पिला
,,	,,	कास्विदासीत्पिशंगिला	,,	,,	अहोरात्रे वै पिशङ्गिले

श० ब्रा० १३.१.१५, १७।

प्र० कः स्विदेकाकी चरति क उस्विज्जायते पुनः किंस्विद् हिमस्य भेषजं किंस्विदावपनं महत्।
उ० सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥ शां० श्रौ० १६.५.१।

१. रूपानुकरणशब्दोऽयम् बहुरूपविलासोद्योतनवती श्रीः। श० ब्रा० हृ० भा० १३.१.१५-१६।

पश्चात् प्रधान अश्व के अङ्गों में निम्नाङ्कित प्रकार से पशुओं को बांधे। इन पशुओं को डोरी से अश्व के अङ्गों में बाँधना चाहिए। डोरी से बाँधने के अनन्तर डोरी की जाल से इन पशुओं को अश्वशरीर में कस देना चाहिए।

अश्वशरीर पर पशुनियोजन

देवता	अश्वाङ्ग	पशु	प्रकार
अग्नि[1]	ललाट	अज	कृष्णग्रीव
सरस्वती	हनु	मेषी	
अश्वि	दक्षिणबाहु	अघोराम	
अश्वि	वामबाहु	अघोराम	
सोमापूषा	नाभि	अज	श्वेतकृष्ण
सूर्य	दक्षिणपार्श्व	अज	श्वेत
यम	वामपार्श्व	अज	कृष्ण
त्वष्टा	दक्षिणपाद	अज	बहुरोमी
त्वष्टा	वामपाद	अज	बहुरोमी
वायु	पुच्छ	अज	श्वेत
इन्द्रस्वपस्य	पुच्छ	गर्भघाती अज	
विष्णु	पुच्छ	अज	वामन

इस तरह मध्यमयूप में प्रधान अश्व को लेकर कुल सत्रह पशुओं का नियोजन हुआ[2]। शेष बीस यूपों में प्रत्येक यूप में पन्द्रह-पन्द्रह पशुओं को नियोजित करे। प्रत्येक यूप में एकादशिनी सम्बन्धी एक-एक पशु पहले से ही बंधा है। इस तरह इन बीस यूपों में सोलह-सोलह पशु नियुक्त हुए।

वन्यपशु

यहाँ इक्कीस यूपों के अन्तराल, सङ्ख्या में बीस होते हैं। इन बीसों अन्तरालों में तेरह-तेरह वन्य पशु प्रत्येक अन्तराल में उपस्थित करे। ये विभिन्न जाति के होने के कारण जिस प्रकार से हो सकें, जैसे सर्प को कण्डिये में, सिंह को पिंजड़े में और मत्स्यादिकों को घड़े में,

---

१. कृष्णग्रीवमाग्नेयम्। सारस्वतीम्मेषीमधस्ताद् हन्वोः। आश्विनमघोरामौ बाह्वोः। सोमपौष्णं श्यामं नाभ्याम्। सौर्ययामौ श्वेतं च कृष्णं च पार्श्वयोः। त्वाष्ट्रौ लोमशसक्थौ सक्थ्योः। वायव्यं श्वेतं पुच्छे। श० ब्रा० १३.१.११.३-९।

२. सप्तदशैव पशून्मध्यमे यूप आलभत इत्यत्र हरिस्वामिनः। पंचदश पर्यङ्ग्याः द्वौ चाग्नेयो एकादशिनौ एते सप्तदश मध्यमे। इतरेषु यूपेषु पञ्च दश पञ्चदश रोहितादयः, एकैकश्चैकादशिनः, एवं षोडश षोडश भवन्तीत्येवं कात्यायनोमेने। दे० प० पृ० ६५८।
षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिश्चाधिकानि हि॥ दे० प० पृ० ६६७।

इन्हें अन्तराल में उपस्थित करना चाहिए। बीस अन्तराल में स्थापित पशुसङ्ख्या २६० हुई। पहले यूपों में नियुक्त अश्वादिक पशुसङ्ख्या ३१७ और दो एकादशिनी की पशुसङ्ख्या २२ इस प्रकार इन तीनों का योग ६०९ होता है। इनका विवरण परिशिष्ट में देखें।

अश्वप्रोक्षण

अध्वर्यु प्रोक्षणी के जल से यूप में नियुक्त एकादशिनी पशुओं का प्रोक्षण करे। अनन्तर शुक्लयजुर्वेद के अश्वमेध सम्बन्धी चार कण्डिकाओं के मन्त्रों को पढ़ते हुए अश्व का प्रोक्षण करे[2]। पश्चात् एतदतिरिक्त पशुओं का भी प्रोक्षण करे। इध्मप्रैष और पर्यग्निकरण कर लेने पर तत्तद् देवताओं का नामोच्चार करते हुए कपिञ्जलादि पशुओं का आलम्भन (स्पर्श) करे। अनन्तर उन-उन देवताओं के निमित्त कपिञ्जलादि पशुओं का उत्सर्ग करे[2]।

अश्व संज्ञपन

शामित्रशाला में अन्य पशुओं के संज्ञपन के अनन्तर वस्त्र और सुवर्ण के ऊपर अश्व का संज्ञपन करना चाहिए[1]। संज्ञपन के अनन्तर नेष्टा समस्त यजमान पत्नियों को संज्ञप्त अश्व के शोधन के निमित्त शामित्रशाला में ले जाय[2]। पत्नी अश्व की प्रदक्षिणा करे[3]। अन्य पशु के शोधन के अनन्तर अश्व का शोधन करे। प्रधानपत्नी अश्व के पार्श्व में सोये[4]। अश्व के नीचे आस्तृत वस्त्र को अश्व और पत्नी को ओढ़ा दे[5]। पत्नी अपने हाथ से अश्व का शिश्न प्रजनन प्रदेश पर रखे। यजमान अभिमन्त्रण करे।

ऋत्विज और स्त्रीसंवाद

अश्व के पार्श्व में सोयी हुई राजमहिषी को अन्य पत्नियाँ उठावें[6]। यहाँ अध्वर्यु और कुमारी का, ब्रह्मा और महिषी का, उद्गाता और महिषी का और होता और महिषी का परस्पर संवाद होता है[6]। संवाद में दासियाँ भी सम्मिलित रहती हैं।

---

१. प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। श० ब्रा० १३.२.१.१२।
२. कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्। का० श्रौ० २०.६.९।
३. सर्वाभ्यां देवताभ्योऽश्वआलभ्यते। श० ब्रा० १३.२.९.१।
 हिरण्यवासोऽधीवासेष्वश्वसंज्ञपनम्। का० श्रौ० २०.६.१०।
४. वाचयति पत्नीर्नयन्नमस्तेऽम्ब इति। का० श्रौ० २०.६.१२।
५. अश्वं त्रिस्त्रिः परियन्ति पितृन्मध्ये०। का० श्रौ० २०.६.१३।
 गणानां० प्रियाणां० निधीनां०। शु० य० २३.१९।
६. प्रक्षालितेषु महिष्यश्वमुपसंविशति। का० श्रौ० २०.६.१४।
 आहमजानि०। शु० य० २३. १९।
७. अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते। का० श्रौ० २०.६.१६। वृषा० व्वाजीति। शु० य० २३.२०।
८. सानुचर्यः पत्न्यो महिषीमश्वसमीपे सुप्तामुत्थापयन्ति। दे० प० पृ० ६६९।
९. अथाध्वर्युः कुमारीमभिमेथति। कुमारी हये हये कुमारि यकासकौ शकुन्तिका। तं कुमारी प्रत्यभिमेथति अध्वर्यो हये हयेऽध्वर्यो नकोसकौ शकुन्तकः। श. ब्रा. १३.३.४.४।

अश्वत्वक्जर्जरीकरण

राजमहिषी एक सौ एक सीसे की अथवा ताँबे की सूई से, वावाता एक सौ एक चाँदी की सूई से और परिवृक्ता एक सौ एक सुवर्ण की सूई से अश्व के विशसन प्रदेश को जर्जर करे[1]। अश्व के विशसन के लिए सुवर्णजटित असि अपेक्षित है[2]। शेष पशुओं का विशसन कार्य करे। अश्व शरीर में वपा नहीं होती है[3]। तत्स्थानीय अश्व के मेद की आहुति करनी चाहिए[4]। अश्व के रुधिर की भी आहुति दी जाती है[5]। यजमान, ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाता और होता सदोमण्डप में बैठकर ब्रह्मोद्यकथन करें[6]। अनन्तर अध्वर्यु सुवर्णपात्र से महिमग्रह की आहुति दे[7]। वपाहवन करे। राजतपात्र से महिमग्रह की आहुति दे। सर्पणादि कृत्य करके अश्वावदान-याग करे। प्रथमदिन के समान दक्षिणादान करे।

महिमग्रह

तृतीयसवन में आग्रयणग्रह की आहुति के अनन्तर उक्थ्यग्रह की आहुति दे। अवदान के आलभन के अनन्तर गोमृग के कण्ठादि अङ्गपर अभिघार करे। दोनों एकादशिनी पशु के अङ्गों का याग करें। वनस्पतियाग के अनन्तर अश्वशेष की आहुति करे। शादादि निमित्तक आज्याहुति करे[8]।

स्रुग्व्यूहन

यहाँ कुछ पशु का संज्ञपन और अन्य समस्त पशुओं का उत्सर्जन होता है। स्रुग्व्यूहन के समय उन्हीं पशु के देवता का निर्देश किया जाता है। यन्निमित्तक संज्ञपन हुआ है[9]। पत्नी-संयाजान्त कृत्य करे। दूसरे दिन की सुत्या का प्रैष करे[10]। अवभृथयाग करे। गायक द्वारा वीणावादन और गायन किया जाय। इस तरह प्रतिपदा के दिन के कार्य की समाप्ति होती है।

---

१. सूचीभिः कल्पयन्ति। हिरण्मय्यो भवन्ति। लोहमय्यो रजता०। श० ब्रा० १३.२.४.२-३।

२. हिरण्मयोऽश्वस्य शासो भवति। श० ब्रा० १३.१.११.१६।

३. लोहमयाः पर्यङ्ग्याणाम्। श० ब्रा० १३.१.११.१६।

४. अश्वस्य वपा न भवति। तेन वपास्थाने अश्वस्य मेद उद्धरेद्वपाकार्यार्थम्।
देे० प० पृ० ६७०।

५. यत्स्विष्टकृद्भ्यो लोहितं जुहोति भ्रातृव्याभिभूत्यै भवति। श० ब्रा० १३.२.९.२।

६. प्राग्वपाहोमाद् होताध्वर्यू च सदसि संवदेते चतसृभिः कः स्विदेकाकीति पूर्ववत्।
का० श्रौ० २०.७.१०।

७. सर्वहुतेन महिम्ना चरति। का० श्रौ० २०.७.१६।
यस्तेऽहन्०। शु० य० २३.२।

८. शादाय स्वाहा। दद्भ्यः स्वाहा। अवकायै स्वाहा। दन्तमूलेभ्यः स्वाहा०।
दे० प० पृ० ६७५।

९. व्यूहने ग्राम्यपशुदेवता सङ्कीर्तनम्, आरण्यसम्बन्धि कर्मणामुत्सृष्टत्वात्। दे० प० पृ० ६७६।

१०. श्वः सुत्या प्रैषः। दे० प० पृ० ६७६।

सर्वस्तोम

दूसरे दिन सर्वस्तोम का अनुष्ठान करे[1]। इस याग में पशुस्थानीय चौबीस गौ अपेक्षित हैं[2]। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि कलि में अज का प्रतिनिधि रूप में ग्रहण होता है। इनमें बाईस पशु का नियोजन युग्मैकादशिनीवत् करके शेष दो पशु का नियोजन मध्ययूप में प्रजापति देवता के निमित्त करे[3]। यथाविधि यागकृत्य करके अन्त में अवभृथयाग करे। ऋजीषकुम्भ का प्लावन करे। अवभृथयाग में यजमान के स्नान के अनन्तर अन्य लोग अवभृथ स्नान करें।

अवभृथस्नान का महत्त्व

धर्मशास्त्र के अनुसार किसी बड़े पाप को दूर करने के निमित्त कठोर व्रत नियम और दान करने पड़ते हैं। इस अश्वमेध याग के अवभृथ स्नान के समय यदि महापापी भी स्नान कर ले तो कैसा भी भयङ्कर पाप हो तत्क्षण दूर हो जाता है। अवभृथयाग के समय स्नान कर लेने से पुनः किसी प्रकार के अन्य प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं रह जाती[4]। अवभृथयाग के अनन्तर देवयजन में आकर उदयनीयेष्टि करे। अनन्तर सात मैत्रावरुणी, सात वैश्वदेवी और सात बार्हस्पत्य, इस तरह इक्कीस अनूबन्ध्या याग करे। उसके बाद त्रैधातवीष्टि करे।

दक्षिणादान

यहाँ दक्षिणास्वरूप दासियों को देने का विधान किया है। पालागली स्त्री की कुमारी अनुचरी अध्वर्यु को, महिषी की अनुचरी ब्रह्मा को, वावाता की अनुचरी उद्गाता को और परिवृक्ता की अनुचरी होता को देने को कहा है[5]। यजमान अपनी पत्नियों को ऋत्विजों को दक्षिणा में दे यह कहा है। परन्तु कात्यायन को यह अभीष्ट नहीं है। इसीलिए वे यहाँ विकल्प करके पत्नी को न देकर अनुचरी को दे ऐसा कहते हैं। उचित भी यही है। कारण यजमान और पत्नी दोनों को याग का फल समानाधिकार से प्राप्त होता है। समानाधिकारी का दान नहीं किया जा सकता[6]। इसके अनन्तर वीणावादन करते हुए गायक लोग गान करें।

---

१. सर्वस्तोमः०। का० श्रौ० २०.८.१३।

२. चतुर्विंशौ प्राजापत्यौ०। दे० प० पृ० ६७६।

३. अग्निष्ठे प्राजापत्यौ च। का० श्रौ० २०.८.१५।

४. उत्क्रान्ते यजमाने पापकृतोऽवभृथेष्ट्यनुष्ठानदेशे स्नानं कुर्वन्ति। तेषां ब्रह्महत्यादि पापनिबर्हण-प्रायश्चित्तानि विनैव स्नानमात्रेण पापक्षयो भवति। दे० प० पृ० ६७७।
अश्वमेधपूताख्यास्ते। का० श्रौ० २०.८.१८।

५. महिषीं ब्रह्मणे ददाति। वावातां होत्रे। परिवृक्तीमुद्गात्रे। पालागलीमध्वर्यवे। आप० श्रौ० २०.१०.२।
उदयनीयान्ते भार्या ददाति यथा संवादं सानुचरीः। का० श्रौ० २०.८.२४।

६. अनुचरीर्वा फलाधिकारादितरासाम्। का० श्रौ० २०.८.२६।

मैत्रावरुणी पयस्येष्टि के बाद सायङ्काल अग्निहोत्रहवन करे। इस तरह यागकृत्य समाप्त करके अपने निवासस्थान पर जाय।

अश्वमेध याग के बाद का कृत्य

अपने निवासस्थान पर बारह दिन तक प्रतिदिन आग्नेयीष्टि करे[1]। इस इष्टि में अग्नि-देवता के निमित्त आठ कपाल का पुरोडाश करे। अथवा इस इष्टि के विकल्प में विधिपूर्वक ब्रह्मौदन विधि करे। इसके बाद वसन्तऋतु में छ आग्नेययाग, ग्रीष्मऋतु में छ ऐन्द्रयाग, वर्षाऋतु में छ ऐन्द्रयाग अथवा मारुतयाग, शरद्ऋतु में छ मैत्रावरुणयाग, हेमन्तऋतु में छ ऐन्द्रावैष्णवयाग और शिशिरऋतु में छ ऐन्द्राबार्हस्पत्य याग करे[2]।

पुरुषमेध

समस्त प्राणियों में उत्कृष्ट पद की कामना से पुरुषमेध किया जाता है[3]। इसमें तेईस दीक्षा, बारह उपसदा और पाँच सुत्याएँ होती हैं[4]। चैत्रशुक्ल दशमी को इसका प्रारम्भ करना चाहिए। ग्यारह यूप में ग्यारह अग्निषोमीय पशु का नियोजन होता है[5]। निम्नाङ्कित रूप से पाँच सुत्यादिवस होते हैं।

१. अग्निष्टोम, २. उक्थ्य, ३. अतिरात्र, ४. उक्थ्य, ५. अग्निष्टोम।

यजमान ब्राह्मण हो तो सर्वमेध के समान और क्षत्रिय हो तो अश्वमेध जैसी दक्षिणा दे[6]। अतिरात्र संस्थावाले तीसरे दिन मध्य के यूप में ब्राह्मणादि अड़तालीस पुरुष और शेष दस यूपों में ग्यारह-ग्यारह पुरुषों का नियोजन करे[7]। कुल १८४ पुरुषों का नियोजन होता है। उपर्युक्त प्रकार से नियोजन करके शेष पुरुषों का नियोजन द्वितीय यूप में करना चाहिए। नियुक्त पुरुषों का पुरुषसूक्त के मन्त्रों से उपस्थान करके उन्हें छोड़ दे[8]। उपर्युक्त याग निमित्तक

---

१. द्वादशाहमाग्नेयः पुरोडाशः। का० श्रौ० २०.८.२८।

२. प्रत्यृतु पशूनालभते षट्। का० श्रौ० २०.८.३०।
संवत्सरं ऋतुपशवः। षडाग्नेया वसन्ते। ऐन्द्रा ग्रीष्मे। मारुताः पार्जन्या वा वर्षासु। मैत्रावरुणाः शरदि। बार्हस्पत्या हेमन्ते। ऐन्द्रावैष्णवाः शिशिरे।
शां० श्रौ० १६.९.२६-३२।

३. पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि। अहमेवेदं सर्वं स्यामिति।
श० ब्रा० सा० भा० १३.४.१.१।

४. पुरुषमेधस्त्रयोविंशतिर्दीक्षः। का० श्रौ० २१.१.१।

५. एकादशाग्नीषोमीयाः पशव उपवसथे। श० ब्रा० १३.४.१.४।

६. स पुरुषमश्वमेधवद्दक्षिणा। सर्वस्वं ब्राह्मणस्य। का० श्रौ० २१.१.१४-१५।

७. ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यं; तपसे शूद्रं० प्राजापत्याः।
शु० य० ३०.५-२२।

८. उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्। का० श्रौ० २१.१.१२।

त्रैधातवी इष्टि के अन्त में अपने में अग्नि का समारोप[1] करके उत्तरनारायण संज्ञक अनुवाक[2] से सूर्य का उपस्थान करे। पीछे न देखते हुए जंगल में चला जाय और वानप्रस्थाश्रम को स्वीकार कर ले। पुनः यावज्जीवन ग्राम या नगर में न लौटे। फिर भी यदि नगरनिवास की अभिलाषा शेष रह गयी हो तो लौट भी सकता है[3]। पुनः जिन यागों को करना चाहे कर सकता है।

सर्वमेध

समस्त प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के निमित्त सर्वमेध याग किया जाता है। इसमें द्वादशाह के धर्मों का अतिदेश होता है। सर्वमेध में बारह दीक्षा, बारह उपसदा और दस सुत्याएँ होती हैं। निम्नाङ्कित सुत्या दिवस होते हैं[4]।

१. अग्निष्टुत्	२. इन्द्रस्तुत्	३. सूर्यस्तुत्
४. वैश्वदेवस्तुत्	५. महाव्रत	६. वाजपेय
७. अप्तोर्याम	८. उक्थ्य,	९. उक्थ्य
१०. अतिरात्र।		

इसमें पंचम दिन आश्वमेधिक पशु का आलभन होता है[5]। षष्ठदिन पुरुषमेध में निर्दिष्ट आलभन विधि करनी चाहिए[6]। सप्तम अप्तोर्याम करने का दिन होता है। उसमें भी यथाविधि आलभन कृत्य होता है[7]। जिनकी वपा प्राप्त नहीं होती उनकी चमड़ी वपास्थानीय ली जाती है[8]। वपायाग के अनन्तर ओषधि और वनस्पति के चूर्ण में समस्त प्रकार के अन्न मिला कर हवन करना चाहिए। दक्षिणा के समय पुरुषमेध में कही हुई दक्षिणा दी जाती है[9]।

---

१. आत्मन्नग्नी समारोह्य। ऊष्माणं आस्ये कोष्ठे वा आवेश्य०।
शा० ब्रा० ह० भा० १३.४.२.२०।

२. अद्भ्यः संभृतः। श० य० ३१.१७-२२।

३. पुनर्ग्रामवासेच्छा भवति०। गृहेषु प्रविशेत्। येषां यज्ञानां करणे इच्छा भवति तान्कुर्यात्।
दे० प० पृ० ६८६।

४. इन्द्रस्तुत्सूर्यस्तुद्वैश्वदेवस्तुद् व्रतं वाजपेयोऽप्तोर्यामः। का० श्रौ० २१.२.४।

५. आश्वमेधिकं मध्यमं पञ्चममहर्भवति। तस्मिन्नश्वम्मेध्यमालभते। श० ब्रा० १३.४.३.७।

६. पौरुषमेधिकम्मध्यमं षष्ठमहर्भवति। श० ब्रा० १३.४.३.७।

७. तस्मिन् सर्वान् मेध्यान् यज्ञार्हान् होमार्थमुपकल्पयन्ति न त्वालभत।
श० ब्रा० ह० भा० १३.४.३.९।

८. त्वच उत्कर्षनमवपकानाम्। श० ब्रा० सा० भा० १३.४.३.९।

९. पुरुषमेधवद्दक्षिणा०। का० श्रौ० २१.२.१३। प्राचीदिग् होतुः।
दक्षिणा ब्रह्मणः। प्रतीच्यध्वर्योः। उदीच्युद्गातुः। तदेव होतृका अन्वाभक्ताः।
श० ब्रा० सा० भा० १३.४.३.१३।

पितृमेध

आहिताग्नि की मृत्यु के अनन्तर पुत्र, पौत्र प्रभृति पितृमेध करते हैं। पितृमेध की स्मृति स्वरूप चिति को देखने से जिसकी अस्थि पर चिति बनी होती है, उस आहिताग्नि की कीर्त्ति चिरस्थायिनी होती है[१]। आहिताग्नि की मृत्यु के बहुत वर्ष बीतने पर भी यह पितृमेध किया जा सकता है। अधिक समय बीतने पर भी यदि मृत्यु का संवत्सर याद हो तो विषम संवत्सर में इसका अनुष्ठान करे[२]। हस्त, स्वाति और पुष्य नक्षत्र, अमावास्या तिथि, माघ मास अथवा ग्रीष्म, शरद् ऋतु में पितृमेध करना प्रशस्त है[३]। इसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी लोग कर सकते हैं। इसमें केवल एक अध्वर्यु ऋत्विज रहता है। यह विधि अपसव्य से विहित है। पुत्र-पौत्रादि की जो सङ्ख्या हो उतने घड़ों में मृत व्यक्ति की अस्थि रखकर उन्हें खाट पर रखते हैं[४]। एक वस्त्र से घड़ों को लपेटते हैं। पुत्र पौत्रादि अपने उत्तरीय से हवा करते हुए कलशों की तीन प्रदक्षिणा करते हैं। प्रचुर अन्नदान, मङ्गलवाद्य और नृत्य करते हैं। उषःकाल में कलशों को लिये हुए जंगल में प्रस्थान करें[५]। गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर एक ब्राह्मण श्वासावरोध किए हुए अस्थिकलश को दक्षिण की ओर ले जाकर फोड़ दे। पुरुषप्रमाण भूमि को नाप कर चतुरस्र चिति बनावे। अश्वत्थ और वटवृक्ष से दूर, वृक्षों की झाड़ी में या मैदान में, पर्वत और जलाशय के निकट चिति बनानी चाहिये।

चितिस्थान पर कर्षण करके सर्वौषध वपन करे[७]। कङ्कड़ों को इकट्ठा करके भूमि को ऊँची बनावे। समभूमि पर प्रत्येक अङ्गों की अस्थि को पहचान कर पुरुषाकृति बनावे[८]। इष्टका चयन करे। मृतव्यक्ति ब्राह्मण हो तो मुँह जितनी, क्षत्रिय हो तो छाती बराबर, वैश्य हो तो ऊरु बराबर, संस्कार्या स्त्री हो तो गुप्ताङ्ग बराबर और शूद्र हो तो जानु बराबर

---

१. अमुष्मिंल्लोके कृतश्मशानस्य साधुकृत्यामुपदम्भयन्ति। श० ब्रा० १३.४.४.१।
पितृमेधः संवत्सरास्मृतौ। का० श्रौ० २१.३.१।

२. मरणसंवत्सरः स्मर्यंत एव तदायं पक्ष इति हरिस्वामिनः। दे० प० पृ० ६९८।

३. शरदि कुर्यात्, माघे वा। श० ब्रा० १३.४.४.४।

४. शरीराणि ग्रामसमीपमाहृत्य कुम्भेन तल्पे कृत्वा० वाद्यमानेषु वीणायां तल्पे चोद्धताया-ममात्यास्त्रिस्त्रिः परिक्रामन्त्युत्तरीयैरुपवाजनैर्वोपवाजयन्तः। का० श्रौ० २१.३.७।

५. ततोऽरुणवेलायाम्। दे० प० पृ० ६९९।

६. पुरुषमात्रं त्वेव कुर्यात्। श० ब्रा० १३.४.४.१९।

७. नाश्वत्थस्यान्तिकं कुर्यात्० न न्यग्रोधस्य। श० ब्रा० १३.४.४.१६। चतस्रः सीताः कृषति, सर्वौषधं वपति। का० श्रौ० २१.४.१।

८. यस्यांगस्य यदस्थि तत्र अङ्गकल्पनेन पुरुषाकृतिं कृत्वा इष्टकां निदधाति।
दे० प० पृ० ७०३।

चिति बनानी चाहिए[१]। पूर्व से अतिरिक्त दिशाओं से मिट्टी लाकर चिति पर छोड़े[२]। सेवार और दर्भ से चिति को ढंक दे[3]। शेष कृत्य को सम्पन्न करे। अनन्तर घर की ओर लौटे। चिति और ग्राम के मध्य में चिह्न के लिए पत्थर गाड़े[४]। गाँव में पहुँच कर तालाब आदि में स्नान करके घर को लौटें[५]। आँखों में अञ्जन और शरीर में तैलाभ्यङ्ग करे। आवसथ्याग्नि पर आज्यसंस्कार करे। वारण काष्ठ के स्रुवा से आयुष्यान् अग्नि को आज्याहुति दे[६]। अग्नि का कुछ अंश बाहर करे[७]। अध्वर्यु को आसन्दी, तकिया, बैल और जव दक्षिणा दे। प्रत्येक वस्तु पुरानी हो। ऐच्छिक यथाशक्ति भूयसी दक्षिणा दे।

●

१. ऊर्ध्वंप्रमाणमास्यं ब्राह्मणस्य। उरः क्षत्रियस्य। उरु वैश्यस्य। उपस्थ स्त्रियाः। जानुशूद्रस्य। का० श्रौ० २१.४, १२-१७।

२. पुरीषमाहृत्य श्मशाने निवपति। दे० प० पृ० ७०३।

३. अवकाभिः कुशैश्च प्रच्छाद्य। का० श्रौ० २९.४.१८।

४. ग्रामश्मशानयोर्मध्ये मर्यादालोष्ठं निदधाति। दे० प० पृ० ७०४।

५. यत्रोदकम्भवति तत्स्नान्ति। श० ब्रा० १३.४.७.५।

६. स्रुवेणैकामाहुतिम्। का० श्रौ० २१.४.२५

७. औपासनाग्निः प्रेतस्यैव। आहुतिं हुत्वाऽद्धारेण निरसनीयः। इति हरिस्वामिनो वासुदेवभट्टा-याज्ञिकाश्च। तस्यैकदेशं निरस्यतीति कर्कः। दे० प० पृ० ७०५।

एकादशाध्याय

क्रतु

एकाहक्रतु : एकाहक्रतु का परिचय····नाम और संख्या····साद्यक्रतु····व्रात्यस्तोमक्रतु····द्वन्द्वस्तोमक्रतु····गणक्रतु····श्येनयागयाग भूमि····ऋत्विजों की वेषभूषा उद्‌भिद् और बलभिद्याग ।

द्वादशाहक्रतु : द्वादशाह के दो प्रकार····अनुष्ठान विधि ।

अहीनक्रतु : नाम संख्या और विधान····एकाहक्रतु····एकादशरात्रक्रतु आदि ।

एकाहक्रतु

जिस क्रतु में एक या अनेक दीक्षा, तीन या बारह उपसदा और एक सुत्या का विधान है, उसे एकाहक्रतु कहते हैं[1]। इसमें एक यजमान, सोलह ऋत्विज और उपर्त्विज कार्य करते हैं। अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र में से किसी एक का इसमें परिग्रह होता है। इसका वर्णन ताण्ड्यब्राह्मण प्रभृति सामवेदीय ग्रन्थों में विशेषरूप से उपलब्ध होता है अतएव इन सभी को अत्यन्त संक्षेप रूप से यहाँ दिखलाया है।

प्रारम्भ

उत्तरायण के पूर्वपक्ष में किसी शुभदिन, प्रतिपदा अथवा अच्छे नक्षत्र में इसका प्रारम्भ होता है[2]। प्रारम्भ में मातृपूजा और आभ्युदयिक श्राद्ध करना चाहिए।

एकाहक्रतु के नाम

प्रथम एकाह अग्निष्टोमसंस्थ भू नामकक्रतु है[3]। इसमें धेनु दक्षिणा देनी चाहिए। द्वितीय ज्योतिनामक[4] अग्निष्टोमसंस्थ, तृतीय और चतुर्थ गौ[5] और आयु संज्ञक उक्थ्यसंस्थ होते हैं[6]। पाँचवाँ अभिजित्[7] और छठाँ अग्निष्टोमसंस्थ विश्वजित् कहा है[8]। ये दोनों अग्निष्टोम-संस्थ होते हैं। दोनों क्रतुओं में-से एक का अनुष्ठान सम्पन्न करके दूसरा अवश्य करना चाहिए। आठ से ग्यारह तक सहस्र गौ दक्षिणा वाले चार एकाहक्रतु कहे हैं। इनके नाम क्रमशः ज्योति[9], सर्वज्योति[10], विश्वज्योति[11] और त्रिरात्र हैं[12]।

साद्यस्क्र

जो सद्यः (एक दिन में) किया जाय उस क्रतु को साद्यस्क्र क्रतु कहते हैं। स्वर्ग और

---

१. एका दीक्षा तिस्रो वा० तिस्र उपसद एका सुत्या। दे० प० पृ० ७०५।

२. उदगयने पूर्वपक्षे पुण्याहे० एकाहानां दीक्षा भवन्ति। दे० प० पृ० ७०५।

३. काठके—भूरग्निष्टोमः स्वर्गकामस्य धेनुदक्षिणा। दे० प० पृ० ७०६।

४. ज्योतिरग्निष्टोमसंस्थः प्राकृतदक्षिणः। दे प० पृ० ७०६।

५. अथैष गौः। तस्य पञ्चदशं बहिष्पवमानम्। ता० ब्रा० १६.२.१;५।

६. आयुराख्यः सोमयागः। ता० ब्रा० सा० भा० १६ ३.१।

७. सहस्रमभिजितो दक्षिणा। का० श्रौ० २२.१.७।

८. सहस्रदक्षिणेनाग्निष्टोमसंस्थेन। दे० प० पृ० ७०७।

९. अथैष ज्योतिः। ता० ब्रा० १६.८.१।

१०. सर्वज्योतिः सर्वस्याप्तिः। ता० ब्रा० १६.९.१।

११. विश्वज्योतिरुक्थ्यः। ता० ब्रा० १६.१०.१।

१२. त्रिरात्रम्। ता० ब्रा० सा० भा० १६.११.२।

पशु की कामना से प्रथम साद्यस्क होता है[1]। दीर्घव्याधि की निवृत्ति, अन्नाद्य और प्रतिष्ठा की कामना से द्वितीय साद्यस्क होता है[2]। इसमें बीस गौ और एक अश्व दक्षिणा देने का विधान है। हीन व्यक्ति अपनी उन्नति के निमित्त अनुक्रीसंज्ञक तीसरा साद्यस्क क्रतु करता है[3]। इसमें एक अश्व और एक सौ गौ दक्षिणा देनी चाहिए। चौथा विश्वजिच्छिल्प साद्यस्क क्रतु होता है[4]। इसमें हाथी, खच्चर के रथ या अश्व दक्षिणा देनी चाहिए अथवा सर्वत्र मानपात्र, दासमिथुन, पाकपात्र, शकट, हाथी और गृह दक्षिणा में दें[5]। पाँचवाँ श्येन है, जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ में देखें। छठें साद्यस्क को एकत्रिक कहते हैं। इसमें एक सौ छाँछठ गौ दक्षिणा कही है[6]।

व्रात्यस्तोम

जिनके पूर्वजों का उपनयन संस्कार न हुआ हो और सावित्री छूट गयी हो वे व्रात्य हैं। ऐसे व्यक्ति व्रात्यस्तोम के अनुष्ठान के अनन्तर उपनीत हो सकते हैं। ये आहिताग्नि न होने के कारण लौकिकाग्नि पर उपर्युक्त अनुष्ठान करते हैं। व्रात्यस्तोम चार प्रकार के कहे हैं। १. हीन, २. निन्दित, ३. कनिष्ठ और ४. ज्येष्ठ। इस तरह व्रात्य भी चार तरह के हैं। विहित विधान को न करके अविहित कृत्य को जो करते हैं वे हीन संज्ञक व्रात्य हैं। वे प्रथम व्रात्यस्तोम का अनुष्ठान करते हैं[7]। स्वयं निन्दित होते हुए जो दूसरों की निन्दा करते हैं, वे द्वितीय प्रकार के व्रात्यस्तोम का अनुष्ठान करें[8]। अल्पवय वाले हीन व्रात्य कनिष्ठ संज्ञक तृतीय व्रात्य हैं। उनके लिए तीसरा व्रात्यस्तोम करने को कहा है[9]। युवावस्था में नीच कर्म से जो नष्टवीर्य हो चुके हों वे ज्येष्ठ संज्ञक चतुर्थव्रात्य हैं। उनके लिए चतुर्थ व्रात्यस्तोम विहित है[10]।

---

१. स्वर्गकामपशुकामभ्रातृव्यवतां प्रथमः। का० श्रौ० २२.२.१०।
२. दीर्घव्याधिप्रतिष्ठाकामान्नाद्यकामानाम्। दे० प० पृ० ७१८।
३. हीनस्यानुक्रीः। का० श्रौ० २२.२.१९। अंगिरसामनुक्रीः। ता० ब्रा० १६.१४.१।
४. विश्वजिन्नामान्यः साद्यस्क एकाहः। स च शिल्पश्चित्रभूतः।
ता० ब्रा० सा० भा० १६.१५.१।
५. धानंजय्यो विमितं शयनमारोहणमहानसे दासमिथुनौ धान्यपल्यं सीरं धेनुः।
ला० श्रौ० ८.४.१४।
६. एकत्रिके दक्षिणा षष्टिशतं षट् च। का० श्रौ० २२.३.२५।
७. हीना वा एते हीयन्ते० एतत् स्तोमः समाप्तुमर्हति। ता० ब्रा० १७.१.२।
८. नृशंसा निन्दिताः मनुष्यैरभिशंसनेन गर्हिताः० त एतेन षट्षोडशिना यजेरन्।
ता० ब्रा० सा० भा० १७.२.१।
९. ये कनिष्ठाः सन्तो व्रात्यां प्रवसेयुस्त एतेन यजेरन्। ता० ब्रा० १७.३.१।
१०. यौवनोपरमेण नीचमनुद्धतं मेढ्ं येषान्ते० एतेन व्रात्यस्तोमेन यजेरन्।
ता० ब्रा० सा० भा० १७.४.१।

पशु की कामना वाले को अग्निष्टुत् संज्ञक एकाह करना चाहिए[1]। इन्द्रस्तुत्, सूर्यस्तुत् और वैश्वदेवस्तुत् इस तरह तीन और कहे हैं। प्रथम को मिलाने से चार होते हैं। इन चारों में क्रमशः आग्नेयी, ऐन्द्री, सौरी और वैश्वदेवी संज्ञक सुत्याएँ होती हैं[2]।

त्रिवृत्सोम एकाह

अग्निष्टोमसंस्थ त्रिवृत्स्तोमसंज्ञक एकाह चार प्रकार के कहे हैं। इनमें प्रथम ईप्सुयज्ञ है। अर्थप्राप्त्यर्थं इसे करना चाहिए[3]। दूसरा बृहस्पतिसव का विवरण वाजपेय याग के परियज्ञ रूप में प्रस्तुत ग्रंथ में देखें। तीसरा इषुसंज्ञक श्येनयागवत् होता है[4]। आधिव्याधिरहित मृत्यु-पूर्वक स्वर्ग की कामना से सर्वस्वार करने का विधान है। इसमें आर्भवपवमानस्तोत्र पाठ के समय यजमान औदुम्बरी के दक्षिण में कृष्णाजिन बिछाकर सो जाय। वस्त्र से अपना शरीर ढँक ले। अपने को मृत समझे। मरने के अनन्तर उसकी और्ध्वदेहिक क्रिया की जाय। फिर भी न मरा हो तो भोजन त्याग कर मरना चाहिए। इसका शुनःकर्णस्तोम नामान्तर है[5]।

ऋत्विगपोहनीय एकाहक्रतु

प्रथम अग्निष्टोमसंस्थ सर्वस्तोम, द्वितीय उक्थ्यसंस्थ चत्वारिंशस्तोम और तृतीय उक्थ्य-संस्थ अष्टाचत्वारिंशस्तोम क्रतु होता है[6]।

वाचस्तोम एकाहक्रतु

यह चार प्रकार का है[7]। इनमें ऋग्वेदीय शस्त्र और सामवेदीय स्तोत्र का विशेष रूप से विधान रहता है।

पृष्ठ्यस्तोमएकाहक्रतु

यह छ तरह का होता है। प्रथम त्रिवृत्सोम, द्वितीय पञ्चदशस्तोम, तृतीय सप्तदशस्तोम, चतुर्थ एकविंशस्तोम, पञ्चम त्रिणवस्तोम और षष्ठ त्रैयस्त्रिंशस्तोम कहा है[8]। चातुर्मास्य के

---

१. अग्निष्टोम०कृत्वा पशुकामो यजेत्। ता० ब्रा० १७.७.१।

२. इन्द्रस्तुतादिषु प्राकृती दक्षिणा। दे० प० पृ० ७२७।

३. कश्चिदर्थमर्हन् यो न प्राप्नुयात्स० प्रथमेन यजेत। दे० प० पृ० ७२७।

४. इषुः श्येनवदसद्यः। का० श्रौ० २२.५.३०।

५. सर्वस्वारो यः कामयेताऽनामयताऽमुं लोकमियामिति स एतेन यजेत। ता० ब्रा० १७.१२.१-२।
काठके—शुनः कर्णस्तोमेन मरणकामः। दे० प० पृ० ७३१।

६. ऋत्विगपोहनीयास्त्रयः। का० श्रौ० २२.६.२१।

७. चत्वारो वाचस्तोमसंज्ञा एकाहाः। दे० प० पृ० ७३२।

८. पृष्ठ्यस्तोमास्त्रिवृत्पञ्चदश०। का० श्रौ० २२.६.२६।

प्रत्येक पर्व, अग्न्याधेय, पुनराधेय, अग्निहोत्रहवन, दर्शपौर्णमास, दाक्षायण और आग्रहायण प्रभृति के समय भी सोमयाग करने का विधान पाया जाता है[१]।

सप्तदशस्तोम एकाहक्रतु

यह पांच प्रकार का है[२]। प्रथम उपहव्य संज्ञक ग्राम की कामना से किया जाता है[३]। स्वर्ग की कामना से द्वितीय ऋतपेय किया जाता है[४]। तीसरा सप्तदशस्तोम युक्त है। इसके बहुहिरण्य और दूणाश दो नाम हैं[५]। चौथे का नाम वैश्यस्तोम है[६]। इसे पशु की कामना से तीनों वर्ण को करने का अधिकार है[७]। पञ्चम तीव्रस्तुत् है। सोमयाजी का कल्याण होना चाहिए। किसी प्रकार की विधि की न्यूनता से सोमयाजी का अकल्याण हुआ हो,[८] सोमयाजी हृतश्री हुआ हो अथवा सोमपान करने पर वमन हुआ हो तो इस क्रतु को करना चाहिए[९]।

द्वन्द्वस्तोम

एक क्रतु के अनुष्ठान के बाद नियमतः जब दूसरा क्रतु करना आवश्यक होता है तो युग्मक्रतु को द्वन्द्वस्तोमक्रतु कहते हैं। इनमें पहला द्वन्द्व राट् और विराट् संज्ञक है। किसी प्रतिबन्धक कारण से जो राजा न हो रहा हो वह इसका अनुष्ठान करे[१०]। इसके आदि और अन्त में ऐन्द्र पशु का आलभन करना चाहिए[११]।

अन्नाद्यकामना से द्वितीय विराट् संज्ञक किया जाता है[१२]। इसमें आग्नेय पशुयाग परियज्ञ करना चाहिए। यदि किसी आहिताग्नि को प्रजा की कामना हो तो औपशद

---

१. चातुर्मास्याः सोमाः। प्रतिकर्म सोमाः। का० श्रौ० २२.७.१;२१।
२. पञ्च एकाहाः० सप्तदशस्तोमका अग्निष्टोमसंस्थाः। दे० प० पृ० ७४१।
३. उपहव्ये देवतानामधेयानि परोक्षं ब्रूयुः। ला० श्रौ० ८.९.१।
अनिरुक्तत्वं च पञ्चविंशब्राह्मणे उक्तम्, देवाश्च वा। दे० प० पृ० ७४१।
उपहव्योऽनिरुक्तो ग्रामकामस्य। का० श्रौ० २२.८.७।
४. ऋतपेये पठति तस्य द्वादश दीक्षोपसदः। ला० श्रौ० अ० भा० ८.९.७।
५. तस्य नामद्वयम्। बहुहिरण्य इत्येकम्। दूणाश इति द्वितीयम्। दे० प० पृ० ७४५।
६. वैश्यस्तोमस्तत्र पठति। ला० श्रौ० अ० भा० ८.१०.५।
७. पशुकामस्य त्रैवर्णिकस्यापि। दे० प० पृ० ७४७।
८. य इष्ट्वा पापीयान् स्यात् स सोमातिपवित्र इति शाण्डिल्यः। ला० श्रौ० ८.१०.८।
९. यः सोमं पीत्वा छर्दयेत विरिच्येत वेति धानञ्जय्यः। ला० श्रौ० ८.१०.९।
१०. अथैष राट्। यो राज्यमाशंसमानो राज्यं न प्राप्नुयात् स एतेन यजेत।
ला० श्रौ० १९.१.१-८।
११. इन्द्रदेवत्ये ऋषभः पशुः परियज्ञो भवति। दे० प० पृ० ७४९।
१२. अन्नाद्यकामस्य विराट्। पशुराग्नेयः परियज्ञः। २२.१०.१०;१२।

संज्ञक क्रतु का अनुष्ठान करे[१]। इसमें परियज्ञस्वरूप वैश्वदेव पशुयाग करना चाहिए। अत्यधिक प्रतिग्रह करने से यदि खिन्नता प्राप्त हुई हो तो उक्थ्यसंस्थ पुनस्तोमनामक एकाह करे[२]। पशु की कामना से चतुष्टोम संज्ञक तीसरा सोमयाग किया जाता है[३]। इसके दो प्रकार हैं। प्रथम उक्थ्यसंस्थ और दूसरा षोडशीसंस्थ करना चाहिए। प्रथम में एक खुरवाले अश्वादि और द्वितीय में दो और एक खुरवाले गौ प्रभृति दक्षिणा देनी चाहिए[४]। इसके बाद चतुर्थ उद्भिद् और बलभिद् के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ में यथास्थान देखें। पूजन की कामना से अग्निष्टोम संस्थ दो अपचितीसंज्ञक का विधान है[५]। दो अग्निष्टोम क्रतु करना छठाँ द्वन्द्व साम है[६]। इनमें पहले का पक्षी और दूसरे का ज्योति नाम कहा है[७]। ऋषभ और गोसव संज्ञक क्रतु का सातवाँ द्वन्द्व सोम है। प्रथम राजा करे और एक सहस्र ऋषभ दक्षिणा दे[८]। गोसवक्रतु उक्थ्यसंस्थ करना चाहिए। इसमें धारोष्ण दूध से यजमान का अभिषेक होता है[९]।

गणक्रतु

इस गणक्रतु को अनेक यजमान करते हैं। प्रथम अग्निष्टोमसंस्थ मरुत्स्तोमसंज्ञक गणक्रतु कहा है। इसे दो भाई या दो सखा कर सकते हैं[१०]। प्रजा या पशु की कामना से ऐन्द्राग्नकुलाय संज्ञक गणक्रतु करने को कहा है[११]। यह अग्निष्टोमसंस्थ है और दो भाई या दो सखा इसे भी कर सकते हैं। उक्थसंस्थ इन्द्रस्तोमसंज्ञक गणक्रतु को राजा कर सकता है[१२]। पुरोहित होने की कामना से ऐन्द्राग्नस्तोम का विधान है[१३]। पशु की कामना से या अभिचार के निमित्त विघन गणक्रतु का अनुष्ठान विहित है[१४]। प्रथम में छत्तीस और द्वितीय में एक सौ गौ दक्षिणा देनी

---

१. प्रजातिकामस्यौपशदः। का० श्रौ० २०.१०.१३।
२. बहुप्रतिगृह्य गरगीरिव यो मन्येत तस्य पुनस्तोम उक्थ्यः। का० श्रौ० २२.१०.१६।
३. अथैष चतुष्टोमः। पशुकामो यजेत। ता० ब्रा० १९.५.१-२।
४. चतुष्टोमयोरेकखुराणां पूर्वस्मिन्यथोत्साहं दद्यादुभयेषामुत्तरस्मिन्। ला० श्रौ० ९.४.८।
५. अपचितिः पूजा तद्धेतुकत्वात् क्रतुरप्यप चितिनामकः। ता० ब्रा० सा० भा० १९.८.१।
६. तस्य पूर्वभागे त्रिवृदादित्रयस्त्रिंशान्तः स्तोमसङ्घः एकः पक्षः। उत्तरभागे त्रयस्त्रिंशादि त्रिवृदन्तः स्तोमसङ्घोऽपरः पक्षः। ता० ब्रा० सा० भा० १९.१०.१।
७. पूर्वः पक्ष्युत्तरो ज्योतिः। का० श्रौ० २२.१०.३४।
८. ऋषभोऽग्निष्टोमसंस्थो राज्ञो भवति। ऋषभाणां सहस्रं दक्षिणा। दे० प० पृ० ७५३।
९. स्थण्डिलेऽभिषिच्यते। का० श्रौ० २३.१.१९।
१०. मानवे—द्वयोर्भ्रात्रोः द्वयोः सख्योर्वा। दे० प० पृ० ७५५।
११. ऐन्द्राग्न्योः कुलायः प्रजाकामो वा पशुकामो वा। ता० ब्रा० १९.१५.१।
१२. इन्द्रस्तोम उक्थ्यः। ता० ब्रा० १९.१६.१।
१३. पुरोधाकामस्य ऐन्द्राग्न्योस्तोमः। का० श्रौ० २२.११.१४।
१४. विघनावेकाहावग्निष्टोमसंस्थौ पशुकामस्याभिचरतो वा भवतः। दे० प० पृ० ७५६।

चाहिए। अभिचार निमित्तक षोडशिसंस्थ सन्दंश और अग्निष्टोमसंस्थ वज्र संज्ञक एकाह का विधान है[1]। इनमें बारह सौ ऋषभ अथवा एकसहस्र गौ दक्षिणा विहित है। क्रतु की समाप्ति होने पर शान्त्यर्थ ज्योतिष्टोम करना आवश्यक है[2]।

श्येनक्रतु

आहिताग्नि को अभिचार करने की आवश्यकता हो तो यह क्रतु किया जाता है[3]। इसकी गणना एकाह में होने के कारण यह याग एक दिन में समाप्त होता है।

यागभूमि

जिस भूमि पर घास न उगती हो, जहाँ प्रतिवर्ष ग्रीष्म ऋतु में पेड़-पौधे जल जाते हों, जहाँ कटे हुए काश तृण हों, ऐसी भूमि पर देवयजन बनावे[4]। यदि इस तरह की भूमि निकट में उपलब्ध न हो तो उगे हुए वृक्षों को काटकर विहार बनाना चाहिए। विहारभूमि दक्षिण की ओर ढालू रहे।

यूपअधिषवणफलक और बर्हि

इस याग में तैल्वक—तिणिस या बाधक—गिरिमाल काष्ठों में से किसी एक काष्ठ का यूप बनाया जाता है। इस यूप के अग्रभाग में चषाल न रहे। यूप का अग्र वज्र के आकार का हो। सोम कूटने का अधिषवणफलक शववाहक काष्ठ का हो। बर्हि बाणमयी रहनी चाहिए। इध्मा भिलावाँ—बैभीदक काष्ठ की बनानी चाहिए[5]।

देवता और द्रव्य

इसमें रुद्रवान् अग्नि देवता के निमित्त लालवर्ण के अज का आलभन होता है[6]। बीमार गौ के झुण्ड में जो नीरोग गौ हों उनके दूध का आज्य बनाकर याग किया जाता है।

ऋत्विजों की वेषभूषा

इस याग में ऋत्विजों की वेषभूषा विशेष प्रकार की होती है। प्रत्येक ऋत्विज लाल रंग की धोती, उपवस्त्र और पगड़ी पहनते हैं। सुवर्ण की माला पहनते हैं। यज्ञोपवीत कंठ में आगे की

---

१. सन्दंशवज्रावभिचरतः। का० श्रौ० २२.११.२३।

२. यजेत शान्त्यर्थेन शान्त्यर्थेन। का० श्रौ० २२.११.३२।

३. श्येनोऽभिचरतः। का० श्रौ० २२.३.१।

४. यत्रोषरादोषधयो नोत्पद्यन्ते, दावाग्निरोषधीर्दहति, शरकाशकुशवीरिणादीनां, स्तम्भवृक्षाश्च० तन्मूलाग्राणि भूमिमध्यान्निष्काश्य देवयजनं कुर्यात्। छन्दोगसूत्रम्—दक्षिणस्यां दिशि निम्न-मुत्तरस्यामुच्चम्। दे० प० पृ० ७१९।

५. अचषालो यूपः। स्फ्याग्रः। तैल्वो बाधको वा। इध्मो बैभीदकः। शरमयं बर्हिः। अधिषवणे शवनभ्ये। का० श्रौ० २२.३.७–१२।

६. अग्नये रुद्रवते रोहित. सवनीयः। दे० प० पृ० ७२१।

और लटकता रहता है । वे आरोपित धनुष उठाये रहते हैं । बाणपूर्ण तरकस भी उनके साथ रहते हैं[1] ।

मन्त्रोच्चारण

जैसे कुछ तोड़ते हों, इस प्रकार वषट्कार का उच्चारण करना चाहिए । वर्षा में बरसते हुए पानी के समान अग्नि में आहुति दी जाती है । आहुति के समय शत्रु के मृत्यु का ध्यान करना चाहिए[2] ।

दक्षिणाद्रव्य

दक्षिणा के निमित्त एक सौ गौ कानी, लंगड़ी, पुच्छरहित, टूटे सींग वाली और रुग्णा (ज्वरपीड़ित) प्रस्तुत करनी चाहिए । गौ-दक्षिणा देकर पहने हुए वस्त्र और सोने की माला भी ऋत्विजों को देनी चाहिए[3] ।

उदिभद्–बलभिद्

पशु की कामना से उद्भिद् और बलभिद् ये दोनों याग संयुक्त रूप से किये जाते हैं[4] । अर्थात् उद्भिद् याग करके बलभिद्याग अवश्य करना चाहिए[5] । इन दोनों में से किसी एक का अनुष्ठान नहीं किया जा सकता । इन दोनों के मध्य में इषु संज्ञक इष्टि करनी चाहिए । वसन्तऋतु में अमावास्येष्टि के अनन्तर उद्भिद् याग की दीक्षा, दीक्षणीयेष्टि प्रभृति का अनुष्ठान करे । बृहस्पति देवता के निमित्त यह याग किया जाता है[6] । इसमें प्रवर्ग्य का अनुष्ठान नहीं होता । दक्षिणा में तीन गायत्री (एक गायत्री में चौबीस गौ) से अधिक गौ (यथाशक्ति) दक्षिणा दे ।

इषुसंज्ञक इष्टि

उद्भिद् याग निमित्तक उदवसानीयेष्टि के अनन्तर इषु संज्ञक इष्टि का प्रारम्भ करे । इसमें अग्नि का आठ कपाल का, सोम का चार कपाल का और विष्णु का तीन कपाल का पुरोडाश करे[8] । अन्वाहार्य दक्षिणा दे । इसमें परिधिस्थानीय तीन बाण रखे । इस इष्टि के अनंतर

---

१. लोहितवाससो लोहितोष्णीषाः प्रचरन्ति ऋत्विजः । का० श्रौ० २२.३.१९ ।
२. काठके–प्रारुषन्त इव जुह्वति, निघ्नन्त इव वषट् कुर्वन्ति, असौ हतोऽसौ हत इति ध्यायन्तः । दे० प० पृ० ७२१ ।
३. काणखोरकूटबण्डाह्रुतमिश्रा नव नव दक्षिणा ददाति लिङ्गानाम् । का० श्रौ० २२.३.१९ ।
४. उद्भिद्बलभिदौ चाहरतः संयुक्तौ । का श्रौ० २२.१०.२१ ।
५. उद्भिदा इष्ट्वा अवश्यं बलभिदा यष्टव्यम् । दे० प० पृ० ७५१ ।
६. तावुभौ समापवर्गौ स्यातां वसन्ते । दे० प० पृ० ७५२ ।
७. काठके —बृहस्पतेरुद्भिद्बलभिदाप्रवर्ग्यौ पशुकामस्य० । दे० प० पृ० ७५२ ।
८. काठके —आग्नेयमष्टाकपालं, सौम्यं चतुःकपालं, वैष्णवं त्रिकपालम् । दे० प० पृ० ७५२ ।

समयानुसार बलभिद् याग करना चाहिए। इसका अनुष्ठान उद्भिद् याग के समान किया जाता है[१]।

द्वादशाह सत्र

सत्र और अहीन इन भेदों से द्वादशाह दो प्रकार का है[२]। सत्र का अनुष्ठान केवल ब्राह्मण वर्ण ही कर सकता है। उसका कारण यह है कि इसमें यजमान ही ऋत्विज का काम करते हैं और आर्त्विज्य करने का अधिकार केवल ब्राह्मणवर्ण को ही प्राप्त है[३]। इसमें समान फलाभिलाषी सत्रह से चौबीस तक यजमान (आहिताग्नि) रहते हैं। उनमें से एक व्यक्ति याजमानकृत्य करता है और उसे गृहपति कहते हैं[४]। फल की दृष्टि से गृहपति को अधिक फल मिलता है। शेष यजमान लोग सोलह ऋत्विजों का कार्य सम्भालते हैं[५]। इसीलिए इसमें दक्षिणादान नहीं है[६]। यदि सत्रह से अधिक व्यक्ति हों तो वे भी याजमान कृत्य करते हैं। इसमें अनेक यजमान होने के कारण सभी की पत्नियाँ भी उपस्थित रहती हैं।

सत्र की सामग्री

सत्र के उपयोग में आने वाली समस्त सामग्री को सभी लोग अनुपात से एकत्र करते हैं। समानफल भागी होने के कारण सभी के लिए यह अनिवार्य हो जाता है[७]।

सत्र का स्वरूप

यह एक प्रकार का सोमयाग है। यह ज्योतिष्टोम की विकृति और गवामयन प्रभृति सत्रों की प्रकृति है[८]। इसके प्रारम्भ और समाप्ति में अतिरात्र होता है। साग्निचित् और निरग्निचित् दोनों प्रकार का यह हो सकता है। इसमें बारह दीक्षा, बारह उपसदा और बारह सुत्याएँ होती हैं। इसीलिए यह छत्तीस दिन का अनुष्ठान है।

---

१. पशुकामो यजेत पूर्वेणेष्ट्वोत्तरेण०। दे० प० पृ० ७५२।

२. द्वादशाहः सत्रमहीनश्च। का० श्रौ० १२.१.३।
द्वादशाहो द्विविधः, सत्रमहीनश्च। यत्र विधिवाक्ये आसते उपयन्तीत्येवंविध आख्यातशब्दः श्रूयते तत् सत्रम्। यत्र यजत इति शब्दः श्रूयते सोऽहीनः तथा सत्रे यावन्ति सौत्यान्यहानि भवन्ति तेषां मध्ये आदिममहः, अन्त्यंचातिरात्रसंस्थं भवति। इतराणि यथोपदेशमहानि भवन्ति। अहीनेषु चोपरिष्टादेवातिरात्रो भवति नादौ। दे० प० पृ० ३८३।

३. यजमानाः सर्वे सत्रेषु। का० श्रौ० १२.१.९।

४. गृहपतिर्याजमानमयुक्तत्वात्। का० श्रौ० १२.१.९।

५. ऋत्विक्कर्तृकान् ब्रह्मत्वादीन् षोडशपदार्थान् यजमाना एव स्वयं कुर्वन्ति न ऋत्विजः अत एव सत्रे दक्षिणादानं न भवति। दे० प० पृ० ३८३।

६. अदक्षिणानि च स्वामियोगात्। का० श्रौ० १२.१.८।

७. यजमानाः सत्रोपयोगिद्रव्यं सर्वं स्वकीयं समभागमेकत्र कृत्वा घृतपश्वादिसंभारमुपकल्पयन्ति। दे० प० पृ० ३८३।

८. ज्योतिष्टोमधर्मा एकाहद्वादशाहयोः०। का० श्रौ० १२.१.१।

अग्निका साधारणीकरण

अपने-अपने घर से अरणी में अग्नि का समारोप करके अरणी सहित सब लोग यज्ञभूमि पर उपस्थित होते हैं। यज्ञभूमि पर सब के अग्नी का साधारणीकरण किया जाता है। इस साधारणीकरण के तीन पक्ष हैं।

प्रथमपक्ष

यज्ञभूमि पर पहुँच कर प्रत्येक व्यक्ति अरणी से अग्निमन्थन करके अपने-अपने गार्हपत्य खर में अग्नि को स्थापित करता है। अनन्तर मध्यस्थित गृहपति के गार्हपत्य में सब के अग्नि साधारणीकृत किये जाते हैं[1]। तब गृहपति के गार्हपत्य में से आहवनीय और दक्षिणाग्नि का उद्धरण होता है।

द्वितीयपक्ष

इस द्वितीय पक्ष में केवल गृहपति का गार्हपत्य विद्यमान रह जाता है। सब लोग अपनी-अपनी अरणी से अग्निमन्थन करके गृहपति के गार्हपत्य में अग्नि छोड़ते हैं[2]।

तृतीयपक्ष

तृतीय पक्ष में आरंभ में गृहपति अपनी अरणी में अपनी यज्ञशाला के अग्नि का समारोप करता है। अनन्तर उसी अरणी में दूसरों की यज्ञशाला में जाकर अग्नि का समारोप किया जाता है। इस प्रकार साधारणीकृत अरणी से ही अग्निमन्थन करके यज्ञभूमि में अग्निस्थापन किया जाता है[3]।

देवयजन का स्वरूप

इसकी पूर्व-पश्चिम लम्बाई बीस अरत्नी और दक्षिण उत्तर की लम्बाई एक सौ सत्तर अरत्नी होती है। गृहपति की शाला मध्य में होती है और उसकी पूर्व-पश्चिम की लम्बाई प्रकृतिवत् होती है। सबके गार्हपत्य अपनी-अपनी यज्ञशाला में यज्ञीय कार्य के निमित्त स्वतन्त्र होते हैं। परन्तु आहवनीय सबका एक होता है और वह गृहपति की यज्ञशाला में होता है। उसी आहवनीय स्थान पर चिति का चयन होता है। विष्ण्या पर अग्निस्थापन होने के पश्चात् सब लोग अपने-अपने गार्हपत्य के अग्नि को शान्त कर देते हैं।

---

१. उभयतोऽतिरात्रं सत्रम्० । का० श्रौ० १२.१.६ ।

२. अग्नीनरण्योः समारोप्य० यत्र यक्ष्यमाणा भवन्ति तस्मिन् देशे आयान्ति मध्ये गृहपतिर्गार्हपत्यस्य मन्थनं कृत्वा खरे स्थापयति । दे० प० पृ० ३८४ ।

३. जातं जातं गृहपतिगार्हपत्ये प्रास्यन्त्युभयत्र । का० श्रौ० १२.२.६ ।
इष्टकापशौ दीक्षाकाले च गृहपतिगार्हपत्यमध्ये प्रक्षिपन्ति । दे० प० पृ० ३८७ ।

४. गृहपतिः समारोहयते स्वौ प्रथमम् । यथास्वं वेतरे । का० श्रौ० १२.२.८-९ ।

विहार का आकार

यह कहा जा चुका है कि मध्य में गृहपति का विहार होता है[१]। इस गृहपति के विहार के दक्षिण में क्रमशः ब्रह्मा, होता, ब्राह्मणाच्छंसी, मैत्रावरुण, पोता, अच्छावाक्, आग्नीध्र और ग्रावस्तुत् के विहार होते हैं। वामभाग में उद्गाता, अध्वर्यु, प्रस्तोता, प्रतिप्रस्थाता, प्रतिहर्त्ता, नेष्टा, सुब्रह्मण्य और उन्नेता के विहार होते हैं। उनका क्रम यह होना चाहिए।

पूर्व

उत्तर उन्ने० सु०ने०प्रतिह०प्रति०प्रस्तो० अ० उ० गृ० ब्र० हो० ब्रा० मै० पो० अ० आ० ग्रा० दक्षिण

पश्चिम

प्रारम्भ और विधान

चैत्र शुक्ल सप्तमी या अष्टमी को प्रथम दीक्षा होती है[२]। इसमें समान फल के अधिकारी अनेक यजमान होने के कारण जिन मन्त्रों में यजमान-वाचक एक वचनान्त शब्द हों वहाँ बहुवचनान्त शब्दों का प्रयोग करना चाहिए[३]।

दीक्षाप्रकार

गृहपति, ब्रह्मा, उद्गाता और होता की दीक्षा अध्वर्यु करता है[४]। अध्वर्यु ब्राह्मणाच्छंसी, प्रस्तोता और मैत्रावरुण की दीक्षा प्रतिप्रस्थाता करता है। प्रतिप्रस्थाता, पोता, प्रतिहर्ता और अच्छावाक को नेष्टा दीक्षित करता है। नेष्टा, आग्नीध्र, सुब्रह्मण्य और ग्रावस्तुत् की दीक्षा उन्नेता करता है। उन्नेता किसी स्नातक ब्रह्मचारी के द्वारा दीक्षित किया जाता है। दीक्षा करने वाला व्यक्ति पति की दीक्षा करके उसकी पत्नी की भी दीक्षा करता है।

द्रव्य और देवता

सुत्या के समय प्रतिदिन इन्द्राग्नी देवता के निमित्त पशु या स्तोमायन होता है[५]।

---

१. गृहपतिर्मध्ये० इतरे दक्षिणोत्तराः। का० श्रौ० १२.१.१५।
अर्धश इतरे दक्षिणोत्तराः। का० श्रौ० क० भा० १२.१.१६।

२. चैत्रीपक्षस्य सप्तमीं सत्राय द्वादशाहीनाय वा दीक्षते फाल्गुनीपक्षस्येति लौगाक्षिः। मानवे—चैत्रीपक्षस्य सप्तम्यां प्राग्वंशे सन्न्युप्य दीक्षेरन् सर्वे सुन्वन्तः सर्वे यजमानभागं प्राश्नन्ति। साङ्ख्यायनमतेऽपि—शुद्धपक्षस्याष्टम्यां द्वादशाहाय दीक्षन्ते। दे० प० पृ० ३८८।

३. प्रोक्षणीनामुदिङ्गने—एकवचन में यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्। शु. य० १.१२।
बहुवचन में—यज्ञपतीन् सुधातून् यज्ञपतीन् देवयुवः। दे० प० पृ० ३८९।

४. अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयति। का० श्रौ० १२.२.१५।
अनुपत्न्येषां पत्नीः क्रमेणोन्नेत्रोपनीतः स्नातको वा ब्रह्मचारी वान्यो ब्राह्मणो वा दीक्षयति। दे० प० पृ० ३९३।

५. प्रत्यहमैन्द्राग्नः पशुर्भवति०। दे० प० पृ० ३००।
स्तोमायन में अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र के पशु होते हैं। दीक्षा द्वादशोपसदश्च। का० श्रौ० १२.२.१४।

अथवा प्रतिदिन पश्वेकादशिनी की जाती है। अथवा पश्वेकादशिनी का एक-एक पशु प्रतिदिन ग्रहण करके ग्यारह दिनों में पश्वेकादशिनी समाप्त की जाती है। बारहवें दिन अग्नि देवता निमित्तक एक पशुयाग करने का विधान है। इसमें अश्वमेध यागवत् ब्रह्मोद्य होता है। मैत्रावरुणीपयस्या अन्त में की जाती है। अन्त में सब कोई अपने-अपने गार्हपत्य के अग्नि पर सायङ्कालीन अग्निहोत्र हवन करते हैं। अपने-अपने गार्हपत्य की अग्नि लेकर घर जाते हैं। इसका शेषविधान अग्निष्टोम याग के सदृश होता है। उपर्युक्त क्रम से छत्तीस दिनों में इसकी समाप्ति होती है।

अहीनक्रतु

अहीन और सत्र इन दो भेदों से द्वादशाह दो प्रकार का कहा है। प्रकृत ग्रन्थ में सत्रात्मक पृथक्‌रूप से दिखलाया है। इनका विस्तृत वर्णन सामवेदीय ग्रन्थों में देखा जाता है। अतः यहाँ पर कात्यायन महर्षि ने इन्हें अच्छी तरह व्यक्त किया है।

एक सुत्या वाले क्रतु एकाह हैं। दो दिन से लेकर बारह दिनों तक जिस क्रतु की सुत्या होती है, वह अहीन संज्ञक क्रतु है[1]। इसमें एक या अनेक यजमान होते हैं। द्वादशाहसत्र में कथित क्रम से इसमें भी अग्नि का साधारणीकरण होता है। द्वादशाह सत्र समूढ है और इसे व्यूढ कहते हैं। ग्रहग्रहण के आधार पर यह संज्ञा होती है। अहीन व्यूढच्छन्द द्वादशाह में ऐन्द्रवायव ग्रह से पूर्व आग्रयणग्रह लिया जाता है। एक सहस्र गौ से कुछ अधिक दक्षिणा होती है। अन्त में तीन अनूबन्ध्या संज्ञक याग किये जाते हैं। इनकी सङ्ख्या सैंतीस कही है।

त्रयोदश अतिरात्र एकाह

१ नव सप्तदश संज्ञक अतिरात्र को पूजा की कामना से करना चाहिए[2]।

२ विषुवान् संज्ञक ज्यैष्ठिनेय द्वारा किया जाता है[3]।

३ गौ संज्ञक क्रतु को शत्रु से घिरे हुए व्यक्ति द्वारा करने का विधान[4] है।

४ आयुसंज्ञक क्रतु स्वर्गाभिलाषी को करना चाहिए[5]।

५ ज्योतिष्टोम को ऋद्धि की कामना से करे[6]।

---

१. पौर्णमासीदीक्षा मासापवर्गा अहीनाः। ला० श्रौ० ९.५.१।

२. प्रजातिकामस्य नवसप्तदशः। का० श्रौ० २३.१.१४।

३. यस्या योषितो ज्येष्ठो भ्राता विद्यते सा ज्येष्ठिनी तस्याः पुत्रो ज्येष्ठिनेय.।
तादृशो यः पुमान् भ्रातॄणां मध्ये ज्येष्ठः सोऽत्राधिकारीति माधवाचार्यः।
नैश्चिन्त्यमनुजानां यज्ज्यैष्ठिनेयं तदुच्यते।
तत्कामस्याग्रजस्यात्र विषुवान्बोध्यते मधौ, इति वासुदेवः। दे० प० पृ० ७५९।

४. गौर्भ्रातृव्यवतः। का० श्रौ० २३.१.१६।

५. स्वर्गकामस्यायुरतिरात्रः। दे० प० पृ० ७५९।

६. ज्योतिष्टोमेनातिरात्रेणर्द्धिकामो यजेत। ता० ब्रा० २०.१.२।

६ विश्वजित् संज्ञक क्रतु को पशुप्राप्त्यर्थ करना विहित है[1]

७ त्रिवृत् अतिरात्र क्रतु को ब्रह्मवर्चस् की कामना से करे[2]।

८ पञ्चदश क्रतु को वीर्य की कामना से करना चाहिए[3]।

९ सप्तदश संज्ञक क्रतु को अन्नाद्याभिलाषी करे[4]।

१० एकविंश क्रतु को प्रतिष्ठा की कामना वाला व्यक्ति करे[5]।

११ अप्तोर्याम क्रतु को वह करे जिसके पशु नष्ट हो गये हों[6]।

१२ अभिजित् क्रतु को शत्रु से पीडित व्यक्ति करे[7]।

१३ सर्वस्तोम क्रतु को ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए करे[8]।

द्व्यह अहीनक्रतु

ये तीन प्रकार के कहे हैं। इनमें बारह दीक्षा, बारह उपसदा और दो सुत्याएँ होती हैं।

प्रथम–आङ्गिरस संज्ञक क्रतु पूजा की कामना से किया जाता है[9]।

द्वितीय–चैत्ररथ संज्ञक प्रजा और पशु की अभिलाषा से करना चाहिए[10]।

तृतीय–कापिवन क्रतु स्वर्ग या पशु की कामना से होता है[11]।

त्र्यह अहीनक्रतु

ये पाँच तरह के हैं। इनमें तीन सुत्या बारह उपसदा और पन्द्रह दीक्षाएँ होती हैं। प्रथम गर्गसंज्ञक क्रतु समस्त कामनाओं की सिद्धि के लिए विहित है[12]।

द्वितीय वेद नामक क्रतु राज्य की अभिलाषा से किया जाता है[13]।

तृतीय छन्दोम संज्ञक क्रतु पशु की कामना से होता है[14]।

---

१. विश्वजिताऽतिरात्रेण पशुकामो यजेत। ता० ब्रा० २०.९.१।

२. त्रिवृदादीनां ब्रह्मवर्चसादिफलहेतुत्वम्। ता० ब्रा० सा० भा० २०.१०.१।

३. वीर्यकामस्य पञ्चदशस्तोमकोऽतिरात्रो भवति। दे० प० पृ० ७६०।

४. सप्तदश० अन्नाद्यकामानाम्। का० श्रौ० २३.१.१८।

५. प्रतिष्ठाकामस्यैकोनविंशतिस्तोमकोऽतिरात्रः। दे० प० पृ० ७६०।

६. गवाश्वादयो यस्मात् पुरुषात् अत्यन्तप्रकर्षेण भ्रष्टा अभवन् स एतेन क्रतुनेष्ट्वा०। ता० ब्रा० सा० भा० २०.३.३।

७. अभिजिद् भ्रातृव्यवतः। का० श्रौ० २३.१.२१।

८. सर्वस्तोमेनातिरात्रेण बुभूषन्यजेत। ता० ब्रा० २०.२.२।

९. यः पौष्योऽहीन इव स्यात्स एतेन यजेत। ता० ब्रा० २०.११.४।

१०. द्वितीयश्चैत्ररथोद्व्यहः प्रजाकामस्य। दे० प० पृ० ७६१।

११. तृतीयेन स्वर्गकामः पशुकामो वा। का० श्रौ० २२.२.७।

१२. मानवे–विश्वेषां देवानां गर्गत्रिरात्रेण सर्वकामैः यजेत। दे० प० पृ० ७६३।

१३. यो राज्य आशंसेत स एतेन यजेत। ता० ब्रा० २१.५.२।

१४. पशुकामो यजेत। ता० ब्रा० २१.६.२।

चतुर्थ अन्तर्वसु नामक क्रतु पशु की कामना से किया जाता है[१]।

पञ्चम पराक संज्ञक क्रतु स्वर्गप्राप्त्यर्थ किया जाता है[२]।

चतुरह अहीनक्रतु

इसके चार प्रकार हैं। चैत्रशुक्ल चतुर्थी को इनका प्रारम्भ होता है। इनमें चार सुत्या, चौदह दीक्षा और बारह उपसदाएँ होती हैं।

प्रथम अत्रि चतुर्वीर संज्ञक क्रतु चार वीर पुत्रप्राप्ति की कामना से होता है[३]।

द्वितीय जामदग्न्य संज्ञक क्रतु पुष्टि की कामना से किया जाता है[४]।

तृतीय वसिष्ठ संसर्प नामक क्रतु पुत्रप्राप्त्यर्थ करना चाहिए[५]।

चतुर्थ विश्वामित्र सञ्जक क्रतु को शत्रु से विजयप्राप्त्यर्थ करना चाहिए[६]।

पञ्चाह अहीनक्रतु

ये तीन तरह के हैं। इनमें तेरह दीक्षा, बारह उपसदा और पाँच सुत्याएँ होती हैं। प्रथम देवपञ्चाह क्रतु स्वर्ग या पशु की कामना से होता है[७]।

द्वितीय पञ्चशारदीय क्रतु अनेक प्रजा होने की कामना से किया जाता है[८]।

तृतीय व्रतवान् क्रतु को अन्नाद्यकामना से करना चाहिए[९]।

षडह अहीनक्रतु

यह षडह अहीनक्रतु तीन प्रकार का है। इनमें बारह दीक्षा, बारह उपसदा और छः सुत्याएँ होती हैं। यह समूढ और व्यूढ दो प्रकार का कहा है[१०]।

प्रथम ऋतुषडह क्रतु प्रतिष्ठाप्राप्ति के लिए किया जाता है[११]।

द्वितीय त्रिकद्रुक संज्ञक क्रतु पूर्णायुप्राप्ति की कामना से किया जाता है[१२]।

तृतीय अभ्यासङ्ग्य नामक षडह अहीनक्रतु करने का विधान है[१३]।

---

१. अन्तर्वसुसंज्ञकः पशुकामस्य भवति। दे० प० पृ० ७६५।

२. पराङेव स्वर्गलोकमाक्रमते। ता० ब्रा० सा० भा० २१.८.२।

३. मानवे—चत्वारो मे वीरा आजायेरन्। दे० प० पृ० ७६७।

४. जमदग्निः पुष्टिकामश्चतूरात्रेणायजत। तै० सं० ७.१.९।

५. पुत्रहतो० हीन इव मन्येत स एतेन यजेत। ता० ब्रा० २१.११.२।

६. भ्रातृव्यवान् यजेत। ता० ब्रा० २१.१२.३।

७. मानवे—भ्रातृव्यवान् स्वर्गकामः पशुकामो वा यजेत। दे० प० पृ० ७७१।

८. बहु स्यामिति स एतेन यजेत। ता० ब्रा० २१.१४.२।

९. मानवे—प्रजापतेर्व्रतवानन्नाकामो यजेत। दे० प० पृ० ७७५।

१०. षडहास्त्रयः। का० श्रौ० २३.५.१।

११. प्रतिष्ठासाधनं ऋतूनां षड्रात्रम्। ता० ब्रा० सा० भा० २२.१.१।

१२. यः कामयेत सर्वमायुरियामिति स एतेन यजेत। ता० ब्रा० २२.२.२।

१३. अभ्यासङ्ग्यः। ता० ब्रा० २२.३.१।

सप्ताह अहीनक्रतु

ये सात तरह के हैं। इनमें ग्यारह दीक्षा, बारह उपसदा और सात सुत्याएँ होती हैं[१]। प्रथम सप्तर्षिसप्तरात्र समृद्धि फल का साधक कहा है[२]।

द्वितीय प्रजापति सप्तरात्र प्रजादि फल को देने वाला है[३]।

तृतीय छन्दोमपवनसंज्ञक पशुकामना को पूरा करने वाला है[४]।

चतुर्थ जामदग्न्यनामक पुष्टि का साधक है[५]।

पञ्चम प्रजापतिरवधान० संज्ञक प्रजा की कामनापरक कहा है[६]।

षष्ठ जनकसप्तरात्र संज्ञक अन्नाद्य की कामना से करना चाहिए[७]।

सप्तम पृष्ठ्यस्तोमसंज्ञक अन्नाद्यफल का साधक है[८]।

अष्टाह अहीनक्रतु

यह अष्टाह अहीनक्रतु एक प्रकार का कहा है। इसमें दस दीक्षा, आठ सुत्या और बारह उपसदाएँ होती हैं। यह अष्टरात्र में होने वाला क्रतु देवत्व प्राप्ति का साधक है[९]।

नवरात्र अहीनक्रतु

इसके दो भेद कहे हैं। इनमें बारह दीक्षा, नव उपसदा और नव सुत्याएँ होती हैं। प्रथम देवनवरात्र संज्ञक आयुः प्राप्त्यर्थ करना चाहिए[१०]।

द्वितीय नवरात्र संज्ञक पशु की कामना से किया जाता है[११]।

दशरात्र अहीनक्रतु

यह चार प्रकार का है। इनमें आठ दीक्षा, दस सुत्या और बारह उपसदाएँ होती हैं।

प्रथम त्रिककुप् संज्ञक प्रतिष्ठा की कामना से होता है[१२]।

द्वितीय कुसुरुविन्द नामक पुत्रपौत्रादि समृद्धि के मिमित्त किया जाता है[१३]।

---

१. सप्तसप्ताहाः। का० श्रौ० २३.५.५।
२. सप्त ऋषय एतेनार्ध्नुवंस्तेनर्द्धिः। ता० ब्रा० २२.४.२।
३. प्रजापतेः सप्तरात्राख्यं प्रजादिफलसाधनकम्। ता० ब्रा० सा० भा० २२.५.१।
४. छन्दोमपवनाख्यं पशुफलं तृतीयम्। ता० ब्रा० सा० भा० २२.६.१।
५. पुष्टिसाधनं जामदग्न्यं चतुर्थम्। ता० ब्रा० सा० भा० २२.७.१।
६. प्रजापतेरवधानमैन्द्रं पञ्चमम्। ता० ब्रा० २२.८.१।
७. जनकसप्तरात्रः। का० श्रौ० २३.५.११।
८. पृष्ठ्यस्तोमसंज्ञकः। दे० प० पृ० ७७६।
९. देवत्वप्राप्तिसाधनमष्टरात्रम्। ता० ब्रा० सा० भा० २२.११.१।
१०. मानवे-देवानां नवरात्र आयुः कामो यजते। दे० प० पृ० ७७८।
११. काठके-उत्तरः प्रजाकामस्य द्वितीयः। दे० प० पृ० ७७८।
१२. प्रतिष्ठाकामस्य भवति। दे० प० पृ० ७७८।
१३. यः कामयेत बहुस्यामिति स एतेन यजेत। ता० ब्रा० २२.१५.२।

तृतीय छन्दोमसंज्ञक पशु की अभिलाषा से करना चाहिए[1]।

चतुर्थ देवपुर नामक अभिचार निमित्त करने का विधान है[2]।

एकादशरात्र अहीनक्रतु

यह एकादशरात्र अहीनक्रतु एक प्रकार का है। वह पौण्डरीक संज्ञक है[3]। सब तरह की ऋद्धिप्राप्ति के लिए इसका अनुष्ठान होता है। इसमें सात दीक्षा, द्वादश उपसदा और ग्यारह सुत्याएँ होती हैं। दशसहस्र गौ दक्षिणास्वरूप दी जाती है।

●

---

१. छन्दोमदशाहसंज्ञको दशरात्रः पशुकामस्य। दे० प० पृ० ७७९।

२. पूर्वदशरात्रोऽभिचर्यमाणस्य। दे० प० पृ० ७७९।

३. मानवे-क्षेमधन्वा पौण्डरीक एकादशरात्रेण यजेत।
काठके-क्षेमवृत्तमं पौण्डरीकस्य यमस्य चैकादशरात्रः पौण्डरीकः। दे० प० पृ० ७८१।

द्वादश अध्याय

सत्र

गवामयनसत्र : सत्रारम्भ....महाव्रत....महावीणावादन.....अभिगर—अपगर....रथारोहण....
लक्ष्यवेध....भूमिदुन्दुभि....दासीनृत्य ।

विविधसत्र : दिवसपरक यागव्यवस्था....त्रयोदशरात्रसत्र ।

महासत्र : द्वादशसंवत्सर महासत्र....सारस्वत महासत्र ।

गवामयनसत्र

गवामयन एक सत्र है, इसका वर्णन कात्यायन श्रौतसूत्र के तेरहवें अध्याय में देखा जाता है। यह सत्र अपनी एक विशेषता रखता है। यह विशेषता इसमें होने वाले विधान से स्पष्ट प्रतीत होती है।

गवामयन का फल

इस सत्र को करने वाले आहिताग्नि यजमान अपने मन की प्रजा ऐश्वर्य प्रभृति अभिलाषाओं की प्राप्ति के लिए इस का अनुष्ठान करते हैं[1]।

द्वादशाह की विकृति

सत्र का स्वरूप पहले कहा है। इसीलिए यहाँ गवामयन सत्र में होने वाले विशेष विधान का निर्देश किया है[2]। यह पूर्व विदित है कि सत्र में अनेक यजमान होते हैं एवं उसमें दक्षिणा नहीं दी जाती[3]। इसमें उखासंभरण, इष्टका निर्माण, चिति चयन और प्राजापत्यसंज्ञक इष्टका पशु होता है। द्वादशाह की विकृति होने से इसमें बारह दीक्षाएँ होती हैं।

प्रारम्भ

माघकृष्ण अष्टमी, द्वादशी, फाल्गुनशुक्ल पूर्णिमा अथवा चैत शुक्ल पूर्णिमा को इसका प्रारम्भ होता है। चौबीस दिनों में बारह दीक्षा और बारह उपसदाएँ होती हैं। अन्तिम उपसदा के दिन अग्नीषोमीय पशु का आलभन करना चाहिए। उसी दिन सुत्या प्रारम्भ होती है। इसमें तीन सौ एकसठ सुत्याएँ की जाती हैं।

सत्र के दिवस

गवामयन के पूर्व और उत्तर इस तरह दो पक्ष होते हैं। प्रत्येक पक्ष में एक सौ अस्सी सुत्याएँ होती हैं। ये दोनों पक्ष छ-छ महीने के होते हैं। दोनों पक्ष के मध्य में विषुवान् संज्ञक एक दिवससाध्य अनुष्ठान होता है। चौबीस दिनों का अनुष्ठान पहले गिनाया है। इस प्रकार कुल मिलाकर तीन सौ पचासी दिनों में इस सत्र की समाप्ति होती है। प्रथम चौबीस दिन और मध्य के एक दिन की गणना न करके तीन सौ साठ दिन की गणना करते हुए संवत्सरसत्र संज्ञक इसका नामान्तर है।

---

१. गवामयनेन प्रजां भूतिं भूमानं गच्छन्त्यभिस्वर्गंलोकं जयन्त्येषु लोकेषु प्रतितिष्ठन्ति। आप० श्रौ० २१.१५, १।

२. सत्रात्मकस्य द्वादशाहस्य विकारः। श० ब्रा० हृ० भा० १२.१.१.१।

३. सप्तदशावराश्चतुर्विंशतिपरमाः सत्रमासीरन्। श० ब्रा० हृ० भा० १२.१.१.१।

४. संवत्सराय दीक्षिष्यमाण एकाष्टकायां दीक्षेरन्। तै० सं० ७.४.८।

उपर्युक्त अग्नीषोमीय अनुष्ठान के अनन्तर प्रायणीय[1] अतिरात्र और अग्निष्टोमसंस्थ या उक्थ्यसंस्थ चतुर्विंशस्तोम करना चाहिए[2]। इन दो दिनों की गणना षष्ठमास में की जाती है। तब चौबीस दिनों में होने वाले षडह संज्ञक चार अभिप्लव होते हैं[3]। अन्त में छ दिनों का एक पृष्ठ्यषडह करना चाहिए। इस प्रकार एक मास होता है। इसमें प्रथममास की तरह अन्य चारमास अनुष्ठान करके पाँच मास बितावे[4]। छठे महीने में तीन षडह अभिप्लव और एक पृष्ठ्यषडह इस प्रकार से चौबीस दिन होते हैं[5]। पचीसवें दिन अग्निष्टोमसंस्थ अभिजित् और तीन स्वःसाम करने से अठाइस दिन होते हैं। पहले दो दिन मिलाने से छठा मास पूरा होता है। यह गवामयन का पूर्वपक्ष कहा जाता है। इसमें कुल एक सौ अस्सी सुत्याएँ होती हैं।

गवामयन का मध्य दिवस

पूर्वपक्ष का अनुष्ठान हो चुकने पर विषुवान् संज्ञक अनुष्ठान करना चाहिए[6]। यह इस सत्र का मध्य दिवस है। इसमें सूर्य देवता के निमित्त पशु का आलभन होता है[7]। इस दिन की गणना पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष से अतिरिक्त की जाती है।

गवामयन का उत्तरपक्ष

सातवें महीने से उत्तरपक्ष का प्रारम्भ होता है। कुछ विशेष विधान को छोड़कर पूर्वपक्ष में किया हुआ अनुष्ठान प्रतिलोम क्रम से इसमें किया जाता है। सप्तम मास में प्रतिलोमस्वरूप[8] तीन स्वरसाम करके अग्निष्टोम संस्थ विश्वजित् करना चाहिए[9]। उसके बाद पृष्ठ्य षडह करके तीन अभिप्लवषडह करना चाहिए। इसप्रकार अट्ठाईस दिन पूरे हुए। सत्र में किये जाने वाले महाव्रत और उदयनीय की गणना इसी मास में करके एक मास पूरा होता है। उत्तरपक्ष के द्वितीयमास में प्रतिलोमविधान से पृष्ठ्यषडह, तब चार अभिप्लवषडह करने से आठवाँ मास पूरा होता है। इस दूसरे मास के अनुष्ठान की तरह तीसरे, चौथे और पाँचवें मास में अनुष्ठान करने चाहिए। छठे मास में तीन अभिप्लवषडह करने चाहिए। उक्थ्यसंस्थ गोष्टोम करे। अनन्तर उक्थ्यसंस्थ आयुष्टोम करे। अनन्तर द्वादशाह में कहे हुए प्रथम और

---

१. अग्नीषोमीयानन्तरं प्रथमं प्रायणीयातिरात्रः। दे० प० पृ० ४२८।
२. ततश्चतुर्विंशमहरग्निष्टोमसंस्थमुक्थसंस्थं वा। दे० प० पृ० ४२८।
३. चत्वारोऽभिप्लवाः पृष्ठ्यश्च मासः। का० श्रौ० १३.२.३।
४. एवमेव द्वितीयो मासः, तृतीयश्चतुर्थः पञ्चमो मासः। दे० प० पृ० ४२९।
५. षष्ठे त्रयोऽभिप्लवाः पृष्ठ्यः। अभिजिदग्निष्टोमः। त्रयः स्वरसामानोऽग्निष्टोमा उक्थ्या वा का० श्रौ० १३.२.५;८।
६. विषुवान् इत्येवसंज्ञमग्निष्टोमसंस्थमहः। दे० प० पृ० ४२९।
७. सौर्य उपालभ्यः। का० श्रौ० १३.२.१३।
८. पूर्वपक्षं प्रतिलोमम्। का० श्रौ० १३.२.१५।
९. विश्वजित्संज्ञोऽग्निष्टोमः। दे० प० पृ० ४२९।

अन्तिम छोड़कर दस दिन के अनुष्ठान करे[1]। इसप्रकार उत्तर पक्ष का छठाँ मास पूरा होता है।

महाव्रत

गवामयनसत्र के अन्त में महाव्रत का अनुष्ठान किया जाता है[2]। इसमें प्राजापत्य पशु का आलभन किया जाता है। इसमें पृष्ठसंज्ञक स्तोत्र का उपाकरण सौ तार की बाण नामक बीणावादन से किया जाता है[3]।

महावीणावादन

इस वीणा में दोनों ओर दस-दस छिद्र रहते हैं। प्रत्येक छेद में दस-दस मूँज के तार पिरोकर सौ तार की वीणा बनायी जाती है। इस वीणा को भी किसी यज्ञकाष्ठ से बनाना चाहिए। इसको बजाने के लिए बेंत का वादक यन्त्र अपेक्षित है[5]।

स्तवन के समय उपवेशन

होता शस्त्रपाठ के समय झूले पर बैठकर शंसन करता है[6]। अध्वर्यु शस्त्र के प्रतिगर के समय चौकी पर बैठ कर प्रतिगर करता है[7]। उद्गाता आसन्दी पर बैठकर स्तोत्रपाठ करता है[8]। अन्य ऋत्विज दर्भनिर्मित कूर्च पर बैठते हैं[9]।

स्तुति और निन्दा

जिस समय महाव्रतस्तोत्र का स्तवन होता है, उस समय सदोमण्डप के पूर्वद्वार पर एक ब्राह्मण पश्चिमाभिमुख बैठा हुआ सत्र करने वालों को स्तुति करता है। पश्चिमद्वार पर बैठा हुआ एक शूद्र निन्दा करता है[10]।

अभिगर और अपगर

आग्नीध्रीय मण्डप के पूर्व की ओर उत्तराभिमुख एक ब्रह्मचारी बैठता है। वेदि से बाहर एक पुंश्चलू स्त्री बैठती है[11]। दोनों के बीच एक दूसरे की निन्दारूप वाद होता है[12]।

---

१. षष्ठे मासे त्र्योऽभिप्लवाः गो आयुषी। दशरात्रः। महाव्रतमग्निष्टोमः। का० श्रौ० १३.२.१८-२१।

२. महानवतिष्ट अनेन कर्मणेति व्युत्पत्त्या तस्य कर्मणो महाव्रतनाम। तै० ब्रा० १.२.६।

३. पृष्ठ्योपाकरणं बाणेन शततन्तुना। का० श्रौ० १३.२.२५। बाणं—महावीणा। ता० ब्रा० सा० भा० ५.६.१२।

४. उभयतो दश-दश छिद्राणि भवन्ति। दे० प० पृ० ४३०।

५. वेतसं वादनम्। का० श्रौ० १३.२.२७।

६. प्रेङ्खामारुह्य होता शंसति। ता० ब्रा० ५.५.९।

७. अध्वर्युरौदुम्बरे फलके आसन्दीवत्पादयुक्ते उपविश्य प्रतिगृणाति। दे० प० पृ० ४३१।

८. उद्गाता आसन्दीमारुह्य। ता० ब्रा० सा० भा० ५.५.१।

९. बृसीषु दर्भमयेषु कूर्चेषु। दे० प० पृ० ४३१।

१०. आक्रोशत्येकः प्रशसत्यपरः। का० श्रौ० १३.३.७।

११. पुंश्चलूर्जघनचपला स्त्री। दे० प० पृ० ४३१।

१२. पुंश्चलूब्रह्मचारिणावन्योन्यमाक्रोशतः। का० श्रौ० १३.३.८।

चर्माकर्षण

मार्जालीयमण्डप के निकट दक्षिणाभिमुख एक ब्राह्मण बैठे। वेदि से बाहर उत्तराभिमुख एक शूद्र बैठे। दोनों के बीच एक गोल आकार का चर्म रखा रहता है। दोनों परस्पर खींचते हैं[१]। यहाँ आर्य की विजय होनी चाहिए। मार्जालीय मण्डप के दक्षिण ओर आवृत स्थान में अनियत जाति वाले सुरत करते हैं[२]।

रथारोहण

अध्वर्यु द्वारा प्रदत्त कवचों को चार क्षत्रिय युवक पहनते हैं[३]। वे चारों क्षत्रिय वीर तीन अश्व के रथ पर बैठते हैं। रथ को दौड़ाते हुए देवयजन की तीन प्रदक्षिणा करते हैं[४]।

लक्ष्यवेध

चात्वाल के उत्तर की ओर एक स्तम्भ गाड़ते हैं। इस स्तम्भ में ऊपर की ओर दो शाखा निकली होनी चाहिए। उस पर एक चर्म लटकाया रहता है[५]। चर्म की गरदन ऊपर की ओर रहनी चाहिए। जब दौड़ता हुआ क्षत्रियों का रथ चर्म की ओर जाता है तो प्रत्येक क्षत्रिय चर्म की गरदन को लक्ष्य बनाकर बाण छोड़ते हैं[६]।

यहाँ बाण छोड़ने का प्रकार भी कहा है। वह यह है कि बाण इसतरह छोड़े जायँ कि बाण के केवल फल मात्र चर्म के उस पार हों। बाण के शेष अंश बाहर न जायँ। अर्थात् धनुष और बाण विद्या में निपुण क्षत्रियों को कितनी ताकत से बाण छोड़ना इस पर भी अधिकार होना चाहिए।

भूमिदुन्दुभिवादन

सदोमण्डप के चार कोने पर चार दुन्दुभियाँ बजानी चाहिए[७]। पाँचवीं दुन्दुभि विशेष प्रकार की बनायी जाती है। उसका प्रकार यह है। आग्नीध्रीय मण्डप के पश्चिम की ओर आधा वेदि में और आधा वेदि से बाहर एक गड्ढा खोदते हैं। गर्त्त के चारों ओर खूँटी (शंकु) गाड़ते हैं। उन खूँटियों के ऊपर एक पूँछ सहित चर्म को रख कर उन शंकुओं में चर्म को कसकर

---

१. शूद्रार्यौ चर्मणि व्यायच्छेते तयोरार्यवर्णमुज्जापयन्ति। ता० ब्रा० ५.५.१४।

२. मार्जालीयं दक्षिणेन परिवृते मिथुनं सम्भवति। का० श्रौ० १३.३.११।

३. क्षत्रियं सन्नाहयति०। का० श्रौ० १३.३.१२।

४. त्रिर्देवयजनं परितो गच्छन्ति। दे० प० पृ० ४३२। सन्नद्धाः कवचिनः परियन्ति। ता० ब्रा० ५.५.२१।

५. विशाख्यामुच्छ्रितं भवति ऊर्ध्वग्रीवम्। दे० प० पृ० ४३२।

६. शरेणैकप्रदेशे मध्ये ग्रीवासु च क्रमेण विध्यन्ति। यथा शरपत्राणि बहिर्न निष्पतन्ति। दे० प० पृ० ४३२।

७. सदः स्रक्तिषु दुन्दुभीन्वादयन्ति। का० श्रौ० १३.३.१९।

बाँधते हैं। चारों ओर से मिट्टी रखकर खुले भाग को बन्द करते हैं। अनन्तर उसी पूँछ से दुन्दुभि को बजाते हैं[१]।

वीणावादन

पत्नीगण गोधावीणा, काण्डवीणा, शालद्रुमयी वीणा, अपाघाटलिका वीणा, तालुकावीणा, पिच्छोलावीणा प्रभृति अनेक प्रकार की वीणाओं को बजाकर स्वयं गाती हैं और स्तोत्र की सङ्गत करती हैं[२]।

दासी द्वारा नृत्य

एक सौ पाँच से परार्द्ध पर्यन्त संख्या में जितनी भी दासियाँ हों वे सब सिर पर जलपूर्ण कलश रखती हैं। मार्जालीयमण्डप के चारों ओर प्रदक्षिण और अप्रदक्षिण घूमती हुई नृत्य करती हैं[3]। अध्वर्यु प्रत्येक भ्रमण के प्रारम्भ में दासियों से मन्त्रवाचन कराता है। उपर्युक्त समस्त विधान केवल महाव्रत में ही विहित हैं।

उदयनीयातिरात्र

प्रातः उदनीयातिरात्र करे[४]। तदनन्तर मैत्रावरुणी, वैश्वदेवी और बार्हस्पत्या संज्ञक तीन अनूबन्ध्या करनी चाहिए[५]। अनुबन्ध्या के अनन्तर सपत्नीक यजमान केश और लोम का वपन करावे। अनन्तर त्रैधातवी उदवसानीया का अनुष्ठान करे। अवभृथयाग के अनन्तर अग्निष्टोमसंस्थ ज्योतिष्टोम करे।

गवामयन समाप्त।

---

१. पुच्छकाण्डेन भूमिदुन्दुभिमाघ्नन्ति। स० श्रौ० १६.६.२७।

२. गोधावीणाकाः, काण्डवीणाश्च पत्न्यो वादयन्ति। का० श्रौ० १३.३.२१।
अपाघाटलिकास्तालुकावीणाः, काण्डवीणाः, पिच्छोला। स० श्रौ० १६.६.२१।
अपघाटिलाभिरुपगायन्ति। ता० ब्रा० ५.६.८।
उपमुखं स्थापयित्वा मुखमारुतेन वाद्यमाना वीणा अपघाटिला० पिच्छोला वादनदण्डेन वाद्यमाना। ता० ब्रा० सा० भा० ५.६.८।

३. पञ्चाधिकशतं पराध्र्या दास्यः शिरस्सु नवान् उदकुम्भान् कृत्वा मार्जालीयं परियन्ति। दे० प० पृ० ४३३।
मार्जालीयं दास्यः परियन्ति। का० श्रौ० १३.३.२४। प्रदक्षिणं मार्जालीयं धिष्णियं परिनृत्यन्तीः परियन्ति दक्षिणान्पदो निघ्नतीः। श० श्रौ० १६.६.३९।
त्रिर्वारमप्रदक्षिणं परीत्य त्रिर्वारं प्रदक्षिणं परियन्ति०। अयं श्रीयाज्ञिकानन्ताभिमतः प्रकार उक्तः। कर्काचार्याणां मते मध्वित्याकर्षे:०। पितृभूत्याचार्याणां मते एकमेव तूष्णीं परिगमनं नाष्टौ०। दे० प० पृ० ४३३।

४. प्रातरुदयनीयातिरात्रो भवति। दे० प० पृ० ४३४।

५. तिस्रोऽनूबन्ध्या मैत्रावरुणी वैश्वदेवी बार्हस्पत्याः। का० श्रौ० १३.४.४।

सत्र

सत्र के साधारण धर्म द्वादशाहसत्र और गवामयनसत्र में कहे हैं। सत्रों में श्रौतयाग दीर्घकाल तक चलते हैं[1]। साधारणतया समस्त सत्रों में बारह दीक्षा और बारह उपसदाएँ होती हैं। संवत्सरसत्र के बाद के सत्रों में यथेष्ट दीक्षाएँ होती हैं[2]। त्रयोदशरात्रिसत्र में तेरह सुत्या, चतुर्दशरात्रि सत्र में चौदह सुत्या इस प्रकार सुत्या की वृद्धि होती रहती है। चत्वारिंशद्रात्रिसत्र में चालीस सुत्याएँ होती हैं।

यहाँ रात्रि शब्द अहर्निश का बोधक होता है। सैंतीस दिनों में त्रयोदशरात्रसत्र और अड़तीस दिनों में चतुर्दशरात्रसत्र की समाप्ति होती है। इसी तरह चत्वारिंशद्रात्रसत्र पर्यन्त दिन की वृद्धि होती है। एकोनपंचाशद्रात्रसत्र के सात भेद कहे हैं। शतरात्रसत्र भी एक प्रकार का सत्र है। इस तरह रात्रिसत्र की संख्या सैंतीस है।

सत्र में दिवसपरक यागव्यवस्था

कई तरह के याग का समुदाय एकत्र होकर एक सत्र होता है। उनमें जिस दिन जो याग करने को कहा हो तदनुसार करना चाहिए। जहाँ प्रतिपदोक्त नहीं कहा है, वहाँ इस प्रकार पूर्ति करनी चाहिए। छः दिनों के लिए षडहअभिप्लव, पाँच दिनों के लिए षडह के प्रथम पाँच दिन, चार दिनों के लिए दसरात्र से पूर्व त्रिकद्रुक और अन्त में महाव्रत, तीन दिनों के लिए ज्योति, गौ और आयु[3], और दो दिनों के लिए गौ और आयु संज्ञक करना चाहिए[4]। उपर्युक्त अनुष्ठान प्रायणीय और उदयनीय के मध्य में ही होना चाहिए।

त्रयोदशरात्रसत्र

त्रयोदशरात्रिसत्र में तेरह सुत्याएँ की जाती हैं। कितने दिनों में कौन याग होकर तेरह सङ्ख्या पूरी होती है। यह इस प्रकार है। १ प्रायणियोतिरात्र। २–७ पृष्ठ्यषडह। ८ सर्वस्तोमातिरात्र। ९–११ तीन छन्दोम। १२ अविवाक्य और १३ उदयनीयोतिरात्र। इस प्रकार त्रयोदशातिरात्र क्रतु का अनुष्ठान होता है। यह प्रथम त्रयोदशातिरात्र है। इसे समस्त कामनाओं का साधक कहा है[5]। इसी प्रकार इसके और दो भेद हैं। इस प्रकार तीन तरह

---

१. द्वादशरात्रादीनि रात्रिसत्राणि। का० श्रौ० २४.११।

२. सांवत्सरिकेभ्यश्चोर्ध्वं दीक्षाणां यथाकामी। दे० प० पृ० ७८२।
प्रथमे पञ्चदशरात्रे एकान्नविंशतिर्दीक्षा इति धानंजय्यः। अष्टादशेति गौतमोक्तेर्विकल्पो वा। दे० प० पृ० ७८२।

३. एतेषाणमह्नां त्रिकद्रुकेति संज्ञा। दे० प० पृ० ७८२।

४. मानवे सूत्रे सत्रेऽभिप्लवं षडहे। कठसूत्रे च–द्व्यागमे गौश्चायुश्च०।
सांख्यायनः–एकाहार्थे महाव्रतमाहरन्ति०। आश्वलायनः–अथैतेषामह्नाम्०।
दे० प० पृ० ७८३।

५. सम्पूर्णकामसाधकोऽयम्। ता० ब्रा० सा० भा० २३.१.४।

के त्रयोदशातिरात्र होते हैं। अतएव सत्रों के दिनों में विधिपूर्वक, तथाकथित यागों की योजना करनी चाहिए[1]।

चतुर्दशरात्रसत्र

यह चतुर्दशरात्र सत्र तीन प्रकार का है[2]। प्रथम सत्र समस्त अभिलाषाओं को पूरा करने वाला है[3]। जिसके विवाह होने में संशय हो वह दूसरा सत्र करे[4]। प्रतिष्ठा के लिए तृतीय सत्र का विधान है[5]।

पञ्चदशरात्र

पंचदशरात्रसत्र चार प्रकार के हैं[6]। देवत्वप्राप्ति के लिए प्रथम का विधान है[7]। ब्रह्म-वर्चस के अभिलाषी दूसरा करे[8]। तीसरे से अहीन और सत्र दोनों का फल मिलता है[9]। प्रजा-प्राप्ति का अभिलाषी हो तो चतुर्थ का विधान किया है[10]।

षोडशरात्रसत्र

समस्त लोक में विजयी होने के लिए षोडशरात्र सत्र करना चाहिए[11]।

सप्तदशरात्र सत्र

अनन्त श्री की इच्छा से सप्तदशरात्र सत्र करे[12]।

अष्टादशरात्रसत्र

आयुष्य प्राप्ति के हेतु इस सत्र को करना चाहिए[13]।

---

१. प्रकृतिविहितं द्वितीयम्। संभार्यं तृतीयम्। का० श्रौ० २४.१.१५–१६।
द्वितीयं त्रयोदशातिरात्रं प्रतिष्ठासाधनम्। ता० ब्रा० सा० भा० २२.२.१।
२. चतुर्दशरात्राणि त्रीणि। का० श्रौ० २४.१.१८।
३. प्रथमं सर्वफलसाधनं चतुर्दशरात्रम् ता० ब्रा० सा० भा० २३.३.१।
४. विवाहे वा मीमांसेरन्। ता० ब्रा० सा० भा० २३.४.२।
५. प्रतिष्ठासाधनम्। ता० ब्रा० सा० भा० २३.५.१।
६. पञ्चदशरात्राणि चत्वारि। का० श्रौ० २४.१.२५।
७. देवत्वप्राप्तिसाधनं प्रथमम्। ता० ब्रा० सा० भा० २३.६.१।
८. ब्रह्मवर्चसकामा उपेयुः। ता० ब्रा० २३.३.३।
९. उभावेवैताभिः कामावरुन्धते। ता० ब्रा० २३.८.७४।
१०. एताभिर्वै प्रजापतिः प्रजा असृजत। ता० ब्रा० २३.९.२।
११. परमामेवैताभिर्विजितिं विजयन्ते। ता० ब्रा० २३.१०.२।
१२. मानवे–श्रीकामाः सप्तदशरात्रमुपेयुः। दे० प० पृ० ७८८।
१३. आयुःकामा अष्टादशरात्रमुपेयुः। दे० प० पृ० ७८८।

एकोनविंशतिरात्रिसत्र

पशु के आधिपत्य की प्राप्ति के निमित्त यह सत्र किया जाता है[1]। मृगसत्र इसका नामान्तर है[2]।

विंशतिरात्रसत्र

पुरुषप्राप्ति के लिए इसका विधान किया है[3]।

एकविंशतिरात्र सत्र

एकविंशतिरात्र सत्र दो प्रकार का कहा है। प्रथम पशु की अभिलाषा हो तो और दूसरा ब्रह्मवर्चस की अभिलाषा हो तो ग्रीष्म ऋतु में करने को कहा है[4]।

द्वाविंशतिरात्र सत्र

यह सत्र अन्नाद्यफल की अभिलाषा से करना चाहिए[5]।

त्रयोविंशतिरात्र सत्र

प्रतिष्ठा की अभिलाषा से यह सत्र किया जाता है[6]।

चतुर्विंशतिरात्र सत्र

यह सत्र दो प्रकार का है। स्वर्ग की कामना से प्रथम और प्रजा अथवा पशु की कामना से द्वितीय का विधान है[7]।

पंचविंशतिरात्र सत्र

अन्नाद्य कामना में पंचविंशतिरात्र सत्र किया जाता है[8]।

षड्विंशतिरात्र सत्र

प्रतिष्ठा की अभिलाषा में इस सत्र को करे[9]।

सप्तविंशतिरात्र सत्र

समस्त ऋद्धि की प्राप्ति के निमित्त इस सत्र का विधान है[10]।

---

१. पश्वाधिपत्यसाधनम्। ता० ब्रा० सा० भा० २३.१३.१।
२. मृगसत्रं वा एतत्। ता० ब्रा० २३.१३.३।
३. मानवे–पुरुषकामा विंशतिरात्रमुपेयुः। दे० प० पृ० ७८८।
४. पशुफलसाधनं प्रथमम्, द्वितीयं ब्रह्मवर्चसफलसाधनम्। ता० ब्रा० सा० भा० २३.१५.१।
५. द्वाविंशतिरात्रमन्नाद्यकामानाम्। का० श्रौ० २४.२.११।
६. प्रतिष्ठाकामानां भवति। दे० प० पृ० ७९०।
७. स्वर्गोत्पत्तिसाधनं प्रथमम्, द्वितीयं० प्रजापश्वोरन्यतरकामानाम्। ता० ब्रा० सा० भा० २३.१९.१; २३.२०.१।
८. पंचविंशतिरात्रमन्नाद्यकामानाम्। का० श्रौ० २४.२.२२।
९. प्रतिष्ठाकामानां भवति। दे० प० पृ० ९७२।
१०. सर्वामृद्धिमाप्नुवन्ति य एता उपयन्ति। ता० ब्रा० २३.२३.२।

अष्टाविंशतिरात्र सत्र

प्रजा और पशु की कामना वाला इस सत्र को करे[1]।

एकोनत्रिंशद्रात्र सत्र

अनन्त श्री की अभिलाषा से यह सत्र करना चाहिए[2]।

त्रिंशद्रात्र सत्र

अन्नाद्य की अभिलाषा से यह सत्र करना चाहिए[3]।

एकत्रिंशद्रात्र सत्र

इस सत्र को भी अन्नाद्य की कामना से करते हैं[4]।

द्वात्रिंद्रात्र सत्र

पशु की प्राप्ति के निमित्त इस सत्र का विधान है[5]।

त्रयस्त्रिंशद्रात्र सत्र

यह सत्र तीन प्रकार का है[6]। प्रथम प्रतिष्ठाप्राप्ति के लिए, द्वितीय ऋद्धि की कामना हो तो करना विहित है[7]। तृतीय समस्त कामनाओं की सिद्धि के हेतु करना चाहिए[8]।

चतुस्त्रिंशद्रात्र सत्र

ऋद्धि चाहने वाले को यह सत्र करना चाहिए[9]।

पंचत्रिंशद्रात्र सत्र

पशु की अभिलाषा हो तो इसका अनुष्ठान करे[10]।

षट्त्रिंशद्रात्र सत्र

पशु, स्वाराज्य या प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए यह सत्र करे[11]।

---

१. प्रजाकामानां पशुकामानां वा भवति। दे० प० पृ० ७९२।
२. अनन्तश्रीफलसाधकम्। ता० ब्रा० सा० भा० २३.२५.२।
३. त्रिशद्रात्रमन्नाद्यकामाः। दे० प० पृ० ७९३।
४. अन्नाद्यमवरुन्धते। ता० ब्रा० २३.२७.३।
५. पशुकामा उपेयुः। ता० ब्रा० १३.२८.१।
६. प्रतिष्ठाकामाय। ता० ब्रा० सा० भा० २४.१.१।
७. ऋद्धिकामानां सत्रम्। ता० ब्रा० सा० भा० १४.२.१।
८. सर्वकामसाधनम्। ता० ब्रा० सा० भा० २४.३.१।
९. ऋद्धिकामानां सत्रम्। ता० ब्रा० सा० भा० २४.४.१।
१०. पंचत्रिंशद्रात्रं पशुकामानां सत्रम्। ता० ब्रा० सा० भा० २४.५.१।
११. षट्त्रिंशद्रात्रं पशुकामानाम्, स्वाराज्यलक्षणं फलान्तरम्। ता० ब्रा० सा० भा० २४.६.१, २४.६.३। प्रतिष्ठाकामानाम्। दे० प० पृ० ७९४।

सप्तत्रिंशद्रात्र सत्र

ऋद्धि, अन्न और पशु प्राप्त्यर्थ यह सत्र कहा है[1]।

अष्टात्रिंशद्रात्र सत्र

प्रजा या पशु के अभिलाषी इस सत्र को करे[2]।

एकोनचत्वारिंशद्रात्र सत्र

अनन्त श्री और जय के लिए इस सत्र को करे[3]।

चत्वारिंशद्रात्र सत्र

प्रजा या पशु की कामना से इस सत्र को करे[4]।

एकोनपञ्चाशद्रात्र सत्र

पाप निवृत्ति के लिए इस सत्र को करना चाहिए। इसके सात भेद हैं[5]।

एकषष्ठिरात्र सत्र

ऋद्धि की अभिलाषा में इसे करे। इसके तीन प्रकार कहे हैं[6]।

शतरात्रसत्र

अमृतत्व की प्राप्ति के लिए इसका अनुष्ठान करना चाहिए[7]।

संवत्सरसत्र

संवत्सरसत्र सात प्रकार का कहा है।

प्रथम– गवामयन नामक है। इसका परिचय प्रकृत ग्रन्थ में देखें।

द्वितीय– आदित्यानामयन संज्ञक है। स्वर्गप्राप्ति के लिए इसे करना चाहिए[8]।

तृतीय– अङ्गिरसामयन संज्ञक है। इसका फल स्वर्गप्राप्ति है[9]।

चतुर्थ– दृतिवातवतोरयन संज्ञक है। प्रत्येक ऋतु में उत्तमोत्तम भोग की प्राप्ति के निमित्त इस सत्र का अनुष्ठान कहा है[10]।

---

१. सप्तत्रिंशद्रात्रमृद्धिकामानाम्। दे० प० पृ० ७९५।
अन्नपशुरूपफलद्वयकामानाम्। ता० ब्रा० सा० भा० २४.७.१।

२. अष्टात्रिंशद्रात्रं प्रजाकामानां पशुकामानां वा। दे० प० पृ० ७९५।

३. अनन्तश्रीजयकामानाम्। ता० ब्रा० सा० भा० २४.९.१.।

४. चत्वारिंशद्रात्रं प्रजाकामानां पशुकामानां वा। दे० प० पृ० ७९५।

५. विपाप्मना वर्तन्ते य एता उपयन्ति। ता० ब्रा० २४.११.३।

६. ऋद्धिकामानामेकषष्ठिरात्रं सत्रम्। ता० ब्रा० सा० भा० २४.१८.१।

७. शतरात्रेणामृतत्वं प्रायच्छत्। ता० ब्रा० २४.१९.२।

८. आदित्यानामयनशेषो व्याख्यातः। स्वर्गकामा उपेयुः। दे० प० पृ० ८०८।

९. स्वर्गस्य लोकस्याक्रान्त्यै। ता० ब्रा० २५.२.२।

१०. तत्तदृतूचितभोगास्पदत्वम्। ता० ब्रा० सा० भा० २५.३.२.।

पंचम– कुण्डपायिनामयन संज्ञक है। यह समस्त अभिलषित कामनाओं का पूरक है[1]। इस सत्र में सत्रानुष्ठान सम्पादनार्थ होता, उद्गाता, मैत्रावरुण, प्रस्तोता, प्रतिप्रस्थाता, गृहपति और सुब्रह्मण्य ये सात पुरुष और पत्नी रहती है। होता—अपना, अध्वर्यु का और पोता का काम करता है। मैत्रावरुण–अपना, ब्रह्मा का और प्रतिहर्त्ता का काम करता है। उद्गाता—अपना, नेष्टा का और अच्छावाक का काम करता है। प्रस्तोता–अपना, ब्राह्मणाच्छंसी का और ग्रावस्तुत् का काम करता है। प्रतिप्रस्थाता अपना, आग्नीध्र का और उन्नेता का काम करता है। गृहपति और सुब्रह्मण्य अपना-अपना काम करते हैं।

सर्पसत्र

षष्ठ संवत्सरसत्र का नाम सर्पसत्र है। इस सत्र के अनुष्ठान से अपमृत्यु से रक्षा होती है[2]।

त्रिसंवत्सर सत्र

इसे प्रजातिसाधन कहा है। इसमें प्रथम संवत्सर में गवामयन, द्वितीय में आदित्यायन और तृतीय में आङ्गिरसायन किया जाता है। इसका फल स्वर्गप्राप्ति है[3]।

तापश्चितसत्र

इस तापश्चितसत्र के तीन प्रकार कहे हैं। इससे समृद्धि मिलती है। प्रथम क्षुल्लक तापश्चित में दीक्षा, उपसदा और सुत्या चार-चार महीने तक करके एक वर्ष में समाप्ति होती है[4]।

द्वितीय तापश्चित की दीक्षा, उपसदा और सुत्या एक-एक वर्ष की होती है। यह तीन वर्षों में समाप्त होता है[5]।

तृतीय महातापश्चित सत्र में तीन वर्ष तक उपसदाएँ होती हैं[6]। शेष दीक्षा और सुत्या पूर्व तापश्चित के समान की जाती है।

अग्निसत्र

पाप की निवृत्ति के लिए इस सत्र का अनुष्ठान कहा है[7]। इस सत्र में एक हजार सुत्या की जाती है।

---

१. पशुपुत्रधनस्वर्गादिफलैः समृद्धा भवन्ति। ता० ब्रा० सा० भा० २५.४.३।
२. एतेन वै सर्पा अपमृत्युमजनयन्नपमृत्युं जयन्ति य एतदुपयन्ति। ता० ब्रा० २५.१५.४।
३. स्वर्गं लोकं यन्ति य एतदुपयन्ति। ता० ब्रा० २५.१६.२।
४. चत्वारो मासा दीक्षाः। दे० प० पृ० ८१९।
५. संवत्सरं दीक्षिता भवन्ति, संवत्सरमुपसद्भिश्चरन्ति, संवत्सरं प्रसुतो भवति। ता० ब्रा० २५.५.१।
६. त्रयः संवत्सरमुपसदो भवन्ति। दे० प० पृ० ८१९।
७. विपाप्मना० कामयमाना उपेयुः। दे० प० पृ० ८२०।

महासत्र

प्रजापतिसत्र से सारस्वतसत्र पर्यन्त सभी सत्रों का अनुष्ठान अति दीर्घकालीन होने के कारण इनकी महासत्र संज्ञा कही है[१] ।

द्वादशसंवत्सर महासत्र

इसको प्रजापति सत्र कहते हैं । यह सत्र बारह वर्ष में पूर्ण होता है । इससे समस्त ऋद्धि की प्राप्ति होती है[२] ।

षट्त्रिंशत्संवत्सर महासत्र

इसका शाक्त्यानामयन नाम है । इसकी समाप्ति छत्तीस वर्ष में होती है । सम्पूर्ण ऋद्धि की अभिलाषा से यह किया जाता है[३] ।

शतसंवत्सर महासत्र

इसकी साध्यानामयन संज्ञा है । एक सौ वर्ष में यह पूरा होता है । इसका फल स्वर्ग-प्राप्ति कहा है[४] ।

सहस्रसंवत्सर महासत्र

इसे विश्वसृजामयन कहते हैं । विश्व का अधिपति होना इसका फल है । सहस्र संवत्सर पर्यन्त किसी एक व्यक्ति का जीना संभव नहीं है । अतएव इसप्रकार का विधान असङ्गत मालूम पड़ता है । किन्तु इस विषय में अनेक पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष के अनन्तर यह सिद्धान्त निश्चित हुआ है कि यहाँ संवत्सर शब्द दिन परक है । अर्थात् एक सहस्र दिनों में इस महासत्र की समाप्ति होती है ।

सारस्वत महासत्र

इसका मित्रावरुणायन नामान्तर है[५] । यह सत्र एक स्थान पर न करके मार्ग चलते हुए अनेक स्थानों में किया जाता है । इसीलिए इस सत्र का नामान्तर 'यात्सत्र' है[६] । इस याग के देवयजन के नीचे पहिये लगाये जाते हैं । जिससे उनका स्थानान्तरण हो सके । यूप को घसीट कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं । इसमें यूप गाड़ते नहीं हैं, प्रत्युत खड़ा करके चारों ओर मिट्टी थोप देते हैं ।

---

१. महासत्राण्यतः । का० श्रौ २४.५.१५ ।
२. सर्वर्द्धिकामा अत्राधिकारिणः । ता० ब्रा० सा० भा० २५.६.२ ।
३. षट्त्रिंशत्संवत्सरं शाक्त्यानाम् । का० श्रौ० २४.५.२० ।
४. स्वर्गं लोकं यन्ति य एतदुपयन्ति । ता० ब्रा० २५.८.२ ।
साध्यानामयनं शतसंवत्सरम् । ता० ब्रा० सा० भा० २५.८.२ ।
५. मित्रावरुणयोः प्रथमम् । ता० ब्रा० सा० भा० २५.१०.१ ।
६. यात्सत्राणि सारस्वतानि । सदोहविर्धानाग्नीध्राणि चक्रीवन्ति । का० श्रौ० २४.५.२५-२६ ।

प्रारम्भ

चैत्र शुक्ल सप्तमी को सरस्वती और समुद्र के सङ्गम पर (प्रभास क्षेत्र में) दीक्षा होती है[1]। अतिरात्र याग और सान्नाय्येष्टि के अनन्तर अध्वर्यु पूर्व में शम्या फेंकता है। जहाँ शम्या गिरती है, वहाँ याग किया जाता है[2]।

इसी प्रकार याग करते हुए सरस्वती के दक्षिणतट के आगे बढ़ते जाते हैं। सरस्वती और दृषद्वती के सङ्गम पर अपांनपात् देवता के लिए चरु बनाकर याग करते हैं[3]। सरस्वती के उत्पत्ति स्थान पर पहुँच कर अग्नि से लिए आठकपाल का पुरोडाश तैयार करके याग करते हैं। इस याग का अवभृथ यमुना नदी के तट पर किया जाता है।

इस सत्र की दक्षिणा के निमित्त प्रजनन समर्थ एक सौ गर्भिणी गौ और वृषभ जंगल में छोड़ते हैं। उन गौओं के एक सहस्र बछड़े होने पर उन्हें प्रासर्पक को दक्षिणा में देकर याग की समाप्ति की जाती है[4]। इससे पूर्व याग की समाप्ति तभी हो सकती है, जब दैवदुर्विपाक से निम्नाङ्कित कारणों में से कोई कारण उपस्थित हो जाय। गृहपति की मृत्यु हो जाय, सत्र की सामग्री की चोरी हो जाय अथवा जंगल में छोड़ी हुई गौएँ मर जायँ तो मध्य में ही यह सत्र समाप्त हो जाता है।

सूत्रकार ने चार प्रकार के सारस्वत सत्र कहे हैं। एक का वर्णन उपर्युक्त है। द्वितीय प्रजापति होने के लिए इन्द्राग्न्ययनसंज्ञक और तीसरा अर्यमायनसंज्ञक स्वर्गसाधक कहा है। दूसरे और तीसरे सारस्वत सत्र में मध्य के यागों में विशेषरूप से विहित यागों का अनुष्ठान सम्पन्न करके सत्रों की समाप्ति की जाती है। चतुर्थ सारस्वत सत्र को दार्षद्वत सत्र भी कहते हैं। इस सत्र के करने से पूर्व एक वर्ष पर्यन्त ब्राह्मण की गौ की जंगल में रखवाली करना आवश्यक है। एक वर्ष बीतने पर अग्न्याधान करके तब सत्र करे।

तुरायण सत्र

ऋद्धि की कामना से इसे करे[5]। इसमें दीक्षा नहीं होती। बिना दीक्षा के ही आहिताग्नि दीक्षा की वेषभूषा धारण कर लेता है। एक वर्ष पर्यन्त प्रतिदिन प्रातः आग्नेय पुरोडाश से, मध्याह्न में ऐन्द्र पुरोडाश से और सायंकाल वैश्वदेव चरु से याग करना आवश्यक है। इस प्रकार सूत्रानुसार अत्यन्त संक्षेप में सत्रों का वर्णन समाप्त होता है।

●

---

१. शुक्लसप्तम्यां दीक्षा सरस्वतीविनशने। का० श्रौ० २४.५.३०।

२. शम्यां परास्यति। ता० ब्रा० २५.१०.४।

३. दृषद्वत्या नद्या अप्ययः सरस्वत्या सङ्गम एकीभावस्तस्मिन्नप्ययेऽपोनप्त्रीयामिष्टिं निर्वपेरन्। ला० श्रौ० अ० भा० १०.१७.१।
अप्यनुदकायामिति धानंजय्यः। ला० श्रौ० १०.१७.२।

४. शते गोवृषभमप्यृजन्ति ता यदा सहस्रं सम्पद्यन्तेऽथोत्थानम्। ता० ब्रा० २५.१०।१९।

५. सर्वामृद्धिमृध्नोति य एतदुपैति। ला० श्रौ० अ० भा०। १०.२०.१।

त्रयोदशाध्याय

इष्टि

काम्य : मित्रविन्देष्टि०....कारीरोष्टि....चित्रेष्टि....अन्य काम्येष्टियाँ।

नैमित्तिक : वैमृधीष्टि।

नित्य : अन्वारम्भणीयेष्टि।

काम्येष्टि

श्रौतसूत्रों में कामनाओं की सिद्धि के लिए जो इष्टियाँ कही हैं वे काम्येष्टि के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन इष्टियों की संख्या बहुत कम हैं। उनमें से कुछ इष्टियों का दिग्दर्शन मात्र यहाँ किया जाता है। इन इष्टियों की प्रकृति दर्शपौर्णमासेष्टि है। अतएव विस्तृत विवरण वहीं से मालूम करना चाहिए। इतना कहना यहाँ आवश्यक है कि प्रत्येक काम्य याग उपांशुधर्म से किये जाते हैं।

मित्रविन्देष्टि

श्री, राष्ट्र, मित्र और आयुष्य की कामना से इस मित्रविन्दा संज्ञक इष्टि को करने का विधान[1] हैं। दर्शपौर्णमासेष्टि के और काम्येष्टि के ऋत्विजों की सङ्ख्या समान होती है।

देवता और हविर्द्रव्य

देवता	हविर्द्रव्य	देवता	हविर्द्रव्य
१ अग्नि ८ कपाल	पुरोडाश	६ बृहस्पति	चरु
२ सोम	चरु	७ सविता १२ कपाल	पुरोडाश
३ वरुण १० कपाल	पुरोडाश	८ पूषा	चरु
४ मित्र	चरु	९ सरस्वती	चरु
५ इन्द्र ११ कपाल	पुरोडाश	१० त्वष्टा १० कपाल	पुरोडाश

उपर्युक्त दस हवि को तैयार करके एकबार में सब के अवदान लेकर एक आहुति दी जाती है[2]। प्रधानयाग के अनन्तर आज्य से दस आहुतियाँ देनी चाहिए[3]। ये दस आहुतियाँ जो दी जाती हैं उन आहुतियों के मन्त्रों का कार्य दर्शनीय है। उन मन्त्रों के द्वारा अन्नाद्य, राज्य, साम्राज्य, क्षत्र, बल, ब्रह्मवर्चस्, राष्ट्र, मार्ग और पुष्टि की कामना यजमान के द्वारा की

---

१. मित्रविन्दा श्रीराष्ट्रमित्रायुष्कामस्य। का० श्रौ० ५.१२.१।
अथ मित्रविन्दाख्यां काम्येष्टिं विधास्यन्। श० ब्रा० हु० भा० ११.३.१.१।
आग्नेयमष्टाकपालं पुरोडाशम्। श० ब्रा० ११.३.१.५।

२. एकं प्रदानम्। का० श्रौ० ५.१२.३।

३. अग्निरन्नादोऽन्नपतिः। का० श्रौ० ५.१३.१।

जाती है और यजमान को उनकी प्राप्ति होती है। इष्टिः के नाम का भी यही तात्पर्य है। इसमें एक सहस्र अथवा दस गौ दक्षिणास्वरूप में दी जाती है[1]।

आग्नेयीष्टि

कात्यायन ने किसी भी कामना की सिद्धि के लिए आग्नेयीष्टि का विधान किया है[2]। इसमें अग्नि देवता के निमित्त आठ कपाल का पुरोडाश करके याग होता है। एक बार किसी एक कामना से इष्टि का अनुष्ठान समाप्त करके दूसरी कामना की पूर्ति के लिए इष्टि की पुनरावृत्ति करनी चाहिए।

अधिक श्रीकामेष्टि

समान श्रेणी के लोगों की अपेक्षा अपनी श्री की विशेष वृद्धि के हेतु यह इष्टि की जाती है। इसमें इन्द्र देवता के निमित्त ग्यारह कपालों पर पुरोडाश होता है[3]।

अभिशापनिवृत्तोष्टि

अभिशापनिवृत्त्यर्थ यह इष्टि की जाती है। इसमें वैश्वानर देवता के लिए बारह कपाल पर पुरोडाश, वरुण का चरु और दधिक्रावा के निमित्त चरु करना चाहिए। उपर्युक्त हविर्द्रव्यों से इस इष्टि को सम्पन्न करना चाहिए[4]।

आयुष्कामेष्टि

आयुष्य की प्राप्ति के लिए इसे करना चाहिए। इसमें आयुष्मान् अग्नि के लिए आठ कपाल पर पुरोडाश विहित है[5]।

कामेष्टि

यह इष्टि प्रतिबन्ध रहित कामना की सिद्धि के लिए की जाती है। इसमें काम अग्नि के निमित्त आठ कपालों पर पुरोडाश करना चाहिए[6]।

कारीरीष्टि

वृष्टि होने के लिए यह इष्टि की जाती है[7]। इष्टि के समय अग्निशाला के पास काला घोड़ा खड़ा किया जाता है। वह यदि शरीर कँपावे अथवा मल मूत्र करे तो वृष्टि का होना कहा जाता है।

---

१. दश दक्षिणा सहस्रं वा। का० श्रौ० ५.१३.४।
२. आग्नेयं प्रतिकाममाहरेत्। का० श्रौ० ४.५.१५।
३. ऐन्द्रमेकादशकपालं निरवपत। तै० सं० २.२.८।
४. वैश्वानरं द्वादशकपालं पुरोडाशं निवपेद्वारुणं चरुं दधिक्राव्णे चरुम्। तै० सं० २.२.५।
५. अग्नय आयुष्मत पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्। तै० सं० २.२.३।
६. अग्नये कामाय पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्। बौ० श्रौ २३.१।
७. कारीर्या वृष्टिकामो यजेत। आप० श्रौ० १९.२५.१६।

क्षामवदिष्टि

महामारी के समय मृत्यु से बचने के निमित्त इस इष्टि को करने का विधान है[1]। अग्नि से गृहदाह के निवृत्त्यर्थ भी इसे करते हैं। इसमें क्षामवान् अग्नि का आठकपाल का पुरोडाश होता है।

ग्रामकामेष्टि

ग्राम की अभिलाषा से इस इष्टि का अनुष्ठान करते हैं। इसमें अनृजु इन्द्र के निमित्त ग्यारह कपाल का पुरोडाश करना चाहिए[2]।

चित्रेष्टि

चैत्र की पूर्णिमा को इस इष्टि का अनुष्ठान विहित है। इस इष्टि में अग्नि प्रभृति सात देवताओं के लिए हवि होते हैं[3]।

दत्तद्रव्यप्राप्ति कामेष्टि

किसी को दिये हुए द्रव्य की प्राप्ति के निमित्त यह इष्टि की जाती है। इसमें प्रदाता इन्द्र देवता के निमित्त ग्यारह कपाल का पुरोडाश होता है[4]।

प्रजाकामेष्टि

प्रजा की कामना से यह इष्टि की जाती है। इसमें बारह कपाल पर वैश्वानर का पुरोडाश करके याग होता है[5]।

भिक्ष्यमाणद्रव्यप्राप्ति कामेष्टि

भिक्षा में अपने अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति के निमित्त यह इष्टि की जाती है। इसमें बारह कपाल पर वैश्वानर का पुरोडाश करके याग होता है[6]।

भूतिकामेष्टि

ऐश्वर्य की कामना हो तो भूतिकामेष्टि करनी चाहिए। इस इष्टि में जातवेदस् अग्नि के निमित्त आठ कपाल पर पुरोडाश बना कर याग होता है[7]।

महायज्ञकामेष्टि

जो आहिताग्नि बड़े यागों के अनुष्ठान को करना चाहता हो किन्तु उन अनुष्ठानों को

---

१. अग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् । तै० सं० २.२.२ ।

२. इन्द्रायान्वृजवे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेद् ग्रामकामः । तै० सं० २.२.८ ।

३. चित्रापूर्णमासे चित्रामिष्टिं निर्वपेत् । आप० श्रौ० १९.२५.१४ ।

४. इन्द्राय प्रदात्रे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेत् । तै० सं० २.२.८ ।

५. विन्दते प्रजां वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् । तै० सं० २.२.५ ।

६. वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्सनिमेष्यन् । तै० सं० २.२.६ ।

७. अग्नये जातवेदसे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद् भूतिकामः । तै० सं० २.२.३ ।

करने में असमर्थ हो, वह इस इष्टि को करे। इसमें अर्काश्वमेधवान् इन्द्र के निमित्त ग्यारह कपाल पर पुरोडाश होता है[1]।

यज्ञकामेष्टि

ज्योतिष्टोमादि याग करने की अभिलाषा से यह इष्टि करनी चाहिए[2]। इसमें ग्यारह कपाल पर अग्नाविष्णू देवता के निमित्त पुरोडाश करना चाहिए।

रसकामेष्टि

रस की कामना हो तो रसकामेष्टि करे। इसमें रसवान् अग्नि के लिए बकरी के दूध से पायसचरु बनाकर याग किया जाता है[3]।

रुक्कामेष्टि

कान्ति की कामना हो तो इस इष्टि को करे। इसमें रुक्मान् अग्नि के निमित्त आठ-कपाल पर पुरोडाश होता है[4]।

वसुकामेष्टि

धन की अभिलाषा हो तो वसुकामेष्टि करे। इस इष्टि में वसुमान् अग्नि के निमित्त आठकपाल पर पुरोडाश करके प्रधान याग करना चाहिए[5]।

शत्रुघ्नीष्टि

शत्रु के विनाश के लिए यह इष्टि करनी चाहिए। इन्द्र बृहस्पति के निमित्त इस इष्टि में चरु करना चाहिए[6]।

हिरण्यलाभकामेष्टि

सुवर्णप्राप्ति के लिये इस इष्टि को करे। इसमें अग्नि का आठकपाल का पुरोडाश, सविता का बारहकपाल का पुरोडाश और भूमि के लिए चरु करना चाहिए। अन्वाहार्य और हिरण्य दक्षिणा देनी चाहिए[7]।

अन्य इष्टियाँ

कुछ इष्टि और प्रकार की भी कही हैं। ये काम्येष्टि से भिन्न हैं। विधान के अनुसार इन इष्टियों को करना चाहिए।

---

१. इन्द्रायार्काश्वमेधवते पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेद् यद्यमहायज्ञो नोपनयेत्। तै० सं० २.२.७।
२. आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत्। तै० सं० २.२.९।
३. अग्नये रसवतेऽजक्षीरं चरुं निर्वपेत्। तै० सं० २.२.४।
४. अग्नये रुक्मते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्। तै० सं० २.२.३।
५. अग्नये वसुमते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्। तै० सं० २.२.४।
६. ऐन्द्राबार्हस्पत्यं चरुं निर्वपेद्राजन्ये जाते। आप० श्रौ० १९.२७.२२।
७. यः कामयेत हिरण्यं विन्देय। तै० सं० २.३.२.।

अन्वारम्भणीयेष्टि

कई प्रकार के बड़े यागों के प्रारम्भ में इस इष्टि को करने का विधान है। दर्शपौर्णमासेष्टि के प्रारम्भ में भी इसे करते हैं[1]। इस में अग्नाविष्णू देवता के निमित्त ग्यारह कपाल का पुरोडाश, सरस्वती के लिए चरु और बारह कपालों पर सारस्वत पुरोडाश किया जाता है। दक्षिणा में पष्ठौही गौ देनी चाहिए।

आदित्येष्टि

दर्शयाग कर लेने पर विकल्प से इष्टि को करने का विधान है। इसमें अदिति देवता के निमित्त चरु किया जाता है। अन्वाहार्य दक्षिणा होती है[2]।

वैमृधीष्टि

पौर्णमासेष्टि के अनन्तर उसी समय इसे करने का वैकल्पिक विधान है। इसमें इन्द्र-विमृध् देवता के लिए ग्यारह कपाल का पुरोडाश होता है[3]। अन्वाहार्य दक्षिणा दी जाती है।

अन्त्येष्टि

आहिताग्नि की अन्त्येष्टि के विषय में श्रौतसूत्रकार ने विशेष प्रकार का विधान किया है। आहिताग्नि पुरुष या उसकी पत्नी, इन दोनों में से जिसकी प्रथम मृत्यु होती है, उसी के साथ यह विधान किया जाता है। विधिपूर्वक करने से आहिताग्नि को स्वर्ग मिलता है[4]। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि आहिताग्नि यजमान अथवा यजमान की पत्नी की मृत्यु हो जाने पर पूर्व सङ्कल्पित यागसम्बन्धी जो कार्य अवशिष्ट हो जैसे सायङ्काल का हवन कर चुके हों और प्रातःकाल का अग्निहोत्र हवन अवशिष्ट हो अथवा सङ्कल्प के अनुसार दर्श पौर्णमास यागों में से किसी एक का याग कर चुके हों और दूसरा करना बाकी हो तो श्मशान यात्रा से पूर्व उन सङ्कल्पित समस्त कार्यों को पूर्ण करके अनन्तर अन्त्येष्टि से सम्बद्ध कार्य करने चाहिए।

पति या पत्नी इन दोनों में से किसी की भी मृत्यु होने पर सर्व प्रथम पुत्र अपसव्य करके गार्हपत्य के अग्नि में से आहवनीय और दक्षिणाग्नि में अग्नि का उद्धरण करे। प्रत्येक अग्नि पर मिट्टी की उखा रखे। उनमें गोहरी छोड़कर उखा को खूब तपावे। इस प्रकार तपाने पर उखा के अन्दर की गोहरी जब जल उठे तब उखा को अग्नि पर से नीचे उतार ले। सभ्याग्नि और आवसथ्याग्नि को भी पात्रों में रख ले। उखा के अग्नि (उखा सहित), आवसथ्याग्नि और सभ्याग्नि तथा काष्ठ, पाषाण और मिट्टी के समस्त पात्र और शव को शकट पर रखे। अग्नि-होत्री के पुत्र, पौत्र प्रभृति परिवार के लोग, अध्वर्यु और यमसूक्त का पाठ करने वाले ब्राह्मण

---

१. अन्वारम्भणीया० दर्शपूर्णमासारम्भे । का० श्रौ० ४.५.२१ ।

२. आदित्यश्चरुरामावास्यम् । का० श्रौ० ४.५.२५ ।

३. इन्द्रायविमृध एकादशकपालः पौर्णमासमनु । का० श्रौ० ४.५.२३ ।

४. स्वर्गे लोके जितो भवति । श० ब्रा० १२.२.८.८ ।

सब कोई शकट के साथ दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान करें[1]। यमसूक्त का पाठ करने वाले विद्वान् लोग यमसूक्त का पाठ बराबर करते रहें।

श्मशान में पहुँचकर दाहसंस्कार के निमित्त भूमि को स्वच्छ करके भूमि पर पञ्चभू-संस्कार करे। सुसंस्कृत भूमि पर काष्ठ चयन करके चिता बनावे। उस पर प्राग्ग्रीव कृष्णाजिन बिछावे। कृष्णाजिन के ऊपर शव को सीधा लेटाना चाहिए[2]। शव का पैर पश्चिम की ओर रहे। शव के १ मुख, २–३ नासिका, ४–५ नेत्र और ६–७ कान में सुवर्ण खण्ड रखे[3]। साथ में लाये हुए पात्रों को शव के ऊपर यथास्थान आसादित करे। दक्षिण हाथ पर आज्यपूर्ण जुहू रखे[4]। दोनों पार्श्व में दोनों शूर्प रखे[5]। वज्र दाहिने हाथ पर, उपभृत् बायें हाथ पर, ध्रुवा छातीपर, अग्निहोत्र हवणी मुखपर,[6] दोनों स्रुवा को नाक पर, प्राशित्र हरण कानपर, प्रणीता सिर पर, इडापात्री उदरपर, शम्या शिश्न पर और अरणी वृषण (गुह्यस्थान) पर रखकर शेष पात्रों को दोनों जाँघ के बीच में रखे।

पाषाण के समस्त पात्रों को जल में प्रवाहित करे। ताम्र और लौहपात्रों को किसी ब्राह्मण को दे। अनन्तर पुत्र या पौत्र साथ में लाये हुए सन्तापज और साथ में लाये हुए अग्नि से चिता को प्रज्वलित करे। मन्त्रोच्चारण पूर्वक आहुति करे[7]। इतना होने पर पीछे की ओर न देखते हुए सब लोग घर को लौटें।

पति पत्नी में से प्रथम जिसकी मृत्यु हुई हो उसके लिए उपर्युक्त विधान विहित है। इसी समय से पूर्व परिगृहीत श्रौताग्नि का विसर्जन हो जाता है। इसके अनन्तर पति या पत्नी में से जो अवशिष्ट हो उसकी मृत्यु होने पर लौकिकाग्नि से ही दाह संस्कार करना चाहिए। इस प्रकार आहिताग्नि का श्रौतविधान यहीं पर समाप्त होता है।

●

---

१. सन्तापजानग्नीनादाय सशरीरा दक्षिणा गच्छन्ति। का० श्रौ० २५.७.१३।
२. तस्मिन्नेनमुत्तानं निपाद्य। श० ब्रा० १२.२.८.७।
३. सप्तसु प्राणायतनेषु सप्त हिरण्यशकलान् प्रास्यति। श० ब्रा० सा० भा० १२.२.८.७।
४. जुहूं घृतेन पूर्णां दक्षिणे पाणावादधाति। श० ब्रा० सा० भा० १२.२.८.७।
५. अकृतवरुणप्रघासस्य तु छित्वैके द्वेधोपधीयते। का० श्रौ० क० भा० २५.७.२९।
६. मुखेऽग्निहोत्रहवणीम् नासिकयोः स्रुवौ। श० ब्रा० १२.२.८.७।
७. अस्मात्त्वमधिजातोऽसि०। का० श्रौ० २५.७.४०।
अथ तस्यैव शरीरस्याहुतित्वमुच्यते। श० ब्रा० ह० भा० १२.२.८.१५।

चतुर्दशाध्याय

प्रायश्चित्त

हवन, याग, क्रतु एवं सत्र में हुई किसी प्रकार की न्यूनाधिकता की पूर्ति के लिए विहित प्रायश्चित्त।

अग्निपरिग्रह····सप्तहविः संस्था····सप्तसोमसंस्था····याग····मेध····क्रतु····सत्र····और इष्टि आदि में कर्म की न्यूनता की पूर्ति के लिए विविध प्रायश्चित्त।

प्रायश्चित्त

श्रौतयाग में जितने कार्य होते हैं, वे विशेष प्रकार से और विधि पूर्वक किये जाते हैं। जिस कार्य के लिए जो विधि निश्चित है, तदनुसार वह कार्य होना चाहिए। जो विधान विहित है उससे अन्यथा होने पर प्रायश्चित करना पड़ता है। विधि की प्रतिकूलता चार प्रकार की कही है। १--जो कहा है, उसे न करना, २--जितना कहा है, उससे कम करना, ३--जितना विधान है, उससे अधिक करना और ४—करने की जो विधि है, उससे विपरीत प्रकार से करना। इस प्रकार किये गये कार्य से जो कर्म में न्यूनता आ जाती है, उसे दूर करने के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है[१]।

प्रायश्चित्त का समय

याग में जब कहीं अवैध विधि हो जाय, उसी समय उसका प्रायश्चित्त करके अनन्तर आगे की विधि करनी चाहिए। ये प्रायश्चित्त अनेक हैं। इनके नाम और विधि भिन्न-भिन्न हैं। उन प्रायश्चित्तों में से कुछ का दिग्दर्शन यहाँ प्रस्तुत है।

अनादिष्ट प्रायश्चित्त

जहाँ कोई प्रायश्चित्त न कहा हो वहाँ अनादिष्ट प्रायश्चित्त करना चाहिए[२]। यह न्यूनता यदि ऋग्वेद सम्बन्धी विहित कार्य में हुई हो तो अग्निहोत्र हवणी में चार स्रुवा आज्य लेकर अग्नि पर आहुति दी जाती है। यह आहुति प्रथम व्याहृति पढ़कर गार्हपत्य पर ब्रह्मा द्वारा की जानी चाहिए[३]। अनन्तर आहवनीय में सर्व प्रायश्चिताहुति करे। यजुर्वेद सम्बन्धी प्रमादजन्य न्यूनता का प्रायश्चित्त अध्वर्यु दक्षिणाग्नि पर करे। यह द्वितीय व्याहृति से दक्षिणाग्नि पर आहुति दी जाती है[४]।

सोमयाग में अनादिष्ट प्रायश्चित्त

सोमयाग में यदि यजुर्वेदीय कृत्य का व्यत्यास हुआ हो तो द्वितीय व्याहृति से वायु देवता के निमित्त आग्नीध्रीया में हवन करना चाहिए।

सामवेदीय कृत्य के व्यत्यास में उद्गाता आहवनीय पर आहुति दे[५]। इन आहुतियों के अनन्तर सर्वप्रायश्चित्ताहुति करनी चाहिए।

---

१. कर्मोपपाते प्रायश्चित्तं तत्कालम्। का० श्रौ० २५.१.१।
२. महाव्याहृतिहोमोऽनादेशे। का० श्रौ० २५.१.४।
३. हौत्रिके भुरिति गार्हपत्ये। का० श्रौ० २५.१.५।
४. दक्षिणाग्नावध्वर्यवे भुव इति। का० श्रौ० २५.१.६।
५. स्वरित्यौद्गात्र आहवनीये। का० श्रौ० २५.१.८।

सर्वप्रायश्चित्त

एतदर्थ जुहू संज्ञक स्रुची में आज्य लेकर आहवनीय पर समन्त्रक[1] पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं[2]।

आदिष्ट प्रायश्चित्त

जहाँ किसी निश्चित प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान किया गया हो तो उसे आदिष्ट प्रायश्चित्त कहते हैं।

गौ का बैठना

अग्निहोत्रहवन के निमित्त दूध दूहते समय यदि गौ बैठ जाय तो उसे उठा कर दूध दूहना चाहिए[3]। अनन्तर वह गौ किसी ब्राह्मण को दे और वहाँ यजमान पुनः न जाय। वह ब्राह्मण भी यजमान के घर न आवे।

गौ का शब्द

दूध दूहने के समय यदि गौ शब्द करे तो उसे घास खिलाकर दूध दूहे[4]।

रक्त निकलना

गौ को दूहते हुए यदि दुग्धस्थानीय रक्त निकले तो तुरन्त यज्ञशाला के दरवाजे बन्द कर दे[5]। दक्षिणाग्नि में गरम भस्म पर रुद्रदेवता के निमित्त दूहा हुआ रक्त छोड़ दे। उस गौ को किसी ब्राह्मण को देकर अन्य गौ के दूध से हवन करे।

दूध को अपवित्रता

अग्निहोत्र हवन के निमित्त दूही जाने वाली गौ यदि वृषभाक्रान्त हो जाय अथवा अभक्ष्य खाले तो उसका दूध अपवित्र हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में दूसरी गौ के दूध से हवन करना चाहिए। यदि हवन का दूध गरम करने से पूर्व अग्राह्य हो जाय तो सोम देवता के निमित्त आहुति दे[6]। गरम किया हुआ दूध अग्राह्य हो तो वरुण देवता के लिए आहुति दे[7]।

---

१. (१) त्वं नो अग्ने। शु० य० २१.३। (२) स त्वं नो अग्ने०। शु० य० २१.४।
(३) अयाश्चाग्ने। का० श्रौ० २५.१.११। (४) ये ते शतम्०। का० श्रौ० २५.१.११।
(५) उदुत्तमम्। शु० य० १२.१२।

२. सर्वप्रायश्चित्तं पञ्चभिः प्रत्यृचम्। का० श्रौ० २५.१.१०।

३. अग्निहोत्री चेद् दुह्यानोपविशेत्० ब्राह्मणायैनां दद्यात्०। का० श्रौ० २५.२.१३-१४।

४. यस्याग्निहोत्री दोह्यमाना वाश्येत किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति स्तम्बमाच्छिद्य ग्रासयेदेतदेव तत्र कर्म। श० ब्रा० १२.२.३.१२।

५. यस्याग्निहोत्री लोहितं दुहीत० व्युत्क्रमतेत्युक्त्वा०। श० ब्रा० १२.२.४.१।

६. यस्याग्निहोत्रन्दोह्यमानममेध्यमापद्येत। श० ब्रा० १२.२.४.२।

७. अधिश्रितममेध्यमापद्येत। श० ब्रा० १२.२.४.४।

खौलता हुआ दूध बह जाय तो मरुत् देवता के लिए[1], फेन आने पर अग्राह्य हो तो सरस्वती के लिए[2], फेन मिटने पर अमेध्य हो तो मित्र के लिए०[3], जमीन पर रखने पर अमेध्य हो तो सविता के लिए०[4], जमीन पर रखने के कुछ देर बाद अग्राह्य हो तो अदिति के लिए आहुति देनी चाहिए[5]। हवन के निमित्त अग्निहोत्रहवणी में लेते हुए अग्राह्य हो तो विश्वेदेवा के लिए[6], स्रुची में लेने के बाद अग्राह्य हो तो बृहस्पति के लिए०[7], गार्हपत्य से आहवनीय तक ले जाते हुए अग्राह्य हो तो धाता के लिए०[8], आहवनीय के निकट पहुँच कर अग्राह्य हो तो विश्वकर्मा[9] के लिए०, गार्हपत्य और आहवनीय के मध्य में अग्राह्य हो तो वैश्वानर के लिए, हवन करने की अवस्था में अग्राह्य हो तो द्यावापृथिवी[10] के लिए०, प्रथमाहुति से पूर्व अग्राह्य हों तो इन्द्राग्नी के लिए०[11], द्वितीयाहुति से पूर्व अग्राह्य हो तो प्रजापति के लिए०[12], शेषभक्षण से पूर्व अग्राह्य हो तो इन्द्र[13] के लिए आहुति देकर अतिरिक्त द्रव से अग्रिम विधान करे।

अग्निहोत्रहवन के निमित्त स्थाली में रखा हुआ अथवा स्रुची में लिया हुआ हविर्द्रव्य यदि गिर जाय तो गिरे हुए द्रव्य का अभिमर्शन करे। बचे हुए द्रव्य से हवन करे[14]।

अग्निहोत्रस्थाली का टूटना

अग्निहोत्रस्थाली टूट जाय तो टूटे हुए टुकड़ों का अभिमर्शन करे[15]। टूटी हुई स्थाली भस्मोद्वाप में छोड़ कर आगे का कृत्य करे। अग्निहोत्रहवणी नामक स्रुची के टूट जाने पर दूसरी स्रुची से हवन करना चाहिए। दर्शपौर्णमासयाग अथवा उसके विकृतियाग में हविर्द्रव्य भूमि पर गिर जाय तो 'भुवपतये०' इत्यादि तीन मन्त्रों को पढ़ते हुए हविर्द्रव्य का अभिमर्शन करे[16]। वही हविर्द्रव्य सोमयाग में गिरा हो तो देवान्दिवमगन्०, मन्त्र पाठ और अभिमर्शन करे[17]। अथवा 'ययोरोजसा' मन्त्र पढ़ कर गिरे हुए हविर्द्रव्य पर जल छिड़के[18]।

हवन के समय अग्नि का शान्त होना

अग्निहोत्रहवन के समय आहवनीय में दो आहुतियाँ दी जाती हैं। प्रथमाहुति के अनन्तर

---

१. १३. विष्यन्दमानं मारुतं, बिन्दुमत्सारस्वतं, शान्तं मैत्रम्, उद्वास्यमानं सवितुः, उद्वासितमदितेः, उन्नीयमानं वैश्वदेवम्, उन्नीतं बार्हस्पत्यम्, प्रह्रियमाणं धात्रम्, प्रहृतं वैश्वकर्मणम्, अन्तराग्नी वैश्वानराय, उपसन्नं द्यावापृथिव्योः, पूर्वाहुतिरिन्द्राग्न्योः, उत्तरा प्रजापतेः, हुतमैन्द्रम्। का० श्रौ० २५.२. ९–२२।

१४. स्कन्नेच्चेत्। का० श्रौ० २५.२.२४।

१५. भिद्येत चेदवापद्येत स्कन्नप्रायश्चित्तेन। का० श्रौ० २५.३.२५।

१६. भुवपतये। शु० य० २।२।

१७. देवान्दिवमगन्निति सोमे। शु० य० ८.६० का० श्रौ० २५.२.२७।

१८. ययोरोजसा०। शु० य० ८.५९।

और द्वितीयाहुति से पूर्व यदि अग्नि शान्त हो जाय तो गार्हपत्य में से पुनः आहवनीय में अग्नि रखकर प्रायश्चित्ताहुति करे[1]।

अनन्तर उस अग्नि को हटा दे। पुनः पूर्ववत् अग्नि रख कर आगे का कृत्य करे। इस प्रकार तीन बार अग्नि शान्त हो जाय तो गार्हपत्य के अग्नि का समारोप करके मन्थन करना चाहिए। अथवा अग्निस्थान पर सुवर्ण रख कर उस समय की आहुति दी जा सकती है। गार्हपत्य में से आहवनीय में रखने के बाद और गार्हपत्य में हवन से पूर्व यदि गार्हपत्य का अग्नि शान्त हो जाय तो आहवनोय का अग्नि गार्हपत्य में रखकर उस समय कार्य का निर्वाह करना चाहिए[2]। अनन्तर अरणी से मन्थन करके गार्हपत्य में अग्निस्थापन करे। यदि साधारण समय में गार्हपत्य का अग्नि शान्त हो जाय तो मन्थन करके अग्निस्थापन किया जाता है[3]। उद्धरण के समय भ्रम से यदि गार्हपत्य का समस्त अग्नि आहवनीय में रख दे तो उस अग्नि को वापस गार्हपत्य में रख कर प्रायश्चित्ताहुति करे। अनन्तर उद्धरण और आगे का कृत्य करे। अथवा आहवनीय के अग्नि का अरणो में समारोप करे। मन्थन करके गार्हपत्य में अग्निस्थापन करने के बाद आगे की विधि करे।

भ्रम से पुनरुद्धरण

गार्हपत्य में से आहवनीय में उद्धरण किये हुए अग्नि को भ्रम से शान्त समझकर पुनः उद्धरण करे तो दूसरी बार का अग्नि प्रथम से पूर्व में रखे। इस परिस्थिति में दोनों अग्नि पर क्रमशः प्रायश्चित्ताहुति करे। अनन्तर अग्निहोत्रहवन के निमित्त एक नालीदार समित् के मध्य पर इस प्रकार आज्य छोड़े कि दोनों अग्नि पर एक साथ आज्य की आहुति गिरे[4]। यदि भ्रम से दोनों अग्नि मिल जायँ तो उसी समय अग्निमान् अग्नि के निमित्त आठकपाल के पुरोडाश की इष्टि करनी चाहिए[5]। इस परिस्थिति में इष्टि हो जाने पर अग्निहोत्रहवन करना चाहिए।

समयातिक्रमण

अग्निहोत्रहवन के निमित्त सायङ्काल सूर्यास्त से पूर्व और प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व प्रतिदिन नियमित रूप से उद्धरण किया जाता है। इस कृत्य में सायङ्काल के समय यदि काल का व्यत्यास हो जाय तो दर्भ में सुवर्ण बाँध कर उसे लटकाये हुए एक व्यक्ति गार्हपत्य से पश्चिम की ओर खड़ा रहे। अन्य एक दूसरा विद्वान् ब्राह्मण अठाइस समित् को गार्हपत्य के अग्नि में जलाकर उसी समित् के अग्नि से आहवनीय में उद्धरण करे। विष्णु देवता के निमित्त

---

१. यत्पूर्वस्यामाहुत्यां हुतायामथाग्निरनुगच्छेत्किन्तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिः। श० ब्रा० १२.२.५.१।

२. यस्याहवनीय उद्धृतः पुराग्निहोत्रादनुगच्छेत्। श० ब्रा० १२.२.५.२।

३. यस्य गार्हपत्योऽनुगच्छेत्किन्तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिः। श० ब्रा० १२.२.५.३।

४. पश्चान्निधाय पुरस्ताद्वोभयत्र होममेके। का० श्रौ० २५.३.१२।

५. अग्नयेऽग्निमतेऽष्टाकपालम्पुरोडाशं निर्वपेत्। श० ब्रा० १२.२.५.५।

स्रुवा से आहवनीय के अग्नि पर चार बार आज्याहुति दे। सूर्यवान् अग्नि के निमित्त आठकपाल के पुरोडाश की इष्टि करे[१]। इष्टि के अनन्तर अग्निहोत्रहवन करे। इसी तरह प्रातःकाल के समय उद्धरण से पूर्व यदि सूर्योदय हो जाय तो सायङ्काल की तरह विहित कृत्य करे। उस समय दर्भ में सुवर्ण न बाँधकर रजत को बाँधे[२]। विश्वेदेवा के निमित्त आज्याहुति करे। इष्टि में ज्योतिष्मान् सूर्य देवता के निमित्त आठकपाल का पुरोडाश करे। अथवा दोनों ही समय इष्टि न करके स्रुचो में चार स्रुवा आज्य लेकर एक वैश्वदेवी आज्याहुति करे। यदि उद्धरण से पूर्व सूर्यास्त और सूर्योदय हो जाय और गार्हपत्य में अग्नि न हो तो पुनराधेय विधान करना चाहिए[३]।

गार्हपत्य का अग्नि शान्त हो और मन्थन करने पर भी प्रकट न हो रहा हो और हवन का समय बीत रहा हो, इस परिस्थिति में निकटस्थ जो भी शास्त्रोक्त अग्नि दीख पड़े उसे लाकर सामयिक हवन करे[४]। अनन्तर उस अग्नि का विसर्जन करके विधिवत् मन्थन करके अग्निस्थापन करे। अथवा गार्हपत्य में अग्नि शान्त हो, मन्थन करने पर अग्नि प्रकट न हो रहा हो और हवन का समय बीत रहा हो तो तीन विद्वान् ब्राह्मणों को बुला लावे। उन तीनों विद्वानों को क्रमशः गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि के निकट पूर्वाभिमुख बैठावे। अग्निहोत्रहवन की आहुति उन ब्राह्मणों के हाथों में दे[५]। इस परिस्थिति में अग्निहोत्री को एकवर्ष पर्यन्त सायङ्काल के समय घर पर अतिथि रूप में आये हुए ब्राह्मणों को आश्रय देना होगा।

अथवा गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्निस्थान के निकट तीन बकरे बाँधे। इन तीनों के दक्षिणकर्ण में हवन की आहुति दे[६]।

अथवा गार्हपत्य में दर्भराशि रखे। आहवनीय और दक्षिणाग्नि में इन दर्भों का ही उद्धरण करे। इन्हीं दर्भों पर आहुति दे[७]। अथवा तीनों अग्निस्थान में तीन कलश रखे। गार्हपत्य के कलश में जल भरे। उसी जल का अन्य दोनों कलशों में उद्धरण करे। तीनों कलश के जल में आहुति दे[८]। ऐसा करने पर उस जल से पैर न धोये और जल की निन्दा न करे। किसी भी विकल्प को स्वीकार करके यथासमय हवन करे और बाद में अग्निमन्थन करके अग्निस्थापन करे।

---

१. अनुद्धृतास्तमये कुशबद्धे हिरण्ये॰ अग्नये च सूर्यवते। का॰ श्रौ॰ २५.३.१७-१९।
२. अभ्युदये रजतधारणं पुरस्तात्॰ सूर्याय ज्योतिष्मते। का॰ श्रौ॰ २५.३.२०, २२।
३. उभयानुगमने पुनराधेयं वा। का॰ श्रौ॰ २५.३.२५।
४. यमदूरात्परापश्येत्तमाहृत्याभिजुहुयात्। का॰ श्रौ॰ २५.४.१।
५. ब्राह्मणहस्ते वा। का॰ श्रौ॰ २५.४.२।
६. अजकर्णे वा दक्षिणे। का॰ श्रौ॰ २५.४.४।
७. कुशस्तम्बे वा। का॰ श्रौ॰ २५.४.६।
८. अप्सु वा। का॰ श्रौ॰ २५.४.८।

यागप्रायश्चित्त

अब तक अग्निहोत्र हवन के निमित्त प्रायश्चित्त कहे। उसी तरह दर्शपौर्णमास याग निमित्त तैयार किया हुआ हवि यदि कोई ले जाय, उसे मार्जार प्रभृति खा जाय अथवा पसीन अश्रु, रक्त, मूत्र, अस्थि, कफ या मक्खी प्रभृति से अपवित्र हो जाय तो अध्वर्यु प्रायश्चित्त करे अनन्तर पुनः अन्य हवि तैयार करके याग करे। अथवा जिस देवता का हवि नष्ट या दुष्ट हुआ हो उस देवता के निमित्त आज्य की आहुति दे। प्रायश्चित्ताहुति दे। अनन्तर दूसरा ह‍वि तैयार करके याग करे[1]।

यज्ञशाला में पशुप्रवेश

गार्हपत्य में से आहवनीय में अग्नि के उद्धरण करने के अनन्तर दो अग्नि के बीच ‍से यदि कुत्ता, मेढक या शूकर प्रभृति चला जाय तो "इदं विष्णुः०" मन्त्र पढ़ते हुए गार्हपत्य से आहवनीय तक जल की धारा करे[2]। अथवा गार्हपत्य के भस्म की रेखा करे। यदि उपर्युक्त पशुस्थानीय गर्दभ हो तो पथिकृत् अग्नि के निमित्त आज्याहुति दे। यथासमय यदि पौर्णमासेष्टि न हुई हो तो दर्शेष्टि से पूर्व किसी शुभदिन पौर्णमासेष्टि कर ले। अथवा दर्शेष्टि के साथ करे इस द्वितीय परिस्थिति में पहले पौर्णमास याग की आहुति देकर तब दर्शयाग की आहुति देनी चाहिए। अथवा इष्टिस्थानीय पथिकृत् अग्नि के निमित्त आज्याहुति दे[3]।

चातुर्मास्य याग सम्बन्धी प्रायश्चित्त

चातुर्मास्ययाग का प्रथम वैश्वदेवपर्व न हो सका हो और द्वितीय वरुणप्रघास का समय उपस्थित हो जाय तो पहले वैश्वदेवपर्व का अनुष्ठान करके तब वरुणप्रघास करना चाहिए।

स्तोत्र-शस्त्र-विपर्यास

स्तोत्र और शस्त्र की न्यूनाधिकता अथवा विपर्यास होने पर पथिकृत् याग करना चाहिए[4]। यजमान के किसी स्वजन की मृत्यु होने पर पथिकृत् याग करना चाहिए[5]।

व्रतभङ्ग प्रायश्चित्त

दर्शपौर्णमास पर्व के दिन भ्रम से अथवा प्रमाद से यदि मांस, मैथुन का सेवन हो जाय तो व्रतपति अग्नि के निमित्त आज्य की आहुति देनी चाहिए।[6]

---

१. आज्येन वा प्रतिसङ्ख्याय देवतेज्या। पुनः क्रिया च। का० श्रौ० २५.४.१४-१५।

२. श्वैडकवराहेषूदधारा प्राची। का० श्रौ० २५.४.१८।
इदं विष्णुः। शु० य० ५.१५।

३. अग्नये पथिकृते। प्रज्ञातेष्ट्यतिपत्तौ च। का० श्रौ० २५.४.२०-२१।

४. स्तोत्रमोहे। का० श्रौ० २५.४.२२।

५. जननमरणे। उपपातसामर्थ्यात्स्वजने। का० श्रौ० २५.४.२४-२५।

६. अग्नये व्रतपतये व्रत्येऽहनि मैथुनमांसं भोजनं चेत्। का० श्रौ० २५.४.२७।

अग्निसंसर्ग

आहवनीय के अग्नि का यदि लौकिक अग्नि से संसर्ग हो जाय और चित्त में असन्तोष हो तो संसर्गाग्नि के निमित्त आहुति दे।[1] यदि आहवनीय और अन्य अग्नि परस्पर मिल जायँ तो विविचि अग्नि के निमित्त आहुति दे।[2] अग्निहोत्र के अग्नि से यदि दावाग्नि संसक्त हो जाय तो संवर्ग अग्नि के निमित्त आहुति दे। यदि बिजली से अग्नि मिल जाय तो अप्सुमान् अग्नि के लिए आहुति दे।[3] यदि चाण्डाल के गृहाग्नि से श्रौताग्नि स्पृष्ट हो जाय तो शुचि अग्नि के निमित्त आहुति दे।[4] अग्निहोत्र शाला अथवा अग्निहोत्री के निवासगृह में आग लगे तो क्षामवान् अग्नि के निमित्त पुरोडाश वाली इष्टि करे।[5]

समयभ्रम प्रायश्चित्त

यदि चतुर्दशी को अमावास्या समझकर उद्धरण किया हो और दूसरे दिन इष्टि के समय हविर्ग्रहण से पूर्व चन्द्रदर्शन हो जाय तो आगे का कृत्य रोक दे। अमावास्या के दिन का उपवासादि कृत्य उसी दिन करे। पिण्डपितृयज्ञ से पूर्व यह ज्ञात हो जाय तो दूसरे दिन पिण्डपितृयज्ञ करे। उपर्युक्त परिस्थिति में याग के निमित्त हविर्ग्रहण तक की विधि हो चुकी हो तो स्थूल, मध्यम, सूक्ष्म भेद से हविर्द्रव्य का तीन भाग करे। मध्यम से दाता अग्नि का आठकपाल का पुरोडाश, स्थूल से प्रदाता अग्नि के लिए दही में चरु और सूक्ष्म भाग से शिपिविष्ट विष्णु के निमित्त दूध मे चरु बनाकर याग करे[6]। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन भ्रम से अमावास्या के दिन का कार्य किया हो तो उस दिन पिण्डपितृयज्ञ रहित दर्शेष्टि करे। अथवा दूसरे दिन, पथिकृत् अग्नि के निमित्त आठकपाल का पुरोडाश, वृत्रहन् इन्द्र के लिए ग्यारह कपाल का पुरोडाश और वैश्वानर के लिए बारह कपाल के पुरोडाश का याग करे[7]। दक्षिणा में एक धनुष और तीन बाण अथवा शतमान सुवर्ण और कृष्णवस्त्र दे।

कपालभङ्ग प्रायश्चित्त

पुरोडाश पकने के बाद, गार्हपत्य में से उठाते हुए यदि कपाल टूट जाय तो प्रायश्चित्त करना चाहिए। कपालाञ्जन पर्यन्त यदि कपाल टूटे तो अनादिष्ट प्रायश्चित्त करे। उसके बाद

---

१. यस्याग्नयः संसृज्येरन्किन्तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिः। श० ब्रा० १२.२.६ २।

२. अग्नये विविचये मिथश्चेत्। का० श्रौ० २५.४.३१।

३. अग्नयेऽप्सुमतेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत्। श० ब्रा० १२.२.६.४।

४. यस्याग्नयोऽमेध्यैरग्निभिः संसृज्येरन्किन्तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरित्यग्नये शुचयेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत्। श० ब्रा० १२.२.६.५।

५. गेहदाहेऽग्नये क्षामवते पुरोडाशः। का० श्रौ० २५.४.३६।

६. मध्यमाग्नयेदात्रे, स्थविष्ठानिन्द्राय प्रदात्रे०। का० श्रौ० २५.४.३८।

७. अग्नये पथिकृत, इन्द्राय वृत्रघ्न एकादशकपाले, वैश्वानरश्च। का० श्रौ० २५.४.४४।

में टूटे तो दो कपाल पर आश्विन पुरोडाश बनाकर इडान्त विधान तक इष्टि करे[१]। यदि दोहनी पात्र टूटे तो इन्द्र के निमित्त पञ्चशराव ओदन पकाकर याग करे। अथवा इन्द्र के निमित्त पूर्णाहुति दे[२]।

हवि की अपवित्रता

याग करने के अनन्तर यदि हवि की अपवित्रता का पता लगे तो किये हुए याग की आवृत्ति करनी चाहिए[३]। प्रधानयाग के अनन्तर पता लगे तो आज्य से स्विष्टकृत् याग करके प्राशित्र भाग ग्रहण आदि कृत्य का लोप करे[४]। अध्वर्यु प्रायश्चित्ताहुति करे।

प्रधानयाग की विस्मृति

समिष्टयजुर्संज्ञक आहुति से पूर्व यदि पूर्व विस्मृत प्रधानयाग करना याद आ जाय तो प्रचलित कार्य को रोक कर पहले विस्मृत्त प्रधानयाग करे। उपर्युक्त आहुति के अनन्तर स्मरण हो तो प्रचलित याग की समाप्ति करके पुनः याग की आवृत्ति करे[५]।

क्रमविपर्यास

पौर्णमास याग में अग्नि और अग्नीषोम देवता के निमित्त क्रमशः प्रधान याग होने चाहिए। यहाँ पर अग्नि के पुरोडाश का अवदान लेते हुए अग्नीषोम के मन्त्र का उच्चारण हो जाय तो देवता विपर्यास कहा जाता है। आग्नेययाग से पूर्व यदि अग्नीषोम याग कर ले तो क्रम विपर्यास होता है। देवता या क्रम में विपर्यास हो जाय तो उसी समय प्रायश्चित्ताहुति दे करके पुष्कल दान करे[६]। अनन्तर आगे का कृत्य समाप्त करे। यदि स्रुची अपवित्र हो जाय तो पुनः संस्कार कर ले। अनजान में दुष्ट हवि से याग करने के अनन्तर जानकारी प्राप्त हो तो पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए। यदि प्रणीता का जल गिर जाय तो समन्त्रक गिरे हुए जल का स्पर्श करे। आज्यस्थाली, उखा, पूतभृत् या कपाल के टूटने पर समन्त्रक स्पर्श करे[७]

प्रवर्ग्य से सम्बन्धित किसी पात्र के टूटने पर ब्रह्मा आहुति दे और मन्त्रवाचन करे[८]। अनन्तर अध्वर्यु टूटे हुए टुकड़ों का अभिमर्शन करे। यदि महावीर पात्र टूटा हो तो टुकड़ों के

---

१. उद्वास्यमानं चेत्कपालं नश्येदाश्विनः। का० श्रौ० २५.५.१।

२. ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्पुरोडाशं वा। का० श्रौ० २५.५.२।

३. सान्निपातिकानि वा तस्य। का० श्रौ० २५.५.१३।

४. इष्टं चेदाज्येन शेषम्। का० श्रौ० २५.५.१४।

५. हुतं चेत्संस्थाप्य तदैव पुनर्निर्वपेत्। का० श्रौ० २५.५.१७।

६. देवताविपर्यासे पुष्कलं दत्वा यथानुपूर्व्यकरणम्। का० श्रौ० २५.५.१८।
धेनुर्वा यदि वानड्वान्मेषका द्वादशापि वा।
देवतानां विपर्यासे एतत्पुष्कलमुच्यते॥ य० पा० २२–२३।

७. भूमिर्भूमिम्० मृण्मयं भिन्नमभिमृशेत्। का० श्रौ० २५.५.२९।

८. परमेष्ठ्यादींश्च चतुस्त्रिंशतं जुहोति। का० श्रौ० २५.६.१।

मर्शन के बाद टूटे टुकड़ों को पीसकर मिट्टी में मिलाकर उसी मिट्टी से नया महावीरपात्र बनावे। महावीरपात्र तीन बनाये जाते हैं। दो पात्र सुरक्षित रखे रहते हैं और एक से काम लिया जाता है। इस परिस्थिति में नया पात्र जो बनाया हो उसे रख दे और पूर्व निर्मित दो में से किसी एक पात्र को लेकर आगे का कृत्य करे। प्रवर्ग्य सम्बन्धी गौ यदि मर जाय अथवा दूही न जा सके तो ब्रह्मा आहुति और मन्त्रवाचन करे। दूसरी गौ की पूँछ के दक्षिण ओर की अस्थि पर आज्याहुति करके उसे दूहे[1]।

पृषदाज्यपतन

पृषदाज्य गिर जाय तो आज्याहुति अथवा अभिमर्शन करे[2]। सोमयाग में यदि पृषदाज्य गिर जाय तो कालाहुति करे। सोमयाग में किसी प्रकार का उपद्रव हो तो ब्रह्मा आज्याहुति दे और मन्त्रवाचन करे[3]। सुत्या के समय यदि उपद्रव हो तो आग्नीध्रीया में कालाहुति दे[4]। यूप के ऊपर कौआ बैठ जाय तो उद्गाता आहवनीय में आज्याहुति दे[5]।

अग्निहोत्री की अशक्तावस्था

यदि अग्निहोत्री स्वयं हवन करने में असमर्थ हो तो हवन के समय यज्ञशाला के निकट बैठे और अध्वर्यु हवन करे[6]। यज्ञशाला तक न जा सके तो भूमि पर बैठ जाय[7]। यह भी न हो सके तो खाट या चौकी पर ही बैठा रहे। सायङ्कालीन अग्निहोत्र हवन के समय यदि अग्निहोत्री के प्रातःकालपर्यन्त जीने की संभावना न हो तो उसी सायङ्कालीन हवन के समय प्रातःकाल का भी हवन कर लेना चाहिए[8]। संयोगवश प्रातःकाल तक जी जाय तो पुनः प्रातःकाल के समय हवन न करे[9]। पौर्णमासेष्टि के समय दर्शेष्टि पर्यन्त यजमान के जीने की आशा न हो तो पौर्णमासेष्टि के अनन्तर पिण्डपितृयज्ञ रहित दर्शेष्टि कर लेनी चाहिए[10]।

याग की समाप्ति से पहले मृत्यु

हविर्द्रव्य ले आने पर यजमान की मृत्यु हो जाय तो आनीत हविर्द्रव्य को दक्षिणाग्नि

---

१. पुच्छकाण्डाद्दक्षिणेऽस्थनि हुत्वा दोहयेत्। का० श्रौ० २५.६.२।
२. पृषदाज्यस्कन्दने। का० श्रौ० २५.६.३।
३. सोमेज्योपपाते०। का० श्रौ० २५.६.४।
४. आग्नीध्रीये सुत्यासु। का० श्रौ० २५.६.५।
५. उद्गातृहोमः। का० श्रौ० २५.६.६।
६. स्वयं होम्यशक्ताऽउपासीत। का० श्रौ० २५.६.१०।
७. उपसर्पणाशक्तावासनमवः। का० श्रौ० २५.६.११।
८. तदैव प्रातराहुतिः। का० श्रौ० २५.७.१।
९. जीवेत् चेत्पुनः काले। का० श्रौ० २५.७.२।
न पुनः प्रातराहुतिर्देया। का० श्रौ० क० भा० २५.७.२।
१०. पौर्णमासान्ते चामावास्यमग्निहोत्रवत्। का० श्रौ० २५.७.४।

में छोड़ दे[1]। वेदि में हवि के आसादन से पूर्व मृत्यु हो तो गार्हपत्य में हवि छोड़ दे[2]। वेदि में हवि के आसादन के अनन्तर और याग की समाप्ति से पूर्व मृत्यु हो तो आहवनीय में हवि का प्रक्षेप कर दे[3]। आरम्भ किये हुए याग के विधानों में से यजमान के मरण-पर्यन्त अनुष्ठित विधान पर्यन्त ही इष्टि की समाप्ति करे। यजमान के मरण पर्यन्त ही इष्टि के अनुष्ठान होने चाहिए[4]।

पुरोडाश का जलना

यदि पुरोडाश जल जाय तो तत्स्थानीय आज्याहुति दे। अनन्तर पुनः पुरोडाश करे और याग की आवृत्ति करे[5]।

पशु का पलायन

याग के निमित्त उपाकरण करने के अनन्तर यदि पशु पलायित हो जाय तो वायु देवता के निमित्त पलायित पशु का सङ्कल्प करे। तदनुरूप दूसरा पशु लाकर याग करे[6]।

पशु की मृत्यु

प्रयाज से पूर्व यदि पशु की मृत्यु हो जाय तो दूसरे पशु से आगे का कृत्य करे[7]। निरूढपशुबन्ध याग हो तो पहले पशु की वपा का दक्षिणाग्नि में हवन करे। सोमयाग में आग्नीध्रीया में वपाहवन करे। अग्रिम विधान के निमित्त द्वितीय पशु का उपयोग करे।

अङ्गावदान का नाश

पशु के अङ्ग का अवदान किसी प्रकार से नष्ट हो जाय तो आज्याहुति से कार्य का निर्वाह करना चाहिए। यद्यपि 'हृदयमु वै पशुरिति श्रुतेः' इस श्रुति के आधार पर हृदयांग नष्ट होने पर दूसरे पशु का आलभन विधान होना चाहिए[8]। परन्तु हृदय में भी अवदान धर्म के रहने से हृदय की प्रधानतापरक ही इस श्रुति की चरितार्थता समझनी चाहिए।

पशु का शब्द

संज्ञपन के समय पशु के शब्द करने पर आज्याहुति करनी चाहिए[9]। पशु के अङ्गश्रपण की उखा और सान्नाय की उखा चू रही हो तो उसका अभिमर्शन करे[10]। उखा को बदलकर

---

१. दक्षिणाग्नावेनान्त्सन्दहेत्। का० श्रौ० २५.७.५।

२. गार्हपत्ये ग्रहणादि प्रागासदनात्। का० श्रौ० २५.७.७।

३. आसादनाद्याहवनीये। का० श्रौ० २५.७.८।

४. मरणान्तं भवति। का० श्रौ० २५.७.९।

५. पुरोडाशे क्षामेऽवशिष्टं समाप्य तदेव पुनर्निर्वपेत्। का० श्रौ० २५.८.१७।

६. तद्वर्णं तद्वयसमालभेत। का० श्रौ० २५.९.१।

७. प्राक् प्रयाजेभ्यः। का० श्रौ० २५.९.४-८।

८. श० ब्रा० ३.६.४.१६।

९. संज्ञप्यमानश्चेद् वाश्येताहुतिं जुहुयात्। का० श्रौ० २५.९.१३।

१०. पशूखा चेत् श्रवेत् सान्नाय्योखा वा। का० श्रौ० २५.९.१५।

प्रायश्चित्ताहुति दे। यदि सोमयाग में ऐसी परिस्थिति आ जाय तो कालाहुति भी देनी चाहिए।

यूप का अङ्कुरण

याग में यूप के निमित्त हरी लकड़ी का उपयोग होता है। दीर्घकालीन याग होने पर यदि यूप में अङ्कुर निकल पड़े तो प्रायश्चित्त करे। तदर्थ याग की समाप्ति होने पर त्वष्टा देवता के निमित्त चितकबरे पशु का आलभन करना चाहिए[1]।

सगर्भा अनूबन्ध्या

अनूबन्ध्या गौ के गर्भवती होने के सन्देह होने पर वपा निकलने के बाद अध्वर्यु गर्भ का पतापाने के निमित्त शमिता को प्रैष करे[2]। गर्भ हो तो स्थाली और पगड़ी मँगावे। यदि गर्भ के अङ्ग व्यक्त हों तो उन्हें पगड़ी में बाँध कर उखा में पकावे। वसा होम के अनन्तर प्रतिप्रस्थाता उसकी समन्त्रक आहुति दे। अङ्गों की अव्यक्तावस्था में कटोरे में रस निकाल ले[3]। वनस्पतियाग के अनन्तर और स्विष्टकृद्याग से पूर्व उसकी आहुति दे। अथवा समिष्टयजुसंज्ञक आहुति के अनन्तर शामित्रशाला के अग्नि पर मरुत् देवता के निमित्त स्वाहाकार रहित आहुति दे। यह कृत्य कलि में निषिद्ध है।

सत्र में प्रायश्चित्त

सत्र का सङ्कल्प करके सत्र न कर सके तो उसे विश्वजित्याग करना चाहिए[4]। अनेक यजमान सत्र के निमित्त सामग्री एकत्र करके भी यदि सत्र न कर सकें तो अपनी-अपनी सामग्री अलग कर लें। अनन्तर प्रत्येक व्यक्ति सर्वस्व दक्षिणावाला सर्वपृष्ठ संज्ञक याग करे[5]।

उद्गाता का पृथक् होना

याग के प्रातःसवन में स्पर्श किये हुए ऋत्विक्गण देवयजन से बाहर निकल चुके हों, अनन्तर उद्गाता यदि पृथक् हो जाय तो दक्षिणा रहित याग की समाप्ति करके पुनः उस याग की आवृत्ति करे[6]।

प्रस्तोता का पृथक् होना

अन्वारम्भण के समय यदि प्रस्तोता पृथक् हो जाय तो उसी प्रस्तोता का पुनः वरण करे[7]।

---

१. यूपविरोहणे० त्वाष्ट्रं बहुरूपमालभेत। का० श्रौ० २५.१०.१।
२. अनूबन्ध्यायै०। का० श्रौ० २५.१०.२-१८।
३. यस्यै ते०। शु० य० १०.२९।
४. विश्वजितातिरात्रेण यजेत। का० श्रौ० २५.११.१।
५. सोमं विभज्य तेनैव सर्ववेदसेन सर्वपृष्ठेन यजेरन्। का० श्रौ० २५.११.४।
६. अदक्षिणं संस्थाप्य पुनराहारः। का० श्रौ० २५.११.८।
७. प्रस्तोता चेद्। का० श्रौ० २५,११.९।

प्रतिहर्त्ता का पृथक् होना

यदि उपर्युक्त समय में प्रतिहर्ता पृथक् हो जाय तो याग के सिवाय जो कुछ यजमान के पास हो सब प्रतिहर्त्ता को दे[1]।

उद्गाता और प्रतिहर्त्ता दोनों का पृथक् होना

उद्गाता के पृथक् होने पर अदक्षिण याग की समाप्ति कही है। प्रतिहर्त्ता के पृथक् होने पर सर्वस्व दक्षिणा विहित है। दोनों ही पृथक् हो जायँ तो असङ्गति होती है। इस परिस्थिति में दूसरे पक्ष का आश्रयण करना चाहिए[2]। आवृत्त यज्ञ की दक्षिणा की पृथक् व्यवस्था करनी चाहिए।

याग के समय पत्नी का ऋतुमती होना

यदि याग के समय पत्नी ऋतुमती हो तो दीक्षा का वस्त्र, शङ्कु प्रभृति समस्त सामग्री शुद्ध करके सुरक्षित रख दे[3]। स्राव बन्द होने तक सायङ्काल सूर्यास्त के पूर्व से नक्षत्र दर्शन तक, प्रातःकाल अरुणोदय से सूर्योदय तक और सुत्या के समय मार्जालीय मण्डप के निकट बालू पर पत्नी बैठे। इन दिनों में पत्नी के निमित्त व्रतदुघा गौ का दोहन न किया जाय। पत्नी हविर्द्रव्य को न देखे। हविर्द्रव्य एवं अग्नि का स्पर्श न करे। यदि प्रमाद से स्पर्श हो जाय तो पुनराधान करके शुचीष्टि करे। हविष्यान्न का आहार करे। चतुर्थदिन पूर्ववत् दीक्षा विधि के अनन्तर पत्नी याग कार्य में सम्मिलित हो।

प्रसव होना

सत्र चालू रहते यदि यजमानपत्नी को सन्तान हो तो दशरात्र अशौच मानकर अशौच की निवृत्ति कही है[4]।

जननमरण का अशौच

मधुपर्कार्चन के अनन्तर यदि ऋत्विजों को किसी प्रकार के अशौच की परिस्थिति उपस्थित हो तो अवभृथयागपर्यन्त वे अशौच से मुक्त और यज्ञिय कार्यक्षम कहे गये हैं।

दीक्षित को अशौच

सोमयाग में यदि दीक्षित को जननाशौच या मरणाशौच की प्राप्ति हो तो स्नानमात्र से शुद्धि कही है[5]।

---

१. प्रतिहर्त्ता चेत्सर्ववेदसं देयम्। का० श्रौ० २५.११.१०।
२. युगपच्चेत्०। का० श्रौ० २५.११.११–१२।
३. पत्न्युदक्या दीक्षारूपाणि निधाय०। का० श्रौ० २५.११.१४–१७।
४. प्रजातायाश्च दशरात्रादूर्ध्वं स्नानादि। का० श्रौ० २५.११.१८।
५. ऋत्विजां दीक्षितानाञ्च यज्ञियं कर्म कुर्वताम्।
   सद्यः शौचं विधीयते। या० स्मृ० आ० प्र० २८–२९।

अशुभ स्वप्नदर्शन

दीक्षित यदि अशुभ स्वप्न देखे तो कालाहुति, मन्त्रवाचन और सूर्योपस्थान करे[1]। दीक्षित को पसीना होने पर, दिन में सोने पर, शोकाश्रुपात होने पर और वमन होने पर अध्वर्यु कालाहुति और मन्त्रवाचन करे[2]।

दीक्षित को रुग्णावस्था

याग के समय यदि दीक्षित बीमार हो जाय तो रोगनिवृत्ति पर्यन्त आग्नीध्रीय मण्डप में रहे[3]। चिकित्सा करावे और वसतीवरी संज्ञक जल से आचमन करे। प्रत्येक सवन के अन्त में ऋत्विक्लोग दीक्षित का स्पर्श करें।

सत्र में दीक्षित की मृत्यु होने पर

सत्र के समय दीक्षित बीमार हो जाय और चिकित्सा करने पर भी यदि सत्र में दीक्षित स्वस्थ न हो सके और दीक्षित की मृत्यु हो जाय तो अरणी से मन्थन करके अथवा शामित्राग्नि से विधिरहित उसका दाह करे[4]। अस्थि को कृष्णाजिन में लपेट कर रख दे। निकटतम पुत्रादिक की दीक्षा करके सत्र की समाप्ति करे। याग में पत्नी के स्थान पर दीक्षित की ही पत्नी रहे, निकटतम पुत्र प्रभृति की पत्नी न रहे।

सोम की नष्टावस्था

यदि याग के निमित्त लाया हुआ सोम खो जाय अथवा कोई छीन कर ले जाय तो अध्वर्यु यजमान पुरुषों को उसे वापस लाने का प्रैष करे[5]। सोमप्राप्ति पर्यन्त दीक्षा की वृद्धि करे। न मिलने पर जिस व्यक्ति से सोम खरीदा हो उसी को कुछ द्रव्य देकर पुनः सोम खरीद ले। अपहृत सोम अथवा अन्य सोम न मिले तो पूतीका, अर्जुनतृण अथवा दर्भ से आगे की विधि समाप्त करे। इस परिस्थिति में याग निमित्त केवल एक गो दक्षिणा में दे। अनन्तर प्रारम्भ से पुनः याग की आवृत्ति करे और उसमें पूर्वयाग की नियत दक्षिणा दे।

सोमाभिषव सामग्री का टूटना

प्रातः सवन या माध्यन्दिन सवन के समय सोमाभिषव करते हुए यदि कूटने का पत्थर टूट जाय तो उद्गाता ब्रह्मसाम से मरुत् देवता की स्तुति करे[6]। द्रोणकलश के टूटने पर भी उपर्युक्त सामगान करे[7]। वसतीवरी के टूटने पर कालाहुति और मन्त्रवाचन करके अनादिष्ट प्रायश्चित्त करे। वसतीवरी संज्ञक दूसरा कलश लेकर आगे का यज्ञिय कार्य सम्पन्न करे[8]।

---

१. दीक्षितो मनोज्ञं दृष्ट्वा०। का० श्रौ० २५.११.२१।
२. स्विद्याच्चेत्०। का० श्रौ० २५.११.२९-३१।
३. दीक्षितश्चेदुपतप्येत। का० श्रौ० २५.१३.१९-२३।
४. म्रियेत चेन्निर्मथ्येन दग्ध्वा०। का० श्रौ० २५.१३.२७-२८।
५. सोमापहरणे विधावतेच्छतेति ब्रूयात्। का० श्रौ० २५.१२.१७।
६. अद्रिभेदने०। का० श्रौ० २५.१२.१८।
७. कलशभेदने। का० श्रौ० २५.१२.२३।
८. सोमदाहे०। का० श्रौ० २५. १४.२७।

सोम का दाह

आहिताग्नि की पत्नी अथवा गौ को एक बार में युगल सन्तति हो तो तेरह कपाल पर मरुत् देवता के निमित्त पुरोडाश वाली इष्टि करे[1]।

इस तरह सूत्रकार ने और भी प्रायश्चित्त कहे हैं। जैसे, दीक्षा होने पर याग के समय दीक्षित थूके, दौड़े, वमन करे तो शास्त्रोक्त विधि से हवन करना चाहिए[2]। याग के विधान में त्रुटि होने पर ऊपर कहे हुए प्रकार से प्रायश्चित्त करके आगे के याग सम्बन्धी कार्य को करने से याग की पूर्णता होती है। इस तरह कुछ प्रायश्चित्तों का संक्षेप में दिग्दर्शन यहाँ किया है। इसके सिवाय और भी अनेक प्रायश्चित्त कहे हैं जिन्हें सूत्र ग्रन्थों में देखना चाहिए।

●

---

१. भार्यागोषु यमलजने मारुतं त्रयोदशकपालं निर्वपेत्। का० श्रौ० २५.४.३५।

२. निष्ठीवेच्चेद् बीभत्साभ्योद्भ्यः स्वाहेति, धावेच्चेद् वायवे स्वाहेति। छर्दाविष्टः पयः पीत्वोदकं वा छर्दयीत निष्ठ्यूतवद्धोमः। का० श्रौ० २५.११.२७,२८,३२।

पञ्चदशाध्याय

उपसंहार

वैदिक काल में धार्मिक अनुष्ठान···· वर्ण···· आश्रम···· वर्ण एवं आश्रम के अनुरूप श्रौतस्मार्त्त अनुष्ठान···श्रौतयाग और स्मार्त्त याग···· ।

श्रौतकालीन सामाजिक व्यवस्था : समय पालन···· नियम पालन···· ब्रह्मचर्य पालन···· वेषभूषा···· श्रौतकालीन शृङ्गार···· कृषि··· पशुपालन···· क्रयविक्रय···· शरीर विज्ञान···· चिकित्सा विज्ञान···· वनस्पति विज्ञान···· अग्निमन्थन··· गीत···· वाद्य···· नृत्य···· रथारोहण···· लक्ष्यवेध···· स्थापत्य···· गर्त्त-खनन···· इष्टका निर्माण···· चितियों का चयन··· विहार निर्माण ।

स्वयंपाक : धाना···· करम्भ···· परिवाप···· आमिक्षा···· वाजिन···· रसनिकालना···· सुरानिर्माण···· ।

जाति : नापित···· स्वर्णकार···· तक्षा···· कुम्भकार···· कुविन्द···· लौहकार···· चर्मकार ।

व्यवहार : क्रय-विक्रय···· आदान-प्रदान···· धरोहर···· व्यसन···· श्रौतविधान अमोघ इष्टसिद्धि का और अपरिमित उन्नति का स्रोत है ।

उपसंहार

प्राचीन भारतीय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त था और प्रत्येक वर्ण के अपने-अपने कार्य अर्थात् अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, प्रजासंरक्षण, शासन, कृषि-व्यापार और सेवा निर्धारित थे। धार्मिक कृत्यों के लिए ब्राह्मण सभी वर्णों के उपदेशक थे। एतावता यज्ञिय कार्य की पूरी व्यवस्था का उत्तरदायित्व वे स्वयं वहन करते थे। इस वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भिक दर्शन हमें ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में मिलता है। जिसके अनुसार विराट् पुरुष के मुखस्थानीय ब्राह्मण, बाहुस्थानीय क्षत्रिय, ऊरुस्थानीय वैश्य और पादस्थानीय शूद्र कहे गये हैं।

इसी प्रकार मानव जीवन भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों में विभक्त है। त्रैवर्णिकों का ब्रह्मचर्याश्रम यज्ञोपवीत संस्कार से आरम्भ होता है। यज्ञोपवीत के पश्चात् ही गुरु के पास अध्ययन पूरा किया जाता था। ब्रह्मचर्य दो प्रकार का माना गया है। उपकुर्वाण और नैष्ठिक। उपकुर्वाण ब्रह्मचारी अध्ययन पूर्ण होने पर गुरु की आज्ञा से गृहस्थाश्रम स्वीकार करता था। किन्तु नैष्ठिक ब्रह्मचारी आजीवन ब्रह्मचारी ही रहता था।

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वालों के लिए स्मार्त्त अग्नि का परिग्रह और परिचर्या आवश्यक होती थी। पति और पत्नी दोनों मिलकर यह परिचर्या किया करते थे। यह स्मार्त्ताग्नि था जिसे आवसथ्याग्नि भी कहते हैं। इस अग्नि पर किये जाने वाले अनुष्ठान गृह्यसूत्र द्वारा प्रतिपादित हैं। आगे चलकर जब इस दम्पति को पुत्र लाभ हो जाता था तब श्रौत में कहे हुए नियमों का प्रारम्भ होता था और श्रौताधान अर्थात् त्रेताग्नि का परिग्रह किया जाता था। त्रेताग्नि पर किये जाने वाले अनुष्ठान श्रौतसूत्रों के द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं।

ब्राह्मणवर्ण अपने यहाँ याजमान और दूसरों के यहाँ आर्त्विज्य करते हुए अनेक प्रकार के याग और सत्र करते थे जिनमें सोमयाग, बृहस्पतिसव, अग्निचयनयाग एवं सत्रों की संख्या अधिक होती थी। क्षत्रियों के यहाँ राजसूय और अश्वमेधयाग का प्रचलन अधिक था और वैश्य, वैश्यस्तोम में रुचि रखते थे। सोमरस के पान का प्रयोग केवल ब्राह्मण वर्णों के द्वारा ही उनके यागों में होता था। क्षत्रियों के लिए सोम के स्थान पर न्यग्रोधस्तिभी बरगद-कोपल को दही में मिलाकर उपयोग में लाया जाता था।

किसी भी यज्ञ के अनुष्ठान में यजमान के साथ उसकी पत्नी का रहना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। यज्ञ में जब यजमान 'न मम' कहकर द्रव्य का त्याग करता है तो उसके स्वर में स्वर मिला कर पत्नी को भी 'मयापि दत्ता' कहना अनिवार्य होता है। प्रवासादि निमित्त से अग्निहोत्री यजमान की अनुपस्थिति में अग्निपरिचर्या का उत्तरदायित्व उसकी पत्नी को ही निभाना पड़ता था। उस स्थिति में यजमान का कार्य यजमान के प्रतिनिधि के रूप में पुत्र, अध्वर्यु, विद्वान्, श्रोत्रिय अथवा भागिनेय प्रभृति करते हैं। यहाँ तक कि सत्र काल में यदि

यजमान की मृत्यु हो जाय तो यजमान का औरस पुत्र मृत यजमान का प्रतिनिधित्व कर सकता है। किन्तु पत्नी मृतयजमान की ही रहेगी यह शास्त्र प्रतिपादित है।

यहीं पर हमें अपत्नीक पद का भी विचार करना होगा। अनेक प्रकार से पत्नी न होने की स्थितियाँ बनती हैं। प्रथम विवाह का न होना। दूसरा पत्नी का मृत हो जाना इन उपर्युक्त परिस्थितियों में ही अपत्नीक पद की सार्थकता शास्त्रकारों ने मानी है क्योंकि अग्निहोत्रादि श्रौतोपासना का प्रारम्भ पत्नी के पदार्पण के बाद ही होता है।

यजमान के विधुर होने पर अर्थात् अग्निहोत्री यजमान की पत्नी के मृत होने पर अग्निपरिचर्या का कार्य समाप्त हो जाता है। किन्तु साथ ही एक विकल्प यह भी शास्त्रसम्मत है कि यदि विधुर यजमान पुनः अग्नि परिचर्या करने का अभिलाषी हो तो अग्नि का पुनराधान करके मृत पत्नी की (दर्भमयी या सुवर्णमयी प्रतिमा) के साथ वह अग्नि परिचर्या कर सकता है। दूसरा विकल्प यह भी है कि विधुर अग्निहोत्री यजमान पुनः पाणिग्रहण करके नवीन पत्नी के साथ अपनी अभिलषित अग्निपरिचर्या सम्पन्न करे।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए प्रातः, सायंकाल का अग्निहोत्र हवन तथा मध्याह्न काल का बलिवैश्वदेव के अतिरिक्त अनेक प्रकार के नित्य-नैमित्तिक और काम्ययाग किये जाते थे। गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व को पूरा करने के बाद पत्नी के साथ ही वानप्रथाश्रम को स्वीकार किया जाता है। इस स्थिति में अग्निहोत्र को चालू रखकर आगे भी अनेक यागों की सम्पन्न करते रहना या अग्निपरिचर्या की समाप्ति कर देना यह अग्निहोत्री की इच्छा पर निर्भर करता है। पूर्ण विरक्त होने की स्थिति में संन्यासाश्रम का स्वीकार उचित माना गया है। अब वह सांसारिक पदार्थों से विरक्त होकर मुक्तिमार्ग का पथिक बन जाता है। अब उसका पत्नी से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रह जाता। फलतः प्रत्यक्षरूप से अग्निपरिचर्या का प्रश्न ही नहीं उठता। इस सम्बन्ध में यह जानना भी कम रोचक नहीं है कि संन्यासी के लिए प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में अग्निपरिचर्या की बात रूपकात्मक ढंग से कही गयी है। जिसके अनुसार यजमान आत्मा, बुद्धि पत्नी, अध्वर्यु अहङ्कार, पञ्चमहाभूत, पञ्चप्रयाज, तीन अनुयाज गुण, यूप ओङ्कार, यज्ञपात्र इन्द्रिय, याग अहिंसा, हविर्द्रव्य कर्मेन्द्रिय, दक्षिणा त्याग और अवभृथयाग मरण है। इस प्रकार वहाँ पर विस्तृत वर्णन है।

श्रौतयाग और स्मार्तयाग

ऐसा लगता है कि यद्यपि श्रौतयाग के विधान जटिल होते थे। नियमों का पालन, द्रव्यशुद्धि, सोमलता का सङ्ग्रह, दक्षिणा के लिए द्रव्य का जुटाना, यागकर्त्ता का अनिवार्य रूपेण आहिताग्नि होना आदि बातें कष्टसाध्य थीं तथापि प्राचीन काल में श्रौतयागों का प्रसार अधिक था। बढ़ते हुए समय के साथ कदाचित् इन्हीं कारणों से श्रौतयाग पिछड़ते गये और अब स्मार्तयाग अधिक लोकप्रिय हो गये हैं। यह बहुधा देखा जाता है कि वाजपेययाग आदि की तुलना में रुद्रयाग, विष्णुयाग, नवचण्डीयाग, शतचण्डीयाग, लक्षचण्डीयाग, कोटिचण्डीयाग, गणेशयाग आदि स्मार्तयागों के अनुष्ठान आज भी बहुधा किये जाते हैं।

कारण स्पष्ट है। श्रौतयागों की अपेक्षा स्मार्त्तयागों का विधान सरल है। वहाँ यजमान के लिए अग्नि परिग्रह आवश्यक नहीं है। अरणि मन्थन के द्वारा ही अग्नि की उपलब्धि अनिवार्य नहीं है। प्रायश्चित्तों की भी यहाँ कमी है। और थोड़े समय में भी इन यागों का अनुष्ठान किया जा सकता है। इन यागों में यजमान की उपस्थिति रहते हुए भी उसके काम को कोई भी श्रद्धावान् कौटुम्बिक और आचार्य प्रभृति प्रतिनिधित्व रूप में कर सकते हैं। स्मार्त्त-यागों में मण्डप निर्माण कार्य का भी विकल्प है। संक्षेप में स्मार्त्तयागों के विधान और नियम श्रौतयागों की तुलना में कहीं अधिक सरल और लचीले होते हैं।

श्रौत कालीन सामाजिक व्यवस्था

हम पिछले पृष्ठों में इस बात को चर्चा कर चुके हैं कि श्रौत काल और वेद काल में कोई भिन्नता नहीं है। एतावता जब हम श्रौत काल की सभ्यता की बात कहते हैं तो दूसरे शब्दों में वह वेद काल की हो सभ्यता है। इस सभ्यता की निम्नाङ्कित बातें विशेष रूप से रोचक हैं।

समय का पालन

श्रौतयाग के अनुष्ठान में निर्धारित समयावधि का कड़ाई से पालन किया जाना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। फलतः इन यागों के करने वाले लोगों के द्वारा संवत्सर, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन और रात यहाँ तक कि सूर्योदय और सूर्यास्त आदि का बड़ी बारीकी से ध्यान रखा जाता था। समय परिज्ञान का मुख्य साधन जलघटी का उपयोग था। किसी भी प्रकार समय को चूक जाना हमारे पूर्वजों को अभिप्रेत नहीं होता था। उदाहरणार्थ ब्रह्माद्वारा किये जाने वाले एक याग में पत्नी की दीक्षा प्रसङ्ग में सावित्री यथा समय उपस्थित नहीं हुई। स्वयं देवेन्द्र उन्हें बुलाने गये। पर उन्हें अपने शृङ्गार आदि से ही छुट्टी नहीं मिल रही थी। इधर ब्रह्मा प्रतीक्षा करते ही रहे और दीक्षा की निर्धारित घड़ी आ पहुँची। ब्रह्मा भला समय को कैसे टालते। उन्होंने गायत्री के साथ पाणिग्रहण कर पत्नी दीक्षा का कार्य सम्पन्न कराया। समय पालन की यह प्रवृत्ति याग विधानों में बराबर देखने को मिलती है।

नियमपालन

श्रौत यागों के अनुष्ठानों में कड़े से कड़े नियमों का पालन भी पूरी तत्परता से किया जाता था। उदाहरणार्थ दीक्षा प्रसङ्ग में आहिताग्नि यजमान और उसकी पत्नी के हाथ बाँध दिये जाते थे और इसी स्थिति में उन्हें अपना दैनिक व्यवहार करना पड़ता था। हाथ की अँगुलियाँ बँधी रहती थीं। वे उनसे अपने शरीर को खुजला भी नहीं सकते थे। अधिक कण्डू होने की स्थिति में केवल मृगशृङ्ग और काष्ठ शंकु से ही उन्हें कण्डू निवारण का काम चलाना पड़ता था।

यज्ञ के समय यजमान और उसकी पत्नी को व्रती रहना पड़ता था और आहार की मात्रा भी निर्धारित रहती थी। दीक्षा के समय तीन दिनों तक तो उन्हें केवल दूध पर ही रहना पड़ता था और वह भी निश्चित क्रम के अनुसार। पहले दिन एक गौ के तीन स्तनों से प्राप्त होने वाले दूध का उपयोग किया जा सकता था। पर दूसरे और तीसरे दिन क्रमशः दो

और एक स्तन से ही प्राप्त होने वाले दूध से सन्तोष करना पड़ता था। यह दूध भी यजमान कांस्यपात्र से पीता था और यजमानपत्नी लौहपात्र का प्रयोग करती थी। व्रतकाल में असंस्कृत वाणी का प्रयोग सर्वथा वर्ज्य था। गुरुजनों को अभ्युत्थान देने का निषेध था क्योंकि एकमात्र अग्नि देवता ही उसका उपास्य है। सूर्योदय से सूर्यास्त के बीच शौच या लघुशंका भी नहीं की जा सकती थी। संक्षेप में, उपर्युक्त नियमों का पालन दृढता से किये जाने पर बल दिया जाता था।

ब्रह्मचर्य पालन

यही बात कठोर ब्रह्मचर्य के पालन में भी लागू होती थी। उदाहरणार्थ अश्वमेध याग की अवधि में जो पूरे एक वर्ष की होती थी, यजमान राजा को देवयजन में अर्थात् यज्ञशाला में रहना होता था। रात को अपनी राजमहिषी की गोद में सिर रखकर सोना भी होता था। साथ ही अन्य स्त्रियों और दासियों से घिरे रहने पर भी कठोर ब्रह्मचर्य का पालन भी करना होता था।

वेष-भूषा

वेषभूषा अत्यन्त सादी थी। पुरुष के लिए एक अधोवस्त्र धोती और उत्तरीय (दुपट्टा) प्रमुख था। विशेष अवसर पर सिर पर पगड़ी बाँधते थे। इनका रंग सफेद था। यदि शत्रु के विनाश की अभिलाषा होती तो लाल रंग के अधोवस्त्र, उत्तरीय और उष्णीष उपयोग में लाते थे। वृष्टि होने के लिए याग करते थे तो कृष्णवर्ण के वस्त्र धारण करते थे। स्त्रियों के लिए एक साड़ी और एक उपवस्त्र की प्रथा थी। समय-समय पर रेशमी वस्त्र और वल्कल (वृक्ष की छाल के धागे से बीने) भी पहनते थे। राजसूययाग में एक ऐसा वस्त्र पहनते थे जिसमें या तो स्रुची और स्रुवा प्रभृति यज्ञपात्र सिले रहते थे अथवा कशीदे से वस्त्र में यज्ञपात्रों का आकार बना होता था। वे कञ्चुक (चोंगा) भी पहनते थे और ऊपर से उत्तरीय ओढ़ लेते थे। उत्तरीय के दोनों छोर नाभि तक लटकते रहते थे और उन्हें धोती में खोंस लेते थे।

श्रौत कालीन शृङ्गार

लोग शृङ्गार के बहुत प्रेमी थे। यजमान और यजमानपत्नी के शरीर में मक्खन लगाया जाता था। गरम पानी से स्नान करते थे। अधोवस्त्र के ऊपर कटि में मेखला बाँधते थे। स्त्रियाँ अपने जूड़े पर जाल बाँधती थीं। सोने के आभूषण (निष्क और रुक्म आदि) पहनते थे। गले में सिकड़ी और स्वर्ण कमल की माला पहनते थे। सिर में स्वर्ण और रजत जटित दर्पण बाँधते थे।

कृषि

प्रारम्भ से ही भारत वर्ष कृषि प्रधान देश है। श्रौत के आचार्यों ने श्रौत विधान में भी उसका परिग्रह किया है। वे जानते थे कि खेत को जोतने के अनन्तर बीज बोना चाहिए। क्षेत्र के कर्षण का प्रकार आज के प्रकार से भिन्न था। क्षेत्र के जोतने के समय बैल क्षेत्र में से गुजरते नहीं थे। एक लम्बी डोरी का एक छोर हल में और दूसरा छोर जुए में बँधा रहता था। क्षेत्र

के बाहर रहकर उस डोरी के द्वारा बैलों से हल खींचा जाता था। हल को खींचने वाले बैलों की संख्या छः से चौबीस तक होती थी। अग्नि चयन याग में पन्द्रह फीट लम्बा और उतना ही चौड़ा चिति के आत्मा संज्ञक स्थान को उपर्युक्त प्रकार से जोता गया है।

पशुपालन

पशुपालन भी एक प्रमुख कर्त्तव्य माना जाता था। यज्ञों के निमित्त भी पशुपालन आवश्यक था। दक्षिणा आदि के निमित्त यज्ञों का यह आवश्यक अङ्ग था। अश्वमेध याग में अनेक प्रकार के पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर, नभचर जैसे मृग, अवि, मगर मत्स्य, हाथी, शेर, नीलकण्ठ, मयूर, कपोत आदि आवश्यक होते हैं। उस प्रकरण में उनकी देखभाल करने वाले हस्तिप, अश्वप, अविपाल, अजपाल और गोपाल कहे जाते थे। इन उपर्युक्त पशु, पक्षी आदि को एकत्र करना, उन्हें दाना-पानी देना और उनका क्रय-विक्रय आदि यज्ञकाल में बड़ा ही महत्त्व का समझा जाता था।

क्रय-विक्रय

यज्ञ के निमित्त अनेक वस्तुओं का क्रयण अपेक्षित था। उन्हें स्वयं यजमान और अध्वर्यु खरीदते थे। क्रेतव्य वस्तु के बदले में गौ, अजा, सुवर्ण और ऊन आदि दिया जाता था। खरीदते समय मोलभाव बहुत होता था। बेंचने वाला अपनी वस्तु का और खरीदने वाला बदले में दी जाने वाली वस्तु का अधिक महत्त्व बतलाते थे। बहुत मोलभाव के अनन्तर सौदा पटता था। इसका विवरण अग्निष्टोमयाग प्रकरण से स्पष्ट हो जाता है।

शरीर विज्ञान

श्रौतयाग का अनुष्ठान करने वालों को शरीर विज्ञान विशेषतः पशुओं के शरीर विज्ञान का सूक्ष्म ज्ञान अपेक्षित होता था। विभिन्न पशुओं के शरीर में विशिष्ट अंगों की स्थिति उनका पारस्परिक सम्बन्ध, विच्छेदन की प्रक्रियाएँ आदि का तलस्पर्शी ज्ञान हुए बिना बहुत थोड़े समय में सभी आवश्यक अंगों को निकाल लेना कदापि सम्भव नहीं था। यह भी आवश्यक था कि याग के लिए अपेक्षित अंग पूर्णतया अखण्डित रूप में प्राप्त हो सकें। मृत्यु के उपरान्त शरीर का कौन सा अंग कितने समय में विलीन हो जायेगा या अपूर्ण हो जायेगा इसका भी पूरा ध्यान रखा जाना आवश्यक था। वस्तुतः शरीर विज्ञान शल्य चिकित्सकों का विषय है। पर प्रत्यक्ष देखने के बाद यह कहना पड़ता है कि याग के लिए आवश्यक अंगों की जानकारी के क्षेत्र में शमिता नामक उपर्त्विज शल्य चिकित्सकों की अपेक्षा किसी प्रकार भी कम नहीं होता था। १९५७ ई० में पूने में जो वाजपेय याग का अनुष्ठान हुआ था उसमें शमिता तो एक था पर उसकी सहायता के लिए दो ब्राह्मण शल्यचिकित्सक बुलाये गये थे। लेखक भी प्रत्यक्षदर्शी था। वहाँ पर जितने समय में शल्यचिकित्सकों ने चार पशुओं के अंगों को निकाला उतने ही समय में एक शमिता ने नव पशुओं के अंग निकाल लिये।

चिकित्सा विज्ञान

इस क्षेत्र में भी श्रौतयाग का अनुष्ठान करने वालों का विशेष प्रकार का योगदान होता था। पशुओं के रोग और चिकित्सा के विषय में ऋत्विज अनभिज्ञ नहीं होते थे परन्तु यदि यजमान स्वयं सत्र के बीच में अस्वस्थ होता था तो उसकी भी वे मन्त्रोच्चारण पूर्वक केवल स्पर्श मात्र से चिकित्सा कर लेते थे।

वनस्पति विज्ञान

श्रौतकार्य के अग्निमन्थन आदि के लिए ऋषिगण वनस्पति और काष्ठ विज्ञान का भी पूरा परिचय रखते थे। विशेष कर अरणी के निर्माण में ऐसे काष्ठ की अपेक्षा होती थी जो दृढ़ हो, पुनीत हो और साथ ही अग्निगर्भ प्रकार का हो जिससे कम श्रम में निश्चित रूप से अग्नि की प्राप्ति हो सके। इसी दृष्टि से अरणी के लिए शमीगर्भ अश्वत्थ अर्थात् ऐसा पीपल जो शमी के वृक्ष के साथ बढ़ा हो, लिया जाता है। शमी और अश्वत्थ दोनों ही अग्निगर्भ हैं। इसी शमी काष्ठ से अधरारणी और उत्तरारणी का निर्माण होता था। यज्ञकाष्ठ के निर्माण में भी काष्ठ चयन का अपना महत्त्व है। स्रुवा का उपयोग आहुति देने के लिए होता है। फलतः यह अग्नि के सीधे सम्पर्क में बराबर आता है। इस दृष्टि से इसके निर्माण के लिए खदिर की लकड़ी का ही प्रयोग वैध माना गया है। खदिर की लकड़ी पर अन्य काष्ठों की अपेक्षा अग्नि का प्रभाव कम होता है। इसके विपरीत जिन पात्रों से हवन नहीं किया जाता उनके लिए कात्यायन महर्षि ने वारण काष्ठ या कैमा का प्रयोग बतलाया है। इसी प्रकार अग्नि को प्रज्वलित करके स्थिर रखने के लिए भी पालाश, वैकङ्कत, श्रीपर्णी, बिल्व और औदुम्बर की लकड़ियाँ योग्य मानी गयी हैं। इनके उपयोग से अग्नि की स्थिरता के साथ-साथ कीटाणु नाशक वायुमण्डल भी प्राप्त हो जाता है।

याग के अनुष्ठान में दर्भ का उपयोग बहुलता से होता था। कदाचित् इसीलिए दर्भ को यज्ञवराह के रोम की संज्ञा दी गयी है। आयुर्वेद के अनुसार दर्भ कई प्रकार के रोगों को दूर करने में सक्षम है। विशिष्ट प्रयोगों की सिद्धि के लिए विशिष्ट काष्ठों के उपयोग की बात भी कही गयी है। जैसे शत्रु के विनाश के लिए किये जाने वाले याग में विभीतक काष्ठ का प्रयोग वैध माना गया है। सभी जानते हैं कि यह वेदना का नाश करने वाला, अनुचित प्रयोग करने पर स्फोट करने वाला और प्रभाव में अत्यन्त तेजस्वी औषध है। स्पष्ट है कि वनस्पति विज्ञान की समूची जानकारी के बिना श्रौतयागों के अनुष्ठानों में इस प्रकार के विधान संभव नहीं थे।

गीत, वाद्य और नृत्य

श्रौत विधान में सामगान का भी महत्त्व था। सामवेद से गायन विद्या का प्रादुर्भाव वर्णित है। यज्ञादि के समय किया जाने वाला सामगान एक या अनेक ऋत्विजों के द्वारा सामूहिक रूप में सम्पन्न होता था। इसके अतिरिक्त यजमान के पूर्वजों की स्तुति परक गाथाओं का भी गायन किया जाता था। गान के लिए कभी-कभी वीणावादन का भी सहारा लिया जाता था।

उदाहरणार्थ महाव्रत संज्ञक याग में गान के साथ अनेक प्रकार की वीणाओं का वादन विहित है। शततन्त्री, महावीणा, गोधावीणा, काण्डवीणा, पिच्छोलावीणा आदि भाँति-भाँति की वीणाओं का उपयोग किया जाता था। यह भी ज्ञातव्य है कि इनमें अपघाटिला, वीणा मुखमारुतेन अर्थात् फूँक से बजायी जाती थी। इन वीणाओं के अतिरिक्त याग के अनुष्ठान में अनेक प्रकार की दुन्दुभियों का भी प्रयोग होता था। इस प्रकार श्रौतयाग में कदाचित् तत, सुषिर और अवनद्ध प्रकार के वाद्य प्रयोग के दर्शन होते हैं।

संगीत के अनुष्ठान की पूर्णता नृत्य के बिना नहीं होती। श्रौत में स्त्रियों के नृत्य का भी विधान है। कभी-कभी ये स्त्रियाँ जिनकी संख्या न्यूनाधिक हुआ करती थी मस्तक पर जलपूर्ण कलश लेकर प्रदक्षिणा के रूप में नृत्य करती थीं।

रथारोहण

वैदिक काल का प्रमुख वाहन रथ था। जिसका प्रयोग श्रौतयाग में भी होता था। यहाँ प्रयुक्त होने वाले रथों में तीन घोड़े जोते जाते थे और चौथा पीछे की ओर बँधा रहता था। वाजपेय याग में यजमान के रथारोहण का उल्लेख है। इस अवसर पर रथों की दौड़ हुआ करती थी जिसमें अग्रगामी रथ यजमान का ही रहना आवश्यक था। आगे आने वाले घोड़े को उपहार के रूप में चरु प्राप्त होता था।

लक्ष्यवेध

श्रौत यागों का क्षेत्र विस्तृत था। उससे शस्त्रविद्या का क्षेत्र भी अछूता नहीं था। वैदिक काल में शस्त्रों में धनुष का उपयोग प्रमुखता से किया जाता था और धनुर्विद्या में लक्ष्य-वेध का सबसे अधिक महत्त्व था। श्रौत विधान में ऐसे अनेक स्थान हैं जहाँ लक्ष्यवेध की बात कही गयी हैं। वाजपेय याग में देवयजन के उत्तर दिशा की ओर सीधे बाण छोड़े जाते हैं। महाव्रत में अनेक बार बाण छोड़कर लक्ष्यवेध किया जाता है। शुद्ध लक्ष्यवेध के लिए यह आवश्यक था कि बाण का केवल फल लक्ष्य में प्रविष्ट हो और उसका शेष भाग बाहर ही दृष्टि-गोचर होता रहे। धनुष और बाण की शक्ति का निश्चित अनुमान लगाये बिना इस प्रकार का लक्ष्यवेध सम्भव नहीं है। कभी-कभी बाणों के प्रयोग से क्षेत्र की लम्बाई भी निश्चित की जाती थी। उदाहरणार्थ सत्र में धनुष से छूटा हुआ बाण जितनी दूरी पर जाकर गिरे उतनी दूरी को एक मानदण्ड मानकर प्रत्येक बिन्दु पर देवयजन बनाकर यज्ञ का अनुष्ठान होता था। और यहीं से आगे की ओर दूसरा बाण चलाया जाता था। इस प्रकार छ बार शरसन्धान करने के बाद आगे बढ़ने का क्रम रोक दिया जाता था। कदाचित् इस प्रकार यज्ञिय क्षेत्र की मर्यादा बँध जाती थी।

स्थापत्य

श्रौत यागों में स्थापत्य की झलक हमें चितियों के निर्माण में बड़े विस्तार से देखने को मिलती है। इन चितियों के बनाने के लिए पहले जमीन खोदी जाती थी। गड्ढे खोदने की

आवश्यकता याग में उस याग कार्यों के लिए होती थी। इन गड्ढों को बनाने की विशेष प्रक्रियाएँ निर्धारित हैं। जिनका विवेचन हम तत्तत् स्थानों पर कर चुके हैं। चितियों के लिए विशिष्ट प्रकार से ईंटों को बनाना, विभिन्न आकारों में उन्हें जोड़ना, निश्चित संख्या में उनका उपयोग करना आदि बातें कुण्ड मण्डप और चिति बनाने वाले लोगों और शास्त्रीय ढंग से उनका निरीक्षण करने वाले ऋत्विजों को भली प्रकार ज्ञात होनी चाहिए। मजबूत और भली प्रकार की इष्टकाओं के निर्माण के लिए भी विशिष्ट प्रकार के परिज्ञान का होना आवश्यक है। इसकी पूरी चर्चा हम यथास्थान कर आये हैं। ईंटों के निर्माण में साँचों का प्रयोग होता था। वे पकायी जाती थीं और नोना लगने से बचाने के लिए घोड़े की लीद जलाकर इन ईंटों को उसका धुआँ देते थे। ईंटों को पकाने के लिए मुख्यतया मूँज के साथ अन्य इन्धनों का प्रयोग किया जाता था। श्रौतयाग के काम में आनेवाली ईंटे चौदह प्रकार की होती थीं। यह भी मान लिया जाता था कि उपयोग में लाये जाने के समय बड़ी ईंटें अधिक टूटेंगी और छोटी कम इसलिए बड़ी ईंटें चौगुनी मात्रा में, मझली त्रिगुण मात्रा में और छोटी द्विगुण मात्रा में बनाने की बात कही गयी है। चितियों के निर्माण में हल द्वारा भूमि का जोता जाना, पानी छोड़कर उसे नम बनाना, छोटी, बड़ी ईंटों को विशेष पद्धति के अनुसार उन्हें जमाना, एक प्रस्तार (थर) के बाद दूसरे को बनाना, दो ईंटों के बीच में अवशिष्ट सन्धि स्थान को मिट्टी भरकर पूरा करना और निर्माण कार्य की दृढ़ता को परखने के लिए उसके ऊपर घोड़े को घुमाना आदि विविध प्रकार की प्रक्रियाएँ श्रौतकालीन स्थापत्य विषयक ज्ञान को सूचित करती हैं। इस प्रकार प्रकृतिशाला, दीक्षाशाला, शामित्रशाला आदि विविध शालाओं एवं देवयजन, विहार आदि के निर्माण की बातें भी तत्कालीन स्थापत्य विद्या की ओर संकेत करती हैं।

स्वयंपाक

श्रौतयाग में देवताओं को उनका प्रिय हवि दिया जाता था। तन्निमित्तक पुरोडाश, चरु, धाना, करम्भ आदि बनाने पड़ते थे। ऋत्विज लोग यज्ञशाला में ही उन सबका निर्माण करते थे। जव अथवा चावल के आटे का पुरोडाश बनाया जाता था। उन्हें पकाने के लिए विभिन्न सङ्ख्याओं में कपाल होते थे। उन्हीं कपालों पर अग्नि रख कर मन्द अग्नि के द्वारा विधिपूर्वक पुरोडाश पकाये जाते थे। विभिन्न देवताओं के लिए पृथक्-पृथक् संख्या में कपाल होते थे। जिस देवता के लिए जो कपाल सङ्ख्या निश्चित है उन्हीं सङ्ख्या वाले कपाल पर उस देवता का पुरोडाश पकाया जाता था।

चरु—यह चावल से बनाया जाता है। विशिष्ट देवता के निमित्त विशिष्ट प्रकार का चरु तैयार किया जाता है। जैसे, नीवार, श्यामाक, सत्तु और आटा प्रभृति द्वारा चरु तैयार किया जाता है। कहीं पर चरु के लिए तीन पक्ष में पकने वाले और एक वर्ष में पकने वाले चावल विहित है। साधारण तौर पर चावल को पानी में पकाकर चरु बनाया जाता है। किसी देवता के लिए बिना पानी के केवल घी में पका कर चरु बनाने को कहा है। इस परिस्थिति में

चावल को कुछ समय पूर्व पानी या दूध में भिगो देना चाहिए। फिर समय पर भिगोये हुए चावल को पीस कर घी में छोड़कर पका लेते हैं। यह पाक का कार्य स्वयं अध्वर्यु अथवा अध्वयु' द्वारा नियुक्त आग्नीध्र नामक ऋत्विज सम्पादित करता है।

धाना—भूने हुए जव को धाना कहते हैं।

करम्भ—सत्तु और दही को मथ कर करम्भ तैयार किया जाता है।

परिवाप—भुने हुए लावा को परिवाप कहते हैं।

आमिक्षा—पहले दिन दूध को जमा देते हैं। दूसरे दिन ताजे दूध को खूब औंटाते हैं। उस दूध में पहले दिन का जमाया हुआ दही छोड़ते हैं। इस प्रकार दूध फट जाता है। उसे छानते हैं। छानने पर घनीभूत पदार्थ आमिक्षा है। शेष तरल पदार्थ को वाजिन कहते हैं।

रस निकालना—अग्निष्टोम याग में सोमलता को कूटकर उसका रस निकालना विहित है। इस कार्य के लिए हविर्धान मण्डप के आग्नेय कोण में विशेष प्रकार से ईंटों से जोड़ाई किया हुआ उपरव संज्ञक एक स्थान होता है। उस पर चतुरस्र पत्थर रखा जाता है। उस पत्थर के अगल-बगल यथास्थान यजमान, अध्वर्यु और ऋत्विज लोग बैठकर समन्त्रक सोमलता को कूटकर रस निकालते हैं।

सुरानिर्माण

श्रौतयाग में सुरा का भी प्रयोग विहित है। इसमें मुख्यतया पैष्टी सुरा प्रयुक्त होती है। जिसके निर्माण विधि से ऋत्विज पूर्ण परिचित थे। जिसकी चर्चा हम विस्तार से सौत्रामणी और वाजपेय यागों में कर चुके हैं।

श्रौतयाग के अनुष्ठान में ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य वर्णों का भी योगदान था। यथा—

नापित—चातुर्मास्य याग में वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय इन चार पर्वों में क्षौर आवश्यक है। जिसका वपन क्रम इस प्रकार होता है, प्रथम मस्तक, तब दाढ़ी और अन्ततः मूँछ। इसी प्रकार अग्निष्टोम प्रभृति यागों के दीक्षा प्रकरण में भी क्षौर करने का विधान है। क्षौर का कार्य नापित या नाई द्वारा सम्पन्न कराया जाता है।

स्वर्णकार—यज्ञ में स्वर्णकार का प्रत्यक्ष योगदान तो नहीं होता किन्तु उसके द्वारा निर्मित वस्तुएँ अनिवार्यतः आवश्यक होती हैं।

जैसे—सोमयाग में प्रवर्ग्य विधान में सोने और चाँदी के बने रुक्म, राजसूययाग में द्यूतक्रीडा के लिए सोने के पासे, वाजपेययाग में ऋत्विजों के लिए सोने की सिकड़ी, पौण्डरीक-याग में सुवर्ण कमल की माला, अश्वमेधयाग में सभी रानियों और उनकी दासियों के लिए अनेक प्रकार के आभूषण इत्यादि। इनके सिवाय सोने के आसन, सोने और चाँदी के दर्पण आदि की भी यत्र-तत्र आवश्यकता होती है। इस प्रकार श्रौतयाग में स्वर्णकार का अप्रत्यक्ष योगदान अवश्यम्भावी है।

तक्षा—बढ़ई, स्वर्णकार के समान ही श्रौतयाग में तक्षा का भी निम्नाङ्कित कार्यों के लिए अप्रत्यक्ष योगदान आवश्यक है। यूप के लिए लकड़ी काटना, छीलना और उसमें पहल

देना। महाव्रत तथा सोमयाग में राजासन्दी, घर्मासन्दी आदि अनेक प्रकार की आसन्दियों का निर्माण। ये आसन्दियाँ एक हाथ चतुरस्र होती हैं और डोरी से बीनी जाती हैं। विविध प्रकार के यज्ञ पात्रों का निर्माण, देव यजन के निर्माण में तक्षा सम्बन्धी सभी कार्य। इन सब के अतिरिक्त तक्षा के महत्त्वपूर्ण योगदान का क्षेत्र श्रौतयागों में उपयोगी रथों और शकटों का निर्माण होता है। ये रथ कई प्रकार से प्रयोग में लाये जाते थे। जैसे, श्यामाकाग्रयणेष्टि में पुराने रथका दक्षिणा रूप में दिया जाना, अग्निचयनयाग में चिति के ऊपर रथ को उठाकर उस पर हवन का विधान, वाजपेय याग में रथों की दौड़ आदि के लिए सत्रह रथों की आवश्यकता, राजसूययाग में दक्षिणा के लिए रथ का उपयोग, अश्वमेधयाग में विजय के लिए छोड़े जाने वाले घोड़े से जुते हुए रथ पर राजा का अधिरोहण इत्यादि। वनीवाहन कार्य में यज्ञीय सामग्री को एकत्र करने के लिए शकट का प्रयोग, अग्निष्टोम याग में सोमाहरण, छाया सामग्री के लिए शकटों का उपयोग।

कुविन्द—जुलाहा, स्वर्णकार और तक्षा की भाँति कुविन्द या वस्त्र बीनने वाले का भी श्रौतयाग में अप्रत्यक्ष योगदान रहता है। उसके द्वारा निर्मित परिधानीय वस्त्र, उत्तरीय, उष्णीष, यूप में वेष्टन के लिए वस्त्र, ऊर्णा वस्त्र और वल्कल श्रौतयाग के लिए आवश्यक होते हैं। इसी प्रकार रंगे हुए वस्त्रों की उपादेयता भी कम नहीं है। श्येनयाग में यजमान और ऋत्विजों के लिए लालवस्त्र, उत्तरोय और पगड़ियाँ, व्रात्यस्तोम में व्रात्यों के लिए काली पगड़ियाँ, वृष्टि के लिए किये जाने वाली कारीरीष्टि में कृष्णवस्त्र आदि व्यवहृत होते थे। इन सबके अतिरिक्त रेशम, वनस्पति के डोरे और दर्भ से बुने वस्त्रों का भी उपयोग किया जाता था।

कुम्भकार :—यही स्थिति कुम्भकार की भी थी। उसके द्वारा निर्मित वस्तुओं के बिना याग की पूर्ति नहीं होती थी। सोमयाग प्रवर्ग्य विधान का महावीर पात्र, मिट्टी के भाँति-भाँति के कलशजैसे एकधन, वसतीवरी, पुरोडाश पकाने के लिए एक से तेरह, पन्द्रह प्रकार के कपाल, अन्य प्रकार के मृद्भाण्ड आदि कुम्भकार की सहायता के बिना प्राप्त नहीं हो सकते थे।

कपड़ा सीना :—मुख्यरूप से यह क्रिया यज्ञमण्डप के निर्माण प्रसङ्ग में प्रयुक्त होती थी। सीने के लिए जो सुई काम में लायी जाती थी वह औदुम्बर काष्ठ की बनती थी।

डोरियाँ बटना :—अन्यान्य वस्तुओं की भाँति डोरी भी एक आवश्यक उपादान था। दर्शपौर्णमास याग में यजमान पत्नी के लिए मूँज को बटकर योक्त्र नामकी मेखला बनाना, बर्हि और इध्मा बाँधने के लिए सन्नहन तैयार करना, यज्ञिय कार्यों के लिए सिकहर की आवश्यकता तथा यूप में बाँधने के लिए, पशुओं के गले में बाँधने के लिए, वेदि निर्माण कार्य में भूमि नापने के लिए तथा अन्यान्य कार्यों के लिए छोटी-बड़ी अनेक प्रकार की डोरियों की पूर्ति आवश्यक थी।

लोहकार :—इस सन्दर्भ में हम इसे नहीं भुला सकते। अश्वमेध के लिए लौह, राजत और सुवर्ण की सूचियों से अश्व के शरीर पर निशान बनाना, अग्नि को उठाने के लिए

चिमटा तैयार करना, क्षौर के लिए लोहे का उस्तरा बनाना, अच्छे बाण के फलों को बनाना आदि कार्य लोहकार के हैं।

चर्मकार :—इसी क्रम में हम चर्मकार की अप्रत्यक्ष सहायता को नहीं भूल सकते। राजसूययाग में अभिषेक के लिए प्रयोग होने वाला व्याघ्रचर्म, अग्निहोत्र एवं दीक्षा प्रसंग में प्रयुक्त होने वाले कृष्णाजिन, चिति निर्माण के समय यजमान और ऋत्विजों के द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले चमड़े के जूते, राजसूय याग में यजमान द्वारा पहने जाने वाले शूकर के चर्म के जूते, दुन्दुभियों के मढ़ने के लिए चमड़ा, अजचर्म आदि चर्मकार की सहायता के बिना प्राप्त नहीं किये जा सकते।

श्रौतयाग और दक्षिणा

किसी भी याग के अनुष्ठान में कार्य निर्वाहकों को यजमान द्वारा समुचित मात्रा में दक्षिणा दिये बिना न तो कार्य की सिद्धि ही होती है न समाप्ति। श्रौतकाल में समष्टिद्वारा याग का कार्य किया जाता था। यहाँ कार्य की दक्षिणा अविभक्त रूप में निश्चित थी। उसका विभाग समूहगत व्यक्ति की प्रमुखता पर आधारित था। दक्षिणा का न्यूनाधिक्य व्यक्ति के प्रधान गौण-भाव एवं कार्य के अनुसार किया जाता था। इसके लिए जो दक्षिणा किसी एक व्यक्ति के लिए निश्चित थी, उसमें विभाग नहीं होता था। संभवतः यही सम्भूयसमुत्थान व्यहारपद का स्रोत है।

समस्या तब उठती थी जब कोई वरण किया हुआ ऋत्विज याग के प्रारम्भ होने के बाद किन्तु समाप्ति के पूर्व यदि बीमार हो जाता था, अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाता था या मर जाता था। तब दक्षिणा के विभाजन का आधार वाद का विषय बन सकता था। इस स्थिति की परिकल्पना कर मनु ने निर्णय दिया है कि जिस ऋत्विज ने जितना कार्य किया हो उतने ही अनुपात में वह दक्षिणा का भागी होगा।

कौटिलीय अर्थशास्त्र ने इस बात को अधिक परिष्कृत किया है। वहाँ कहा गया है कि दीक्षा विधान तक काम करने वाले को दक्षिणा द्रव्य का पञ्चमांश, सोमक्रय तक चतुर्थांश, प्रवर्ग्योद्वासन तक तृतीयांश, याग के आधे काम करने वाले को अर्धांश और माध्यन्दिन सवन तक काम करने वाले को पूरी दक्षिणा मिलनी चाहिए।

श्रौतयाग से सम्बन्धित कुछ सामाजिक बातें

श्रौतयाग के लिए आवश्यक पदार्थों को खरीदने के लिए यजमान और अध्वर्यु दोनों जाते थे। मोलभाव भी लम्बा चलता था पर खरीद का माध्यम मुद्रा नहीं होती थी अपितु वस्तु विनिमय या आदान-प्रदान द्वारा यह कार्य पूरा किया जाता था। विनिमय वस्तु में गौ, अजा, वस्त्र, सूत, ऊन, अन्न और सुवर्ण की गणना की जाती थी।

धरोहर—अपनी वस्तु को सुरक्षा के लिए किसी के पास धरोहर रखने की प्रथा श्रौतकाल में भी प्रचलित थी। इसकी झलक हमें अग्निष्टोम प्रभृति यागों में मिलती है। याग प्रारम्भ

करते समय यजमान यज्ञ सामग्री को किसी योग्य व्यक्ति के पास धरोहर रखता था और याग के आरम्भ होने से समाप्ति तक आवश्यकतानुसार उन्हें लेता रहता था।

मनोरञ्जन, व्यसन आदि :—हम नृत्यगीत और वाद्य के यज्ञिय अनुष्ठानों की ओर पहले ही संकेत कर चुके हैं। जिनका समाज में बहुत अधिक प्रचार था। इसी सन्दर्भ में हमें द्यूत का उल्लेख भी अनिवार्य रूप से करना होगा। आधान प्रकरण और राजसूय याग में अक्षक्रीड़ा का विस्तार देखने को मिलता है। इसके लिए प्रथम भूमि बनाई जाती थी। सोने के पासे बनते थे और पण रूप में गौ रखी जाती थी। विजय में प्राप्त गौ ऋत्विजों को अर्पित होती थी।

संक्षेप में विभिन्न श्रौतयागों का प्रस्तुत अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि श्रौतयाग धार्मिक एवं काम्य अनुष्ठान होते हुए भी समाज से अलग-थलग नहीं थे। उनमें बहुजनहिताय और बहुजनसुखाय के सिद्धान्तों को तो अपनाया ही गया है पर साथ ही में समाज के सभी घटकों को एकसाथ लेकर चलने की प्रवृत्ति भी स्पष्ट है। हम देख चुके हैं कि यागों का यजन-याजन आर्त्विज्य आदि त्रैवर्णिकों द्वारा सम्पन्न होता था। पर उसमें सुनार, लोहार, बढ़ई, चर्मकार आदि का भी योगदान अनिवार्य होता था। स्पष्ट है कि उनके इस योगदान का समुचित रूप में श्रेय भी उनको उपलब्ध होता था। फलतः वैदिक सिद्धान्तों और कार्यों में समस्त राष्ट्र की हितैषिता निहित थी। एतावता यह सोचना न तो तर्कसिद्ध है न शास्त्रसम्मत है कि श्रौतयागों का विषय केवल वर्ग विशेष तक ही सीमित था और समाज से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। वस्तुतः श्रौतयाग ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसर थे जहाँ वेदविद्या की पटुता, राजशक्ति की समृद्धि की प्रखरता और व्यापकता का प्रदर्शन तथा समाज के विभिन्न घटकों का अपने-अपने क्षेत्र में योगदान स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता था। इस प्रकार संक्षेप में यही कहना उचित होगा कि श्रौत विधान मानव मात्र के लिए अमोघ इष्टसिद्धि और अपरिमित उन्नति का पूरक है।

परिशिष्ट

श्रौतोपयोगी पारिभाषिक शब्दों का अकारादिक्रम से विवरणात्मक शब्दकोश ।

शब्दकोश में सङ्गृहीत विषय

देवता····स्थान····पात्र····हवि····व्यक्ति····कर्म····क्रिया····वस्तु····द्रव्य ··परिमाण····· आदि ।

पारिभाषिक शब्दकोश

अखण्डोदकधारा (क्रिया)—जल की सतत धारा अग्निहोत्र हवन में (अखण्डोदकधारा) की जाती है ! यह गार्हपत्य के पूर्व से आहवनीय के पश्चिम तक की जाती है । सन्ततामुदकधारामाहवनीयात् । शां० श्रौ० २.६.१२ ।

अग्नि (देवता)—अङ्गति गच्छतीत्यग्निः । विधानपूर्वक जिसपर आहुति दी जाती है, वह अग्नि है । गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय और सभ्य ये श्रौत के अग्नि और आवसथ्य यह स्मार्ताग्नि है । इन्हें क्रमशः इस तरह भी कहते हैं ।

१—गार्हपत्य	२—आहवनीय
आहित	उद्धृत
भूः	अन्तरिक्ष
अग्नि	वायु
३—उत्तरवेद्यग्नि	४—शामित्राग्नि
प्रहृत	विहृत
द्यौ	दिक्
आदित्य	चन्द्रमा

चत्वारो ह वा अग्नयः । आहितः, उद्धृतः, प्रहृतः, विहृतः । श० ब्रा० सा० भा० ११.४.१२.१ ।

अग्निक्षेत्रकर्षण (क्रिया)—अग्निचयन याग में उदुम्बरकाष्ठ के हल से सुपर्णचिति के आत्मा संज्ञक स्थान का कर्षण होता है । देखें, अग्निचयनयाग । श० ब्रा० ७.१.४.३ ।

अग्निचयनयाग (कर्म)—जिस याग में विधानपूर्वक इष्टकाएँ जमाकर चिति बनायी जाती है, उसे अग्निचयनयाग कहते हैं । यहाँ अग्नि शब्द से अग्नि का आधार इष्टका को समझना शास्त्रसम्मत है । इष्टकाभिरग्निं चिनोति० । का० श्रौ० क० भा० १६.१.१ ।

अग्निनियोजन—अग्निचयन याग में यह विधान होता है । इस विधान में अध्वर्यु प्रभृति सभी लोग क्रमशः पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में रखी हुई परिधि को छूकर मन्त्रपाठ करते हैं दे० प० पृ० ६०८ । स्वर्गकामोऽग्निं चिनोति० । आप० श्रौ० २.१ ।

अग्निष्टुद्याग (कर्म)—इसका अनुष्ठान सर्वमेधयाग के अन्तर्गत किया जाता है । इस याग में प्रधान देवता अग्नि होने के कारण सवनीय पदार्थ आग्नेय होता है । दे० प० पृ० ६८८ ।

अग्निष्टोमदीक्षा (क्रिया)—सोमयाग में सपत्नीक आहिताग्नि की दीक्षा होती है। याग की दीक्षा से शरीर और आत्मा की शुद्धि होकर याग करने का अधिकार प्राप्त होता है। द्वादश दीक्षा अपरिमिता वा० का० श्रौ० ७.१.२४।

अग्निष्टोमयाग (कर्म)—सोमयाग की सात संस्थाओं में यह प्रथम संस्था है। अग्निहोत्री को प्रतिवर्ष वसन्त ऋतु में इस याग का अनुष्ठान करना चाहिए। अन्य सोम संस्थाओं की यह प्रकृति है। ज्योतिष्टोमस्य चाप्यग्निष्टोमसंस्थस्य नित्यता। त्रि० म० १०।

अग्निसत्र (कर्म)—यह एक सत्र है। पाप निवृत्ति इसका फल है। इसमें एक सहस्र सुत्याएँ होती हैं। विपाप्मना० कामयमाना उपेयुः। दे० प०, पृ० ८२०।

अग्निसम्मार्जन (क्रिया)—बायें हाथ में वज्र और दाहिने हाथ में इध्ममन्न हन लेकर आग्नीध्र द्वारा आहवनीय की परिधि पर झाड़ना अग्निसम्मार्जन है। सम्माष्टर्यग्ने वाजजित्०। का० श्रौ० ३.१.१३।

अग्निसंरक्षण (क्रिया)—अग्निहोत्री की यज्ञशाला में गार्हपत्य, सभ्य और आवसथ्यसंज्ञक अग्नि अखण्ड रहते हैं। प्रारम्भ में उद्धरणपक्ष यदि स्वीकृत किया है तो इन खरों के अग्नि का संरक्षण आवश्यक होता है। एतदर्थ गोमय के सूखे चार गोले खर में रख कर ऊपर से पहले के जले हुए अग्नि के गोले रखते हैं। चारों ओर से भस्म से ढक देते हैं। केवल बीच में थोड़ा खुला रहता है। इस प्रकार नियमपूर्वक सायं, प्रातः दोनों समय करने से अग्नि अखण्ड रहते हैं।—परम्परा प्राप्त।

अग्निहोत्रशाला (स्थान)—जहाँ अग्नि की उपासना होती है। उस स्थान को अग्निहोत्रशाला कहते हैं। उसमें गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि और सभ्य ये चार खर श्रौताग्नि के और पाँचवाँ आवसथ्य नामक स्मार्ताग्नि का खर होता है। इसका निर्माण विधान पौर्णमास याग में देखें। शालां प्रवेशयन्ति०। का० श्रौ० ७.१.८२।

अग्निहोत्रहवणी (पात्र)—'हूयते यया अग्निहोत्रं सा अग्निहोत्रहवणी' जिस पात्र में स्रुवा से आज्य घृत लेकर हवन किया जाता है, वह स्रुची है। अग्निहोत्रहवणी यह नामान्तर है। यह विकङ्कत काष्ठ की बाहुमात्र लम्बी, आगे की ओर चार अंगुल गर्तवाली, हंसमुखी होती है। अग्निहोत्रहवणी हंसमुखी०, दे० प० पृ० ६।

अग्निहोत्रहवन (कर्म)—श्रौत अग्नि पर सायं प्रातः जो हवन किया जाता है, उसे अग्निहोत्र-हवन कहते हैं। इसका प्रारम्भ सायङ्काल से होता है। तब प्रातःकाल हवन किया जाता है। सायङ्काल और प्रातःकाल दोनों समय का मिलकर एक कृत्य होता है। यह कृत्य अग्निहोत्री के लिए यावज्जीवन कर्तव्य रूप में विहित है। दोनों समय के हवन का हविर्द्रव्य एक ही होना चाहिए। दोनों समय का हवन कर्ता भी एक ही होना चाहिए। अग्निहोत्रं च तूष्णी श्रुतेः। पूर्णाहुत्यन्ते० का० श्रौ०, ४.१०,४।

अग्नीषोमीयपशु (हवि)—अग्निष्टोमयाग में अग्नीषोमीया के दिन जिस पशु का आलभन होता है वह अग्नीषोमीयपशु है। निदधाति शालाद्वार्यमपरेण, का० श्रौ० ८.९.१०

अग्न्यन्वाधान (क्रिया)—षट् समिदाधानरूप कर्म अग्न्युद्धरणम्। गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि में समन्त्रक प्रादेशमात्र समित् का हवन करना अग्न्यन्वाधान है। अग्न्यन्वाधानमध्वर्युर्यजमानो वा०, का० श्रौ० २.१.२।

अग्न्याधान--अग्नि के परिग्रह को अग्न्याधान कहते हैं। स्वर्ग की कामना हो तो विधिपूर्वक अग्नि परिग्रह करना चाहिए। बौ० श्रौ० २.१।

अग्न्युद्धरण (क्रिया)—आहवनीयदक्षिणाग्न्योः प्रणयनार्थं गार्हपत्यादग्नेः पृथक्करणमग्न्युद्धरणम्। हवन करने के लिए गार्हपत्य संज्ञक अग्नि में से आहवनीय, दक्षिणाग्नि में अग्नि रखना अग्न्युद्धरण है। गार्हपत्यादाहवनीयस्योद्धरणम्। दे० प० पृ० २४।

अङ्ग (द्रव्य)—याग के निमित्त पशु के शरीर में से निकाले हुए अङ्ग श्रौत में अङ्गबोधक हैं। देखें प्रकृत ग्रन्थ का अग्निष्टोमयाग। अङ्गान्यवद्यत्यभञ्जन्, का० श्रौ०, ६.७.५।

अङ्गिरसामयनसत्र (कर्म)—यह संवत्सर सत्र है। इसका अनुष्ठान एक वर्ष में पूर्ण होता है। स्वर्ग प्राप्ति इसका फल है। स्वर्गस्य लोकस्याक्रान्त्यै०, ता० ब्रा०, २५.२.२।

अङ्गुल (परिमाण)—परस्पर संलग्न चौदह अणु या चौंतिस तिल की चौड़ा एक अङ्गुल के बराबर होती हैं। उसे अङ्गुल कहते हैं। अथाङ्गुलप्रमाणं चतुर्दशाणवः। चतुस्त्रिंशत्तिलाः पृथुसंश्लिष्टा इत्यपरम्, बौ० शु० अ० १.३-४।

अच्छावाक (व्यक्ति)—यह सोमयाग में होतृगण का तृतीय ऋत्विज है। इसे होता की अपेक्षा तृतीयांश दक्षिणा मिलती है। इस ऋत्विज का कार्य ऋग्वेद के अनुसार विहित है। षोडशर्त्विजः० अच्छावाक०, का० श्रौ०, ७.१.७।

अच्छावाकधिष्ण्या (स्थान)—अग्निष्टोम प्रभृति यागों के देवयजन में अच्छावाकधिष्ण्या का निर्माण होता है। इस धिष्ण्या से पश्चिम में अच्छावाक ऋत्विज का आसन होता है। देखें अग्निष्टोम याग विहार।

अजस्रपक्ष (क्रिया)—गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय इन अग्नि को सतत सुरक्षित रखना अजस्र पक्ष है। जिसकी श्री नष्ट हो चुकी हो वह इस पक्ष का परिग्रह करता है। इसके विकल्प में उद्धरण पक्ष देखें। प्रदीप्ततमे श्रीयशस्कामस्य, का० श्रौ० ४.१५.१७।

अञ्जन (कर्म)—अग्निष्टोम आदि याग के दीक्षा प्रसङ्ग में यजमान और यजमान पत्नी की आँखों में सुरमा लगाना दीक्षाञ्जन है। स दक्षिणमेवाग्र आनक्ति, श० ब्रा०, ३.१.३.१४।

अतिग्राह्यपात्र (पात्र)—सोमाभिषव के समय पात्रासादन के प्रसङ्ग में दक्षिणशकट के पास आग्नेयपात्र, उसके पश्चिम में ऐन्द्रपात्र और उसके पश्चिम में सौर्यपात्र रखा जाता है। इन तीनों पात्रों की अतिग्राह्य संज्ञा है। अतिग्राह्यवद्धोमः, का० श्रौ० १४.२.२।

अतिप्रणीत (देवता)—अग्निष्टोम प्रभृति यागों में आहवनीय से लेकर उत्तरवेदि पर स्थापित अग्नि का नाम अतिप्रणीत है। इस अतिप्रणीत अग्नि से दक्षिण की ओर ब्रह्मा और यजमान का आसन रहता है। ब्रह्मयजमानौ अतिप्रणीतस्य दणिक्षत उपविशतः, दे० प० पृ० ३७५।

अतिरात्रयाग (कर्म)—सोम याग की छठी संस्था को अतिरात्र याग कहते हैं। इसमें स्तोत्र और शस्त्र की संख्या ऊनतीस होती है। वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्यामः, का० श्रौ०, १०.९.२७।

अत्यग्निष्टोमयाग (कर्म)—सोमयाग की द्वितीय संस्था को अत्यग्निष्टोम याग कहते हैं। इसमें ग्रह, स्तोत्र और शस्त्र की संख्या तेरह है। षडुत्तरेऽत्यग्निष्टोमः, का० श्रौ०, १०.९.२७।

अत्याक्रमण (क्रिया)—होता द्वारा 'घृतवती०' हौ० प० १.४ मन्त्र पढ़ने पर अध्वर्यु जुहू और उपभृत् संज्ञक स्रुची को लेकर, वेदि के उत्तर से (जुहोतिस्थान से) वेदि के दक्षिण में (यजति स्थान पर) जाता है। जाते हुए वह बायें पैर को आगे रखते हुए वेदि को लांघता है। लौटते समय दाहिना पैर आगे रख कर यजति स्थान से जुहोति स्थान पर लौटता है। इस कृत्य को अत्याक्रमण कहते हैं। इस कृत्य में वेदि में पैर नहीं रखना चाहिए। सव्येनेतो दक्षिणेनामुतः०, का० श्रौ०, ३.१.१८।

अदाभ्यपात्र (पात्र)—अग्निष्टोम आदि यागों में यह सोमरस रखने के लिए गूलर की लकड़ी का एक पात्र है। खरोत्तरपूर्वार्द्धे उपांश्वन्तर्यामियोः, का० श्रौ०, ९.२.२।

अधरारणि (पात्र)—अरणि से अग्नि प्रकट करने के लिए जिस काष्ठ पर मन्थ रखकर अग्नि-मन्थन किया जाता है, वह अधरारणि है। यह शमीगर्भ अश्वत्थकाष्ठ की होती है। यह चौबीस अङ्गुल लम्बी, छ अङ्गुल चौड़ी और चार अङ्गुल ऊँची बनायी जाती है। अधरारणिमुत्तराग्रां निधाय० दे० प० पृ० १०४।

अधिकश्रीकामेष्टि (कर्म)—अधिक श्री मिलने की अभिलाषा से इस इष्टि का अनुष्ठान विहित है। ऐन्द्रमेकादशकपालं निरवपत्, तै० सं० २.२.८।

अधिकारी (व्यक्ति)—श्रौतयाग करने का अधिकार उसी व्यक्ति को मिल सकता है, जिसने विधि के अनुसार श्रौताग्नि का परिग्रह किया हो। दर्शपौर्णमासाभ्यामिष्ट्वान्येन यजेत। का० श्रौ० ७.१.१।

अधिवपन (क्रिया)—पुरोडाश बनाने के उपयोगी जव या व्रीहि हविर्द्रव्य को पीसने के लिए सिल पर रखना अधिवपन है। धान्यमसीतितण्डुलानोप्य, का० श्रौ० २.५.६।

अधिश्रयण (क्रिया)—आज्य, पय, पुरोडाश, जल और पयस्या प्रभृति यागोपयोगी वस्तु को तपाने या पकाने के लिए अग्नि पर रखना अधिश्रयण है। आज्यमधिश्रयत्यन्यः। का० श्रौ० २.५.१७।

अध्यर्धकारम् (स्थिति)—अध्वर्यु द्वारा प्रैष करने पर होता संज्ञक ऋत्विज सामिधेनी संज्ञक ऋचाएँ पढता है, एक-एक ऋचा को पढ़कर प्रणवोच्चारण करता है। तदनन्तर अगली ऋचा का आधा भाग पढ़कर वह विराम लेता है। यह विराम अध्यर्धकार है। इत्यर्धाकारमनूच्य० ६. ७. १०।

अध्रिगुप्रैष (मन्त्र)—अग्निष्टोम प्रभृति यागों में दैव्याः शमितार० इत्यादि मन्त्र के पाठ का नाम अध्रिगु प्रैष है। श्रौतसूत्र का यह अंश दर्शनीय है। अग्निष्टोम याग में इसे देखें। शां० श्रौ० ५.१६.१–१०।

अध्वर्यु (व्यक्ति)—यह श्रौतयाग का प्रमुख ऋत्विज है। यह अपना कार्य यजुर्वेद और तदनुसारी श्रौतसूत्र के अनुसार करता है। याग का प्रारम्भ और समाप्ति इसी ऋत्विज के द्वारा होती है। इसका क्रियाकलाप अत्यन्त जटिल है। अध्वर्युः-अध्वरस्य नेता०, आप० श्रौ० धू० भा० १. २. ११।

अनीकवतीष्टि (कर्म)—चातुर्मास्य याग के साकमेधपर्व में इस इष्टि का अनुष्ठान होता है। इसके अनुष्ठान का समय प्रातः काल है। अग्निरनीकवान् इस इष्टि के प्रधान देवता है। अग्नयेऽनीकवते पुरोडाशः, का० श्रौ० ५. ६. २।

अनुमतीष्टि (कर्म)—राजसूययाग में आठ कपाल पर पुरोडाश पका करके यह इष्टि की जाती है। अनुमत्यै हविरष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपति। श० ब्रा०, ५. २. २. २।

अनुयाज (कर्म)—प्रधानयाग के अनन्तर जो आज्य की आहुतियाँ होती हैं, वह अनुयाज है। विभिन्न भागों में उनकी संख्या तीन, नव और ग्यारह है। अनुयाजैस्त्रिभिश्चरति, का० श्रौ० ३. ५. ५।

अनूबन्ध्या (कर्म)—जिस याग में गौ का आलभन होता है, उसे अनूबन्ध्या याग कहते हैं। कलि में इसका आलभन निषिद्ध होने के कारण तत्स्थानीय अजा का आलभन होता है। एकविंशतिरनूबन्ध्याः, का० श्रौ०, २०. ८. २३।

अन्तःपात्य (स्थान)—अग्निष्टोम प्रभृति यागों में प्रकृतिशाला से पूर्व और महावेदि के मध्य का तीन अरत्नि का स्थान अन्तःपात्य है। शङ्कुं निहन्ति सोऽन्तःपात्यः, का० श्रौ०, ८.३.७।

अन्तर्धानकट (पात्र)—यह बारह अङ्गुल लम्बा, छ अङ्गुल चौड़ा और अर्धचन्द्राकार एक यज्ञपात्र है। जिस समय अध्वर्यु गार्हपत्य के अग्नि पर पत्नीसंयाज करता है, उस समय देवपत्नियों का आवाहन होता है। लज्जा स्त्रियों का सहज धर्म है। साथ ही स्त्रियाँ पुरुषों के सम्मुख भोजन करना पसन्द नहीं करतीं। संभवतः इसी लिए इस पात्र को बीच में रखकर उपर्युक्त कार्य का निर्वाह किया जाता है। अन्तर्धानकटस्त्वर्धचन्द्राकारो द्वादशाङ्गुलः, दे० प० पृ० ७।

अन्त्येष्टि (कर्म)—आहिताग्नि अथवा आहिताग्नि-पत्नी जिसकी भी प्रथम मृत्यु हो उस समय श्मशान पर जो इष्टि की जाती है, वह अन्त्येष्टि है। यह दाह संस्कार श्रौताग्नि से करना विहित है। तदनन्तर अग्निहोत्र की समाप्ति हो जाती है। अथ तस्यैव शरीरस्याहुतित्वमुच्यते, श० ब्रा० हृ० भा० १२.२.८. १५।

अन्वाचमन (क्रिया)—दर्शपौर्णमास प्रभृति याग में ब्रह्मा द्वारा प्राशित्र संज्ञक हविर्भाग के भक्षण के अनन्तर समन्त्रक आचमन करना अन्वाचमन है। आचम्य, दे० प० पृ० ५९।

अन्वाधान — अग्निहोत्री के द्वारा पक्ष के अन्त में किये जाने वाले कृत्य को अग्न्यन्वाधान कहते हैं। पक्षान्तं कर्माग्न्यन्वाधानम् दे० प० पृ० ७३।

अन्वारम्भणीयेष्टि (कर्म)—यह एक इष्टि है। पौर्णमासयाग से पूर्व इसका अनुष्ठान विहित है। दर्शपूर्णमासारम्भे०, का० श्रौ० ४.५.२१।

अन्वाहार्य (द्रव्य)—चार ऋत्विजों को पेटभर खाने लायक पकाया हुआ ओदन अन्वाहार्य है। यह दर्शपौर्णमास याग में ऋत्विजों को दी जाने वाली दक्षिणा है। अन्वाहार्यं दक्षिणाग्नावधिश्रयति, का० श्रौ० २.५.२७।

अन्वाहार्यदान (क्रिया)—यागस्य दोषं अन्वाहरतीत्यन्वाहार्यम्। वेदि में रक्खे हुए अन्वाहार्य का प्रत्येक ऋत्विज को यजमान द्वारा अर्पण करना अन्वाहार्य दान है। समविभागेनाहं-सम्प्रददे, दे० प० पृ० ६२।

अन्वाहार्य पचन (क्रिया)—अन्वाहार्यः पच्यते यत्र० इस व्युत्पत्ति के अनुसार अन्वाहार्य संज्ञक ओदन का पाक दक्षिणाग्नि पर होता है। एतदर्थ दक्षिणाग्नि को अन्वाहार्य पचन भी कहते हैं। अन्वाहार्यं दक्षिणाग्नावधिश्रयति, का० श्रौ० २.५. २७।

अन्वाहार्यप्रतिग्रह (क्रिया)—दर्शपौर्णमास प्रभृति यागों में यजमान द्वारा अर्पित अन्वाहार्य का ऋत्विजों द्वारा ग्रहण करना अन्वाहार्य प्रतिग्रह है। द्यौस्त्वाददात्विति सर्वेषां प्रतिग्रहमन्त्रः दे० प० पृ० ६२

अन्वाहार्यस्थाली (पात्र)—ताम्र के जिस पात्र में अन्वाहार्य (ओदन) पकाया जाता है, वह अन्वाहार्य स्थाली है। दक्षिणार्थश्च, दे० प० पृ० ३०।

अन्वाहार्याभिघार (क्रिया)—दक्षिणाग्नि में पकाये हुए अन्वाहार्य संज्ञक ओदन में स्रुवा से आज्य छोड़ना अन्वाहार्याभिघार है। अन्वाहार्यमभिघार्य, का० श्रौ० ३.४.२७।

अन्वाहार्यालभन (क्रिया)—अन्वाहार्य संज्ञक ओदन को वेदि में रखकर यजमान और अध्वर्यु द्वारा विहित मन्त्रोच्चार तथा मन्त्रार्थ का अनुसन्धान करते हुए अन्वाहार्य ओदन का स्पर्श करना अन्वाहार्यालभन है। आलभते, दे० प० पृ० ६२।

अन्वाहार्यविक्षण (क्रिया)—वेदि में रखे हुए अन्वाहार्य का यजमान द्वारा देखना अन्वाहार्यावेक्षण है। इसका उद्देश्य यह है कि ऋत्विजों को दक्षिणा रूप में दिये जाने वाले उस ओदन में कोई त्याज्य वस्तु तो नहीं है। अन्वाहार्यमवेक्षेत, आ० श्रौ० १.१. १३। अन्तर्वेद्यामासाद्य०, आप० श्रौ० ३.३.१४।

अपगर (मन्त्र)—महाव्रत के अनुष्ठान में पुंश्चलू संज्ञक स्त्री जो ऋत्विजों की निन्दा करती है, उसे अपगर कहते हैं। आक्रोशत्येकः०, का० श्रौ० १३.३.७।

अपघाटिला (वस्तु)—यह एक वाद्य यन्त्र है। महाव्रत के अनुष्ठान में इस वाद्य को मुँह से निर्गत वायु के द्वारा बजाया जाता है। मुखमारुतेन वाद्यमाना वीणा अपघाटिला, ता० ब्रा० सा० भा० ५.६.८।

अपामार्गहवन (कर्म)—अपामार्ग के फल को रगड़कर चावल तैयार करते हैं। उसी चावल की आहुति दी जाती हैं। यह आहुति राजसूययाग में देवयजन से बाहर उत्तर की ओर जाकर दी जाती है। अपामार्गहोमं जुहोति, श० ब्रा०, ५.२.३.१४।

अप्तोर्याम (कर्म)—सोमयाग की सातवीं संस्था का नाम अप्तोर्याम है। इसमें स्तोत्र और शस्त्र की संख्या तेंतीस होती है। वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्यामः, का० श्रौ० २०.९.२७

अभिगर (मन्त्र)—महाव्रत याग के अनुष्ठान में ब्रह्मचारी जो स्तुति करता है, उसे अभिगर कहते हैं। प्रशंसत्यपरः, का० श्रौ० १३.३.७।

अभिचार (कर्म)—आहिताग्नि अपने शत्रु के अनिष्ट के लिए जो अनुष्ठान करता है वह अभिचार है। अमुष्येतिदिषच्छब्देऽभिचरन्, का० श्रौ० २.४.२७।

अभिप्लवः षडह (कर्म)—प्रथम और अन्तिम अग्निष्टोमसंस्थ और मध्य के चार उक्थ्यसंस्थ सोमयाग को अभिप्लवषडह कहते हैं। अभिप्लवः षडहोऽग्निष्टोमौ प्रथमान्त्या उक्थ्या इतरे, का० श्रौ०, १३.२.१।

अभिमन्त्रण (क्रिया)—श्रौत सम्बन्धी विहित मन्त्र का पाठ करते हुए किसी वस्तु को देखना अभिमन्त्रण है। पात्र्यामोप्याभिमन्त्रयते का० श्रौ० २.४.२१।

तथा चोक्तं कात्यायनेन ३.१.१९,

स्पृशंस्त्वनामिकाग्रेण क्वचिद्विलोकयन्नपि।
अनुमन्त्रणीयं सर्वत्र सदैवमनुमन्त्रयेदिति॥

दे० प० पृ० ३५,

अभिमर्शन (क्रिया)—पुरोडाश के ऊपरी भाग को अच्छी तरह परिपक्व करने के लिए पुरोडाश पर जल लगाना अभिमर्शन है। यह कार्य अध्वर्यु करता है। अग्निष्ट० इत्यद्भिरभिमृशति, का० श्रौ०, २.५.२१।

अभिवासन (क्रिया)—गार्हपत्य में कपाल पर रक्खे हुए पुरोडाश को अच्छी तरह परिपक्व होने के लिए भस्म से ढंकना अभिवासन है। यह अध्वर्यु का कार्य है। शृतावभिवासयति भस्मना०, का० श्रौ०, २.५.२५।

अभिशापनिवृत्तोष्टि (कर्म)—अभिशाप दूर होने के लिए इसका अनुष्ठान विहित है। दधिक्रावणे चरुम्०, तै० सं० २.२.५ ।

अभिषेचनीय सोमयाग (कर्म)—यह द्वन्द्वसोम का एक सोमयाग है। इसके अनन्तर दशपेय सोमयाग होता है। राजसूययाग में इन दोनों के निमित्त युगपत् सङ्कल्प होता है। अभिषेचनीयदशपेययोर्दक्षिणोत्तरे देवयजने, का० श्रौ०, १५.३.३३ ।

अभिहिङ्कार (क्रिया)—होता सामिधेनी ऋचा को पढ़ने से पूर्व तीन बार जो प्रणवान्त व्याहृति पढ़ता है उसे अभिहिङ्कार कहते हैं। एषोऽभिहिङ्कारः०, आ० श्रौ० १.२.१ ।

अभ्यञ्जन (क्रिया)—गार्हपत्य खर से उत्तर की ओर भूमि पर रक्खी हुई पुरोडाशपात्री पर पुरोडाश रखकर उसपर आज्य लगाना अभ्यञ्जन है। निधायानक्ति०, का० श्रौ०, २.८.१४ ।

अभ्यास (क्रिया)—होता द्वारा सामिधेनी की ऋचाओं के बार-बार पढ़ने को अभ्यास कहते हैं। यह सामिधेनी की ऋचाओं की पुनरावृत्ति के अर्थ में रूढ है। ताः पञ्चदशाभ्यस्ताभिः, आ० श्रौ०, १.३. ।

अभ्यूहन (क्रिया)—पकाने के लिए रखे हुए पुरोडाश को अङ्गार और भस्म से ढंकना अभ्यूहन कहा जाता है। अभ्यूहनं भस्मनाङ्गारैश्चोपर्याच्छादनम्, दे० प०, पृ० ९१ ।

अभ्रि (पात्र)—यह एक अरत्नि लम्बा, तीक्ष्णमुख, नुकीले डण्डे के आकार का पात्र है। वेदि के खनन करने में इसका उपयोग है। अभ्रिररत्निमात्रस्तीक्ष्णमुखः, दे० प०, पृ० ७ ।

अम्बरीष (स्थान)—अम्बते शब्दायते इत्यम्बरीषः। भाड को अम्बरीष कहते हैं। अग्न्याधान के समय भाड से भी लाकर खर पर अग्निस्थापन किया जा सकता है। वैश्यकुलाम्बरीषमहानसाद्वा, का० श्रौ० ४.७.१५ ।

अरणि (पात्र)—आहिताग्नि जिससे श्रौताग्नि को प्रकट करता है, उसे अरणि कहते हैं। यह चौबीस अङ्गुल लम्बी, छ अङ्गुल चौड़ी और चार अङ्गुल ऊँची बनानी चाहिए। इस अरणी के अधरारणी, उत्तरारणी, ओविली और नेत्र ये चार अङ्ग हैं। चतुर्विंशाङ्गुला दीर्घा०, य० पा० श्लो० २६ ।

अर्घ्य (व्यक्ति)—पूजनीय व्यक्ति अर्घ्य कहे जाते है। संख्या में ये छ हैं। आचार्य, ऋत्विज, श्वशुर, राजा (सोम), स्नातक और प्रिय। इन्हीं का मधुपर्क से अर्चन होता है। षडर्घ्या भवन्ति, शां० श्रौ०, ४.२१.१ ।

अवदान (हवि)—याग के निमित्त स्रुची में पुरोडाश का जो भाग लेते हैं, वह अवदान है। यह भाग अङ्गुष्ठपर्वप्रमाण होना चाहिए। अङ्गुष्ठपर्वमात्रमवदानम्, दे० प०, पृ० ५८ ।

अवनेजन (क्रिया)—पिण्डपितृयज्ञ में पिण्डदान से पूर्व भूमि पर तीन रेखा की जाती हैं। उन्हीं रेखाओं पर पिण्डदान से पूर्व जल छोड़ना अवनेजन है। असाववनेनिक्ष्व०, का०, श्रौ०. ४.१.१०।

अवभृथयाग (कर्म)—अव बिभर्तीत्यवभृथः। प्रत्येक याग के अन्त में जलाशय पर जाकर वरुण देवता के प्रीत्यर्थ जो याग होता है उसे अवभृथ याग कहते हैं। इसके प्रधान देवता वरुण हैं। आह्वतमादायावभृथं गच्छन्ति, का० श्रौ० १०.८.२१।

अवस्थान (स्थिति)—प्रारम्भ में जहाँ आहवनीय अग्नि अवस्थित है, उससे पूर्वोत्तर अर्थात् ऐशान्य दिशा में होता को प्रारम्भ में खड़े होना चाहिए। इस स्थिति को अवस्थान कहते हैं। प्रागुदगाहवनीयादवस्थाय०, आ० श्रौ०, १.१.१।

अवान्तरदीक्षा (क्रिया)—अग्निष्टोम आदि याग की दीक्षा प्रसङ्ग में यजमान और यजमान-पत्नी के हाथ बाँधे जाते हैं। उन्हीं बन्धे हुए हाथों को और मेखला को अधिक जोर से कस देना अवान्तर दीक्षा है। गाढतरं मुष्टिमेखलं कुरुते, का० श्रौ०, ८.२.४।

अवान्तरेडा (हवि)—प्रधान याग हो चुकने पर अध्वर्यु इडापात्री में पुरोडाश का शेष भाग रख कर होता को भाग सहित इडापात्री देता है। पुनः इडापात्री को होता से लेकर उसमें रक्खे हुए पुरोडाश में से थोड़ा-थोड़ा चार बार होता के हाथ में देता है। पाँचवीं बार होता स्वयं अपने हाथ से पुरोडाश पात्री में से थोड़ा पुरोडाश लेता है। यह विधान अवान्तरेडा नाम से प्रसिद्ध है। अवान्तरेडामादधाति, का० श्रौ०, ३.४.७।

अश्वमेध-अश्व (हवि)—यह अश्व सुलक्षणों से युक्त विशेष गुण वाला होना चाहिए। एक सौ गौ के बराबर इस अश्व का मूल्य होना चाहिए। यह अश्व अत्यन्त तीव्रगामी भी होना चाहिए। साहस्रम्०, का० श्रौ० २०.१.३०-३४

अश्वमेधयाग (कर्म)—यह एक अत्यन्त विशिष्ट याग है। राजयज्ञ इसका नामान्तर है। इस याग को सार्वभौम क्षत्रिय राजा ही कर सकता है। यह कुरुक्षेत्र, वाराणसी प्रभृति पुण्यस्थान में किया जाता है। अथाश्वमेधः०, वै० सू० ३६.१४.

अश्वमेधयूप (द्रव्य) अश्वमेध याग में बिल्व, पालाश और खदिर प्रभृति विभिन्न यज्ञकाष्ठों के इक्कीस हाथ लम्बे इक्कीस यूप होते हैं। देवयजन में पूर्व की ओर उदक्संस्थ इनकी स्थिति कही है। एकविंशतियूपाः०, का० श्रौ० २०.४.१६

अश्वरक्षक (व्यक्ति)—अश्वमेधयाग में विजय के निमित्त एक वर्ष के लिए जब अश्व छोड़ा जाता है तो उसकी रक्षा के हेतु चार सौ शूर योद्धा अश्वरक्षक, अश्व की रक्षा निमित्त अश्व के साथ जाते हैं। इन अश्वरक्षकों को विशेष रूप से आदेश विहित है। चतुःशत-संख्याकान् रक्षकानादिशति०, दे० प० पृ० ६४२

अष्टकाश्राद्ध (कर्म)—सात पाक संस्थाओं में से यह तृतीय पाकसंस्था है। स्मार्ताग्नि का परिग्रही हेमन्त और शिशिर आदि ऋतु की अष्टमी को जो श्राद्ध करता है, वह अष्टका-श्राद्ध है। अष्टकास्तिस्रो भवन्ति०, पा० गृ० क० भा, ३. ३.१

असि (पात्र)—छेदन और विदारण कार्य के लिए उपयोगी लोहे के शस्त्र को असि कहते हैं। यह कटार के आकार का शस्त्र है। छिनद्मीतिवोभयोः०, का० श्रौ० ४.२.२

अहीनक्रतु (कर्म)—दो से बारह सुत्या तक के क्रतु को अहीनक्रतु कहते हैं। पौर्णमासीदीक्षा मासापवर्गा अहीनाः, ला० श्रौ०, ९.५.१।

आगू (यन्त्र)—याज्या से पूर्व 'ये ३ यजामहे' यह होता नामक ऋत्विज जो पाठ करता है उसे आगू कहते हैं। आगूर्याज्यादिरनुयाजवर्जम्, आ० श्रौ० १.५.५।

आग्नीध्र (व्यक्ति)—दर्शपौर्णमास याग से ही इस ऋत्विज की आवश्यकता प्रारम्भ हो जाती है। सोमयाग में ब्रह्मगण का यह तीसरा ऋत्विज है। इसे ब्रह्मा की अपेक्षा तृतीयांश दक्षिणा मिलती है। षोडशर्त्विजः० अग्नीत्०, का० श्रौ० ७.१.७।

आग्नीध्रीय धिष्ण्या (स्थान)—अग्निष्टोम प्रभृति याग के देवयजन में हविर्धान मण्डप के उत्तर की ओर आग्नीध्रीयाशाला होती है। उस शाला के मध्य में एक खर का निर्माण किया जाता है। वही खर आग्नीध्रीय धिष्ण्या है। अग्निष्टोम याग विहार देखें।

आग्नीध्रीयमण्डप (स्थान)—सोमयाग में हविर्धान मण्डप के उत्तर में पाँच हाथ चतुरस्र, चारों ओर से और ऊपर से आवृत आग्निध्रीयमण्डप बनता है। इसमें दक्षिण और पूर्व में द्वार होते हैं। मध्य में अठारह अङ्गुल की चतुरस्र धिष्ण्या का निर्माण किया जाता है और उसपर अग्निस्थापन होता है। हविर्धानापरान्तमुत्तरेणाग्नीध्रम्, का० श्रौ०, ८.६.१०।

आग्नेयीष्टि (कर्म)—किसी भी प्रकार की कामना हो तो आठ कपाल का पुरोडाश करके आग्नेयीष्टि करनी चाहिए। आग्नेयं प्रतिकाममाहरेत्०, का० श्रौ०, ४.५.१५।

आग्रयणेष्टि (कर्म)—"अग्र अयनं भक्षणं येन कर्मणा तदाग्रयणम्"। नवीन अन्न पकने पर जो इष्टि होती है, वह आग्रयणसंज्ञक है। इस इष्टि के अनुष्ठान के अनन्तर ही आहिताग्नि नवीन अन्न खा सकता है। आग्रयणम्० का० श्रौ०, ४.६.१।

शरद्वसन्तयोः केचिन्नवयज्ञं प्रचक्षते।
धान्यपाकवशादन्ये श्यामाको वनिनः स्मृतः ॥ का० स्मृ० २६.२

आघार (क्रिया)—खर पर प्रज्वलित अग्नि के निश्चित भाग पर स्रुवा से आज्य की आहुति देना आघार है। पूर्वमाघारम्, का० श्रौ०, ३.१.१२।

आज्यग्रहण (क्रिया)—याग के निमित्त अध्वर्यु द्वारा स्रुवा से स्रुची में आज्य ग्रहण करना आज्य ग्रहण है। स्रुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वां० क० प्र०, ३.९.७।

आज्यभाग (द्रव्य)—आज्यं भागो ययोस्तौ अग्नीषोमौ । एतयोर्भागावप्याज्यभागौ । दर्शपौर्णमासयाग में प्रधानयाग से पूर्व आज्य की दो आहुतियाँ दी जाती हैं । पहली आहुति अग्नि के निमित्त आहवनीय के ईशानकोण में, और दूसरी सोम के लिए आग्नेय कोण में दी जाती है । इन आहुतियों के निमित्त स्रुची में लिया हुआ आज्य आज्यभाग नाम से प्रसिद्ध है । आज्यभागाभ्यां चरति०, का० श्रौ० ३.१.१० ।

आज्यस्थाली (पात्र)—देवता के निमित्त हवन अथवा याग करने का आज्य जिस पात्र में रखते हैं उसे आज्यस्थाली कहते हैं ।

आज्यस्थाली च कर्तव्या तैजसद्रव्यसम्भवा ।
माहेयी वापि कर्तव्या सर्वास्वाज्याहुतीषु च ।। का० स्मृ० १५.१० ।

आज्यावेक्षण (क्रिया)—अध्वर्यु की प्रेरणा से वेदि में स्थित आज्य का यजमान द्वारा निरीक्षण करना आज्यावेक्षण है । आज्य में कहीं तृणादि अनपेक्षित वस्तु गिरी हो तो उसे निकाल देना इस क्रिया का उद्देश्य है । आज्यमवेक्षते०, का० श्रौ० २.७.८ ।

आज्येडाप्राशन (क्रिया)—गार्हपत्य के अग्नि पर पत्नीसंयाज की आज्याहुति हो चुकने पर इडापात्री में आज्य लेकर होता को देना और मन्त्रपाठ हो चुकने पर ऋत्विजोंद्वारा उसका भक्षण करना आज्येडाप्राशन है । इडां भक्षयित्वा०, दे० प०, पृ० ६८ ।

आज्येडामार्जन (क्रिया)—पत्नीसंयाज के बाद ऋत्विज लोग आज्येडा प्राशन करते हैं । अनन्तर दो दर्भों को पानी में डुबोकर समन्त्रक अपने शरीर पर जल छिड़कते हैं । यह आज्येडाप्राशन के बाद में होने से इसे आज्येडामार्जन कहते हैं । शरीर की शुद्धि होना इस क्रिया का उद्देश्य है । दर्भैरुदकमादाय मार्जयन्ते०, दे० प०, पृ० ६८ ।

आतञ्चन (द्रव्य)—दहि जमाने के लिए दूध में जो दहि (जामन) छोड़ा जाता है वह आतञ्चन है । "उद्वास्यातनक्ति०, का० श्रौ०, ४.२.३३ ।

आदित्यानामयनसत्र (कर्म)—यह संवत्सरसत्र है । इसका अनुष्ठान एक वर्ष में समाप्त होता है । स्वर्गप्राप्ति इसका फल है । स्वर्गकामा उपेयुः, दे० प०, पृ० ८०८ ।

आदित्येष्टि (कर्म)—दर्शयाग के अन्तर वैकल्पिक रूप से इस इष्टि को करने का विधान है । आदित्यश्चरुरमावास्यायाम्०, का० श्रौ०, ४.५.२५ ।

आधवनीय (पात्र)—यह चौड़े मुँह का मिट्टी का एक पात्र है । यह सोमयाग में उत्तरशकट पर रखा रहता है । इसकी आवश्यकता सोमाभिषव के समय में होती है । परेणाधवनीयम्, का० श्रौ०, ९.२.२१ ।

आधानसङ्कल्प (क्रिया)—श्रौताग्नि परिग्रह के निमित्त पूर्वाभिमुख यजमान बैठे और यजमान के दक्षिण में पत्नी बैठे । यजमान से उत्तर में ऋत्विज बैठते हैं । देशकाल का उच्चारण कर यजमान को श्रौताग्नि परिग्रह का सङ्कल्प करना विहित है । इसी सङ्कल्प को आधान सङ्कल्प कहते हैं । श्रौताग्नीनहमाधास्ये, दे०प०, पृ० ९८ ।

आध्वर्यव (क्रिया)—याग के निमित्त अध्वर्यु द्वारा जो कृत्य विहित है उसे आध्वर्यव कहते हैं। यह याजुष कृत्य है। यजुषाध्वर्युकर्मेति श्रुतौ कल्पे च कीर्तितम्। गो.ब्रा.

आनयत (द्रव्य)—सुरा निर्माणार्थं गुड आदि द्रव्य को आनयत कहते हैं। आनयतेन गुडादि-द्रव्येण० दे०प०, पृ० ६१३।

आमन्त्रण (क्रिया)—ऋत्विज का नाम लेकर सम्बोधन के साथ 'एहि' जोडकर किसी को बुलाना आमन्त्रण है। एहि होतरिति होतुरामन्त्रणं करोति०, दे० प०, पृ० ४४।

आमिक्षा (हवि)—खौलते हुए दूध में दहि छोड़कर दूध को फाड़ लेते हैं। उसे छानने पर जो घनीभूत पदार्थ प्राप्त होता है वह आमिक्षा है। तस्या आमिक्षा०, का० श्रौ०, ७.८.८।

आयुष्कामेष्टि (कर्म)—आयुष्य की प्राप्ति के हेतु इस इष्टि का अनुष्ठान विहित है। अग्नय आयुष्मते०, तै० सं० २.२.३।

आयोगव—शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न व्यक्ति आयोगव है। शूद्राद्वैश्यायां जात आयोगवः। दे०प० पृ० ६४१।

आर्द्रीकरण (क्रिया)—पुरोडाश के पक जाने पर स्रुवा से उस पर आज्य छोड़ना आर्द्रीकरण है। अभिघार इसका नामान्तर है। पुरोडाशयोरभिघारः, दे०प० पृ० ४२।

आवसथ्य (देवता)—अग्निहोत्री की यज्ञशाला में पाँच अग्नि रहते हैं। उनमें से स्मार्त्त अग्नि को आवसथ्य कहते हैं। आवसथ्याधानं दारकाले, पा०गृ० १.२.१।

आवाप (क्रिया)—पिष्टपात्री पर उदगग्र पवित्र रखने के बाद कृष्णाजिन पर निहित पिष्ट को हाथ में लेकर पिष्टपात्री में छोड़ना आवाप है। पात्र्यांऽपवित्रायां पिष्टान्यावपति, का० श्रौ०, २.५.१०।

आश्रावण (मन्त्र)—याग से पूर्व अध्वर्यु द्वारा 'ओ ३ श्रा ३ वय' मन्त्र का जो पाठ होता है वह आश्रावण है। अतिक्रम्याश्राव्याह०, का० श्रौ० ३.२.१७।

आश्विनपात्र (पात्र)—इस नाम का सोमयाग में सोमरस रखने का एक पात्र है। इस पात्र में दो कोने रहते हैं। औष्ठमाश्विनम्, का०श्रौ०, ९.२.७।

आसन्दी (पात्र)—औदुम्बर काष्ठ की, चार पाये की, मूंज की डोरी से बीनी हुई खटौली को आसन्दी कहते हैं। अग्निचयनयाग में इस पर उखा रखते हैं। अग्निष्टोमयाग में नाभि के बराबर ऊँची घर्मपात्र रखने के लिए घर्मासन्दी होती है। सौत्रामणी याग में जानु बराबर ऊँची आसन्दी पर यजमान को बैठाकर अभिषेक किया जाता है वाजपेय याग में आसन्दी पर बैठाकर यजमान का अभिषेक किया जाता है। इस पर बैठकर अभिषेक होता है अतः यह अभिषेकासन्दी है। आसन्द्यां० निदधाति०, का० श्रौ०, १६.५.५।

आहनन (क्रिया)—दर्शपौर्णमास आदि यागों में आग्नीध्र के द्वारा हाथ में शम्या लेकर उस शम्या से सिल और लोढ़े पर ठोकना आहनन है। आहन्त्यन्यः, का० श्रौ० २.४.१५।

आहवनीय (देवता)—आहूयन्तेऽस्मिन्नाहुतय इत्याहवनीयः। दर्शपौर्णमास की यज्ञशाला में आहवनीय नामक खर (कुण्ड) होता है। यह यज्ञशाला में पूर्व की ओर होता है। याग के समय इसी में देवता निमित्तक आहुतियाँ दी जाती हैं। यह चौबीस अङ्गुल का समचतुरस्र होता है। इसके चारों ओर बारह अङ्गुल ऊँची और चार अङ्गुल चौड़ी एक परिधि बनायी जाती है। सूर्यस्त्वेति जपत्याहवनीयमीक्षमाणः, का० श्रौ०, २.८.४।

आह्वाननिगद (मन्त्र)—देवता के आह्वान वाचक मन्त्र के कह लेने पर जिस गद्य का पाठ होता है, वह आह्वान निगद है। निगदमाह०, शां० श्रौ०, ३.१५.११।

इडा (द्रव्य)—याग हो चुकने पर इडापात्री में जो हुतशेष हवि लिया जाता है वह इडा है। इडां पञ्चावत्ताम्, का० श्रौ०, ३.४.३।

इडापात्री (पात्र)—यह वारणकाष्ठ का यज्ञपात्र है। यह एक अरत्नि लम्बी, छह अङ्गुल चौड़ी, परिधियुक्त, बीच में गहरी और कृशमध्या होती है। अध्वर्यु पुरोडाश और चरु प्रभृति की आहुति के अनन्तर शेष हविर्द्रव्य को इसमें रखकर होता को देता है। इडापात्री० अरत्निमात्र्यौ मध्यसङ्गृहीते। दे०प०पृ० ७।

इडाप्राशन (क्रिया)—होता द्वारा इडोपह्वान संज्ञक मन्त्र पढ़ लेने पर इडापात्री में रखा हुआ पुरोडाश ऋत्विज सहित यजमान द्वारा भक्षण करना इडाप्राशन है। उपहूतां प्राश्नन्ति युक्ताः, का० श्रौ०, ३.४.१९।

इडामार्जन (क्रिया)—ऋत्विज और यजमान द्वारा इडाभक्षण हो चुकने पर पवित्र को प्रणीता के जल में डुबोकर अपने शरीर पर छिड़कना इडामार्जन है। शरीर की पवित्रता होना इस कार्य का उद्देश्य है। पवित्रयोर्मार्जयन्ते०, का० श्रौ०, ३.४.२१।

इडोपह्वान (क्रिया)—इडापात्री में हुतशेष पुरोडाश रखकर होता को दिया जाता है। यजमान सहित सब ऋत्विज उसका स्पर्श करते हैं। उस समय होता जो मन्त्रपाठ करता है, वह इडोपह्वान है। इडोपहूतेति होत्रा पठ्यमाने०, दे०प०, पृ० ६१।

इध्म (द्रव्य)—पलाश की लकड़ी को काट कर इध्मा बनायी जाती है। ये एक हाथ लम्बी होती हैं। प्रकृतियाग में इनकी संख्या पन्द्रह और विकृति याग में सत्रह और इक्कीस होती है। पालाशोऽष्टादशसंख्यारत्निमात्रकाष्ठकः, दे०प०, पृ० ४। का० स्मृ० १९-२०।

इध्मप्रदीपनहवन (कर्म)—यह विधान प्रवर्ग्य में होता है । प्रतिप्रस्थाता आहवनीय को अग्नि में समित् जलाकर पहलीबार मुंह जितनी ऊँची, दूसरी बार नाभि के बराबर और तीसरी बार जानु के बराबर ऊँचाई में समित् को पकड़े रहता है । उस प्रदीप्त अग्नि पर अध्वर्यु द्वारा हवन करना इध्मप्रदीपन हवन है । आहवनीये त्रीञ्छालाकान्०, का० श्रौ०, २६.७.३ ।

इध्मप्रोक्षण (क्रिया)—पवित्र करने के हेतु अध्वर्यु द्वारा प्रोक्षणी का जल इध्मा पर छिड़कना इध्मप्रोक्षण है । इध्मं प्रोक्षति०, का० श्रौ० २.७.१६ ।

इध्मसन्नहन (द्रव्य)—इध्मकाष्ठ को बाँधने के लिए दर्भ को बट कर बनायी गयी डोरी का नाम इध्मसन्नहन हैं । इध्मं प्रोक्षति विस्रंस्य०, का० श्रौ०, २.७.१६ ।

इन्द्रतुरीययाग (कर्म)—इसमें अग्नि, वरुण, रुद्र और इन्द्र देवता के निमित्त याग होता है । इसका अनुष्ठान राजसूययाग में होता है । इन्द्रतुरीयसंज्ञं कर्म भवति०, दे० प० पृ० ४६९ ।

इन्द्रयज्ञ—इसका अनुष्ठान भाद्रपद शुक्ल पूर्णिमा को स्मार्ताग्नि पर विहित है । इन्द्र प्रभृति देवता के लिए इसमें आहुति दी जाती है । पा० गृ० सू० २.१५.१ ।

इन्द्रस्तुद्याग (कर्म)—सर्वमेघयाग के अन्तर्गत इसका अनुष्ठान विहित है । दो आग्नेयपशु सवनीय हैं । इन्द्रस्तुदुक्थ्यसंस्थः०, दे० प०, पृ० ६९१ ।

इन्द्रियकाम्यपशुयाग (कर्म)—इन्द्रिय की कामना हो तो इन्द्रदेवता के निमित्त पशुयाग करना चाहिए । ऐन्द्रमरुणमालभेतेन्द्रियकामः, तै० सं० २.१.६ ।

इष्टका (द्रव्य)—मिट्टी, लोहे का चूर, पत्थर का चूर और पालाश का क्वाथ आदि विहित मात्रा में मिला कर चिति के निर्माण के लिए जो तैयार की जाती हैं, वे इष्टकाएँ हैं। एतदर्थ प्रकृत ग्रन्थ में अग्निचयनयाग देखें । तत्रेष्टकानां प्रमाणम्०, इ० पू० १.२ ।

इष्टि—आहिताग्नि द्वारा दर्श, पूर्णमास को किया जाने वाला याग इष्टि है । इसके सिवाय अन्य इष्टियाँ भी विहित हैं । पौर्णमासेष्टेः समृध्यर्थम्, दे० प०, पृ० ६२ ।

इष्विष्टि (कर्म)—उद्भिद् और बलभिद् याग के मध्य में इषुसंज्ञक इष्टि विहित है इसमें अग्नि, सोम और विष्णु के लिए प्रधानयाग होते हैं । आग्नेयमष्टाकपालम्, दे० प०, पृ० ७५२ ।

उक्थ्ययाग (कर्म)—यह सोमयाग की तीसरी संस्था है । इसमें ग्रह, स्तोत्र और शस्त्र की संख्या पन्द्रह होती है । षडुत्तरेऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः, का० श्रौ०, १०.९.२७ ।

उक्थ्यस्थाली (पात्र)—यह एक मिट्टी का चौड़े मुंह वाला पात्र है । इसमें सोमरस लिया जाता है । उक्थ्यमुपयामगृहीत इति०, का० श्रौ०, ९.६.२० ।

उखा (पात्र)—चिति पर रखने के लिए विहित प्रकार से मिट्टी की बनायी मंजूषा को उखा कहते हैं। जिसमें अङ्गश्रपण होता है वह पात्र भी उखा है। वनीवाहन कर्म में भी उखा अपेक्षित होती है। उसी उखा में अग्नि को रखकर वनीवाहन संज्ञक कर्म में आहिताग्नि प्रवास में अपने साथ ले जाते हैं। अष्टकायामुखां सम्भरति०, श० ब्रा०, ६.२.१.२३।

उखापञ्चक (पात्र)—उखा, असि, स्वरु, द्विगुण द्वियाम लम्बी और त्रिगुण त्रियाम लम्बी इस प्रकार की डोरी, इन पाँच वस्तुओं को सामूहिक रूप में उखापञ्चक कहते हैं। उक्त-पञ्चके०, दे० प०, पृ० २१०।

उच्छिष्टखर (स्थान)—अग्निष्टोम प्रभृति यागों के देवयजन में प्रकृतिशाला के दक्षिणद्वार के निकट १८×१८×१ अं० नाप का एक उच्छिष्टखर बनता है। दक्षिणतोऽनुभित्यु-च्छिष्टखरम्, का० श्रौ० २६.२.३१।

उत्कर (स्थान)—उत्किरति अस्मिन् सतृणं पांसुमित्युकरः। अग्निहोत्र की यज्ञशाला में वेदि के उत्तरीय संग्रह पर उत्कर बनाया जाता है। यह एक छोटा-सा गड्ढा है। वेदि को झाड़कर जहाँ तृणादि फेंका जाता है उसे उत्कर कहते हैं। यही उत्कर सोमयाग में विहार के उत्तर में बनता है। प्रत्येक देवयजन में इसका निर्माण अपेक्षित होता है। बधानेत्युत्करे करोति०, का० श्रौ०, २.६.१२।

उत्तमस्वर (मन्त्र)—शिरोदेश से उद्भूत स्वर उत्तमस्वर है। तृतीयसवन से इसका उपयोग है। तारं तार्तीयसवनं, शीर्षण्यम्, पा० शि०, ८।

उत्तरनाभि—उत्तर वेदि के मध्य में प्रादेशमात्र चतुरस्र मिट्टी का जो चौतरा सा बनाया जाता है वह उत्तरनाभि है। प्रादेशमात्रीं० उत्तरनाभिं चतुस्स्रक्तिं कृत्वा। आप० श्रौ० पृ० १७९।

उत्तर परिग्रह (क्रिया)—वेदि निर्माण के निमित्त किये जाने वाले पूर्वपरिग्रह के समान दूसरी बार वेदि की भूमि का नापना उत्तर परिग्रह है। उत्तरं परिग्रहं परिगृह्णाति०, का० श्रौ०, २.६.२३।

उत्तरमन्द्रा (वस्तु)—विशिष्ट प्रकार की एक वीणा का नाम उत्तरमन्द्रा है। अश्वमेधयाग में इसे बजाकर गान होता है। गायत्युत्तरमन्द्रायाम्, का० श्रौ० २०.२.७।

उत्तररौहिणकपाल (पात्र)—रौहिण पुरोडाश दो होते हैं। दक्षिण और उत्तर। जिस कपाल पर उत्तरीय पुरोडाश का श्रपण होता है, वह उत्तररौहिणकपाल है। रौहिणकपालानां निष्पादनं करोति०, दे० प०, पृ० २४८।

उत्तरवेदि (स्थान)—चातुर्मास्य याग के वरुणप्रघास पर्व में, पशुबन्ध याग में और अग्निष्टोम प्रभृति यागों में आहवनीय स्थानीय जिस अग्नि पर प्रधान याग किया जाता है उस अग्नि के स्थान को उत्तर वेदि कहते है। चातुर्मास्य याग और पशुबन्ध याग की उत्तर वेदि बत्तीस अङ्गुल की चतुरस्र बनायी जाती है। अग्निष्टोम याग में यूप से पश्चिम में पाँच हाथ चतुरस्र और एक हाथ ऊँची उत्तर वेदि बनायी जाती है। शम्यामात्रीम्। का० श्रौ० ५.३.२९। शम्यामात्रीनिरूढपशुबन्धस्योत्तरवेदिः, आप० श्रौ० ७:३.१३ वेद्यामुत्तरवेदिं दशपदां सोमे करोति। चतुरस्रसाधनोपायेन साधनीया०, का० शु० १.२।

उत्तरवेदिप्रोक्षण (क्रिया)—उत्तरवेदि के संस्कार के निमित्त उसका प्रोक्षण करना उत्तरवेदिप्रोक्षण है। वेदिं प्रोक्षति, का० श्रौ०, ५.४.१०।

उत्तराघार (क्रिया) पूर्वाघार की तरह दूसरी बार आज्य का आघार (आज्याहुति) उत्तराघार है। जुहोत्युत्तराघारम्, का० श्रौ० ३.२.१।

उत्तरारणि—श्रौतयागों में अग्नि प्रकट करने के लिए शमीगर्भ अश्वत्थवृक्ष के काष्ठ की अरणी बनायी जाती है। उत्तराणी और अधराणी इस प्रकार अरणी के दो भाग होते हैं। मन्थ में लगाने के लिए जिसमें से काष्ठ का प्रमन्थ (टुकड़ा) काटकर उपयोग में लेते हैं, वह उत्तरारणि है। उत्तरारणेरीशानदिक्संस्थमष्टाङ्गुलं प्रमन्थं छित्वा, दे० प०, पृ० १०४।

उत्तरीयावरण (क्रिया)—दीक्षा में यजमान और यजमानपत्नी, वस्त्र पहनने के अनन्तर जिस उपवस्त्र को ओढते हैं वह उत्तरीयावरण है। दशायां बध्नीते०, का० श्रौ०, ७.३.२५।

उत्पवन (क्रिया)—दोनों हाथों के अङ्गुष्ठ और अनामिका अङ्गुलियों से उदगग्र पवित्र को पकड़कर पवित्रद्वारा आज्य या जल जैसे तरल पदार्थ में से अनपेक्षित वस्तु को निकालकर बाहर करना उत्पवन है। यह आज्य या जल का संस्कार है। ताभ्यामुत्पुनाति, का० श्रौ० २.३.३२।

उदकोपस्पर्शन (क्रिया)—छेदन, भेदन और खनन करने के बाद और पैतृक, राक्षस, रौद्र और आभिचारिक कर्म के अनन्तर तज्जनित अशुचि को दूर करने के लिए पानी से हाथ धोकर कान पर हाथ से पानी लगाना उदकोपस्पर्शन है। रौद्रं राक्षसमासुरम्०, का० श्रौ०, १.१०.१४।

उदक्प्रवणा (स्थान)—याग की वेदि की भूमि ढालू बनानी चाहिए। यह पूर्व या उत्तर में नीची होती है। यदि पूर्व में नीची हो तो प्राक्प्रवणा और उत्तर में नीची हो तो उदक्प्रवणा कही जाती है। प्राक्प्रवण मुदग्वा, का० श्रौ० ७.१.१३।

उदग्वंश (स्थान)—जिस विहार की छाया के मध्य का बांस उदगग्र हो उसे उदग्वंश विहार कहते हैं। सोमयाग में सदोमण्डप उदग्वंश रहता है। मध्यबल उदग्वंश: कार्य:, दे० प०, पृ० २८८।

उदयनीयेष्टि (कर्म)—अग्निष्टोमयाग में अवभृथयाग के अनन्तर इस इष्टि का अनुष्ठान होता है। उदयनीया प्रायणीयावत्, का० श्रौ० १०.९.११।

उदवसानीयेष्टि (कर्म)—अग्निष्टोमयाग में अनूबन्ध्यायाग के अनन्तर इस इष्टि का अनुष्ठान होता है। इसमें अग्निदेवता के लिए पाँच कपाल का पुरोडाश किया जाता है। उदवसानीयाग्नेय: पञ्चकपाल:०, का० श्रौ०, १०.९.१८।

उद्गाता (व्यक्ति)—यह सोमयाग में उद्गातृगण का प्रथम ऋत्विज है। इसे अपने गण में पूर्ण दक्षिणा मिलती है और यह पूर्णी कहलाता है। यह सामगान के उद्गीथ अंश का गान करता है। षोडशर्त्विज:० उद्गातृ०, का० श्रौ०, ७.१.७।

उद्गातृचमस (पात्र)—उद्गाता संज्ञक ऋत्विज का सोमरस भरने के लिए एक चमसपात्र होता है। इसके दण्ड में त्रिकोण का चिह्न होता है। उद्गातृणां च त्र्यस्रि: स्यात्, दे० प०, पृ० ३०६

उद्धरण (क्रिया)—केवल गार्हपत्य में निरन्तर अग्नि का संरक्षण करना और हवन के समय गार्हपत्य में से आहवनीय और दक्षिणाग्नि में अग्नि रखना उद्धरणपक्ष है। इसके विकल्प में अजस्रपक्ष देखें। उद्धरेति यजमानो ब्रूयात्, का० श्रौ० ४.१३.१।

उद्भिद्याग (कर्म)—वसन्तऋतु में पशु की कामना से इस याग को करने का विधान है। इस याग के अनन्तर बलभिद्संज्ञक याग का अनुष्ठान आवश्यक है। उद्भिद्बलभिदौ चाहृ-रत: संयुक्तौ०, का० श्रौ०, २२,१०.२१।

उद्वपन (क्रिया)—पुरोडाश बनाने के लिए कूटे हुए यव या व्रीहि को साफ करने के निमित्त सूप में रखकर फटकना उद्वपन है। हविरुद्वपति०, का० श्रौ०, २.४.१७।

उद्वासनीय खर (स्थान)—अग्निष्टोमयाग के प्रवर्ग्यविधान के निमित्त प्रकृतिवेदि के आहवनीय के उत्तर की ओर १८ × १८ × १ अङ्गुल का एक उद्वासनीय खर बनाया जाता है। आहवनीया उत्तरेण खरौ निवपति०, का० श्रौ०, २६.२.३०।

उन्नेता (व्यक्ति)—यह सोमयाग में अध्वर्युगण का चतुर्थ ऋत्विज है। इसे अध्वर्यु की अपेक्षा चतुर्थांश दक्षिणा मिलती है और इसे पादी कहते हैं। षोडशर्त्विज:० उन्नेतृ०, का० श्रौ० ७.१.७।

उपभृत् (पात्र)—उप समीपे भ्रियत इत्युपभृत्। यह अश्वत्थ काष्ठ की बनी एक स्रुची है। इसका आकार और नाप जुहू जैसा ही है। याग के समय अध्वर्यु इसे अपने साथ रखता है। जुहू का आज्य समाप्त होने पर शेष आहुति के लिए इसमें से जुहू में आज्य लेकर आहुति दी जाती है। आश्वत्थ्युपभृत्०, का० श्रौ०, १.३.३६।

उपयमनी (पात्र)—यह मिट्टी का एक पात्र है। चातुर्मास्य याग में इन्हीं पात्रों में अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता गार्हपत्य में से अग्नि लेकर क्रमशः उत्तरवेदि और आहवनीय में अग्नि का उद्धरण करते हैं। यथास्वमुद्यम्योपयमनीभिः दे०प०, पृ० १४७।
जुहू के आकार की और जुहू से बड़ी एक सुची को भी उपयमनी कहते हैं। 'उपयमनीं महावीरम्, दे०प०, पृ० २६५।

उपरव (स्थान)—सोमयाग के हविर्धानमण्डप में उपरवसंज्ञक एक गड्ढा बनाया जाता है। इसकी जोडाई करके ऊपर से ढँक दिया जाता है। चारों विदिशा में चार छिद्र होते हैं। इसकी जोड़ाई ऐसी होनी चाहिये कि उपर्युक्त प्रत्येक दो छेदों में दो हाथ छोड़ने पर गर्त के अन्दर दोनों हाथ परस्पर मिल सकें। विशेष विवरण और विधान के लिए प्रकृत ग्रन्थ का अग्निष्टोम प्रकरण देखें। दक्षिणस्यानसोऽधः० खनति०, का० श्रौ० ८.४.२६।

उपरवसंभार (द्रव्य)—उपरवसंज्ञक गर्त्त के बनाने में उपयुक्त अभ्रि, यव, प्रोक्षणी, आज्यस्थाली, स्रुव, लाल बैल का चर्म और शङ्कु प्रभृति सामग्री को उपरवसंभार कहते हैं। अभ्र्यादि करोति०, का० श्रौ९, ८.५.१।

उपल (पात्र)—पुरोडाश बनाने के लिए जव या व्रीहि को पीसने की लोढिया को उपल कहते हैं। तथोपला० य० पा० श्लो० १२४।

उपवेशन (क्रिया)—यज्ञ कार्य के सम्पादनार्थ होता द्वारा समन्त्रक अपने आसन पर बैठना उपवेशन है। उपविश्य०, आ० श्रौ०, १.४।

उपवेष (पात्र)—यह यज्ञकाष्ठ का एक पात्र है। यह एक अरत्नि लम्बा होता है। आगे की ओर इसका आकार हाथ के पंजे का और पीछे डंडा होता है। आहिताग्नि, प्रतिदिन खर के अग्नि को इधर उधर हटाने में इसका उपयोग करता है। उपवेषोऽरत्निमात्रो हस्ताकृतिः०, दे०प०, पृ० ७।

उपसदा (कर्म)—प्रत्येक प्रवर्ग्य में की जाने वाली इष्टि उपसदिष्टि है, इस इष्टि में अग्नि, साम और विष्णु प्रधान देवता हैं। इनके निमित्त हवि आज्य हैं। इस इष्टि में अनुयाज नहीं है। उपसदा चरिष्यन्०, का० श्रौ० २६.२.१।

उपसदाहुति (कर्म)—प्रवर्ग्य के अनुष्ठान में जो आहुति होती है, वह उपसदाहुति है। अन्वहंठं रजःशयाठंहरिशयां च०, का० श्रौ० ८.२.३६।

उपसदिष्टि (कर्म)—सोमयाग में होने वाले प्रवर्ग्य संज्ञक अनुष्ठान में इस इष्टि को करने का विधान है। प्रवर्ग्यापदावतः, का० श्रौ०, ८.२.१४।

उपसर्जनी (पात्र)—ताम्र की जिस बटलोई में याग के उपयोग के लिए जल लिया जाता है वह पात्र और उसमें भरा हुआ जल उपसर्जनी है। उपसर्जनीरधिश्रयति०, का० श्रौ० २.५.१।

उपस्तम्भन (पात्र)—शकट पर सोम को रखकर देवयजन में ले आते हैं। शाला के पूर्व में शकट खड़ा करते हैं। बैल के बोझ को कम करने के हेतु शकट के नीचे ठेस लगाते हैं। शकट को उसी पर रोकते हैं। इस प्रकार शकट को रोकने की उपर्युक्त लकड़ी को उपस्तम्भन कहते हैं। समीपेऽन उपस्थाप्योपस्तम्भनेनोपस्तम्नाति०, का० श्रौ० ७.९.२२।

उपस्थान (क्रिया)—अग्नि के सम्मुख खड़े होकर मन्त्रपाठ करना उपस्थान है। उपतिष्ठते०, का० श्रौ० १३.५.२०।

उपहव (क्रिया)—ऋत्विजों द्वारा किसी प्रकार की प्रार्थनीय अनुमति को उपहव कहते हैं। उपहवोऽनुज्ञा च। नि० प० २।

उपहिति (क्रिया)—पुरोडाश को पकाने के लिए गार्हपत्य के अङ्गारों पर कपाल रखना उपहिति है। उपहिति अङ्गारेषु कपालस्थापनम्। दे० प० पृ० ९१।

उपाकरण (क्रिया)—हाथ में दर्भ अथवा शाखा लेकर यज्ञिय पशु का स्पर्श करना अथवा देवता के निमित्त पशु का सङ्कल्प करना उपाकरण है। उपाकरणं तृणेनोपस्पर्शनम्, का० श्रौ० क० भा० ३.३.२३। उपाकरणं स्पर्शनं शाखया तृणाभ्यां च। आप० श्रौ० भा० ७.७.३।

उपांशु (क्रिया)—मुखप्रयत्नवाननभिव्यक्तशब्द उपांशुः। मुख के भीतर की हुई उच्चारण क्रिया को उपांशु कहते हैं। जहाँ केवल उपांशु कहा हो और चरण शब्द का प्रयोग न किया हो वहाँ केवल देवता-वाचक पद का प्रयोग उपांशु करना चाहिए। शेष मन्त्रादिक का (उच्चैः) जोर से उच्चारण है। विष्णु की पुरोनुवाक्या के मन्त्रों में केवल 'विष्णु' पद उपांशु पढ़ना चाहिए। जैसे :—विष्णवेऽनुब्रू३हि। यहाँ, विष्णवे 'उपांशु और अनुब्रू३हि' जोर से पढ़े। उपांशुप्रयोगः श्रुतेः, का० श्रौ० १.३.१०। विष्णुरुपांशुर्यष्टव्यः, शां० श्रौ० १.८.८।

उपांशुचरण (क्रिया)—जहाँ 'उपांशु चरन्ति' कहा गया हो, वहाँ मन्त्रोच्चारण उपांशुधर्म से कहना चाहिए। पत्नीसंयाज उपांशु चाप्रकाशम्, श० ब्रा०। उपांशु चरन्ति, का० श्रौ० ३.७.५। पूरा कृत्य उपांशुधर्म से होता है। ह० आ० १.७.३.८।

उपोत्थान (क्रिया)—दर्शपूर्णमासयाग में अध्वर्यु द्वारा विहित होतृवरण हो चुकने पर, होता का शेष क्रिया निमित्तक खड़े होना उपोत्थान है। अन्वित्युत्तिष्ठेत्, आ० श्रौ० १.३.३।

उलूखल (पात्र)—हविर्द्रव्य को कूटने के लिए पलाश काष्ठ का यह पात्र है। यह बारह अङ्गुल ऊँचा और मध्य में कृश होता है। पुरोडाश निर्माण के निमित्त जव या व्रीहि इसी पात्र में कूटी जाती है। पालाशः स्यादुलूखलः, दे० प० पृ० ६।

उल्मुक (देवता)—आहवनीय की परिधि के ऊपर आग्नेय और ईशान कोण में दो पात्र रखे रहते हैं। उन्हीं पात्रों में जो अग्नि रखते हैं, वह उल्मुक है। उल्मुके उदूहति०, का० श्रौ० २.७.२६ ।

उल्लेखन (क्रिया)—वेदि-निर्माण के समय वेदि में वज्र से तीन रेखा करना उल्लेखन है। वेद्यां त्रिरुल्लिख्य०, का० श्रौ० २.६.१९ ।

उष्णीषबन्धन (क्रिया)—याग के दीक्षाविधान में यजमान द्वारा सिर में उष्णीष (पगड़ी) बाँधना उष्णीषबन्धन है। शिरःप्रोर्णुते०, का० श्रौ० ७.३.२४ ।

ऊबध्य (स्थान)—शामित्रशाला में ऊबध्य संज्ञक एक गर्त्त होता है। आवश्यकतानुसार इसकी दीर्घता होती है। पशु के अङ्ग निकालने पर शेष अंश इसी में छोड़ते हैं। श्वभ्र ऊबध्य-मवधाय०, का० श्रौ० ६.७.१३ ।

ऋजीष (द्रव्य)—अर्जति सञ्चितो भवति यस्मात् तत् ऋजीषम्। सोम का रस निकालने पर शेष बची हुई सिट्ठी को ऋजीष कहते हैं। यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीषम्। नि० ५.१२ ।

ऋतुपात्र (पात्र)—दोनों ओर हंस के मुख के आकार का, मध्य में गर्त वाला, काष्ठ का एक पात्र है। इसमें सोमरस रखा जाता है। ऋतुपात्रे पूर्वे०, का० श्रौ० ९.२.१३ ।

ऋत्विग्वरण (क्रिया)—अप्रवृत्त व्यक्ति को याग के कार्य के निमित्त नियुक्त करना ऋत्विग्वरण है। यह कार्य यजमान करता है। उदिते सूर्ये ब्रह्मवरणाद्युपक्रमः०, दे० प० पृ० २६ ।

ऋत्विज (व्यक्ति)—श्रौत विद्या को जानने वाला और यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला वैदिक विद्वान् ऋत्विज है। विष्णुस्मृति । अ० २९ ।

ऋत्विज सङ्ख्या (व्यक्ति)—श्रौत विधान को जानने वाला विद्वान् ब्राह्मण ऋत्विज कहा जाता है। इनकी सङ्ख्या यज्ञपरक होती है।

कर्म	संख्या	प्रमाण
अग्निहोत्रहवन	एक	तै० ब्रा० २.३.६ । बौ० श्रौ० २.३.३ ।
पौर्णमासेष्टि	चार	तै० ब्रा० सा० भा० २.३.६ ।
चातुर्मास्ययाग	पाँच	तै० ब्रा० सा० भा० २.३.६ ।
सौत्रामणीयाग	छ	दे० प० पृ० ६१२ ।

सोमयाग तथा उसके बाद के यागों में सोलह ऋत्विज होते हैं। का० श्रौ० ७.१.७ ।

इनके नाम, कार्य और पूरा विवरण उन-उन यागों में देखें।

एकतन्त्र (क्रिया)—एक साथ अनेक कर्म का होना एकतन्त्र है। कर्मणां युगपद्भावस्तन्त्रम्, का० श्रौ० १.७.१।

एकधन (द्रव्य)—यज्ञोपयोगी पानी से भरा हुआ मिट्टी का घड़ा एकधन है। प्रत्यगेकधनान्०, का० श्रौ० ९.२.२२।

एकादशप्रयाज (कर्म)—प्रधान याग से प्रथम होने वाला याग प्रयाज है। निरूढपशुबन्धयाग में ग्यारह प्रयाज होते हैं। यजमान द्वारा उनका त्याग इस प्रकार किया जाता है।

१. समिद्भ्यः	२. तनूनपाते	३. इड्भ्यः
४. बर्हिषे	५. द्वार्भ्यः	६. उषासानक्ताभ्यां
७. दैव्याभ्यां होतृभ्याम्	८. तिसृभ्यो देवीभ्यः	९. त्वष्ट्रे
१०. वनस्पतये	११. स्वाहाकृतिभ्यः। एकादशप्रयाजाः।	

दे० प० पृ० २१५।

एकादशानुयाज (कर्म)—प्रधान याग के बाद में होनेवाले याग अनुयाज हैं। निरूढपशुबन्धयाग में ग्यारह अनुयाज होते हैं। वे इस प्रकार हैं।

१. देवाय बर्हिषे	२. देवीभ्यो द्वार्भ्यः
३. देवीभ्यामुषासानक्ताभ्याम्	४. देवीभ्यां जोष्ट्रीभ्याम्
५. देवीभ्यामूर्जाहुतिभ्याम्	६. देवीभ्यां दैव्याभ्यां होतृभ्याम्
७. देवीभ्यस्तिसृभ्यस्तिसृभ्यो देवीभ्यः	८. देवाय नराशंसाय
९. देवाय वनस्पतये	१०. देवाय बर्हिषे
११. देवायाग्नये स्विष्टकृते	

एकादशानुयाजाः। दे० प० पृ० २२७।

एकादशिनीदेवता (देवता)—जिस भाग में एकादश पशु का विनियोग होता है, उसे एकादशिनी कहते हैं। १ अग्नि, २ सरस्वती, ३ सोम, ४ पूषा, ५ बृहस्पति, ६ विश्वेदेवा, ७ इन्द्र, ८ मरुत्, ९ इन्द्राग्नी, १० सविता और ११ वरुण ये ग्यारह देवता एकादशिनी के हैं। आग्नेयसारस्वत०, का० श्रौ० ८.८.२५।

एकाहक्रतु (कर्म)—इस क्रतु को सुत्या की सङ्ख्या के आधार पर इसे एकाह कहते हैं। इसमें एक या अनेक दीक्षाएँ, तीन या बारह उपसदाएँ और एक सुत्या होती है। एका दीक्षा तिस्रो वा०, दे० प० पृ० ७०५।

ऐकाहिक चातुर्मास्ययाग (कर्म)—जो चातुर्मास्य याग एक दिन में किया जा सके, वह ऐकाहिक चातुर्मास्ययाग है। ऐष्टिकान्येकाहिकानि चातुर्मास्यानि०, दे० प० पृ० १९९।

ऐन्द्रयाग (कर्म)—सौत्रामणीयाग में अङ्गभूत इसका अनुष्ठान विहित है। ऐन्द्रः पशुः कर्तव्यः०, दे० प० पृ० ६१२।

ऐन्द्रवायव (पात्र)—इस पात्र के मध्य में डोरी का आकार होता है। इसे परिशिष्ट में देखें। रास्नावमैन्द्रवायवम्०, का० श्रौ० ९.२.५।

ओविली (पात्र)—अग्निमन्थन करते समय अधरारणी पर मन्था रखकर जिस काष्ठ से मन्था को दबाते हैं, उसे ओविली कहते हैं। यह बारह अङ्गुल लम्बी होती है। ओविली-द्वादशाङ्गुल्या। य० पा० श्लो० ४१।

औदुम्बरी (द्रव्य)—अग्निष्टोम याग के सदोमण्डप में पृष्ठया के दक्षिण भाग में एक औदुम्बरी-शाखा गाड़ी जाती है। वही स्थान मैत्रावरुण का है। औदुम्बरी मैत्रावरुणस्य। का० श्रौ० ८.६.१८।

औपासनहोम (कर्म)—आवसथ्याग्नि पर नित्य सायङ्काल और प्रातःकाल जो हवन होता है वह औपासनहोम है। उपयमनप्रभृत्यौपासनस्य परिचरणम्। पा० गृ० १.९.१।

कणनिधान (पात्र)—पुरोडाशनिर्माण के लिए परिगृहीत हविर्द्रव्य का संस्कार होता है। उस समय हविर्द्रव्य के कुछ कण जिस काष्ठ के पात्र में सुरक्षित रहते हैं वह कणनिधानपात्र है। उस पात्र पर थोड़ा आटा रखना कणनिधान है। शूर्पेण निष्पूय कणान् निदधाति। दे० प० पृ० २५।

कणापासन (क्रिया)—पुरोडाश के निमित्त जव या व्रीहि के संस्कार के समय थोड़ा आटा अलग करके सुरक्षित रखा जाता है। प्रणीताग्निनयन के बाद कृष्णाजिन पर प्रथम कपाल और कपाल पर पहले से सुरक्षित आटा रखकर राक्षसों को भाग दिया जाता है। श्रौत में इसे कणापासन कहते हैं। पुरोडाशकपालेन कणानपास्यति। का० श्रौ० ३.८.७।

कपाल (पात्र)—जिस पर पुरोडाश का पाक होता है, वे कपाल हैं। ये मिट्टी के बने, दो अङ्गुल ऊँचे और अश्वशफ की बराबरी में वृत्ताकार होते हैं। इसी वृत्ताकार में एक से तेरह और १५ तक टुकड़े होते हैं। देवता के अनुसार टुकड़ों की सङ्ख्या होती है। इन्हें गार्हपत्य खर में जमाकर उन्हीं पर पुरोडाश पकाये जाते हैं। उनकी संख्या और देवता इस प्रकार है।

कपालसङ्ख्या (पात्र)—उनकी संख्या और देवता इस प्रकार है।

एककपाल—द्यावापृथिवी—का० श्रौ० ४.६.५।

द्विकपाल—आश्विन—दे० प० पृ० ५०२।

त्रिकपाल—विष्णु—श० ब्रा० ५.२.४.१।

चतुःकपाल—वरुण—बौ० श्रौ० २३.४।

पञ्चकपाल—इन्द्र—मै० सं० २.३.६।

षट्कपाल—पितृसोमवान्—का० श्रौ० ५.८.९।

सप्तकपाल—मरुत्—श० ब्रा० २.४.२.१३। तै० सं० २.४.१०।

अष्टाकपाल—अग्नि—तै०सं० २.४.२.८।

नव कपाल—विष्णु—आ० श्रौ० १०.३०.१२। बौ० श्रौ० ६.१८।

दश कपाल—वरुण—का० श्रौ० २३.२.१८।

एकादश कपाल—ऐन्द्राग्न—तै० सं० २.२.१।

द्वादश कपाल—विश्वेदेवा—का० श्रौ० २३.२.१८।

त्रयोदश कपाल—मरुत्—का० श्रौ० २५.४.३५।

पञ्चदश कपाल—तै० ब्रा० ३.१.६।

यहाँ उदाहरण के रूप में एककपाल और एक देवता प्रदर्शित हैं। वस्तुतः एक सङ्ख्याङ्कित कपाल के अनेक देवता भी होते हैं।

कपालोपधान (क्रिया)—यथाक्रमं कपालानां स्थापनं कपालोपधानम्। निर्दिष्ट क्रम से आग्नीध्र संज्ञक ऋत्विज द्वारा गार्हपत्यखर पर कपाल रखना कपालोपधान है। इन्हीं कपालों पर पुरोडाश का पाक होता है। अग्नोच्च कपालोपधानम् दे० प० पृ० ३६।

करम्भ (हवि)—दही और सत्तू को मिलाकर मथनी से मथा हुआ द्रव्य करम्भ है। करम्भो दधिसक्तवः, इत्यमरः, वै० व० ४८।

करम्भपात्र (हवि)—चातुर्मास्ययाग के वरुणप्रघास पर्व में प्रतिप्रस्थाता करम्भपात्र बनाता है। यह जव के आटे का बनता है। इसकी सङ्ख्या यजमान की सन्तति की संख्या से एक अधिक होनी चाहिए। इसका आकार डमरू-सा होता है। प्रतिप्रस्थातुः करम्भपात्रकरणम्०, दे० प० पृ० १४१।

करणी (व्यक्ति)—वैश्य पुरुष से शूद्रा स्त्री में उत्पन्न करणी कही जाती है। वैश्येन शूद्रायामुत्पादिता करणी। या० स्मृ० मि० ४.९५।

काण्डवीणा (द्रव्य)—महाव्रत के अनुष्ठान में इस वीणा का वादन विहित है। काण्डवीणाश्च। का० श्रौ० १३.३.२१।

कामेष्टि (कर्म)—प्रतिबन्ध रहित कामना की सिद्धि के लिए जो इष्टि की जाती है, वह कामेष्टि है। अग्नये कामाय पुरोडाशम्। बौ० श्रौ० २३.४।

काम्यपशुयाग (कर्म)—किसी कामना से जो पशुयाग किया जाता है वह काम्य पशुयाग है। इसका अनुष्ठान प्रायः निरूढपशुबन्ध के समान होता है। पशुकामः। मै० सं० २.५.२।

कारोतरपात्र (पात्र)—सौत्रामणीयाग में सुरा छानने के लिए बाँस के बने हुए पात्र को कारोतर कहते हैं। कारोतरसंज्ञस्य सुरागलनार्थं वंशमयपात्रस्यावधानम्। दे० प० पृ० ६१९। कारोतरः सुरापावनचालनी। शु० य० म० भा० १९.१६।

काम्येष्टि (कर्म)—किसी कामना की पूर्ति के उद्देश्य से जो इष्टि की जाती है, वह काम्येष्टि है। काम्येष्टि विधास्यन्। श० ब्रा० ह० भा० ११.३.१.१।

कारीरीष्टि (कर्म)—यह इष्टि वृष्टि की कामना में विहित है। कारीर्या वृष्टिकामो यजेत। आप० श्रौ० १९.२५.१६।

किञ्चित् (मान)—आठ मुट्ठी चावल को किञ्चित् कहते हैं। अष्टमुष्टिर्भवेत्किञ्चित्। य० पा० श्लो० २१।

किण्व (द्रव्य)—सुरा निर्माणार्थ, दालचीनी, त्रिफला, सोंठ और पुनर्नवा प्रभृति औषधवर्ग को किण्व कहते हैं। आनयत और नग्नहु इसका पर्याय है। सौत्रामणीयाग में इसका उपयोग होता है। आनयतेन गुडादिद्रव्येण सर्जत्वगाद्यौषधजातस्य किण्वनग्नहुपर्यायस्य क्रयणम्। दे० प० पृ० ६१३।

कुण्डपाय्ययनसत्र (कर्म)—इस सत्र का अनुष्ठान एक वर्ष तक बराबर चालू रहता है। यह समस्त अभिलाषाओं का पूरक है। पशुपुत्रधनस्वर्गादिफलैः समृद्धा भवन्ति। ता० ब्रा० सा० भा० २५.४.३।

कुप (पात्र)—वीवध इसका पर्यायवाची शब्द है। हि० बेंहगी। एक बाँस में दोनों ओर दो सिकहर लटक रहे हों। दही बेचने वाले इसका उपयोग करते हैं। चातुर्मास्ययाग के साकमेधपर्वकी त्र्यम्बकेष्टि में इस कुप के दोनों ओर के सिकहरों में पुरोडाश रखकर वृक्ष पर टाँगते हैं। वेणुनिर्मितभाजनद्वययुक्तो दण्डविशेषो वीवधापरपर्यायः कुप इति माधवाचार्यः। दे० प० पृ० १८४।

कुश (द्रव्य)—यह दर्भ का पर्यायवाचक शब्द है। अप्रसूता स्मृता दर्भा प्रसूतास्तु कुशाः स्मृताः। य० पा० श्लो० ५।

कुशप्रस्व (द्रव्य)—पुष्पित कुशा को कुशप्रस्व कहते हैं। इसका उपयोग चातुर्मास्य के वैश्वदेव पर्व में प्रस्तर स्थानीय विहित है। कुशप्रस्वप्रस्तरः। का० श्रौ० ५.१.१८।

कूर्च (पात्र)—यह पीठ के आकार का एक पात्र है। अग्निहोत्रहवन के समय इसका उपयोग होता है। कूर्चो बाहुमात्रः पीठाकारः। दे० प० पृ० ७।

कूर्म (द्रव्य)—अग्निचयनयाग में सुपर्णचिति पर कूर्म का उपधान होता है। कूर्मी होने पर प्रायश्चित्त है। विहितकूर्म का लक्षण इस प्रकार कहा है।

श्वेतपादो भवेत्कूर्मो रक्तपादा च कूर्मिणी।
अपसव्यं याति कूर्मः सव्यं गच्छति कूर्मिणी॥ कू० ल० ३।

कृष्णल (द्रव्य)—सुवर्ण शकल को कृष्णल कहते हैं। काकिण्या माषेण वा संमितानि। आप० श्रौ० १९.२१.२।

कृष्णविषाणबन्धन (क्रिया)—अग्निष्टोम प्रभृति यागों में यजमान को दीक्षा दी जाती है। इसी प्रसङ्ग में यजमान को कण्डूति निवारण के लिए उत्तरीय वस्त्र में कृष्णविषाण बांधना दीक्षाङ्गकृष्णविषाणबन्धन है। दशायां बध्नीते। का० श्रौ० ७.३.२५।

कृष्णाजिन (द्रव्य)—कृष्णमृग के चर्म को कृष्णाजिन कहते हैं। धान कूटने के समय उलूखल के और अग्निमन्थन के समय अरणी के नीचे इसे बिछाते हैं। कृष्णाजिनमादत्ते। श० ब्रा० १.१.१.४।

केशवपनीयातिरात्र (कर्म)—इसका अनुष्ठान पाँच दिनों में सम्पन्न होता है। राजसूययाग में इसके करने का विधान है। अत ऊर्ध्वं केशवपनीयः। शां० श्रौ० १५.१६.१।

कौकिलीसौत्रामणीयाग (कर्म)—यह सौत्रामणीयाग का ही एक भेद है। द्वे सौत्रामणी कौकिली, चरकसौत्रामणी च। अथातः कौकिलीं व्याख्यास्यामः। आप० श्रौ० १९.५.१।

क्रतु-

क्रीडनीयेष्टि (कर्म)—चातुर्मास्य याग के साकमेधपर्व में दर्विहोम के अनन्तर इसका अनुष्ठान किया जाता है। मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः सप्तकपालः। का० श्रौ० ५.७.१।

क्षत्रधृतिसोम (कर्म)—यह एक प्रकार का सोमयाग है। एक मास में इस अनुष्ठान की समाप्ति होती है। इसे राजसूययाग में करने का विधान है। अथैतेन क्षत्रस्य धृतिना यजेत। शां० श्रौ० १५.१६.८।

क्षामवदिष्टि (कर्म)—महामारी से बचने के लिए इसका विधान है। अग्नये क्षामवते पुरोडाशम्। तै० सं० २.२.२।

क्षुरचतुष्टय (द्रव्य)—क्षुर, कुश ९, एणीशलली ३ (श्याही के काँटे) और जल इन्हें क्षुर-चतुष्टय कहते हैं। क्षुरचतुष्टयम्। दे० प० पृ० १३४।

खण्डेष्टि (कर्म)—जिन इष्टियों में कुछ कृत्य का लोप होता है, वह खण्डेष्टि है। उदाहरणार्थ आतिथ्येष्टि यह खण्डेष्टि है। दीक्षणीयाप्रभृति। का० श्रौ० ८.१.४।

खर (स्थान)—यज्ञशाला में जिस स्थान पर श्रौत अग्नि स्थापित होते हैं, उस स्थान को खर कहते हैं। इनका नाम गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय और सभ्य है। इसके सिवाय पाँचवाँ आवसथ्य अग्नि का खर भी यज्ञशाला में रहता है, जो स्मार्त्त है। इनका आकार भिन्न-भिन्न है। स्मार्त्त कुण्ड की तरह भूमि में गड्ढा खोदकर श्रौत अग्नि का स्थापन नहीं होता। इसीलिए इन्हें कुण्ड न कह कर खर कहते हैं। इनके चारों ओर बारह अङ्गुल ऊँची और चार अङ्गुल चौड़ी परिधि होती है। पूर्वमाहवनीयखरे पञ्चभूसंस्काराः। दे० प० पृ० २४।

गरगी (व्यक्ति)—बहु प्रतिगृह्य गरगृहीतमिवात्मानं मन्यते। बहुत प्रतिग्रह करने से जिसे बड़ी ग्लानि हुई हो वह गरगी है, उसे पुनस्तोम करना चाहिए। का० श्रौ० २२.१०.१६।

गवामयनसत्र (कर्म)—यह संवत्सर सत्र है। इसका अनुष्ठान एक वर्ष में समाप्त होता है। इसके विधान दर्शनीय हैं। देखें प्रकृत ग्रन्थ का गवामयन सत्र। गवामयनायैकाष्टकायां दीक्षा। का० श्रौ० १३.१.२।

गार्हपत्य (देवता)—श्रौत के एक अग्नि का नाम गार्हपत्य है। इसका स्वरूप सात्त्विक है। इसे ब्रह्मा का स्वरूप भी कहते हैं। इस अग्नि के स्थान को गार्हपत्यखर कहते हैं। इसका स्थान अग्निहोत्रशाला में पश्चिम की ओर होता है। यह साढ़े तेरह अङ्गुल के परकाल से वृत्ताकार बनता है। चारों ओर बारह अङ्गुल ऊँची और चार अङ्गुल चौड़ी इसकी परिधि होती है। गार्हपत्यस्य वा। का० श्रौ० २.१.१५।

गृहमेधीयेष्टि (कर्म)—इस इष्टि का अनुष्ठान चातुर्मास्य याग के साकमेधपर्व में होता है। सायंकालीन अग्निहोत्रहवन से पूर्व इसे करने का विधान है। मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सायं चरुः पयसि०। का० श्रौ० ५.६.६।

गोधावीणा (द्रव्य)—यह एक विशेष प्रकार की वीणा है। महाव्रत के अनुष्ठान में इस वीणा का वादन विहित है। गोधावीणाकाः। का० श्रौ० १३.३.२१।

गौ (देवता)—यज्ञकार्य के दूध के लिए और दक्षिणा के निमित्त गौ अपेक्षित होती है। इनके नाम और भेद अनेक हैं। घर्मदुघा–घर्मोपयोगिनी। दित्यौही–दो वर्ष की। निवानी–जिस माँ का स्वयं का बछड़ा मर चुका हो और दूसरी गौ के वत्स से लगने वाली। आप० श्रौ० ८.१४.१४। पष्ठौही–बालगर्भिणी, तीनवर्ष की। लोहाकर्णी–लाल कान वाली। वशा–वन्ध्या। वत्सतरी–गर्भिणी, दे० प० पृ० ४४५। शुण्ठाघी–पीतमुखी दे० प० पृ० ३९५। सोमक्रयणी–सोमः क्रीयतेऽनया। एकरंग की। का० श्रौ० ७.६.१२।

ग्रहखर (स्थान)—हविर्धानमण्डप में उपरव से पूर्व की ओर ग्रहपात्र के आसादन के लिए ३६ ३६ अङ्गुल के खर को ग्रहासादन खर कहते हैं। खरं पुरस्तात्करोति। का० श्रौ० ८.५.२५।

ग्रहपात्र (पात्र)—ये पात्र दर्शपौर्णमास के उलूखल के आकार के होते हैं। अनेक होने के कारण इनमें अलग-अलग चिह्न होते हैं। इनमें सोमरस लेकर आहुति दी जाती है। इनका निर्माण विकङ्कत काष्ठ से होना चाहिए। ग्रहचमसद्रोणकलशादीनि। दे० प० पृ० ७।

ग्रामकामेष्टि (कर्म)—ग्राम प्राप्ति के निमित्त इसके अनुष्ठान का विधान है। निर्वपेत् ग्रामकामः। तै० सं० २.२.८।

ग्रावस्तुत् (व्यक्ति)—यह सोमयाग में होतृगण का चतुर्थ ऋत्विज है। इसे होता की अपेक्षा चतुर्थांश दक्षिणा मिलती है। षोडशर्त्विजः० ग्रावस्तुत्। का० श्रौ० ७.१.७।

घन (द्रव्य)—यह काष्ठ के दण्ड वाला लोहे का बना होता है। भूमि में मयूख या स्थूणा गाड़ने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। स्थूणां गोबन्धनार्थं निखनति। दे० प० पृ० २६५।

घर्मयाग (कर्म)—सोमयाग के प्रारम्भ और अन्त में इसके अनुष्ठान का विधान है। प्रवर्ग्य इसका नामान्तर है। प्रवर्ग्य में खौलते हुए आज्य में दूध छोड़ने पर जब आज्य ठंडा

हो जाता है तब पुरीशास से महावीर पात्र को पकड़कर यज्ञशाला में ले जाते हैं। महावीरपात्र से आहवनीय में याग करना घर्मयाग है। वषट्कृते जुहोति०, का श्रौ०, २६.६.३।

घर्मासन्दी (पात्र)—प्रवर्ग्य विधान में मिट्टी के तीन पात्रब नाये जाते हैं। इन पात्रों को महावीर भी कहते हैं। इन पात्रों को रखने के लिए चार पाये की मूंज से बीनी खटोली को घर्मासन्दी कहते हैं। घर्मपात्रजातमासन्द्यां करोति। दे० प० पृ० २७१।

घर्मोत्सादन (क्रिया)—प्रवर्ग्य का कार्य समाप्त हो जाने पर प्रवर्ग्य सम्बन्धी समस्त पात्रों का विसर्जन करना घर्मोत्सादन है। इस कृत्य में प्रवर्ग्य के समस्त पात्र महावेदि पर रखकर अग्नि से दग्ध कर दिये जाते हैं। उपसदन्ते प्रवर्ग्योत्सादनम्०, का० श्रौ० २६.७.१।

घर्मोपस्थान (क्रिया)—इस विधान में अध्वर्यु प्रवर्ग्य विधान में खर पर रखे हुए घर्म का उपस्थान करता है। अप्नस्वतीत्युच्यमाने। का० श्रौ० २६.४.११।

चतुरवत्ती (व्यक्ति)—याग के निमित्त स्रुची में आज्य अथवा पुरोडाश का जो भाग लिया जाता है, वह अवदान है। तीन प्रवर वाले आहिताग्नि को स्रुची में चार अवदान लेकर एक आहुति देनी चाहिए। ऐसे आहिताग्नि चतुरवत्ती हैं। चतुरवत्तिनश्चतुर्वारम्। दे० प० पृ० ५७।

चतुर्द्धाकरण (क्रिया)—दर्शपौर्णमास याग में हवि की आहुति के बाद अध्वर्यु हविःशेष को इडापात्री में रखकर होता को देता है और कुछ हविर्द्रव्य का चार भाग करके वेदि में बर्हि पर रखता है। इडोपह्वान के अनन्तर ये ही चार भाग ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और आग्नीध्र इन चारों ऋत्विजों को दिये जाते हैं। इन चार भागों के निर्माण को चतुर्द्धाकरण कहते हैं। आग्नेयं बर्हिषदं करोति। का० श्रौ० ३.४.१०।

चमस (पात्र)—चमसपात्र विकङ्कत काष्ठ के बने होते हैं। इनकी सङ्ख्या दस है। इनका आकार और मान प्रणीता सा है। इसमें सोमरस रखकर आहुति दी जाती है। प्रत्येक को एक दूसरों से अलग जानने के लिए इसके दण्ड में चिह्न होते हैं। इनके चिह्नों को परिशिष्ट में देखें। होतुर्मण्डल एव स्यात्। य. पा. श्लो. १११-११५।

चयन याग (कर्म)—जिस याग में उत्तर वेदि के स्थान पर ईंट जमा कर पाँच प्रस्तार की चिति बनाकर याग होता हो वह चयन याग है। अग्निः सोमाङ्गम्। का० श्रौ० १६.१.१।

चरकसौत्रामणीयाग (कर्म)—यह सौत्रामणीयाग का एक भेद है। चरकसौत्रामणी च०। द्रा० श्रौ० १३.४.१४।

चरु (हवि)—याग के निमित्त गार्हपत्याग्नि पर पाचित ओदन चरु है। यहाँ विशेष देवता के लिए विशेषद्रव्य विहित है। आदित्य के लिए केवल घी में चरु का पाक होता है। जैसे—

देवता	चरुद्रव्य
सोमवनस्पति	श्यामाक
बृहस्पतिवाक्	नीवार
इन्द्रज्येष्ठ	रक्तशालि
रुद्रपशुपति	गवेधुका
मित्रसत्य	स्वयंजातव्रीहि
वरुणधर्मपति	यव
आदित्य	ओदन

सोमाय वनस्पतये श्यामाकानां चरुः । दे० प० पृ० ४७७ ।
आदित्यं घृते चरुम् । स० श्रौ० २.१ ।

चषाल (द्रव्य)—यूप के अग्रभाग में पहनाया जानेवाला निश्चित नाप का काष्ठ का खण्ड चषाल है। इस चषाल के अनेक भेद विहित हैं। अग्राच्चषालम् । का० श्रौ० ६.१.२७ ।

चातुर्मास्ययाग (कर्म)—यह चौथी हविःसंस्था है। इस संस्था के वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीर ये चार पर्व होते हैं। चार-चार मास पर एक-एक पर्व के अनुष्ठान का विधान होने के कारण इसे चातुर्मास्ययाग कहते हैं। अथातश्चातुर्मास्यानि व्याख्यास्यामः । बौ० श्रौ० २.१ ।

चातुष्प्राश्य-ओदन (द्रव्य)—ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और आग्नीध्र इन चार ऋत्विजों को पेट भर खाने योग्य सुसंस्कृत और सुपक्व ओदन का नाम चातुष्प्राश्य ओदन है। चातुष्प्राश्यं पक्त्वा विहरेत् । का० श्रौ० ४.८.१० ।

चात्वाल (स्थान)—चातुर्मास्य या अग्निष्टोम प्रभृति याग की वेदि से उत्तर की ओर चात्वाल बनाया जाता है। इसका नाप ३२ × ३२ × ४ अङ्गुल है। शम्यामादाय चात्वालं मिमीते । का० श्रौ० ५.३.१९ ।

चित्रेष्टि (कर्म)—चैत्री पूर्णिमा को किया जाने वाला याग चित्रेष्टि है। चित्रामिष्टिं निर्वपेत् । आप० श्रौ० १९.२५.१४ ।

छदिष् (स्थान)—श्रौतयाग के विहार के ऊपर की छाया को छदि कहते हैं। छदिरतिरात्रे । का० श्रौ० ९.३.१७ ।

छाग (हवि)—अज को छाग कहते हैं। छाग दो प्रकार के कहे हैं। ग्राह्य और त्याज्य। ग्राह्य छाग के आलभन से लाभ और हेय छाग के आलभन से हानि होती है। एतदर्थ उत्तम लक्षण से युक्त जो छाग हो उसी का आलभन करना चाहिए।

कृष्णाङ्गः कृष्णपूर्वार्धः कृष्णैः पादैः प्रतिष्ठितः ।
छागो वैश्रवणो नाम सौभाग्यायोपतिष्ठते ॥ छा० ल० १५ ।

जल (द्रव्य)—श्रौत विधान के अनुसार जल के कई नाम हैं। उन्हीं जल का उपयोग यागों में होता है। जैसे—प्रणीता, प्रोक्षणी, उपसर्जनी, मदन्ती, वसतीवरी, पान्नेजनी, निग्राभ्या और अभिषेचनीया प्रभृति। प्रणीताः प्रोक्षणीरुपसर्जनी मदन्ती। नि० प० ५।

जलघटी (द्रव्य)—अश्वमेध याग में रात्रि के समय अखण्ड हवन करना विहित है। उस समय प्रहर के ज्ञान के लिए जलघटी का उपयोग किया जाता है। जलकुण्डिकायां घटीपात्रनिधानादि। दे० प० पृ० ६५३।

जालबन्धन (क्रिया)—अग्निष्टोम प्रभृति यागों में पत्नी के सिर में दीक्षाङ्गभूत जाल बाँधना जालबन्धन है। जालं वा शिरसि त्रिपर्यायम्। का० श्रौ० ७.४.७।

जुहू (पात्र)—'हूयतेऽनयेति जुहूः' हवन करने की स्रुची को जुहू कहते हैं। आकार में यह लम्बी, आगे की ओर चार अङ्गुल गड्ढेवाली, बाहुमात्र, हँसमुखी होती है। यह पलाश काष्ठ की बनती है। इसी से देवता को हविर्द्रव्य अर्पित किया जाता है। पालाशी जुहूः। का० श्रौ० १.३.३५। पर्णमयी जुहूर्भवति। तै० सं० ३.७.५।

ज्योतिष्टोम याग (कर्म)—ज्योतिष्टोम संज्ञक एक याग है। स्वर्ग की कामना से इसका अनुष्ठान विहित है। स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत। आप० श्रौ० १०.२.१।

तानूनप्त्र (कर्म)—यह एक विशेष प्रकार के आज्य की संज्ञा है। श्रौत में इसका बहुत महत्त्व है। याग की साङ्गता के लिए यह विधि की जाती है। सभी ऋत्विज लोग इसे छूते हैं, वे परस्पर द्वेष न करके प्रेमपूर्वक याग समाप्त करने का शपथ ग्रहण करते हैं। इस विधि का इतना अधिक महत्त्व है कि याग की समाप्ति के बाद भी याग में जिसके साथ सम्मिलित होकर यह विधान हुआ हो उनमें से किसी एक की मृत्यु होने पर दूसरे को अध्ययन कार्य का अनध्याय करना पड़ता है। तानूनप्त्रमेतत्। का० श्रौ० ८.१.१९।

ताप (क्रिया)—पुरोडाश को पकाने के लिए गार्हपत्य संज्ञक खर पर कपालोपधान होता है। उन कपालों को अङ्गार से तपाना ताप है। तापः कपालानामङ्गारैः प्रतापनम्। दे० प० पृ० ९१।

तापश्चित (कर्म)—इसकी दीक्षा, उपसदा और सुत्या एक-एक वर्ष में करके तीन वर्षों में इसकी समाप्ति होती है। संवत्सरं दीक्षिता भवन्ति। दे० प० पृ० ८१८। ता० ब्रा० २५.५.१।

तापश्चितसत्र (कर्म)—तापश्चित संज्ञक एक सत्र है। इस तापश्चित सत्र के क्षुल्लकतापश्चित, तापश्चित और महातापश्चित इस तरह इसके तीन भेद होते हैं। तत् क्षुल्लकतापश्चित-मित्याचक्षते। दे० प० पृ० ८१९।

इसमें दीक्षा, उपसदा और सुत्या का चार-चार महीने तक अनुष्ठान करके एक वर्ष में इसकी समाप्ति होती है। चत्वारो मासा दीक्षाः। दे० प० पृ० ८१९।

महातापश्चित (कर्म)—इसमें एक वर्ष दीक्षा, तीन वर्ष उपसदा और एक वर्ष सुत्या करके पाँच वर्षों में इसकी समाप्ति होती है। त्रयः संवत्सरमुपसदो भवन्ति। दे० प० पृ० ८१९।

तार्प्य (द्रव्य)—घृताक्त वस्त्र को तार्प्य कहते हैं। तार्प्यं घृताक्तवस्त्रम्। स० कौ० टी० २२.६.२७।

तालुकावीणा (द्रव्य)—यह एक विशेष प्रकार की वीणा है। महाव्रत के अनुष्ठान में इस वीणा का वादन विहित है। अपाघाटलिकास्तालुका वीणाः। स० श्रौ० १६.६.२१।

तीर्थ (स्थान)—यज्ञशाला के एक स्थान विशेष को तीर्थ कहते हैं। याग के समय अग्निहोत्र शाला में आहवनीय खर के उत्तर में प्रणीता रखी जाती है। प्रणीता से पश्चिम में उत्कर होता है। इन दोनों के मध्य का भाग तीर्थ संज्ञक है। सोमयाग में चात्वाल और उत्कर के मध्य की भूमि तीर्थ होती है। चात्वालोत्करौ तीर्थम्। शां० श्रौ० ५.१४.२।

तुरायणसत्र (कर्म)—ऋद्धि की कामना से इस सत्र का अनुष्ठान होता है। इस सत्र में दीक्षा नहीं होती। एक वर्ष में इसकी समाप्ति होती है। सर्वामृद्धिमृघ्नोति य एतदुपैति। ला० श्रौ० अ० भा० १०.२०.१।

तृणप्रहरण (क्रिया)—दर्भमुष्टि को प्रस्तर कहते हैं। प्रस्तर में से बचाये हुए एक दर्भ का आहवनीय में प्रक्षेप तृणप्रहरण है। प्रास्य तृणम्। का० श्रौ० ३.६.१४।

तोक्म (द्रव्य)—सौत्रामणीयाग के सुरानिर्माण में उपयोगी जव के पौधे को तोक्म कहते हैं। तोक्मसंज्ञानामूर्णाभिः क्रयणम्। दे० प० पृ० ६१३।

त्रयोऽनुयाज (कर्म)—प्रधान याग के अनन्तर होने वाले याग को अनुयाज कहते हैं। दर्शपौर्णमासयाग में अनुयाज की संख्या तीन होती है। इनका त्याग देवाय बर्हिषे, देवाय नराशंसाय और देवायाग्नये स्विष्टकृते होता है। अनुयाजैस्त्रिभिश्चरति। का० श्रौ० ३.५.५।

त्रिषंयुक्तेष्टि (कर्म)—यह इष्टि राजसूययाग में की जाती है। इसमें अग्नाविष्णू, इन्द्राविष्णू और विष्णु के लिए प्रधानयाग विहित हैं। त्रिहविष्कामिष्टि निर्वपेत्। दे० प० पृ० ४७१।

त्रिसंवत्सरसत्र (कर्म)—यह सत्र तीन वर्षों में समाप्त होता है। इन तीन वर्षों में क्रमशः गवामयन, आदित्यायन और अङ्गिरसायन करके तीन वर्ष पूरे होते हैं। स्वर्गप्राप्ति इसका फल है। स्वर्गं लोकं यन्ति य एतदुपयन्ति। ता० ब्रा० २५.१६.२।

त्रिस्तन (द्रव्य)—गौ के तीन स्तनों में से निकाला हुआ दूध त्रिस्तन कहा जाता है। अग्निष्टोमयाग में यजमान और यजमान पत्नी को केवल दूध ही पीने को मिलता है। यह एक ही गौ का होना चाहिए। यही प्रथम दिन का अग्निष्टोमयाजी का पूरा आहार है। दूसरे दिन दो स्तन का और तीसरे दिन एक स्तन से निकला दूध आहार होता है। त्रिस्तनं प्रथमायां दोहयति। का० श्रौ० ८.३.१।

त्रैधातवी उदवसानीयेष्टि (कर्म)—इसका अनुष्ठान गवामयनसत्र के अन्त में होता है। त्रैधातवी उदवसानीया द्वादशाहवत्। दे० प० पृ० ४३४।

त्र्यम्बकेष्टि (कर्म)—चातुर्मास्य याग के साकमेध पर्व की पित्र्येष्टि के बाद त्र्यम्बकेष्टि करनी चाहिए। इस इष्टि का अनुष्ठान उत्तर दिशा को पूर्व मान कर होता है। इसका स्थान चतुष्पथ है। त्रैयम्बकान्निर्वपति। का० श्रौ० ५.१०.१।

दक्षिणधूरञ्जन (क्रिया)—अग्निष्टोमयाग में सोमक्रयणी गौ की पहले से सुरक्षित पदधूलि को पत्नी के हाथ में देकर उस पर आज्य छोड़ते हैं। पत्नी उसे दक्षिणहविर्द्धानशकट के धुरे में लगाती है। अपरं दक्षिणे वर्त्मनि। का० श्रौ० ८.३.२७।

दक्षिणा (द्रव्य)—याग की सफलता के लिए ऋत्विजों को अन्वाहार्य, गौ और सुवर्ण प्रभृति जो दिया जाता है वह दक्षिणा है। यह दक्षिणा अनेक प्रकार की कही है। अन्वाहार्य, गौ, वत्स, वृषभ, अश्व, शकट, सुवर्ण, वस्त्र आदि। किस याग में क्या दक्षिणा देनी चाहिए, उसका विधान निश्चित है। तदनुसार ही दक्षिणा दी जाती है। पौर्णमासेष्टेः समृध्यर्थं अन्वाहार्यं दक्षिणां समविभागेनाहं सम्प्रददे। दे० प० पृ० ६२।

दक्षिणाग्नि (देवता)—अग्निहोत्रशाला में दक्षिण की ओर इसका स्थान है। इसका स्वरूप रजोगुणी है। इसे विष्णु का स्वरूप भी कहते हैं। इसके निर्माण के लिए परकाल से वृत्तार्द्ध बनाया जाता है। इसके चारों ओर बारह अङ्गुल ऊँची और चार अङ्गुल चौड़ी परिधि होनी चाहिए। सव्येनावृत्य दक्षिणाग्नौ। का० श्रौ०, ३.७.१५।

दक्षिणाग्निहवन (कर्म)—दर्शपौर्णमास याग में अध्वर्यु द्वारा दक्षिणाग्नि में आहुति देना दक्षिणाग्निहवन है। सव्येनावृत्य दक्षिणाग्नौ जुहोति। का० श्रौ० ३.७.१५।

दण्डग्रहण (क्रिया)—याग के दीक्षाप्रसङ्ग में यजमान को मुँह बराबर ऊँचा औदुम्बर काष्ठ का दण्ड दिया जाता है। इसे दीक्षाङ्ग दण्डग्रहण कहते हैं। मुखसम्मितमौदुम्बरं दण्डं प्रयच्छति। का० श्रौ० ७.४.१।

दत्तद्रव्यप्राप्तिकामेष्टि (कर्म)—दिये हुए द्रव्य की प्राप्ति के लिए इस इष्टि का विधान है। इन्द्राय प्रदात्रे निर्वपेत्। तै० सं० २.२.८।

दर्भ (द्रव्य)—यह कुश का पर्याय है। अग्निहोत्र एवं अन्य श्रौतयागों में इसकी आवश्यकता होती है। हरे दर्भ श्रौत यज्ञ में और पीले दर्भ पाकयज्ञ में विशेष प्रकार से उपयोगी होते हैं। हरिता यज्ञिया दर्भाः पीतकाः पाकयज्ञियाः। य० पा० श्लो० ४।

दर्वि (पात्र)—दृणाति विदारयति येन स दर्विः। यह विकङ्कत काष्ठ की बनी कलछुल के आकार की होती है। चातुर्मास्य याग में इसीसे हविर्द्रव्य की आहुति दी जाती है। दर्व्यादत्ते। का० श्रौ० ५.६.३०। का० स्मृ० १५.१५।

दर्विहोम (कर्म)—यह होम चातुर्मास्य याग में होता है। विकङ्कत काष्ठ की बनी दर्वि (कलछुल) से आवहनीय में आहुति देना दर्विहोम है। स्थाल्या दर्व्यादत्ते। का० श्रौ० ५.६.३०।

दर्शयाग (कर्म)—अग्निहोत्री के द्वारा प्रत्येक अमावास्या को पिण्डपितृयज्ञ करके दूसरे दिन जो याग होता है वह दर्शयाग है। सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ। वैखा० श्रौ० ३.१। स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासाभ्यां यक्ष्ये। आप० श्रौ० २.१।

दशपेयसोम (कर्म)—यह द्वन्द्वसोमयाग का एक सोमयाग है। इसका अनुष्ठान राजसूययाग में अभिषेचनीय सोमयाग के अनन्तर होता है। इन दोनों का युगपत् सङ्कल्प होता है। अभिषेचनीय दशपेययोर्दक्षिणोत्तरे देवयजने। का० श्रौ० १५.३.३३।

दाक्षायणयज्ञ (कर्म)—तीस वर्ष तक दर्शपौर्णमासेष्टि करने में असमर्थ व्यक्ति पन्द्रह वर्ष तक ही अग्निपरिग्रह का सङ्कल्प करके जो याग करता है वह दाक्षायणयज्ञ है। दाक्षायणयज्ञः। का० श्रौ० ४.४.१।

दासीनृत्य (क्रिया)—महाव्रत के अनुष्ठान में एक सौ पाँच से अधिक दासियाँ एक साथ सिर पर जलपूर्ण कलश रखकर नृत्य करती हैं। पञ्चाधिकशतं पराध्यां दास्यः। दे० प० पृ० ४३३।

दीक्षणयेष्टि (कर्म)—दीक्षा प्रयोजना इष्टिः। यजमान के दीक्षा प्रसङ्ग में यह इष्टि की जाती है। इसमें आग्नावैष्णव पुरोडाश का याग होता है। आग्नावैष्णव एकादशकपालः। का० श्रौ० ७.२.२५।

दीक्षाङ्ग अभ्यञ्जन (कर्म)—याग के दीक्षा विधान में यजमान और यजमान पत्नी के शरीर में मक्खन लगाना दीक्षाङ्ग अभ्यञ्जन है। शरीरमनुलोममनक्ति। दे० प० पृ० २३९।

दीक्षित (व्यक्ति)—विधिपूर्वक अग्निष्टोम याग करने वाला आहिताग्नि "दीक्षित" उपाधि से विभूषित होता है। दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः। का० श्रौ० ७.४.१।

दीक्षितत्वप्रकाशन (क्रिया)—अग्निष्टोम याग में यजमान और यजमान पत्नी की दीक्षा हो जाने पर आहवनीय के पूर्व में प्रतिप्रस्थाता ऋत्विज खड़ा होकर सब लोगों को यजमान के दीक्षित होने की घोषणा करता है। दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः। का० श्रौ० ७.४.११।

दीक्षित नियम (कर्म)—दीक्षित द्वारा अनुसरणीय नियम ही दीक्षित नियम है। ये नियम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अवलोकनीय है। एतदर्थ प्रकृतग्रन्थ का अग्निष्टोम प्रकरण दर्शनीय है अथास्मै व्रतं श्रपयन्ति। श० ब्रा० ३.२.१.१०–२६।

दुर्ब्राह्मण (व्यक्ति)—जिस ब्राह्मण की तीन पीढ़ी वेद और वेदी से रहित हो वह दुर्ब्राह्मण कहलाता है।

दृतिवातवदयनसत्र (कर्म)—यह संवत्सरसत्र है। इसका अनुष्ठान एक वर्ष में समाप्त होता है। इससे प्रत्येक ऋतूचित उत्तमोत्तम भोग की प्राप्ति होती है। तत्तदृतूचितभोगास्पदत्वम्। ता० ब्रा० सा० भा० २५.३.२।

दृषत् (पात्र)—दीर्यते, असौ दृषत् । पुरोडाश बनाने के लिए जव या व्रीहि का पेषण संस्कार इस पर होता है। यह एक शिला है। यह एक रत्नि लम्बी और चौड़ी चतुरस्र होती है। दृषद्रत्निप्रमाणेन । य० पा० श्लो० २४ ।

देवतादेश (क्रिया)—देवता के नाम का द्वितीयान्त पद उच्चारण करके याज्या पढ़ी जाती है। यह देवतादेश है। देवतानामधेयं चोपांशु । शां० श्रौ० १.१.३७ ।

देवतावाहन (क्रिया)—द्वितीयान्त देवता के नाम का उच्चारण करके "आवह" शब्द को कहना देवतावाहन है। यह विधान होता संज्ञक ऋत्विज करता है। व्यवस्यन्नावाहयति देवताः । शां० श्रौ० १.४.२२ ।

देवनक्षत्र (देवता)–कृत्तिका से विशाखा तक के नक्षत्रों को देवनक्षत्र कहते हैं। कृत्तिकादि-विशाखान्तेषु देवनक्षत्रेषु केशवस्वामी । नि० सि० पृ० ३८ ।

देवयजन (स्थान)–जहाँ स्वेच्छा से, शङ्कारहित होकर, मृग विचरण करते हों वह स्थान देव-यजन के लिए उपयुक्त कहा है। देवा इज्यन्ते यस्मिन्निति देवयजनम् । विहार, यागभूमि और यज्ञशाला इसके पर्याय हैं। दे० प० पृ० २३४, कृष्णसारस्तु० । मनु, स्मृ० २.२३ ।

देवसूहविर्याग (कर्म)—इसका अनुष्ठान राजसूययाग में होता है। इसमें सवितासत्यप्रसवादि आठ देवताओं के लिए निश्चित हविर्द्रव्य से याग होता है। सवित्रे सत्यप्रसवाय । श० ब्रा० ५.३.७.२–९

देवर्त्विज (व्यक्ति)—अध्वर्यु=आदित्य, होता = अग्नि, ब्रह्मा=चन्द्रमा, उद्गाता=पर्जन्य, सदस्य=आकाश और चमसाध्वर्यु=रश्मि । इस प्रकार ऋत्विजों को देवता के रूप में समझकर यज्ञ कार्य के निमित्त नियुक्त करना देवर्त्विजवरण है। आदित्यो मे देवो दैवो-ऽध्वर्युः । बौ० श्रौ० २.४ ।

दोहनचतुष्टय (पात्र)–१ दूध दूहने का पात्र, २ डोरी, ३ शाखापवित्र और ४ स्थाली ये दोहन-चतुष्टय है। दे० प० पृ० ८० ।

दोहनविधान (कर्म)—याग के निमित्त गौ का दूहना दोहन विधान है। इसे साम्नाय्यवती दर्शेष्टि में देखें।

दौर्ब्राह्मण्य (कर्म)—जिस ब्राह्मण के तीन पूर्वजों ने वेदाध्ययन न किया हो, अग्निहोत्र न किया हो, जो पुनर्भूपुत्र हो अथवा जिसके पिता और पितामह ने सोमरस का पान न किया हो वह दुर्ब्राह्मण है। यह एक दोष है, इस दोष की निवृत्ति के लिए सोमयाग में एक पशु का विशेष रूप से आलभन करना चाहिए।

वेदो वेदी च विच्छिन्नावुभौ यस्य त्रिपूरुषम् ।
दुर्ब्राह्मणः स विज्ञेयः ।। य० पा० श्लो० ७९–८० ।

द्रोणकलश (पात्र)—यह विकङ्कत काष्ठ का पात्र है। इसकी लम्बाई अठारह अङ्गुल और चौड़ाई बारह अङ्गुल रहती है। मध्य में गर्त वाला और चारों ओर परिधियुक्त होता है। इसमें सोमरस छाना जाता है। देखें, परिशिष्ट। द्रोणकलश० कुर्यादरत्निमात्राणि० य० पा० ११८।

द्रोणचिति (देवता)—अन्न की कामना से चयन की हुई चिति को द्रोणचिति कहते हैं। अग्नि चयन याग में चित्र देखें। द्रोणचितिं चिन्वीतान्नकामः। तै०सं०५.४.११।

द्वन्द्वसोम (कर्म)—जहाँ एक क्रतु के बाद नियमतः दूसरा क्रतु करना अनिवार्य होता है। उन दोनों क्रतु को द्वन्द्व सोम कहते हैं। जैसे, राट् और विराट्। द्वन्द्वसोमा उच्यन्ते। तत्र प्रथमो राट्संज्ञः। दे० प० पृ० ७४९।

द्वादशाहसत्र (कर्म)—यह सत्र और अहीन उभयात्मक हैं। इसका विशेष विवरण प्रकृत ग्रन्थके सत्र और अहीन इन दोनों में देखें। द्वादशाहः सत्रमहीनश्च। का० श्रौ० १२.१.४।

द्विस्तन (द्रव्य)—गौ के दो स्तनों में से निकाला गया दूध। द्विस्तनं व्रतकरणम्। दे० प० पृ० २७६।

द्विहविष्केष्टि (कर्म)—यह इष्टि राजसूययाग में विहित है। इसमें वैश्वानर और वरुण के निमित्त प्रधानयाग होते हैं। वैश्वानरो वारुणश्चरुः। का० श्रौ० १५.२.१५।

धमनी (पात्र)-वंश निर्मित जिस पात्र के द्वारा मुँह से हवा फेंकते हुए अग्नि को प्रज्वलित करते हैं, उस पात्रविशेष को धमनी कहते हैं। न पक्षपेणोपधमेत्। य० पा० श्लो० ६६.६७।

धाना (हवि)—भूने हुए जव को धाना कहते हैं। अग्निष्टोमयाग में हरिवान् इन्द्र का यह हविर्द्रव्य है। हरिम्यां धानाः। का० श्रौ० ९.१.१५।

धिष्ण्या (स्थान)—धिष्ण्या संज्ञक खर है। इस पर अग्निस्थापन होता है। अग्निष्टोम आदि यागों में सदोमण्डप में इनका निर्माण होता है। सङ्ख्या में ये आठ होती हैं। इनका नाप १८×१८×४ अङ्गुल होता है। प्रत्येक दो के मध्य का रिक्त स्थान १८ अङ्गुल होता है। इनमें से छ सदोमण्डप में होती हैं। दक्षिण से उदक्संस्थ इनके नाम इस प्रकार हैं—

१. मैत्रावरुणधिष्ण्या	२. होतृधिष्ण्या	३. ब्राह्मणाच्छंसिधिष्ण्या
४. पोतृधिष्ण्या	५. नेष्टृधिष्ण्या	६. अच्छावाकधिष्ण्या

७. मार्जालीयधिष्ण्या। यह सदोमण्डप के दक्षिण की ओर मार्जालीयशाला में बनायी जाती है। ८. आग्नीध्रीय धिष्ण्या। यह सदोमण्डप के उत्तर की ओर आग्नीध्रीय शाला में बनायी जाती है। अग्निचयन याग में इन पर इष्टकाओं का चयन भी होता है। धिष्ण्यान्निवपति। श० ब्रा० ९.३.५.१। एतदर्थं अग्निष्टोमयाग और अग्निचयन याग भी देखें।

धृष्टि (पात्र)—यह एक पात्र है। इसकी लम्बाई एक हाथ रहती है। कपालोपधान से पूर्व अग्नि को हटाने में यह उपयोगी है। धृष्टिरसीत्युपवेषमादाय। का० श्रौ० २.४.२५।

ध्रुवा (पात्र)–वेद्यां अप्रचलिता तिष्ठतीति ध्रुवा। यह एक स्रुची है। मान और आकार में यह जुहू के समान है। यह वेदि में रखी रहती है। याग के निमित्त इसीमें का आज्य स्रुवा से लेकर जुहू में छोड़ते हैं और याग करते हैं। अभिघारणं ध्रुवायाः। का० श्रौ० ३.३.९।

ध्रुवाप्यायन (क्रिया)—पत्नीसंयाज हो चुकने पर हवन के लिए ध्रुवा नामक स्रुची में आज्य छोड़ना ध्रुवाप्यायन है। ध्रौवं समिष्टयजुः। का० श्रौ० ३.८.४।

ध्रुवासमञ्जन (क्रिया)—अध्वर्यु प्रयाज की आहुति देकर यजतिस्थान से अपने स्थान पर आता है। जुहू में आज्य शेष रहता है। उसी आज्य का ध्रुवा में छोड़ना ध्रुवासमञ्जन है। ध्रुवायाः। का० श्रौ० ३.३.९।

ध्रुवास्थाली (पात्र)—यह एक चौड़े मुँहवाला मिट्टी का पात्र है। इसमें सोमरस लिया जाता है। ध्रुवं मूर्द्धानन्दिव इति। का० श्रौ० ९.६.२९।

नग्नहु (द्रव्य)—सुरानिर्माण के उपयोग में आने वाला दाल चीनी, त्रिफला, सोंठ, पुनर्नवा प्रभृति औषध समुदाय नग्नहु है। किण्व इसका पर्याय है। किण्वनग्नहुपर्यायस्य। दे० प० पृ० ६१३।

नवप्रयाज (कर्म)—चातुर्मास्ययाग के वैश्वदेवपर्व में प्रधानयाग से पूर्व इनका अनुष्ठान होता है। यजमान उनका त्याग इस प्रकार करता है। १. समिद्भ्यः० २. तनूनपाते० ३. इड्भ्यः० ४. बर्हिषे० ५. द्वार्भ्यः० ६. उषासानक्ताभ्याम्० ७. दैव्याभ्यां होतृभ्याम्० ८. तिसृभ्यो देवीभ्यः० ९. अग्नये सोमायाग्नये० नवप्रयाजम्०। का० श्रौ० ५.२.७।

नवानुयाज (कर्म)—चातुर्मास्ययाग के वैश्वदेवपर्व में नव अनुयाज होते हैं। इनका अनुष्ठान प्रधान याग के अनन्तर होता है। यजमान उनका त्याग इस प्रकार करता है। १. देवाय बर्हिषे० २. देवीभ्यो द्वार्भ्यः० ३. देवीभ्यामुषासानक्ताभ्याम्० ४. देवीभ्यां जोष्ट्रीभ्याम्० ५. देवीभ्यामूर्जाहुतिभ्याम्० ६. देवाभ्यां दैव्याभ्यां होतृभ्याम्० ७. देवीभ्यस्तिसृभ्यो देवीभ्यः० ८. देवाय नराशंसाय० ९. देवायाग्नये स्विष्टकृते० नवानुयाजम्। का० श्रौ० ५.२.७।

नाभि (स्थान)—उत्तरवेदि के मध्य में १० × १० × १ अङ्गुल की नाभि होती है। मध्ये नाभिं करोति०। का० श्रौ० ५.३.३१।

नाभ्यालम्भन (क्रिया)—प्राशित्र भक्षण करने के अनन्तर ब्रह्मा अपनी नाभि (शरीर का एक अङ्ग) का जो स्पर्श करता है वह नाभ्यालम्भन है। नाभ्यालम्भनान्तं करोति०। दे० प० पृ० ६२।

निरसन (क्रिया)--होता आसन पर बैठने से पूर्व अपने आसन का संस्कार करता है। आसन पर रखे हुए कुशाओं में से एक को तोड़कर नैर्ऋत्य दिशा में फेंकता है। दूसरा कुशा आसन पर रखकर बैठता है। यह कुशा का फेंकना निरसन है। प्रत्यग्दक्षिणा निरसेत्। आ० श्रौ० १.३।

निरूढपशुबन्धयाग (कर्म)--यह अन्य पशुयाग की प्रकृति है। इसका अनुष्ठान वर्षा ऋतु में अथवा अयनारम्भ के समय करना चाहिए। इसके देवता इन्द्राग्नी हैं। य एतमैन्द्राग्नं षष्ठे षष्ठे मासि आलभते०। गो० ब्रा० उत्त० २.१।

निर्गुण स्विष्टकृत् (कर्म)--स्विष्टकृद्याग के समय पुरोऽनुवाक्या पाठ में अग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रू३हि और याज्या के समय अग्नि स्विष्टकृतं यज कहा जाता है। उस स्थान पर यदि अग्नयेऽनुब्रू३हि और अग्नि यज केवल इतना ही कहा जाय तो निर्गुण स्विष्टकृत् कहा जाता है। निर्गुणस्विष्टकृत्। दे० प० पृ० ४५१। अग्नयेऽनुब्रू३हि एवं स्विष्टकृद्यागः कर्तव्यः। दे० प० पृ० २२१.३४८। सगुणस्थानेऽगुणाः। का० श्रौ० ६.७.२३।

निवानी (देवता)--जिस गौ का बछड़ा मर चुका हो और दूसरे बछड़े से लगती हो, वह गौ निवानी है। दे० प० पृ० १६७।

निष्क (द्रव्य)--सुवर्ण के एक आभूषण या सिक्के का नाम निष्क है। इसका आकार गोल होता है। रुक्मनिष्कौ परिमण्डलौ। नि० प० ७। अध्वर्यवे च प्रतिमुक्तं निष्कम्०। का० श्रौ० २०.१.२०।

निष्काष (हवि)--पयस्या तपाने के समय ऊफान आकर स्थाली के बाहर जो पयस्या बहकर लगती है वह निष्काष है। अवभृथेष्टि में हवि के रूप में इस का उपयोग होता है। वारुणीनिष्काषेणावभृथम्०। का० श्रौ० ५.५.२८।

निष्पवन (क्रिया)--भूसी अलग करने के लिए कूटे हुए जव या व्रीहि को सूप में पछोड़कर साफ करना निष्पवन है। निष्पुनाति०। का० श्रौ० २.४.१८।

निह्नवन (क्रिया)--अग्निष्टोमयाग की वेदिमें रखे हुए प्रस्तर पर बायाँ हाथ उलटा और बायें हाथ पर दाहिना हाथ रखकर द्यावापृथिवी को नमस्कार करना निह्नवन है। प्रस्तरे निह्नुवत०। का० श्रौ० ८.२.८।

नीड (स्थान)--शकट पर हाँकने के समय हाँकने वाले के बैठने के स्थान को नीड कहते हैं। नीडे गार्हपत्यम्०। बौ० श्रौ० ६.८.९।

नीवीकरण (क्रिया)--पिण्डपितृयज्ञ में पहने हुए वस्त्र के छोर में दर्भ और तिल को बाँधकर बाँयीं कमर में खोंसना नीवीकरण है। तत्र पूर्वं नीवीकरणम्०। दे० प० पृ० ७३।

नेत्र (द्रव्य)--अग्निमन्थन करने की डोरी को नेत्र कहते हैं। यह चार हाथ लम्बी होती है। नेत्रं स्याद् व्याममात्रकम्०। य० पा० श्लो० ४.१।

नेष्टा (व्यक्ति)—नयतीति नेष्टा। यह सोमयाग में अध्वर्यु गण का तीसरा ऋत्विज है। इसे अध्वर्यु की अपेक्षा तृतीयांश दक्षिणा मिलती है। षोडशर्त्विजः० नेष्टृ०। का० श्रौ० ७.१.७।

नेष्टृधिष्ण्या (स्थान)—सदोमण्डप में जिस धिष्ण्या से पश्चिम में नेष्टा नामक ऋत्विज बैठता है वह नेष्टृधिष्ण्या है। यह १८.१८..४ अङ्गुल का खर है। देखें अग्निष्टोम याग का विहार।

न्यग्रोधस्तिभी (हवि)—आहिताग्नि यजमान यदि क्षत्रिय हो तो सोम की जगह न्यग्रोधस्तिभी बड की कोंपल सोमस्थानीय उपयोग में ली जाती है।
वटस्य फलानि अङ्कुराश्च०। दे० प० पृ० ४६४।

न्यूङ्ख (मन्त्र)—उदात्तानुदात्तादि स्वरों के प्रयोग से श्रौतयागों में न्यूङ्ख पाठ होता है। ऐ० ब्रा० अ० २१, खण्ड ३।

पञ्चप्रयाज (कर्म)—दर्शपूर्णमासयाग में पाँच प्रयाज होते हैं। उन्हें प्रधान याग से पूर्व करने का विधान है। उनके त्याग समिद्भ्यः, तनूनपाते, इड्भ्यः, बर्हिषे और अग्नये० होता है। पञ्चप्रयाजान्०। का० श्रौ० ३.२.१७।

पञ्चभूसंस्कार (क्रिया)—अग्निस्थापन करने के स्थान पर सम्मार्जन, लेपन, उल्लेखन, उद्धरण और प्रोक्षण करना पंचभूसंस्कार है। इस भूमि संस्कार को करके तत्पश्चात् अग्नि-स्थापन किया जाता है। पंचभूसंस्कारपूर्वकम्०। दे० प० पृ० १००।

पञ्चवातीयहवन (कर्म)—इसका अनुष्ठान राजसूय याग में होता है। इसमें आहवनीय के अग्नि का पाँच विभाग करके उनपर आहुति दी जाती है। पञ्चवातीयमाहवनीयम्। का० श्रौ० १५.१.१८।

पञ्चाग्नि (देवता)—आहिताग्नि की यज्ञशाला में अग्नि स्थापन के निमित्त पाँच खर होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—आवसथ्य, गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि और सभ्य इनमें से प्रथम स्मार्ताग्नि और शेष श्रौताग्नि हैं। आवसथ्यस्तथा त्रेता पञ्चमः सभ्य उच्यते। य० पा० १९। दर्शपौर्णमासयाग का विहार देखें।

पञ्चावत्त (हवि)—याग के निमित्त स्रुची में गृहीत आज्य या पुरोडाश का भाग अवदान है। पाँच बार अवदान लेना पञ्चावत्त है। पञ्चावत्तिनस्तु पञ्चकृत्वः। दे० प० पृ० ५७।

पञ्चावत्ती (व्यक्ति)—पाँच प्रवरवाले आहिताग्नि के यहाँ पाँच अवदान की एक आहुति दी जाती है। एतदर्थ वह आहिताग्नि पञ्चावत्ती कहा जाता है। पञ्चावत्तिनस्तु पञ्च-कृत्वः। दे० प० पृ० ५७।

पञ्चाहिक चातुर्मास्ययाग (कर्म)—जिस चातुर्मास्ययाग का अनुष्ठान पाँच दिनों में सम्पन्न हो उसे पञ्चाहिक चातुर्मास्ययाग कहते हैं। पञ्चाहिकानि पठ्यन्ते। दे० प० पृ० १९५।

पत्नी (व्यक्ति)—श्रौत यागों में पत्नी शब्द से यजमान (अग्निहोत्री) की स्त्री समझी जाती है। यजमानवत् वह भी याग के फल की अधिकारिणी है। यजमान की अनुपस्थिति में वह सायं प्रातः हवन एवं याग के समय द्रव्य त्याग भी करती है। वह निश्चित द्वार से यज्ञशाला में प्रविष्ट होती है और यज्ञशाला के दक्षिण-पश्चिम कोण में ईशानाभिमुखी बैठती है। पत्नीठंसन्नह्यति प्रत्यग्दक्षिणत उपविष्टां गार्हपत्यस्य। का० श्रौ० २.७.१।

पत्नीशाला (स्थान)—अग्निष्टोमयाग के विहार से पश्चिम की ओर ५×५×५ अरत्नि की पत्नीशाला होती है। अग्निष्टोम याग विहार देखें।

पत्नीसंयाज (कर्म)—पत्नी देवताकाश्चत्वारो यागाः। पत्न्या सह इज्यन्त इति पत्नीसंयाजाः। गार्हपत्य अग्नि पर ये पत्नीसंयाज होते हैं। पत्नीसंयाजेभ्यो गार्हपत्यं गच्छन्ति। का० श्रौ० ३.७.१।

पथिकृदिष्टि (कर्म)—अश्वमेधयाग में पथिकृत् अग्नि के निमित्त इस इष्टि का विधान है। अग्नये पथिकृते। का० श्रौ० २०.१.२१।

पन्नेजनी (पात्र)—पादयोः नेजन्यः। यजमानपत्नी इस पात्र में यज्ञ कार्य के उपयोग के लिए जल भरकर रखती है। यह मिट्टी अथवा धातु का पात्र है। पान्नेजनांश्च द्वौ द्वौ०। का० श्रौ० ९.३.८।

पयोग्रह (पात्र)—सौत्रामणीयाग में जिस ग्रहपात्र से पयोहवन होता है वह पयोग्रहपात्र है। प्राणा वै पयोग्रहाः। श० ब्रा० १२.३.४.१६।

परशु (पात्र)—यज्ञकार्य के निमित्त दर्भ अथवा समित् को काटने का शस्त्र परशु है। पलाशशाखां छिनत्ति। दे० प० पृ० ७६।

परिघर्म्य (पात्र)—बनाने के समय तीन महावीर पात्र बनाते हैं। एक महावीर पात्र से काम लिया जाता है। शेष दो पात्र परिघर्म्य कहे जाते हैं। तीनों पात्रों का नाप और आकार समान होता है। परिघर्म्यं निधाय०। का० श्रौ० २६.७.२।
एतदर्थं परिशिष्ट में चित्र देखें।

परिधि (द्रव्य)—परितो निधीयन्त इति परिधयः। आहवनीयखर के पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में जो पालाश समित् रखी जाती है वह परिधि है। यह बाहुमात्र लम्बी होती है। परिधीन्परिदधाति। का० श्रौ० २.८.१। का० स्मृ० १५.१९-२०।

परिध्यञ्जन (क्रिया)—आहवनीय के तीनों ओर रखी हुई परिधि पर जुहू से आज्य लगाना परिध्यञ्जन है। परिधीननक्ति। का० श्रौ० ३.५.२०।

परियज्ञ (कर्म)—मुख्य याग के आदि और अन्त में जो याग होते हैं उन्हें परियज्ञ कहते हैं। उदाहरण के लिए वाजपेययाग के आदि और अन्त में बृहस्पतिसव संज्ञक दो परियज्ञ होते हैं। अतः इन दोनों बृहस्पतिसव याग को परियज्ञ कहा जाता है। वाजपेयस्य पुरस्तादनन्तरे शुक्लपक्षे बृहस्पतिसवो भवति। दे० प० पृ० ४३६।

परिवाप (हवि)—सरस्वती देवता को परिवाप दही की आहुति दी जाती है। परिवाप्यार्थं दोहनम् । का० श्रौ० ८.९.२५ । आपस्तम्ब के मत में लावा को परिवाप कहते हैं। लाजान्परिवापः । आप० श्रौ० १२.४.१३ ।

परिवित्ती (व्यक्ति)––बड़े भाई के रहते जो विवाह और अग्निपरिग्रह करता है वह परिवित्ती है। स्मार्ताग्नि परिग्रह के बिना श्रौताग्नि का जो परिग्रह करता है वह भी परिवित्ती है। य० पा० २७ । का० स्मृ० ६.२-३ ।

परिवृक्ता (व्यक्ति)—अश्वमेधयाग करनेवाले सार्वभौम राजा की तृतीय पत्नी को परिवृक्ता कहते हैं। यह क्षत्रिय पुरुष से ब्राह्मणी स्त्री में उत्पन्न, राजा की अप्रिया स्त्री होनी चाहिए। परिवृक्ता यजमानस्यावल्लभा । दे० प० पृ० ६३९ ।

परिवेत्ता (व्यक्ति)––बड़े भाई के रहते छोटा भाई यदि विवाह और अग्निपरिग्रह कर ले तो बड़ा भाई परिवेत्ता कहा जाता है।

परिसमूहन (क्रिया)––इस क्रिया में हाथ में जल लेकर खर की परिधि पर हाथ घुमाया जाता है। यह कृत्य ईशानकोण से प्रारम्भ कर ईशान कोण तक दक्षिणावर्त तीन बार होता है। चौथी बार जल सहित अप्रदक्षिण हाथ घुमाना चाहिए। परिसमुह्य होष्यन् । शां० श्रौ० २.७.९ ।

परिस्तरण (द्रव्य)—गार्हपत्यादिखराणां परितः कुशैराच्छादनम् । तीन दर्भ को इकट्ठा करके मूल में एक गाँठ लगाकर परिस्तरण तैयार किये जाते हैं। इन्हें गार्हपत्य प्रभृति खरों के चारों ओर रखते हैं। तृणैरग्नीन्परिस्तीर्य । का० श्रौ० २.३.६ ।

परीशास (पात्र)––महावीर पात्र को अग्नि पर से पकड़कर उठाने के लिए यह एक यज्ञकाष्ठ का सन्दंश है। परीशासावादत्ते । का० श्रौ० २६.५.१२ ।

पर्यग्निकरण (क्रिया)—गार्हपत्य के अग्नि पर पकाने के निमित्त रखे हुए हवि के चारों ओर अग्नि का घुमाना पर्यग्निकरण है। पर्यग्निं करोति । का० श्रौ० २.५.२२ ।

पर्युक्षण (क्रिया)—हाथ में जल लेकर ईशानकोण से प्रारम्भ करके ईशान कोण तक खर की परिधि पर दक्षिणावर्त जल गिराना पर्युक्षण है। इस क्रिया में पहले तीन बार दक्षिणावर्त और चौथी बार वामावर्त जल गिराते हुए हाथ घुमाया जाता है। हस्तेनोदकमादाय । दे० प० पृ० १२२ ।

पवित्र (वस्तु)—प्रथम पूर्वाग्र दो कुशा लेना। उन पर तीन कुशा उदगग्र रखना। नीचे के दो कुशा से तीन कुशा की दक्षिणावर्त प्रदक्षिणा करके सब कुशा को बाँध लेना यह पवित्रनिर्माण विधि है। समन्त्रक दोनों कुशा के प्रादेशमात्र अग्रभाग को तोड़ लेना पवित्र है। तोड़ते समय नाखून नहीं लगाना चाहिए। इन्हीं दो कुशा को पानी में भिगोकर हविःपात्र आदि यज्ञिय वस्तु प्रोक्षित की जाती है।
पत्रद्वयात्मकं प्रोक्तं प्रादेशं च पवित्रकम् । य० पा० श्लो० ९ ।

पवित्रसोम (कर्म)—इस नाम का एक सोमयाग है । इसमें चार दीक्षाएँ होती हैं । अध्वर्यु एक सौ पवित्र से यजमान का पावन करता है । इसका अनुष्ठान राजसूय याग में होता हैं । तैष्याः पुरस्तात्पवित्रः । वै० श्रौ० ३६.२ ।

पशुकाम्यपशुयाग (कर्म)—पशु की कामना हो तो प्रजापति देवता के निमित्त पशुयाग करना चाहिए । प्राजापत्यं बहुरूपमालभेत पशुकामः । मै० सं० २.५.११ ।

पशुपुरोडाश (हवि)—सोम संस्था में और पशुयाग में जिस देवता के निमित्त पशु का आलभन होता है, उसी देवता के निमित्त जो पुरोडाश भी होता है वह पशुपुरोडाश है । यद् देवत्यः पशुर्भवति, तद्देवत्यं पुरोडाशमनुनिर्वपति । श० ब्रा० ३.६.४.१ ।

पशुबन्धयाग (कर्म)—स्वर्ग की कामना से पशुबन्ध याग विहित है । स्वर्गकामः पशुना यक्ष्ये । आप० श्रौ० २.१ ।

पश्वङ्ग (हवि)—याग में पशु के संज्ञपन के अनन्तर हृदय क्रोड प्रभृति जो पशु के अङ्ग निकाले जाते हैं, वे पश्वङ्ग हैं । हृदयसमीपस्थो मांसपिण्डविशेषः । अ० सं० सा० भा० २.३३.३ । देखें, अग्निष्टोम याग ।

पात्र (पात्र)—पान्ति रक्षन्ति हविरादि एभिः । श्रौत याग में स्रुची, स्रुवा प्रभृति पात्रों की अपेक्षा होती है । ये पात्र यज्ञकाष्ठ, मृत्तिका, पाषाण एवं धातुमय होते हैं । जहाँ एक तरह के अनेक पात्र होते हैं वहाँ काष्ठ के पात्रों के मूल में चिह्न स्वरूप दण्ड होता है । काष्ठ के पात्रों में कुछ निश्चित यज्ञकाष्ठ के कहे हैं । जैसे, स्रुवा खैर की लकड़ी का ही होना चाहिए । जिनसे हवन नहीं होता ऐसे पात्र वारणकाष्ठ के होते हैं । इनका नाप और आकार विधान के अनुकूल होता है । अथ पात्राणां लक्षणमुच्यते । दे० प० पृ० ६ ।

पात्रसम्मार्जन (क्रिया)—वेद के अग्र और मूल से स्रुवा, स्रुची प्रभृति पात्रों को झाड़ना पात्र सम्मार्जन है । प्रत्यञ्चं सम्मार्ष्टि । दे० प० पृ० ३७ ।

पात्रासादन (क्रिया)—यथासमय अपेक्षितपात्रप्राप्त्यर्थं गार्हपत्य के निकट यज्ञपात्रों को व्यवस्थित रखना पात्रासादन है । पात्राणि संसादयति । का० श्रौ० २.३.६ ।

पान्नेजनीसप्तक (द्रव्य)—एक पान्नेजनीसंज्ञक जलपात्र और छ सुवर्ण खण्डों को पान्नेजनी-सप्तक कहते हैं । पान्नेजनीसप्तके । दे० प० पृ० २१० ।

पायस (द्रव्य)—दूध से बने पदार्थ पायस कहे जाते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं :—

आतञ्चन—जामन (दही)	आमिक्षा—छेना
घृत—घी	दधि—दही
नवनीत—मक्खन	प्रतिधुक्—धारोष्ण दूध
मस्तु—दही का पानी	वाजिन—छेने का पानी
शर—मलाई	शृत—खौला दूध

गौर्वै प्रतिधुक् । का० श्रौ० ७.८.८ ।

पायसचरु (हवि)—याग के निमित्त दूध में पकाये हुए चावल को पायसचरु कहते हैं। पयसि वा । का० श्रौ० ४.६.४ ।

पार्वण (कर्म)—यह द्वितीय पाक संस्था है। स्मार्ताग्नि के परिग्रह करने वाले की श्राद्धविधि को पार्वणविधि कहते हैं। उस विधि से किया हुआ श्राद्ध पार्वण है। अपरपक्षे श्राद्धं कुर्वीत । श्रा० सू० १.१ ।

पालागल (व्यक्ति)—पालागल दूत को कहते हैं। श० ब्रा० सा० भा० ५.२.५.११ ।

पालागली (व्यक्ति)—अश्वमेधयाग करने वाले सार्वभौम राजा की चतुर्थ पत्नी पालागली है। यह दूत या सारथी की पुत्री होनी चाहिए। चतुर्थी पालागली। दे० पा० पृ० ६३९ ।

पालाशस्रुव (पात्र)—पालाश काष्ठ से निर्मित स्रुव को पालाशस्रुव कहते हैं। राजसूय याग का अङ्गभूत अपामार्गहवन इसी पालाशस्रुव से होता है। स्रुवे पालाशे । का० श्रौ० १५.२.२ ।

पाशुकचातुर्मास्ययाग (कर्म)—जिस चातुर्मास्ययाग में हविर्द्रव्य स्थानीय पशु होता है, उसे पाशुकचातुर्मास्ययाग कहते हैं। पशुमत्सु चातुर्मास्येषु । शां० श्रौ० १४.१०.१ ।

पिच्छोला (द्रव्य)—महाव्रत के अनुष्ठान में उपयोग में आने वाला यह एक वाद्य है। इसे दण्डे से बजाया जाता है। पिच्छोला वादनदण्डेन वाद्यमाना । ता० ब्रा० सा० भा० ५.६.८ ।

पिण्डपितृयज्ञ (कर्म)—प्रत्येक अमावास्या के दिन पितरों के उद्देश्य से जो पिण्डदान और हवन होता है वह पिण्डपितृयज्ञ है। अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञश्चन्द्रादर्शनेऽमावास्यायाम् । का० श्रौ० ४.१.१ ।

पिण्डप्रमाण (मान)—आहिताग्नि द्वारा अमावास्या के दिन विधीयमान पिण्डपितृयज्ञ में तीन पिण्ड होते हैं। उनमें पहला हरे आँवले के बराबर, दूसरा उससे बड़ा और तीसरा सबसे बड़ा होना चाहिए। आर्द्रामलकमात्रः प्रथमः पिण्डः० । दे० प० पृ० ७५ ।

पितृमेध (कर्म)—आहिताग्नि की मृत्यु होने पर उसके पुत्र, पौत्र प्रभृति इसका अनुष्ठान करते हैं। इसमें केवल एक अध्वर्यु ऋत्विज होता है। पितृमेधः संवत्सरास्मृतौ । का० श्रौ० २१.३.१ ।

पित्र्येष्टि (कर्म)—चातुर्मास्य याग के साकमेधपर्व में पितरों को तृप्ति हो इस उद्देश्य से यह इष्टि की जाती है। इसका समस्त कार्य अपसव्य से होता है। अपराह्ण के समय इसका अनुष्ठान होना चाहिए। अपराह्णे पित्र्या त्रिहविरिष्टिः । शां० श्रौ० ३.१६.१ ।

पिष्टपात्री (पात्र)—यह इडापात्री जैसा यज्ञपात्र है। पुरोडाश बनाने का आटा इसमें रहता है। ऊपर से जल छोड़ते हैं। आटे में जल मिलाकर पुरोडाश बनाते हैं। इडापात्रीपिष्टपात्र्यौ, अरत्निमात्र्यौ। दे० प० पृ० ७।

पिष्टलेप हवि)—अध्वर्यु द्वारा पुरोडाश बनाने के समय आटे की एक गोली सुरक्षित रखी जाती है। वही पिष्टलेप है। दर्शपौर्णमास याग में विश्वेदेवा के निमित्त इसकी आहुति अध्वर्यु देता है। पिष्टलेपाञ्जुहोति। का० श्रौ० ३.८.१।

पिष्टलेपाहुति (कर्म)—पत्नी संयाज हो चुकने पर अध्वर्यु दक्षिणाग्नि में पिष्टलेप का हवन करता है। पुरोडाश बनाते समय उसी आटे में से एक गोली बनाकर सुरक्षित रखी जाती है। अध्वर्यु द्वारा विश्वेदेवा के निमित्त उसकी आहुति देना पिष्टलेपाहुति है। पिष्टलेपाञ्जुहोति। का० श्रौ० ३.८.१।

पुनराधान (कर्म)—आधान लेने के अनन्तर प्रजा, पशु या अन्नादि की कामना पूरी न हो रही हो तो पुनराधान करना चाहिए। अग्निहोत्रहवन में आलस्य और प्रमाद हो जाने पर भी इसका अनुष्ठान किया जाता है। पुनराधेयमाधानाप्रतिज्ञातस्य। दे० प० पृ० ११३।

पुनराधेय (कर्म)—अग्नि परिग्रह करने पर एक वर्ष के भीतर यदि आहिताग्नि की आहिताग्नि के रूप में प्रसिद्धि न हुई हो तो पुनराधेय करना चाहिए। पुनराधेयमाधानाप्रतिज्ञातस्य। का० श्रौ० ४.११.१।

पुरुषमेध (कर्म)—समस्त प्राणियों में उत्कृष्ट पद की कामना से पुरुषमेधयाग करना चाहिए। इसमें तेईस दीक्षाएँ होती हैं। ग्यारह यूपों में विभिन्न प्रकार के एक सौ चौरासी पुरुषों का नियोजन होता है। उपस्थान के अनन्तर समस्त पुरुष छोड़ दिये जाते हैं। पुरुषमेधस्त्रयोविंशतिदीक्षः। का० श्रौ० २१.१.१।

पुरोडाश (हवि)—याग में देवता को आहुति देने के लिए यव या व्रीहि के आटे का हविर्द्रव्य के रूप में पुरोडाश बनाया जाता है। पुरोडाशौ युगपत्। का० श्रौ० २.५.१९।

पुरोडाश (पात्र)—यह वारणकाष्ठ का प्रादेशमात्र चतुरस्र एक पात्र है। इन्हींपर पुरोडाश रखे जाते हैं। एक कपाल पर श्रृत पुरोडाश को रखने के लिए यही पात्री सबिला होती है। पुरोडाशाख्यपात्री च प्रादेशाश्चतुरस्रिकाः।

मध्ये तु दर्पणाकारा मूले दण्डसमन्विताः॥ य० पा० श्लो० ११९.१२०।

पुरोडाशप्रकाशन (क्रिया)—गार्हपत्य के अग्नि पर पकाने के लिए रखे हुए पुरोडाश पर से पकाने में लगी हुई भस्म को हटाना पुरोडाश प्रकाशन है। पुरोडाशविभस्मीकरणम्। दे० प० पृ० ४२।

पुरोडाशश्रपण (क्रिया)—पुरोडाश को पकाने के लिए अंगारों से ढकना पुरोडाशश्रपण है। पुरोडाशौ युगपत्। का० श्रौ० २.५.१९।

पुरोडाशापोहन (क्रिया)—गार्हपत्य अग्नि पर पकाने के लिए रखे हुए पुरोडाश पर से पकाने में लगे हुए भस्म को हटाना अपोहन है। पुरोडाशविभस्मीकरणम्। दे० प० पृ० ४२।

पुरोडाशोद्वासन (क्रिया)—गार्हपत्यखर में पकाने के लिए कपाल पर पुरोडाश रखे जाते हैं। पुरोडाश के पक जाने पर उन्हें उठाकर पुरोडाशपात्री में रखना पुरोडाशोद्वासन है। उद्वास्य। का० श्रौ० २. ८. १४।

पुरोनुवाक्या (मन्त्र)—याग के समय जिस देवता का याग प्रस्तुत होता है उस देवता के निमित्त मन्त्रपाठ के लिए अध्वर्यु होता को प्रैष देता है। तब होता जो मन्त्रपाठ करता है वह पुरोनुवाक्या है। ये मन्त्र ऋग्वेदीय होते हैं। उदाहरण रूप में अग्नि की पुरोनुवाक्या यह है। अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्। ऋ० सं० ६. १६. ३४।

पुष्कल (मान)—आठ किंचित् (मानविशेष) को पुष्कल कहते हैं। किंचिदष्टौ तु पुष्कलम्। य० पा० श्लोक २१। पौर्णमास याग में यदि देवता विपर्यास हो जाय तो गाय-बैल प्रभृति दान करने को कहा गया है। यह देय वस्तु पुष्कल है।

धेनुर्वा यदि वानडवान्मेषकान् द्वादशापि वा।
देवतानां विपर्यासे एतत्पुष्कलमुच्यते ॥ य० पा० २२–२३

पुंश्चलू (व्यक्ति)—व्यभिचारिणी स्त्री को पुंश्चलू कहते हैं। यह महाव्रत में ऋत्विजों की निन्दा करती है। पुंश्चलूर्जघनचपला स्त्री। दे० प० पृ० ४३१।

पूतभृत् (पात्र)—यह चौड़े मुँह वाला मिट्टी का पात्र है। अग्निष्टोमयाग में उत्तर वाले शकट पर स्थापित आहवनीय के पूर्व में इसके रखने का स्थान है। पूर्वेणाक्षमुपरि-पूतभृत्। का० श्रौ० ९. २. २०।

पूर्णपात्र (द्रव्य)—१ चार पुष्कल चावल को पूर्णपात्र कहते हैं। २ जल भरने का पात्र भी पूर्णपात्र है। १ पुष्कलानि च चत्वारि पूर्णपात्रं प्रचक्षते। य० पा० श्लोक २२।

यावता बहुभोक्तुस्तु तृप्तिः पूर्णेन जायते।
नावरार्घ्यं ततः कुर्यात्पूर्णपात्रमिति स्थितिः ॥ क० प्र०

२ पूर्णपात्रम्। दे० प० पृ० ३०।

पूर्णपात्रनिनयन (क्रिया)—अध्वर्यु द्वारा यज्ञकाष्ठ से बने पूर्णपात्र का जल यजमान की अंजलि में गिराना पूर्णपात्रनिनयन है। पूर्णपात्रं निनयति। का० श्रौ० ३. ८. ८।

पूर्णाहुति (कर्म)—पूर्णया स्रुचा आहुतिः पूर्णाहुतिः। आज्यसे पूर्ण स्रुची से आहुति करना पूर्णाहुति है। पूर्णाहुत्यन्ते। का० श्रौ० २०. १. २०।

पूर्वपरिग्रह (क्रिया)—वेदि के उपयुक्त भूमि को वज्र से रेखा करते हुए नापना परिग्रह है। दर्शपौर्णमास प्रभृति श्रौतयागों में यह वेदिनिर्माणकार्य दो बार किया जाता है। पहला पूर्वपरिग्रह कहलाता है। पूर्वपरिग्रहं परिगृह्णाति। का० श्रौ० २. ६. १८।

पृष्ठ्या (स्थान)—अग्निष्टोम याग विहार के ठीक मध्य में अन्तःपात्य से उत्तरवेदि तक चार अङ्गुल ऊँचा और उतना ही चौड़ा एक चबूतरा सा होता है। यह पूर्व से पश्चिम तक विहार को दक्षिण उत्तर में विभक्त करता है। पृष्ठ्यामुभयतः। दे० प० पृ० २७९।

पैतृकीवेदि (स्थान)—चातुर्मास्य याग की पित्र्येष्टि के निमित्त एक पुरुष के बराबर नाप की लम्बी और चौड़ी चतुरस्र वेदि बनानी चाहिए। इस वेदि के कोण विदिशा में रहते हैं। इसमें वृत्तार्द्ध आकार का एक खर (कुण्ड) बनाना चाहिये। का० श्रौ० ५. ८. २१। चातुर्मास्ययाग का विहार देखें। अवान्तरदिक्स्रक्तिम्।

पोता (व्यक्ति)—पुनातीति पोता। यह सोमयाग में ब्रह्मगण का चतुर्थ ऋत्विज् है। इसे ब्रह्मा की अपेक्षा चतुर्थांश दक्षिणा मिलती है। श्रौत में इसे चतुर्थी कहते हैं। षोडशर्त्विजः पोतृ०। का० श्रौ० ७. १. ७।

पोतृधिष्ण्या (स्थान)—अग्निष्टोम याग के सदोमण्डप में धिष्ण्याएँ बनायी जाती हैं। जिस धिष्ण्या से पश्चिम में पोता नामक ऋत्विज् बैठता है वह पोतृधिष्ण्या है। धिष्ण्यान्निवपति। का० श्रौ० ८. ६. १२। अग्निष्टोमयाग विहार देखें।

पौर्णमासयाग (कर्म)—पूर्णिमा को अन्वाधान करके दूसरे दिन जो याग किया जाता है वह पौर्णमासयाग है। पूर्वां पौर्णमासीमुत्तरांवोपवसेत्। का० श्रौ० २. १. १।

प्रउगचिति (स्थान)—शत्रु से घिरा हुआ व्यक्ति जिस चिति का चयन करता है, वह प्रउगचिति है। प्रउगचितिं चिन्वीत भ्रातृव्यवान्। स० श्रौ० १२. ८. ६।

प्रकृति और विकृति (कर्म)—श्रौतयाग में कुछ प्रकृतियाग हैं और कुछ विकृति याग हैं। जो प्रथम कथित हैं और जिसमें दूसरों का धर्मातिदेश नहीं होता है वह प्रकृति है। जिसमें दूसरे (प्रकृति) का धर्मातिदेश होता है वह विकृति है।

प्रकृति	विकृति
दर्शपूर्णमासयाग	अन्य इष्टियाँ और दर्विहोम
सान्नाय्यवती दर्शेष्टि	अन्य पयोद्रव्यवान् याग
अग्नीषोमीयपशुयाग	अन्य पशुयाग
अग्नीषोमीयसवनीयपशुयाग	एकादशिनी प्रभृति पशुयाग
एकादशिनीपशुयाग	पशुगणयाग
चातुर्मास्ययाग का वैश्वदेवपर्व	चातुर्मास्ययाग के वरुणप्रघास, साकमेध, शुनासीरीय आदि पर्व।

प्रकृति	विकृति
सोमयाग का अवभृथयाग	अन्य अवभृथयाग
प्रातःसवन	अन्यसवन
अंशु और अदाभ्यग्रह	अन्यग्रह
सुपर्णचिति	अन्यचिति
ज्योतिष्टोम	एकाह और द्वादशाह
अग्निष्टोम	शेष सोम संस्था
द्वादशाह सत्र	अन्य सत्र
गवामयनसत्र	संवत्सरसत्र प्रभृति अन्य सत्र ।
	का० श्रौ० ५.११.९ ।

प्रचरणी (पात्र)—वैकङ्कत काष्ठ की बनी, जुहू सदृश एक स्रुची को प्रचरणी कहते हैं। आकार में समान आकार होते हुए भी यह जुहू से बड़ी होती है। प्रचरणीसंस्रवमग्निष्टोमे जुहोति। का०श्रौ० ९.३.१३ ।

प्रचरणीय महावीर (पात्र)—अग्निष्टोम याग के प्रवर्ग्यविधान में तीन महावीरपात्र बनाये जाते हैं। जिस पात्र में घर्म तैयार होता है वह प्रचरणीय महावीर है। महावीरम्० । दे० प० पृ० २६५ । इसे परिशिष्ट में देखें।

प्रजाकामेष्टि (कर्म)—प्रजा की अभिलाषा हो तो यह इष्टि करनी चाहिए। विन्दते प्रजाम्० । तै० सं० २.२.५ ।

प्रजाकाम्यपशुयाग (कर्म)—प्रजा की कामना से किया जाने वाला पशुयाग प्रजाकाम्यपशुयाग है। यः प्रजाकामः स्यात्स एतामवि०, वशामालभेत० । मै० सं० २.५.२ ।

प्रजादेश (क्रिया)—राजसूययाग में देवसूहविर्याग के अनन्तर अध्वर्यु समस्त प्रजा को आदेश देता है। वह कहता है कि राजसूय याग करने वाले राजा का आदेश प्रत्येक प्रजाजन को मानना अनिवार्य है। एष वः पाञ्चालो राजा० । दे० प० पृ० ४७८ ।

प्रजापति महासत्र (कर्म)—इस सत्र का अनुष्ठान बारह वर्ष में समाप्त होता है। इसके अनुष्ठान से समस्त ऋद्धि की प्राप्ति होती है। सर्वर्द्धिकामा अत्राधिकारिणः । ता० ब्रा० सा० भा० २५.६.२ ।

प्रणवप्रयोग (क्रिया)—दान, यज्ञ, तप, स्वाध्याय, जप, ध्यान, सन्ध्योपासन, प्राणायाम, देवकार्य, पितृकार्य, मन्त्रोच्चारण और ब्रह्मा के कृत्य के प्रारम्भ में प्रणव का प्रयोग विहित है। दानयज्ञतपः० । दे० प० पृ० ४० ।

प्रणवोच्चारण (क्रिया)—प्रयोग के समय प्रत्येक मन्त्र के आरम्भ में प्रणव का उच्चारण करना आवश्यक है। प्रणवमुच्चार्य प्रवर्तयेत् । दे० प० पृ० ४० ।

प्रणीता (पात्र)—यह वारणकाष्ठनिर्मित एक पात्र है। यह बारह अङ्गुल लम्बी, छ अङ्गुल चौड़ी, चार अङ्गुल गहरी और परिधि युक्त होती है। इसके मूल में दो अङ्गुल का डण्डा होता है। इसमें पानी भरकर आहवनीय के उत्तर में रखते हैं। इसी पानी से दर्शपौर्णमास याग का अवभृथ विधान होता है। चमसपात्रों का भी यही आकार है।
प्रणीता द्वादशांगुला विस्तारे च षडङ्गुला।
चतुरङ्गुल खाता स्यात्०। य० पा० १२६-१२७।

प्रणीताप्रणयन (क्रिया)—प्रणीतानां स्वस्थाने स्थापनं प्रणीताप्रणयनम्। अध्वर्यु द्वारा दर्शपौर्णमास याग में आहवनीय के उत्तर में प्रणीता रखना प्रणीता-प्रणयन है। ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि। का० श्रौ० २.३.२।

प्रतिगर (मन्त्र)—अग्निष्टोम प्रभृति यागों में होता द्वारा शस्त्र पाठ करने पर अध्वर्यु 'ओथामो दैवो३म्' या 'मदामो दैवो३म्' प्रभृति जिन वाक्यों से होता का उत्साह वर्धनार्थ साधुवाद करता है, वह प्रतिगर है। ओथामो दैवेति प्रतिगृणाति। का० श्रौ० ९.१३.२९।

प्रतिप्रस्थाता (व्यक्ति)—यह सोमयाग में अध्वर्युगण का दूसरा ऋत्विज् है। इसे अध्वर्यु की अपेक्षा आधी दक्षिणा मिलती है। इसे अर्धी भी कहते हैं। षोडशर्त्विजः० प्रतिप्रस्थातृ०। का० श्रौ० ७.१.७।

प्रतिप्रस्थातृवेदि (स्थान)—चातुर्मास्य याग में दो वेदियाँ बनाई जाती हैं। उत्तर की वेदि अध्वर्यु की ओर दक्षिण की प्रतिप्रस्थाता की कही जाती है। दोनों वेदियों में एक साथ याग होने के कारण दो वेदियों की अपेक्षा होती है।
प्रतिप्रस्थातुर्दक्षिणा०। दे० प० पृ० १४३। चातुर्मास्ययाग विहार द्रष्टव्य है।

प्रतिहर्ता (व्यक्ति)—यह सोमयाग में उद्गातृगण का तृतीय ऋत्विज् है। इसे उद्गाता की अपेक्षा तृतीयांश दक्षिणा मिलती है। इसीलिए इसे तृतीयी भी कहते हैं। यह साम मन्त्र के प्रतिहार अंश का गान करता है। षोडशर्त्विजः० प्रतिहर्तृ०। का० श्रौ० ७.१.७।

प्रतीहार (व्यक्ति)—हाथ में लकड़ी लेकर अन्तःपुर की रक्षा करने वाले व्यक्ति को प्रतीहार कहते हैं। क्षत्ता इसका पर्यायवाची शब्द है। श० ब्रा० सा० भा० ५.२.५.७।

प्रत्यभिघारण (क्रिया)—स्रुची में हवि का अवदान लेने के बाद ऊपर से जो आज्य लिया जाता है वह प्रत्यभिघारण है। अवदानप्रत्यभिघारणम्०। पा० प० ७।

प्रत्यवनेजन (क्रिया)—पिण्डपितृयज्ञ में पिण्डदान के बाद हाथ में जल लेकर पिण्डों पर जो जल छोड़ा जाता है वह प्रत्यवनेजन है। अवनेज्य पूर्ववत्०। का० श्रौ० ४.१.१५।

प्रत्याक्रमण (क्रिया)—याग की आहुति देकर अध्वर्यु का अपने स्थान पर लौटना प्रत्याक्रमण है। अध्वर्यु को दाहिना पैर आगे रखते हुए यजति स्थान से जुहोति स्थान पर लौटना चाहिए। सव्येनेतो दक्षिणेनामुतः०। का० श्रौ० ३.१.१८।

प्रत्याश्रावण (मन्त्र)—अध्वर्यु याग करने के लिए हाथ में स्रुची लेकर यजतिस्थान पर स्थित 'ओ३श्रा३वय' कहता है। यह सुनकर आग्नीध्र जो 'अस्तु श्रौ ३षट्' कहता है, वह प्रत्याश्रावण है। प्रत्याश्रावितेः०। का० श्रौ० ३.३.१५।

प्रथन (क्रिया)—पुरोडाश के निमित्त सने हुए आटे का पिण्ड कपाल पर रखकर कपाल की बराबरी में सने हुए आटे को फैलाना प्रथन है। प्रथा सर्वेषु कपालेषु प्रसारणम्०। दे० प० पृ० ९१।

प्रपद (अवस्था)—पैर की अङ्गुलियों के पास का हिस्सा प्रपद है। पादाग्रं प्रपदम्०, इत्यमरः।

प्रपदस्थापन (क्रिया)—यजमान द्वारा वेदि की दक्षिण श्रोणी में प्रपद का रखना प्रपदस्थापन है। अङ्गुष्ठाभ्यां चावबाधते०। पादाभ्याम्०। का० श्रौ० ३.१.७।

प्रयाज (कर्म)—प्रकर्षेण इज्यन्ते देवता यैः। याग से पूर्व जो आज्य की नियत आहुति दी जाती है, उसे प्रयाज कहते हैं। विभिन्न यागों में विधान के अनुसार उनकी संख्या पाँच, नव और ग्यारह होती है। प्रयाजानतिप्रदीप्तेऽग्निप्रदेशे जुहोति०। दे० प० पृ० ५७।

प्रयाजशेषाभिघारण (क्रिया)—प्रयाज हो चुकने पर जुहू में बचे हुए आज्यस्थाली में छोड़ना प्रयाजशेषाभिघारण है। एत्य जुह्वाभिघारणम्०। का० श्रौ० ३.३.९।

प्रयुग्घविर्याग (कर्म)—इनकी संख्या बारह है। एक वर्ष तक प्रत्येक पूर्णिमा को इनका अनुष्ठान होता है। राजसूय याग में इनको करने का विधान है। द्वादशोत्तराणि प्रयुग्घवींषि०। का० श्रौ० १५.९.७।

प्रवर (व्यक्ति)—किसी भी गोत्र में गोत्र वाले ऋषि के अनन्तर उत्पन्न उत्कृष्ट ऋषियों के नाम को प्रवर कहते हैं। अध्वर्यु होता के प्रवरों का उच्चारण करते हुए होतृवरण करता है। प्रणवेन सन्धाय०। शां० श्रौ० १.४.१४।

प्रवरण (क्रिया)—प्रवर का उच्चारण करते हुए ऋत्विज् का जो वरण (नियुक्ति) किया जाता है वह प्रवरण है। यदि यजमान ब्राह्मणेतर हो तो यजमान के पुरोहित के प्रवरों का उच्चारण करना चाहिए। यदि किसी के प्रवर में सन्देह हो तो केवल 'मानव' शब्द का ही उच्चारण करे। अथ प्रवृणीते०। का० श्रौ० ३.२.७। पुरोहितप्रवरेणाब्राह्मणस्य०। शां० श्रौ० १.४.१७।

प्रवर्ग्य (कर्म)—प्रवर्ग्य और घर्म पर्यायवाची शब्द हैं। अग्निष्टोमयाग में प्रवर्ग्य विधान विहित है। महावीर सम्बन्धी समस्त कार्य प्रवर्ग्य हैं। प्रवर्ग्येण चरति०। का० श्रौ० २६.२.१। इस अनुष्ठान को अग्निष्टोमयाग में देखें।

प्रवर्ग्योत्सादन (क्रिया)—प्रवर्ग्य सम्बन्धी समस्त पात्रों को यथाविधि उत्तरवेदि पर रखना प्रवर्ग्योत्सादन है। उपसदन्ते प्रवर्ग्योत्सादनम्० । का० श्रौ० २६.७.१ ।

प्रवास (क्रिया)—याग सम्बन्धी सामग्री को अर्जित करने के लिए आहिताग्नि का अपने ग्राम या नगर की सीमा से बाहर जाना प्रवास है।
ग्रामान्तरे नगर्यां वा पल्यां वान्यत्र कुत्रचित् ।
सीमामतीत्य चेद्रात्रौ वासः प्रवसनं स्मृतम् ।। दे० प० पृ० ११७ ।

प्रवासविधान (क्रिया)—आहिताग्नि अपनी इच्छानुसार कहीं परदेश नहीं जा सकता। उसे ग्रामान्तरमें जाना हो तो यागोपकरण के अर्जन के निमित्त ही जा सकता है, अन्यथा नहीं। वह भी प्रवासविधान के अनुसार ही परदेश जा सकता है। यदि पत्नी को भी साथ में ले जाना चाहे तब तो अरणि में अग्नि का समारोप करके अरणि और याग के समस्त उपकरण उसे साथ में लेकर जाना होगा। प्रवास में भी उसे याग सम्बन्धी अपना यजमान कृत्य करना होगा। प्रवसन् याजमानं कुर्यात्० । का० श्रौ० ४.१२.१५ ।

प्रवासागमन (विधान)—अग्निहोत्री को प्रवास से वापस लौटते समय जहाँ से उसकी यज्ञशाला का छप्पर दिखाई दे वहाँ से मौन रखना चाहिए। जाते समय भी ऐसा ही करना आवश्यक है। घर पर आकर शुचि होकर सर्वप्रथम यज्ञशाला में जाकर अग्नि का उपस्थान करना होगा। उसके बाद अपने कुटुम्ब की ओर उन्मुख होना विहित है। एत्य च मत्या वाग्यमनम्० । का० श्रौ० ४.१२.१६ ।

प्रवृञ्जनीयखर (स्थान)—प्रवर्ग्यविधान में गार्हपत्य खर के उत्तर की ओर १८×१८×१ अङ्गुल का एक प्रवृञ्जनीयखर होता है। उसी खरपर प्रवर्ग्य का अनुष्ठान विहित है। गार्हपत्य० उत्तरेण निवपति० । का० श्रौ० २६.२.३० ।

प्रशास्ता (व्यक्ति)—यह अग्निष्टोम याग का एक ऋत्विज् है। देखें मैत्रावरुण ।

प्रसर्पण (क्रिया)—अग्निष्टोम याग में विधान के अनुसार देवयजन से बाहर जाना प्रसर्पण है। इस विधान में अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, उद्‌गाता, प्रतिहर्त्ता और यजमान सम्मिलित रहते हैं। झुके हुए सब बाहर निकलते हैं। एक हाथ से अपने आगे वाले का कच्छ पकड़े रहते हैं। अध्वर्यु प्रतिप्रस्थातृ० । का० श्रौ० ९.६.२५ ।

प्रसृत (मान)—परस्पर चिपकी और फैली हुई एक हाथ की अँगुलियों के कोश को प्रसृत कहते हैं। एकेन प्रसृतः० । नि० प० ७ ।

प्रस्तर (द्रव्य)—याग के समय वेदि में दक्षिण की ओर विधृति नाम के दो दर्भ रखकर उन पर जो दर्भमुष्टि रखी जाती है, वह दर्भमुष्टि प्रस्तर शब्द से व्यवहृत है। तयोः प्रस्तरं स्तृणाति० । का० श्रौ० २.८.१० ।

प्रस्तरप्रहरण (क्रिया)—होता द्वारा सूक्तवाक पाठ हो चुकने पर अध्वर्यु आहवनीय में जो प्रस्तर (दर्भमुष्टि) का प्रक्षेप करता है वह प्रस्तर प्रहरण है । अनुप्रहरेति० । का० श्रौ० ३.६.७ ।

प्रस्तराञ्जन (क्रिया)—वेदि में दक्षिण की ओर विधृति संज्ञक (दो दर्भ) पर प्रस्तर (दर्भमुष्टि) रखा रहता है । उसे उठाकर उसका अग्र जुहू्वा के उपभृत् के और मूल ध्रुवा के आज्य में डुबोना प्रस्तराञ्जन है । अग्रं जुहू्वां० । का० श्रौ० ३.६.६ ।

प्रस्तार (स्थान)—अग्निचयन याग में इष्टका जमा कर प्रस्तार बनाये जाते हैं । पाँच प्रस्तारों की एक चिति कही जाती है । सुपर्णचिति, श्येनचिति इत्यादि चितियों के नाम हैं । प्रथमा चितिरुक्ता । दे० प० पृ० ५६१ ।

प्रस्तोता (व्यक्ति)—यह सोमयाग में उद्गातृगण का दूसरा ऋत्विज है । इसे उद्गाता की अपेक्षा आधी दक्षिणा मिलती है । इसीलिए इस ऋत्विज् को अर्धी कहते हैं । यह साम मन्त्र के प्रस्ताव अंश का गान करता है । षोडशर्त्विजः० प्रस्तोतृ० । का० श्रौ० ७.१.७ ।

प्राक्प्रवणा (स्थान)—वेदि की भूमि ढालू बनायी जाती है । यह प्राक्प्रवणा या उदक्प्रवणा बनानी चाहिए । यदि पूर्व में नीची हो तो उसे प्राक्प्रवणा कहेंगे । प्राक्प्रवणमुदग्वा० । का० श्रौ० ७.१.१३ ।

प्राग्वंश (स्थान)—देवयजन की छाया प्राग्वंश या उदग्वंश होती है । यदि छाया के मध्य का बाँस पूर्वाग्र हो तो प्राग्वंश छाया और उदगग्र रहे तो उदग्वंश छाया कहलाती है । सोमयाग का हविर्धानमण्डप प्राग्वंश होता है । प्राग्वंशम्० । का० श्रौ० ७.१.१५ ।

प्राचीनावीती (क्रिया)—दाहिने कन्धे पर यज्ञोपवीत रखने से प्राचीनावीती कहा जाता है । यह प्राचीनावीती पितृकार्य के उपयुक्त है । प्राचीनावीती । का० श्रौ० ५.९.१८ ।

प्रातरनुवाक (मन्त्र)—अग्निष्टोमयाग में होता द्वारा ऋग्वेदोक्त प्रातरनुवाक के मन्त्रों का पाठ होता है । यह पाठ प्रथम स्वर में होना चाहिए । प्रातरनुवाकोपाकरणम्० । का० श्रौ० ९.१.१० ।

प्रादेश (मान)—विस्तृत किये हुए अङ्गुष्ठ और तर्जनी के मध्य भाग को प्रादेश कहते हैं । दक्षिणेन प्रादेशेन० । शां० श्रौ० १.५.८ ।

प्रादेशकरण (क्रिया)—वेदि की उत्तरश्रोणी पर प्रादेश रखना प्रादेशकरण है । यह होता करता है । प्रादेशेन भूमिमन्वारभ्य जपति० । शां० श्रौ० १.५.८ ।

प्रायणीयेष्टि (कर्म)—यह इष्टि अग्निष्टोम याग में की जाती है । इसमें चरु से अदिति देवता के निमित्त याग होता है । आदित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति । श० ब्रा० ३.२.३.१ ।

प्रायश्चित्त (कर्म)—यज्ञिय क्रियाकलाप में किसी कारण से उत्पन्न हुई त्रुटि के परिमार्जन की प्रक्रिया को प्रायश्चित्त कहते हैं। यह त्रुटि जब हो उसी समय प्रचलित विधान को वहीं पर रोककर उसका प्रायश्चित्त करके तब आगे का काम करना चाहिए। कर्मोपपाते प्रायश्चित्तं तत्कालम्०। का० श्रौ० २५.१.१।

प्राशित्र (पात्र)—यह एक यज्ञपात्र है। इसकी लम्बाई पाँच अङ्गुल और चौड़ाई चार अङ्गुल होती है। इसपर हविर्द्रव्य रखकर उस पर दूसरा पात्र ढँक कर ब्रह्मा को दिया जाता है। प्राशित्रहरणं कुर्यात्०। या० पा० श्लो० १२२।

प्राशित्रप्राशन (क्रिया)—अध्वर्यु प्राशित्र पात्र पर हवि को रखकर ब्रह्मा को देता है। ब्रह्मा द्वारा उस हविर्भाग का भक्षण प्राशित्रप्राशन है। अत्र वा ब्रह्मा प्राश्नाति०। का० श्रौ० ३.४.२४।

प्राशित्रहरण (क्रिया)—यह वारण काष्ठ का वह पात्र है, जिसपर प्राशित्रसंज्ञक हवि को रख कर ब्रह्मा को दिया जाता है। इसकी लम्बाई पाँच अङ्गुल और चौड़ाई चार अङ्गुल होती है। पीछे की ओर दो अंगुल का डण्डा होता है। ये दो होते हैं। एक पर पुरोडाश भाग रखा जाता है और दूसरा ऊपर से ढँका जाता है।

प्राशित्रहरणं कुर्यात्पञ्चाङ्गुलप्रमाणकम्।
आदर्शाकारवन्मध्ये०॥ य० पा० श्लो० १२२।

प्रोक्षण (क्रिया)—यज्ञीय पदार्थ को शुद्ध करने के लिए प्रोक्षणी के जल में पवित्र को डुबोकर जल और पात्र आदि पर जल छिड़कना प्रोक्षण है। तासां प्रोक्षणम्०। का० श्रौ० २.३.३५।

प्रोक्षणी (द्रव्य)—हविर्द्रव्य, पात्र और वेदि के प्रोक्षण के लिए अग्निहोत्रहवणी में जो जल लिया जाता है वह प्रोक्षणी है। जल का आधारभूत वह पात्र भी प्रोक्षणी है। प्रोक्षणीरासादयेध्मम्०। का० श्रौ० २.६.२६।

प्रोहण (क्रिया)—यव या व्रीहि के संस्कार के निमित्त गार्हपत्य से पश्चिम में पश्चिमग्रीव कृष्णाजिन बिछाते हैं। उसपर सिल रखते हैं। सिल के नीचे शम्या रखते हैं। उस सिल पर यव या व्रीहि रखकर उपल से पीसकर आटा तैयार करते हैं। पीसे हुए आटे को उपल द्वारा सिलपर से कृष्णाजिन पर गिराना प्रोहण है। कृष्णाजिने प्रोहति०, का० श्रौ० २.५.७।

फलीकरण (क्रिया)—यव या व्रीहि को कूट, पछोड़ कर साफ करना फलीकरण है। यहाँ यव या व्रीहि की भूसी अलग की जाती है। त्रिःफली करोति०। का० श्रौ० २.४.२२।

बर्हि (द्रव्य)—अग्निशाला की वेदि में बिछाये जाने वाले दर्भ समूह को बर्हि कहते हैं।

तृणसंज्ञास्तु ये दर्भा एकपत्राः स्मृतास्तु ते।
ते बर्हिः संज्ञकादर्भारत्निमात्राधिकाश्च ये॥ य० पा० श्लो० ९।

बर्हिचतुष्टय (द्रव्य)—श्रीपर्णी परिधि, काशमयप्रस्तर, काश के मूल की विधृति और बर्हि यह बर्हिचतुष्टय है। बर्हिश्चतुष्टयम्०। दे० प० पृ० २१०।

बर्हिरास्तरण (क्रिया)—वेदि में दर्भ (बर्हि) का बिछाना बर्हिरास्तरण है। बर्हिः० स्तृणाति०। का० श्रौ० २.७.१६-२२।

बर्हिरुपस्पर्शन (क्रिया)—वेदि में बर्हि बिछी रहती है। होता द्वारा उत्तरश्रोणी में बिछी हुई बर्हि का स्पर्श करना बर्हिरुपस्पर्शन है। उपविश्योर्ध्वजानुदक्षिणेन०। शां० श्रौ० १.५.८।

बर्हिसन्नहन (क्रिया)—बर्हि को बाँधने के लिए नव कुशा को बँटकर तैयार की हुई डोरी को बर्हिसन्नहन कहते हैं। सन्नहनं विस्रंस्य०। का० श्रौ० २.७.२०।

बर्हिहोम (कर्म)—वेदि में बिछायी हुई बर्हि (दर्भों) को बटोरकर आहवनीय में बर्हि का हवन करना बर्हिहोम है। बर्हिः संबर्हिरिति०। का० श्रौ० ३.८.५।

बलभिद्याग (कर्म)—वसन्तऋतु में पशु की कामना से इस याग को करना चाहिए। उद्भिद् नामक याग कर लेने पर यह बलभिद् याग किया जा सकता है। उद्भिदा इष्ट्वा अवश्यं बलभिदायष्टव्यम्०। दे० प० पृ० ७५१।

बार्हस्पत्य अनूबन्ध्या (कर्म)—यह एक याग है। इसमें याग के प्रधान देवता बृहस्पति हैं। अश्वमेधयाग के अन्त में इसका अनुष्ठान होता है। सप्त बार्हस्पत्या०। दे० प० पृ० ६७७।

बृहस्पतिसव (कर्म)—बृहस्पतिसव संज्ञक एक प्रसिद्ध याग है। ब्राह्मणयज्ञ इसका नामान्तर है। वाजपेय याग के प्रारम्भ और अन्त में परियज्ञ के रूप में इसे करने का विधान है। इस याग को करने से यजमान को स्थपति संज्ञक श्रौत की उपाधि प्राप्त होती है। उभयतः शुक्लपक्षौ बृहस्पतिसवेन यजेत०। का० श्रौ० १४.१.२।

ब्रह्मवर्चसकाम्यपशुयाग (कर्म)—ब्रह्मवर्चस की कामना से किया जाने वाला पशुयाग ब्रह्मवर्चसकाम्यपशुयाग है। सौर्यं बलक्षं पेत्वमालभेत ब्रह्मवर्चसकामः०। मै० सं० २.५.११।

ब्रह्मा (व्यक्ति)—यह श्रौतयाग का प्रमुख ऋत्विज है। श्रौतयाग यथाविधि हो इस बात का उत्तरदायित्व इसी पर है। याग के कर्म में वैषम्य होने पर इसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसे सम्पूर्ण श्रौतविधि एवं समस्त ऋत्विजों द्वारा विहित कार्यविधि की जानकारी होनी चाहिए। गोपथब्राह्मण के वचन के आधार पर यह अथर्ववेदी होना चाहिए। यह श्रौतयाग का कर्णधार है। याग के कार्यों में इससे अनुमति माँगनी पड़ती है। ब्रह्मानुज्ञातो०। का श्रौ० ३.५.५।

ब्रह्मासन (स्थान)—अग्निहोत्रशाला में आहवनीय खर के दक्षिण में ब्रह्मा का स्थान होता है। दक्षिणतो ब्रह्मयजमानयोरासने०। का० श्रौ० १.८.२७।

ब्रह्मोद्य (मन्त्र)—ब्रह्मणि वेदे वदनं ब्रह्मोद्यम्० । अश्वमेध याग में ब्रह्मा और होता का ब्रह्म के विषय में विधीयमान प्रश्नोत्तर ब्रह्मोद्य है ।

देखें प्रकृतग्रन्थ का अश्वमेध प्रकरण । श० ब्रा० १३.१.१५.९–१७ ।

ब्रह्मौदन (द्रव्य)—ब्रह्मा के उद्देश्य से होम के लिए और चार ऋत्विजों को पेटभर खाने योग्य जो भात पकाया जाता है वह ब्रह्मौदन है । ब्रह्माणं देवमुद्दिश्य होमार्थं ब्राह्मणानामृत्विजां च प्राशनार्थं च पच्यमान ओदनो ब्रह्मौदनः । तै० ब्रा० १.१.९ ।

ब्राह्मणभोजन (कर्म)—श्रौत सम्बन्धी प्रत्येक याग के अनन्तर ब्राह्मणभोजन कराना आवश्यक है । किस याग में कितना ब्राह्मणभोजन कराना चाहिए इसकी सङ्ख्या निश्चित है । जैसे—प्रायश्चित्त में पाँच, स्मार्ताधान में तैंतीस, श्रौताधान में एक सौ आठ, आग्रयणेष्टि में दस, चातुर्मास्य में चार सौ, पशुयाग में एक सौ, सौत्रामणीयाग में पाँच सौ, सोमयाग में एकसहस्र, वाजपेययाग में और अश्वमेधयाग में चालीस हजार ब्राह्मणभोजन कराना चाहिए । आवसथ्ये त्रयस्त्रिंशत्० । य० पा० श्लो० ७२-७४ ।

ब्राह्मणाच्छंसी (व्यक्ति)—सोमयाग में ब्रह्मगण का यह एक ऋत्विज है । यह ब्रह्मगण का द्वितीय श्रेणी का ऋत्विज है । इसे ब्रह्मा की अपेक्षा आधी दक्षिणा दी जाती है । षोडशर्त्विजः० ब्राह्मणाच्छंसि० । का० श्रौ० ७.१.७ ।

ब्राह्मणाच्छंसिधिष्ण्या (स्थान)—अग्निष्टोम याग के सदोमण्डप में धिष्ण्याएँ बनायी जाती हैं । उनमें एक धिष्ण्या ब्राह्मणाच्छंसि की रहती है । अग्निष्टोम याग देखें ।

भस्मोद्वाप (स्थान)—अग्निहोत्र शाला के खरों में अधिक भस्म हो जाने पर भस्म को निकाल कर जहाँ एकत्र करते हैं उस स्थान को भस्मोद्वाप कहते हैं । भस्मोद्धृत्य यत्र राशीकृतो भवति । दे० प० पृ० १२८ ।

भागपरिग्रहण (क्रिया)—ऋत्विज द्वारा दिया हुआ हविर्भाग स्वीकृत करना भागपरिग्रहण है । अञ्जलिना प्रतिगृह्णाति० । दे० प० पृ० ५९ ।

भागस्थापन (क्रिया)—याग की आहुति हो चुकने पर पुरोडाश शेष में से अध्वर्यु यजमान और ब्रह्मा के भाग की कल्पना करता है । अनन्तर कल्पित भाग का यथास्थान रखना भागस्थापन है । पुरस्तात् ध्रुवायाः करोति० । का० श्रौ० ३.४.४ ।

भिक्ष्यमाणद्रव्यप्राप्तिकामेष्टि (कर्म)—द्रव्य प्राप्ति के निमित्त इस इष्टि का विधान है । निर्वपेत्सनिमेष्यन्० । तै० सं० २.२.६ ।

भूतिकामेष्टि (कर्म)—ऐश्वर्य की प्राप्ति के हेतु इस याग के अनुष्ठान को करने का विधान है । भूतिकामः । तै० सं० २.२.३ ।

भूतिकाम्यपशुयाग (कर्म)—ऐश्वर्य की कामना से किया जाने वाला पशुयाग भूतिकाम्यपशुयाग है । वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः० । तै० सं० २.१.१ ।

भूमिदुन्दुभि (द्रव्य)—गवामयनसत्र में आग्नीध्रीयमण्डप के पश्चिम की ओर एक गड्ढा खोदते हैं। यह गड्ढा आधा वेदि में और आधा वेदि के बाहर रहना चाहिए। उसके चारों ओर शंकु गाड़ते हैं। उन पर बैल का चर्म बाँधते हैं। चारों ओर मिट्टी थोपते हैं। इस प्रकार मिट्टी थोपकर सन्धियों को बन्द कर देते हैं। यह भूमिदुन्दुभि है। सभूमि दुन्दुभिरित्युच्यते। द्रा० सू० ध० भा० १०.३.२.३।

मणिका(पात्र)—आवस्थ्याधान के बाद यज्ञशाला में प्रचुर जल से पूर्ण जो जल का पात्र रखा जाता है वह मणिका है। पा० गृ० ग० भा० पृ० ३६। नि० प० ७।

मदन्ती (द्रव्य)—अग्निष्टोम याग में उपयोग आने वाले जल के अनेक नाम हैं। उनमें से एकका नाम मदन्ती है। वह जल जिस पात्र में रहता है, उसे भी मदन्ती कहते हैं। मदन्तीत्यग्नीत्०। का० श्रौ० ८.२.११।

मधुपर्कार्चन (कर्म)—विष्टर, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय और मधुपर्क (घृत, दही और मधु) प्रभृति से अर्चन करना मधुपर्कार्चन है। तान्मधुपर्केणार्चयित्वा०।
दे० प० पृ० २३३।

मध्यमस्वर—(मन्त्र) कण्ठदेश से उद्भूत स्वर मध्यमस्वर है। माध्यन्दिनसवन में इसका उपयोग है। कण्ठे माध्यन्दिनयुगम्०। पा० शि० ८।

मन्थ (हवि)—१. निवानी गौ के दूध में भुना हुआ जव का आटा छोड़ कर मथा हुआ पदार्थ मन्थ है।

२. अग्निमन्थन के समय जिसमें डोरी लपेटकर मन्थन करते हैं उसे भी मन्थ कहते हैं। एकशलाकया मन्थः०। का० श्रौ० ५.८.१८।

मन्थनचतुष्टय (द्रव्य)—उत्तरारणि, अधरारणि, दर्भ और काष्ठशकल यह मन्थनचतुष्टय है। मन्थनचतुष्टये०। दे० प० पृ० २१०।

मन्द्रस्वर (मन्त्र)—जिस स्वर का उच्चारण उरोदेश से हुआ हो वह मन्द्रस्वर है। प्रातःसवन में इसका उपयोग है।
मारुतस्तूरसिचरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्०। पा० शि० ७।
त्रीणि मन्द्रं मध्यमं उत्तमं च स्थानानि०। ऋ० प्रा० १३. ४२।

मयूख (पात्र)—अजा बाँधने को लकड़ी की खूँटी को मयूख कहते हैं। मयूख को गाड़ कर दूहने के निमित्त उसमें अजा बाँधी जाती है। स्थूणामयूखम्०।
का० श्रौ० २६.२.१५।

महायज्ञकामेष्टि (कर्म)—महायाग करने नें असमर्थ हो तो इस इष्टिको करने का विधान है। महायज्ञेनोपनमेत्०। तै० सं० २.२.७।

महावीणा (द्रव्य)—महाव्रत के अनुष्ठान में अनेक प्रकार की वीणा का वादन होता है। उन वीणाओं में एक महावीणा का वर्णन देखा जाता है। इस वीणा में एक सौ तन्तु (ताँत) होते हैं। इसके बजाने का साधन मिजराप बेंत की होता है। बाणमहावीणा०। ता० ब्रा० सा० भा० ५.६.१२।

महावीर (पात्र)—अग्निष्टोम प्रभृति यागों में प्रवर्ग्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यज्ञ के स्वरूप वर्णन में यह यज्ञ का शिरस्थानीय है। प्रवर्ग्य और घर्म महावीर का पर्याय है। महावीर संज्ञक एक मिट्टी का पात्र बनाया जाता है। यह कई प्रकार की मिट्टी, गवेधुका और दूध प्रभृति से सविधि बनता है। यह पात्र प्रादेशमात्र ऊँचा, चौड़े, पेंदेवाला, चौड़े मुँह वाला और मध्य में कृश होना चाहिए। इसमें घी भरकर खूब खौलाते हैं। अनन्तर उसे मैदान में ले जाते हैं। उसमें दूध छोड़ते हैं। दूध छोड़ते ही उसमें अत्यन्त भयङ्कर ज्वाला निकलती है। दूध छोड़ते-छोड़ते ज्वाला शान्त हो जाती है। पश्चात् उसे पुनः यज्ञशाला में ले आते हैं। उसी पात्र से हवन करते हैं। हुत शेष हविद्रव्य का ऋत्विज लोग पान करते हैं। महावीरं परिषिञ्चति०। का० श्रौ० २६.४.६।
कुर्यात्प्रादेशमात्राणि महावीराणि०। य० पा० श्लो० १८।

महावेदि (स्थान)—अग्निष्टोमयाग की महावेदि प्रकृति शाला से पूर्व में ६ प्रक्रम अन्तः-पात्यसंज्ञक भूमि से छोड़कर पूर्व की ओर बनानी चाहिए। यह पश्चिम में दक्षिण-उत्तर ३० अरत्नि चौड़ी, पूर्व में दक्षिण-उत्तर २४ अरत्नि चौड़ी और पश्चिम से पूर्व ३६ अरत्नि लम्बी बनानी चाहिए। इसमें सदोमण्डप, धिष्ण्या, उपरव, हविर्धानमण्डप, आग्नीध्रीयशाला, मार्जालीयशाला और उत्तरवेदि प्रभृति बनाने का विधान है। तस्मात्पुरस्तात् षट्त्रिंशतिः०। का० श्रौ० ८.३.८। अग्निष्टोम याग विहार देखें।

महाव्रत (कर्म)—'महानवतिष्ठ अनेन कर्मणा इति महाव्रतम्०' इस वचन के आधार पर गवामयन सत्र में इसका अनुष्ठान होता है। तै० ब्रा० सा० भा० १.२.६। महाव्रत-मग्निष्टोमः०। का० श्रौ० १३.२.२१।

महासत्र (कर्म)—इतर साधारण सत्रों को अपेक्षा अधिक दिनों तक जिसका अनुष्ठान चालू रहता है, उसे महासत्र कहते हैं। महासत्राण्यतः०। का० श्रौ० २४.५.१५।

महाहविर्याग (कर्म)—इस याग का अनुष्ठान साकमेधपर्व के अन्तर्गत विहित है। महाहविरुदवसाय०। का० श्रौ० ५.७.४।

महिषी (व्यक्ति)—अश्वमेधयाग करने वाले सार्वभौम राजा की पट्टरानी (पत्नी) महिषी है। यह उत्तम कुलोत्पन्ना राजपुत्री होनी चाहिए। ज्येष्ठा महिषी०। नि० प० ७।

मातृश्राद्धम् (कर्म)—आधान प्रभृति कार्यारम्भ में मातृश्राद्ध होता है। इसमें सत्यवसुसंज्ञक विश्वेदेवा का आवाहन होता है। तीन पार्वण की विधि से श्राद्ध होता है। सव्य से यव लेकर श्राद्ध किया जाता है। दर्भ समूल लेते हैं। ब्राह्मण युग्म होते हैं। पितरों के नामगोत्र का उच्चारण न कर केवल नान्दीमुखाः कहना चाहिए। सम्भवतः यह स्मार्त की देन होनी चाहिए। मातृश्राद्धं कृत्वा०। दे० प० पृ० ९८।

मारुतयाग (कर्म)—आहिताग्नि की पत्नी अथवा गौ को यमल सन्तति उत्पन्न हो तो प्रायश्चित्त रूप में तेरह कपाल पर मारुत पुरोडाश से याग करना चाहिए। भार्यागोषु यमलजनने मारुतं त्रयोदशकपालं निर्वपेत्०। का० श्रौ० २५.४.३५।

मार्जन (क्रिया)—१. पुरोडाश पर पानी लगाकर चिकना करना मार्जन है। २. दर्भ को पानी में भिगोकर शुद्धि के लिए शरीर पर जल छिड़कना भी मार्जन है। मार्जनं श्लक्ष्णीकरणम्०। दे० प० पृ० ९१। पवित्रयोर्मार्जयन्ते। का० श्रौ० ३.५.२१।

मार्जालीयधिष्ण्या (स्थान)—मार्जालीयशाला में १८ × १८ × १ अङ्गुल की धिष्ण्या बनाने का विधान है। अग्निष्टोम विहार देखें।

मार्जालीयशाला (स्थान)—मृज्यन्ते पात्राणि यत्र। अग्निष्टोम याग में मार्जालीयसंज्ञक एक शाला होती है। इसका नाप ५ × ५ × ५ अरत्नि और दक्षिण में द्वार होता है। इसमें ग्रहपात्रों का प्रक्षालन किया जाता है। वेद्यन्ते दक्षिणामुखो मार्जालीयम्०। का० श्रौ० ८.६.२०।

मासरकुम्भ—(पात्र) सौत्रामणीयाग में जिस घड़े में सुरा का निर्माण होता है उसे मासरकुम्भ कहते हैं। मासरकुम्भं प्लावयति०। का० श्रौ० १९.५.१३।

मासिश्राद्ध (कर्म)—यह षष्ठ पाकसंस्था है। स्मार्ताग्नि का उपासक पितरों के उद्देश्य से जो प्रतिमास श्राद्ध करता है वह मासिश्राद्ध है। मासि मासि वोशनम्०। श्रा० सू० १.१।

माहिष्य (व्यक्ति)—क्षत्रिय पुरुष से वैश्या में उत्पादित माहिष्य कहलाता है। क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो माहिष्यः। या० स्मृ० मि० ४.९५।

मित्रविन्देष्टि (कर्म)—श्री, राष्ट्र, मित्र और आयुष्य की कामना हो तो मित्रविन्देष्टि करनी चाहिए। मित्रविन्दाख्यां काम्येष्टिं विधास्यन्०। श० ब्रा० हृ० भा० ११.३.१.१।

मुष्टिबन्धन (क्रिया)—अग्निष्टोम प्रभृति याग के दीक्षाविधान में यजमान और यजमानपत्नी के दोनों हाथों के अङ्गुष्ठ और उसके पास की एक तर्जनी अङ्गुलि को छोड़कर बाकी तीन अङ्गुलियों को बाँधना दीक्षाङ्गमुष्टिबन्धन है। अथाङ्गुलीर्न्यञ्चति०। श० ब्रा० ३.१.३.२५।

मुसल (पात्र)—मुस्यति खण्डयति इति मुसलम्० । यह खदिर काष्ठ का एक यज्ञपात्र है । यह बारह अङ्गुल लम्बा और गोल आकार का होता है । यव और व्रीहि प्रभृति हविर्द्रव्य का कण्डन इसी में होता है । खादिरं मुसलं कार्यम्० । मुसलोलूखलेवार्क्षे स्वायते सुदृढे तथा । दे० प० पृ० ६ ।

मुसली - See under हैयाना

मेक्षण (पात्र)—यह काष्ठ का प्रादेश मात्र खुरपी के आकार का एक पात्र है । इससे चरुस्थाली में से चरु का ग्रहण किया जाता है । मेक्षणेन० । दे० प० पृ० ७४, का० स्मृ० १५.१४ ।

मेखलाबन्धन (क्रिया)—याग के दीक्षाप्रसङ्ग में यजमान और पत्नी की कटि में मेखलाबन्धन दीक्षाङ्गमेखलाबन्धन है । युगपन्मेखलादि० । का० श्रौ० ७.४.५ ।

मैत्रावरुण (व्यक्ति)—यह सोमयाग का होतृगण का द्वितीय ऋत्विज है । इसे होता की अपेक्षा आधी दक्षिणा मिलती है और इसे अर्धी भी कहते हैं । प्रशास्ता इसका नामान्तर है । अग्निष्टोम याग देखें ।

मैत्रावरुणधिष्ण्या (स्थान)—यह अग्निष्टोम आदि के सदोमण्डप में अग्निस्थापन के लिए एक खर होता है । अग्निष्टोम विहार देखें ।

मैत्रावरुणी अनूबन्ध्या (कर्म)—इसका अनुष्ठान अश्वमेधयाग के अन्त में होता है । इसमें प्रधान देवता मित्रावरुण हैं । सप्त मैत्रावरुण्यः० । दे० प० पृ० ६७७ ।

मैत्रावरुणीपयस्येष्टि (कर्म)—सौत्रामणीयाग में इसका अनुष्ठान होता है । इसमें प्रधान देवता मित्रावरुण हैं । पयस्या मैत्रावरुणी० । का० श्रौ० १९.५.२१ ।

यजतिस्थान (स्थान)—वेदि के दक्षिण परिग्रह संज्ञक स्थान पर खड़े होकर आहवनीय खर के अग्नि पर जहाँ से याग होता है, वही यजतिस्थान है । वसुमतीमित्यवस्थाय० । का० श्रौ० ३.१.१९ ।

यजमान (व्यक्ति)—याग करने वाला अग्निहोत्री यजमान कहलाता है । इसे प्रारम्भ में श्रौताग्नि का परिग्रह करना पड़ता है । श्रौत इष्टि का यह सञ्चालक होता है । कर्म के फल का यही अधिकारी है । यह अपनी शाखा के अनुसार अपना कार्य करता है । इसी यजमान की शाखा के अनुसार दूसरे ऋत्विजों की भी शाखा होनी चाहिए और तदनुसार यज्ञिय अनुष्ठान होना चाहिए । यजमानधर्मा० । दे० प० पृ० १३ ।

यजमान भाग (द्रव्य)—अध्वर्यु याग के अनुष्ठान में हविर्द्रव्य पुरोडाश की आहुति करके शेष में से थोड़ा भाग लेकर एक काष्ठ की कटोरी में रखकर ध्रुवा के आगे रखता है । यह यजमानभाग है । यजमानभागम्० । का० श्रौ० ३.४.४ ।

यजमानभाग (पात्र)—जिस (यज्ञकाष्ठ के) पात्र में यजमान को हविःशेष दिया जाता है वह यजमानभागपात्र है । यजमानभागं० पुरस्ताद्ध्रुवायाः करोति० । का० श्रौ० ३.४.४ ।

यजमानासन (स्थान)—यज्ञशाला में आहवनीय के दक्षिण और ब्रह्मा के आसन से पश्चिम में यजमान का आसन निश्चित है। दक्षिणतो ब्रह्मयजमानयोरासने०। का० श्रौ० १.८.२७।

यज्ञकामेष्टि (कर्म)—याग करने की अभिलाषा हो तो इसका विधान है। आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत्०। तै० सं० २.२.९।

यज्ञोपवीती (व्यक्ति)—बायें कन्धे पर जनेऊ रखने वाला यज्ञोपवीती है। यह देवकार्य के उपयुक्त है। यज्ञोपवीती०। शां० श्रौ० ३.१६.१४।

यथायतननिधान (क्रिया)—वेदि में आसादित स्रुची से याग किया जाता है। उनका पुनः यथास्थान रखना यथायतननिधान है। निधाय०। का० श्रौ० ३.३.२९।

यवन (क्रिया)—श्रौत यागों में पुरोडाश बनाने के लिए आटे में जल मिलाना यवन कहा जाता है। यवनं पिष्टस्योदकमिश्रणम्०। दे० प० पृ० ९१।

यवागू (हवि)—चावल पकाने के समय पानी कुछ अधिक छोड़कर चावल पकाया जाय और चावल बिलकुल पक जाय तो यवागू तैयार होता है। तण्डुलैः शिथिलपक्वा यवागूरिति कर्काचार्याः। यवागूर्विरलद्रव्या, इत्यमरः। यवागूरल्पतण्डुलचूर्णमिश्रं द्रवरूपमन्नमिति स्मृतिचन्द्रकारः०। पेया यवागूरिति धूर्तस्वामिनः। दे० प० पृ० ७८।

याग (कर्म)—द्रव्य, देवता और देवता के उद्देश्य से यजमान द्वारा हवि का त्याग करना याग है। द्रव्यं देवतात्यागः०। का० श्रौ० १.२.२।

यागकाल (काल)—प्रत्येक याग का समय भिन्न-भिन्न और निश्चित कहा है। किसी का ऋतुप्रधान तो किसी का नक्षत्र प्रधान कहा है। इस प्रकार प्रत्येक याग का समय नियत है। वसन्तेऽग्निष्टोमः०। का० श्रौ० ७.१.५।

यागसंख्या (कर्म)—श्रौतसूत्र में कही हुई समस्त यागों की संख्या १५७२८५२ है।

द्वासप्ततिसहस्राणि तिथिलक्षयुतानि च।
शतानामष्टकं चैव द्विपञ्चाशत्समन्वितम्॥ द्रष्टव्य है।

यागस्थल (स्थान)—जहाँ स्वाभाविक रूप से कृष्णसार मृग विचरण करते हों वह यागोपयुक्त स्थान है। मनुस्मृति २.२३।

यूप (द्रव्य)—पशु याग में पशु को बाँधने के लिए यूप की आवश्यकता होती है। यह तीन, पाँच अरत्नि से इक्कीस अरत्नि तक यथाविहित लम्बा होता है। उसमें चौदह अरत्नि का न होना चाहिए। ये पालाश, बिल्व, खदिर आदि काष्ठ के होते हैं।

यथैवात्मा तथा यूपो यूपे ह्यात्माप्रतिष्ठितः।
आत्मा वै यजमानस्य यूपत्वमनुगच्छति॥ यू० ल० ४।

यूपाष्टक (द्रव्य)—यूप, चषाल, प्रथमशकल, यूपवेष्टन, जल, यव, कुशमुष्टि और यूप में लगाने के लिए आज्य इन आठ वस्तुओं की यूपाष्टक संज्ञा है। यूपाष्टक०। दे० प० पृ० २१०।

योक्त्र (द्रव्य)—मूंज को बँटकर विशेष प्रकार से बनायी हुई डोरी योक्त्र है। अध्वर्यु इसे यजमानपत्नी की कटि में पहनाता है।

व्याममात्रं तु योक्त्रं स्यान्मौञ्जं वै त्रित्रिवृद्वृतम्।
स्वऋषिग्रन्थिसंयुक्तमन्ते पाशद्वयं भवेत्॥

य० पा० श्लो० ७६। पत्नीोर्ठसन्नह्यति०। का० श्रौ० २.७.१।

योक्त्रबन्धन (क्रिया)—याग के दीक्षाविधान में पत्नी की कटि में मूंज का योक्त्र बाँधना दीक्षाङ्गयोक्त्रबन्धन है। युगपन्मेखलादि। योक्त्रेण वा०। का० श्रौ० ७.४.५-६।

रजतदर्पण (वस्तु)—दशपेय संज्ञक याग में रजत जटित दर्पण को प्रतिप्रस्थाता अपने सिर में बाँधता है। राजतः प्रतिप्रस्थातुः। ला० श्रौ० ९.२.१३।

रत्नहविर्याग (कर्म)—इन यागों की संख्या बारह है। इनका अनुष्ठान राजसूय याग में सेनापति, पुरोहित प्रभृति के घरों में सम्पन्न किया जाता है। प्रत्येक याग में देवता हविर्द्रव्य और दक्षिणा भिन्न-भिन्न है।

द्वादशाहेन रत्निनां हवींषि०। बौ० श्रौ० २६.१। देखें प्र० ग्र० रत्नहविर्याग।

रथकार (व्यक्ति)—माहिष्य पुरुष से करणी स्त्री में उत्पन्न रथकार कहलाता है। माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते। या० स्मृ० ४.९५।

रथचक्रचिति (स्थान)—शत्रु से घिरा हुआ व्यक्ति जिस चिति का चयन करके अग्निचयन याग करता है वह रथचक्रचिति है। चयनयाग में चित्र देखें।

रराटी (स्थान)—अग्निष्टोमयाग के मण्डप में पूर्वद्वार के ऊपर के बाँस को रराटी कहते हैं। यद्यपि उक्तस्थान में एक डोरी बाँधकर कुछ लोग उसे रराटी कहते हैं, किन्तु आधुनिक याज्ञिक परम्परा में पूर्वोक्त कथन ही मान्य है। रराट्यां पुरस्तात्०। का० श्रौ० ८.३.२३।

रसकामेष्टि (कर्म)—रस को कामना हो तो इस इष्टि को करने का विधान है। अग्नये रसवतेऽजक्षीरं चरुं निर्वपेत्०। तै० सं० २.२.४।

राजसूययाग (कर्म)—यह एक याग है। सर्वप्रथम इसका अनुष्ठान वरुण ने किया था। क्षत्रिय को इस याग के करने का अधिकार है। क्षत्रिय भी चक्रवर्ती राजा होना चाहिए। इसके अनुष्ठान से 'राट्' संज्ञक श्रौत की उपाधि प्राप्त होकर स्वर्गप्राप्ति होती है। राजा स्वर्गकामो राजसूयेन यजेत०। आप० श्रौ० १८.८.१।

राजासन्दी (पात्र)—सोम को राजा कहा गया है। पूजनीय होने से उसे देवयजन में आसन्दी पर स्थापित किया जाता है। यह चार पाये की मूंज से बीनी रहती है। औदुम्बरीमासन्दीम्० । दे० प० पृ० २६० ।

राष्ट्रभृद्धवन (कर्म)—इस हवन को अग्निचयन याग में करने का विधान है। द्वादश राष्ट्रभृतो जुहोति० । दे० प० पृ० ६०१ ।

रुक्कामेष्टि (कर्म)—कान्ति की कामना में इस याग को करने का विधान है। अग्नये रुक्मते० । तै० सं० २.२.३ ।

रुक्मोपगूहन (क्रिया)—सुवर्ण या रजत के गोल आकार के आभूषण को रुक्म कहते हैं। प्रवर्ग्य विधि में रजतरुक्म को घर्म के नीचे खर में गाड़ते हैं। और सौवर्ण रुक्मको महावीर पात्र के ऊपर रखते हैं। रजतशतमानं खर उपगूहति० । का० श्रौ० २६.२.३९ ।

रुङ्मरुतीहवन (कर्म)—अग्निचयनयाग में इस हवन का विधान है। रुङ्मरुतीर्जुहोति० । श० ब्रा० ९.३.४.१२ ।

रौहिणकपाल (पात्र)—प्रवर्ग्य के अनुष्ठान में जिस कपाल पर रौहिणपुरोडाश का श्रपण होता है वह रौहिणकपाल है। इस कपाल की सङ्ख्या एक है। रौहिणकपालानां निष्पादनं करोति० । दे० प० पृ० २४८ ।

रौहिणपुरोडाश (हवि)—ये पुरोडाश प्रवर्ग्य में बनाये जाते हैं। ये संख्या में दो होते हैं। ये पुरोडाश पक जाने पर गर्त रहित दो स्रुचियों पर रखकर आहवनीय के दक्षिण और उत्तर में रखे जाते हैं। ये दोनों एक कापालिक पुरोडाश होने से पूरे पुरोडाश का हवन होता है। दे० प० पृ० २६७ ।

रौहिणहवणी (पात्र)—गर्त्तरहित जिस स्रुची से रोहिणपुरोडाश का हवन किया जाता है वह रौहिणहवणी है। इस स्रुची की लम्बाई बाहुमात्र होती है। इस स्रुची में गर्त्त नहीं होता। शेष आकार जुहू जैसा होता है। रौहिणहवन्यावादाय० । दे० प० पृ० २६८ ।

लक्ष्यवेध (क्रिया)—महाव्रत के अनुष्ठान में रथारुढ़ क्षत्रिय, बाण से लक्ष्यवेध करता है। शरेणैकप्रदेशे० । दे० प० पृ० ४३२ ।

वत्सापाकरण (क्रिया)—दूध दुहने के निमित्त गौ से वत्स को अलग करना वत्सापाकरण है। वत्सापाकरणं पूर्ववत् । का० श्रौ० ४.२.३५ ।

वनीवाहन (क्रिया)—अमोघयाचना को वनीवाहन कहते हैं। यागविधि में आवश्यक हिरण्य, रजत, वस्त्र, गौ, अश्व, छाग, मेष और अन्न को याचना के लिए आहिताग्नि का देशान्तर जाना वनीवाहन है। सनि इसका नामान्तर है। वनीवाहनमेतद्दीक्षासु यदेच्छेत्० । का श्रौ० १६.६.२२ ।

वपन (क्रिया)—दर्श, पौर्णमासी और दीक्षा प्रभृति के विधान में आहिताग्नि द्वारा क्षौर कराना वपन है। भर्तृयज्ञमते वपनं नियमेन० । दे० प० पृ० २५ ।

वपा (हवि)—उदर के चारों ओर लिपटी हुई श्वेतवर्ण की झिल्ली को वपा कहते हैं। वपामार्जनान्तं कृत्वा । का० श्रौ० ८.८.३६ ।

वर (द्रव्य)—ऋत्विज यजमान से अपना अभिलषित पदार्थ (गौ, हिरण्य) जो माँगता है, वह वर है । आधानप्रकरणे हरिस्वामिनः । दे० प० पृ० १०४ ।

वराहविहत (द्रव्य)—वराह द्वारा खोदी हुई मिट्टी वराहविहत है । यह महावीर पात्र बनाने के उपयोग में ली जाती है । वराहविहतम्० । का० श्रौ० २६.१.३ ।

वरुणप्रघास (कर्म)—वरुणस्य पाशरूपं कर्म घ्नन्तीति यह चातुर्मास्य याग का द्वितीय पर्व है। इसका अनुष्ठान आषाढ शुक्ल पूर्णिमा को सम्पन्न होता है। आषाढ्यां वरुणप्रघासाः। शां० श्रौ० ३.१४.१ ।

वसतीवरी (द्रव्य)—यज्ञ के कार्य के लिए उपयोग में आने वाले आवश्यक जल को वसतीवरी कहते हैं । यह जल विधिपूर्वक नदी से घड़ों में लाया जाता है । इसी जल से सोमाभिषवादि कार्य होते हैं । वसतीवरीर्निनयन्ति । दे० प० पृ० ३०८ ।

वसुकामेष्टि (कर्म)—धन की कामना में इस इष्टि के अनुष्ठान को करने का विधान है। अग्नये वसुमते० । तै० सं० २.२.४ ।

वसोर्धाराहवन (कर्म)—अग्निचयन याग में उदुम्बर काष्ठ की बनी हुई बड़ी स्रुची से शुक्ल यजुर्वेदोक्त संहिता के विहित आठ अनुवाक के मन्त्र पढ़ते हुए सतत धारा से आज्याहुति करना वसोर्धारा हवन है । वसोर्धारां जुहोति०, वाजश्च म इत्यष्टानुवाकेन। का० श्रौ० १८.५.१ ।

वाजपेययाग (कर्म)—सोमयाग की सात संस्थाओं में पाँचवीं संस्था को वाजपेय याग कहते हैं । इसमें ग्रह, स्तोत्र और शस्त्र प्रभृति की संख्या सत्रह होती है । इस याग में कुछ विधान ऐसे हैं, जो अवलोकनीय हैं । षोडशीवाजपेयोऽतिरात्रः० ।
का० श्रौ० १०.९.२७ । देखें, प्रकृत ग्रन्थ का वाजपेय याग ।

वाजिन (हवि)—विधान के अनुसार खौलते हुए दूध में दही छोड़ा जाता है । दूध के फट जाने पर उसे छान लेते हैं । छानने पर जो तरल पदार्थ प्राप्त होता है वह वाजिन है । वाजिनयागो व्याघारणान्तः० । दे० प० पृ० १५९ ।

वाण (पात्र)—एक सौ तार की वीणा का नाम वाण है । स वाणः शततन्तुर्भवति । स० श्रौ० १६.६.९ ।

वाप (क्रिया)—पुरोडाश बनाने के लिए आटे में जल मिलाते हैं तदर्थ पिष्टपात्री में आटा छोड़ना वाप है । वाप उदकमिश्रणाय पात्र्यां प्रक्षेपः । दे० प० पृ० ९१ ।

वावाता (व्यक्ति)—अश्वमेधयाग करने वाले सार्वभौम राजा की द्वितीया वल्लभा पत्नी को वावाता कहते हैं। यह क्षत्रिय की कन्या होनी चाहिए । वावाता यजमानस्य वल्लभा० । दे० प० पृ० ६३९ ।

विकृति (कर्म)—जिन यागों में प्रकृतियाग के विधानों का धर्मातिदेश होता है उसे विकृति कहते हैं। विकृति दर्शनाच्च। का० श्रौ० ३.५.९।

विधृति (द्रव्य)—विशेषेण धृतिर्धारणं याभ्याम्०। वेदि में बर्हिसंज्ञक दर्भ बिछाये जाते हैं। बर्हि के ऊपर प्रस्तर (दर्भमुष्टि) रखते हैं। बर्हि के दर्भों में प्रस्तर मिल न सकें एतदर्थ इन दोनों के बीच दो दर्भ रखे जाते हैं। इन्हीं दो दर्भों की विधृति संज्ञा है। बर्हिष-स्तृणे तिरश्ची निदधाति०। का० श्रौ० २.८.५।

विप्रुद्ढोम (कर्म)—सोमरस के भूमि पर गिरने पर प्रायश्चित्त रूप में यह होम किया जाता है। विप्रुषां होमं जुह्वति। का० श्रौ० ९.६.२८।

विमित (स्थान)—जो अग्निहोत्रशाला चतुरस्र आकार की बनायी जाती है उसे विमित कहते हैं। यह दस अरत्नि चतुरस्र होती है। विमितं चतुरस्रं स्याद्दशारत्नि प्रमाणतः।

विश्वसृडयनमहासत्र (कर्म)—यह सहस्रसंवत्सरसत्र के नाम से प्रसिद्ध है। आज के युग में इतना किसी का आयु होना सम्भव नहीं है। इस विषय में संवत्सर को दिन परक मान कर एक सहस्र दिनों में इसकी समाप्ति करने का सिद्धान्तपक्ष माना गया है। विश्व का आधिपत्य प्राप्त होना इसका फल है। सहस्रसंवत्सरं विश्वसृजाम्०। का० श्रौ० २४.५.२४।

विष्टुति (पात्र)—प्रस्तोता नामक ऋत्विज साममन्त्र की गणना के लिए प्रादेश मात्र, तीक्ष्णाग्र जिन औदुम्बर काष्ठों का उपयोग करता है, वे विष्टुति नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका नामान्तर कुशा है। इनके मुख्य रूप से नव प्रकार हैं। त्रिवृत्० ९, पंचदश १५, सप्तदश १७, एकविंश २१, चतुर्विंश २४, त्रिणव २७, त्रयस्त्रिंश ३३, चतुश्चत्वारिंश ४४ और अष्टाचत्वारिंश ४८ प्रभृति उनके प्रकार हैं। इस संख्या को स्तोम कहते हैं।

पञ्चदशस्तोम की पञ्चपञ्चिनी विष्टुति का प्रकार यह है।

तृ० प०	१ —	२ —	३ ☰
द्वि० प०	।	।।।	।
प्र० प०	☰	—	—

कुशा उपकल्प्यत औदुम्बरीर्वा पालाशीर्वा० नि० सू०, १.११, पञ्चभ्यो हिङ्करोति, ता० ब्रा० २.४.१। प्रस्तोता वस्त्रमास्तीर्य स्तृणुयाद्विष्टुतीस्ततः। श्रौ० का० १५३।

विहार (स्थान)—विह्रियन्ते अग्नयो यत्र स विहारः। जिस यज्ञशाला में वैतानाग्नि की स्थापना होती है वह विहार है। देवयजन और अग्निशाला इसका पर्याय है। विहारयोगान्व्याख्यास्यामः०। आप० शु० १.१।

वीवध (द्रव्य)—देखो किण्व ।

वृष्टिकाम्यपशुयाग (कर्म)—वृष्टि की कामना से किया जाने वाला पशुयाग वृष्टिकाम्य पशुयाग है। मैत्रावरुणीं द्विरूपामालभेत वृष्टिकामः । का० सं० १३.८ ।

वृष्णेस्तुका (हवि)—चातुर्मास्ययाग की उत्तरवेदि की नाभिपर गुग्गुलु, सुगन्धितेजन और वृष्णेस्तुका रखकर ऊपर से अग्नि रखते हैं। मेष के दोनों सींगों के मध्य के केश को वृष्णेस्तुका कहते हैं। मेषस्य शृङ्गान्तराले वर्तमानाः । दे० प० पृ० १४८ ।

वेद (द्रव्य)—वेद बनाने के लिए पचास दर्भों को मूल में बाँधकर उनका तीन भाग करते हैं। तदनन्तर वेणी की तरह गूँथते हैं। अनन्तर बैठे हुए बछड़े की जानु के आकार में मोड़कर तैयार कर लेते हैं। यज्ञसम्बन्धी आज्य की प्रत्येक क्रिया के समय इस वेद को बायें हाथ में रखते हैं। वत्सजानुसदृशम्० । दे० प० पृ० ३८ ।

वेदमोचन (क्रिया)—पत्नी द्वारा होता से वेद लेकर मन्त्र पाठ करते हुए वेद का खोलना वेदमोचन है। पत्नी वेदं प्रमुञ्चति० । का० श्रौ० ३.८.२ ।

वेदवाचन (क्रिया)—पत्नीसंयाज हो चुकने पर अध्वर्यु पत्नी को वेद देता है । वेद लेकर पत्नी द्वारा मन्त्र पढ़ना वेदवाचन है। पत्नीं वाचयित्वा० । दे० प० पृ० ६९ ।

वेदाग्र (द्रव्य)—पचास दर्भ के बनाये हुए वेद में से पात्र सम्मार्जन के लिए जो वेद का अग्रभाग और मूल भाग काटा जाता है, उसमें अग्रभाग वेदाग्र है।
वेदाग्रैरन्तरतः प्राञ्चं सम्मार्ष्टि । दे० प० पृ० ३७ ।

वेदि (स्थान)—दर्शपौर्णमास की यज्ञशाला में गार्हपत्य और आहवनीय के मध्य में वेदि बनायी जाती है। यह तीन अङ्गुल गहरी होती है। पश्चिम की ओर चार हाथ और पूर्व की ओर तीन हाथ चौड़ी होती है। मध्य में पश्चिम से पूर्व की लम्बाई तीन हाथ की होती है। इसका मध्य कृश करने के लिए दक्षिण और उत्तर में दो सङ्ग्रह बनाते हैं। पूर्व की ओर के दक्षिण और उत्तर के दो कोण अंश कहे जाते हैं। पश्चिम की ओर के उत्तर और दक्षिण के दो कोने श्रोणी के नाम से प्रसिद्ध हैं। याग के समय इसे दर्भों से आच्छादित रखते हैं। वेदि में बर्हिसंज्ञक इन्हीं दर्भों पर याग के हवि आसादित किये जाते हैं। त्र्यङ्गुलखातां व्याममात्रीं पश्चात्० । का० श्रौ० २.६.१ ।

वेदिकरण (क्रिया)—वेदि के उपयोगी स्थान को नापना, अभ्रिनामक नुकीले पात्र से वेदि को खोदना, वेदि को झाड़ना, लीपना, पुनः स्थान को नापकर वेदिनिर्माण करना वेदिकरण है। अत्र वेदिकरणं यथोक्तम्० । का० श्रौ० २.६.२२ ।

वेदिस्तरण (क्रिया)—बर्हि का वेदि में बिछाना वेदिस्तरण है। बर्हिस्तृणाति । श० ब्रा० १.२.६.७ ।

वैकङ्कत स्रुव (पात्र)—राजसूय याग का अङ्गभूत अपामार्गहवन वैकङ्कत स्रुव से करने का विधान है। स्रुवे पालाशे वैकङ्कते वा० । का० श्रौ० १५.२.२ ।

वैमृधीष्टि (कर्म)—पौर्णमासयाग के अनन्तर इसका याग को वैकल्पिक रूप से करने का विधान है। इन्द्राय विमृधे० । का० श्रौ० ४.५.२३ ।

वैश्वदेव (कर्म)—यह द्वितीय पाकसंस्था है। प्रत्येक गृहस्थ का यह दैनिक कर्त्तव्य है। अग्निहोत्री वैश्वदेव का अनुष्ठान स्मार्ताग्नि पर करता है। वैश्वदेवादन्नात्पर्युक्ष्य० । पा० गृ० २.९.२ ।

वैश्वदेवपर्व (कर्म)—यह चातुर्मास्य याग का प्रथम पर्व है। इसके अनुष्ठान का समय फाल्गुनी पूर्णिमा है। प्रथमं विश्वेदेवा अपश्यन्यत्पर्व। फाल्गुन्यां पौर्णमास्याम्० । शां० श्रौ० ३.१३.१–४ ।

वैश्वदेवस्तुद्याग (कर्म)—सर्वमेधयाग के अन्तर्गत इस याग के अनुष्ठान का विधान वर्णित है। वैश्वदेवी० अत्र सर्वे ग्रहा वैश्वदेवा भवन्ति । दे० प० पृ० ६९४ ।

वैश्वदेवी अनूबन्ध्या (कर्म)—यह एक याग है। इसमें प्रधानयाग के देवता विश्वेदेवा हैं। अश्वमेधयाग के अन्त में इसका अनुष्ठान विहित है। सप्त वैश्वदेव्यः० । दे० प० पृ० ६७७ ।

वैश्वानरपार्जन्येष्टि (कर्म)—चातुर्मास्ययाग के वैश्वदेवसंज्ञक पर्व से पूर्व इस इष्टि का अनुष्ठान विहित है। वैश्वानरीय पार्जन्येष्टिः० । शां० श्रौ० ३.१३.१.४ ।

व्यादेश (क्रिया)—किसी वस्तु का दान न देना और मुख से कहना मात्र व्यादेश है। व्यादिशति । दे० प० पृ० ४३६ ।

व्युष्टिद्विरात्र (कर्म)—इसमें सोलह दीक्षा, बारह उपसदा और दो सुत्याएँ होती हैं। राजसूययाग में इसका अनुष्ठान विहित है। सन्तिष्ठते व्युष्टिर्द्विरात्रः० । बौ० श्रौ० २६.२ ।

व्यूहन (क्रिया)—निश्चित स्थान या पात्र पर हाथ से अभिमर्शन करना व्यूहन है। उदग्वेदे व्यूह्य० । आ० श्रौ० १.१.३ ।

व्रत (द्रव्य)—अग्निष्टोम प्रभृति यागों में यजमान और यजमानपत्नी को याग के दिनों में आहार निमित्त केवल दूध ही दिया जाता है। उसका समय और परिमाण निश्चित है। यथाविधि दूध लेना व्रत ग्रहण है। प्रथमेव्रते० । का० श्रौ० ७.४.२१ ।

व्रतोपायन (कर्म)—किसी याग के निमित्त व्रतग्रहण करना व्रतोपायन है। यजमान आहवनीय खर के पश्चिम में बैठ कर इस कृत्य को सम्पादित करता है। व्रतमुपैति० । का० श्रौ० २.१.११ ।

व्रात्यस्तोम (कर्म)—जिनका उपनयन न हुआ हो और सावित्री छूट गयी हो उन्हें तज्जन्य दोषनिवृत्ति के लिए व्रात्यस्ताम करना चाहिए। एतेन व्रात्यस्तोमेन यजेरन्० । ता० ब्रा०, सा० भा० १७.४.१ ।

व्रीह्याग्रयणेष्टि (कर्म)—नये धान की फसल तैयार होने पर यह इष्टि की जाती है। इस इष्टि के कर लेने पर ही यजमान नया चावल खा सकता है। जव, चावल, श्यामाक और वैणव की फसल तैयार होने पर वर्ष में चार बार ये इष्टियाँ की जाती हैं। व्रीहीणां यवानां बा० । का० श्रौ० ४.६.२ ।

शङ्कुबन्धन (क्रिया)—याग के दीक्षा प्रसङ्ग में पत्नी के उपवस्त्र के छोर में प्रतिप्रस्थाता के द्वारा प्रादेशमात्र यज्ञकाष्ठ का शङ्कु बाँधना शङ्कुबन्धन है। यज्ञियवृक्षशङ्कुं कण्डूयने० । का० श्रौ० ७.४.८ ।

शतमान (द्रव्य)—एक सौ रत्ती सुवर्ण खण्ड का नाम शतमान है। सौवर्णं शतमानं दक्षिणा० । दे० प० पृ० ६४० ।

शतरात्रसत्र (कर्म)—इस सत्र का अनुष्ठान एक सौ दिनों में समाप्त होता है। इस सत्र के करने से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। शतरात्रेणामृतत्वं प्रायच्छत्० । ता० ब्रा० २४.१९.२ ।

शतरुद्रीयहवन (कर्म)—यह हवन अग्निचयन याग में होता है। शतरुद्रीयं जुहोति० । श० ब्रा० ९.१.१.१ ।

शत्रुघ्नीष्टि (कर्म)—शत्रु के विनाश के हेतु इस इष्टि का विधान है। ऐन्द्राबार्हस्पत्यं चरुं निर्वपेत् राजन्ये जाते० । आप० श्रौ० १९.२७.२२ ।

शत्रुनाशकाम्यपशुयाग (कर्म)—शत्रु के विनाश की कामना से किया जाने वाला पशुयाग शत्रुनाशकाम्य पशुयाग है । वैष्णवं वामनमालभेत भ्रातृव्यवान्० । मै० सं० २.५.३ ।

शमिता (व्यक्ति)—याग के विधानों में संज्ञपन कार्य को सम्पादित करनेवाले व्यक्ति को शमिता कहते हैं। ततः शमिता० । दे० प० पृ० २१६ ।

शम्या (पात्र)—यह वारणकाष्ठ से बनायी जाती है। यह एक यज्ञपात्र है। यह आगे से नुकीली और बारह अङ्गुल लम्बी होती है। जव या व्रीहि को पीसने के समय शिला के नीचे इसे रखते हैं। शम्या प्रादेशमात्री० । दे० प० पृ० ७ ।

शस्त्रपाठ (मन्त्र)—सोमयाग में होता नामक ऋत्विज ऋग्वेद के जिन मन्त्रों का पाठ करता है वह शस्त्र पाठ है। आत्वारथम्। ऋ० सं० ८.६८.१ ।

शाक्त्यायन महासत्र (कर्म)—इस सत्र की समाप्ति छत्तीस वर्ष में होती है। इस अनुष्ठान से समस्त ऋद्धि की प्राप्ति होती है। षट्त्रिंशत्संवत्सरं शाक्त्यानाम्० । का० श्रौ० २४.५.२० ।

शाखापवित्र (द्रव्य)—पलाश शाखा का प्रादेशमात्र अग्रभाग शाखापवित्र है। याग के निमित्त गोदोहन कृत्य में यह उपयोगी है। शाखामुपगूहति० । का० श्रौ० ४.२.११ ।

शाखोपवेष (पात्र)—पालाश वृक्ष की हरी शाखा का एक बित्ते का अग्रभाग शाखापवित्र है। उसी का एक हाथ का मूलभाग शाखोपवेष है। खर की अग्नि को इधर-उधर हटाकर व्यवस्थित करने में यह उपयोगी है। मूलादुपवेषं करोति०। का० श्रौ० ४.२.१२।

शान्तिपाठ (मन्त्र)—प्रवर्ग्य कृत्य बहुत उग्र और कठिन है। इस कृत्य की व्यवस्थित रूप से समाप्ति के लिए आदि और अन्त में जो वैदिक मन्त्रपाठ होता है वह शान्तिपाठ है। शान्तिकरणमाद्यन्तयोः। का० श्रौ० २६.७.५८।

शान्त्यध्याय (मन्त्र)—प्रवर्ग्य अनुष्ठान के आदि और अन्त में शान्ति के लिए 'ऋचं वाचम्'। शु० य० ३६. १–२४ प्रभृति मन्त्रों का समुदाय शान्त्यध्याय है। शान्तिकरणमाद्यन्तयोः। का० श्रौ० २६.७.५८।

शामित्रशाला (स्थान)—जहाँ पशु का संज्ञपन होता है वह स्थल शामित्रशाला है। अग्निष्टोमयाग में हविर्धान मण्डप से उत्तर में इस शाला का निर्माण होता है। अभिपर्यग्निकृते देश उल्मुकं निदधाति, स शामित्रः। आप० श्रौ० ७.१६.२।

शालाद्वार्य (देवता)—जब प्रकृतिशाला के आहवनीय का अग्नि उत्तरवेदि पर रखा जाता है, तब आहवनीय को शालाद्वार्य कहते हैं। अग्निष्टोमादि यागों में इसी अग्नि पर पत्नीसंयाज होता है। गार्हपत्योऽत्र शालाद्वार्य एव। दे० प० पृ० ३७५।

शास (पात्र)—पशु का विशसन कार्य जिससे किया जाता है, वह शास है। इसका आकार वज्र सा होता है। आह शासमाहरेति। का० श्रौ० ६.४.९।

शुक्रपात्र (पात्र)—यह सोमयाग में सोमरस रखने का एक पात्र है। यह बिल्व काष्ठ का बनाया जाता है। दक्षिणपूर्वार्धे शुक्रामन्थिनोः। का० श्रौ० ९.२.८।

शुनासीरीय (कर्म)—'शुनो वायुः सीरः आदित्यः, देवते यस्य।'
यह चातुर्मास्य याग का चतुर्थ और अन्तिम पर्व है। तृतीय साकमेधपर्व के बाद उसी समय अथवा माघ की पूर्णिमा को इसका अनुष्ठान करना चाहिए।
साकमेधैरिष्ट्वान्वक्षं शुनासीर्यम्। माघ्यां वा पौर्णमास्याम्।
शां० श्रौ० ३.१८.१७–१८।

शूर्प (पात्र)—यह बाँस का बना होता है। यज्ञ के लिए जङ्गल से शकट पर लादकर धान या जव लाया जाता है। उसे कूटकर इसी शूर्प से पछोड़ कर साफ किया जाता है। शूर्पं वैणवमेव च०। दे० प० पृ० ६।

शूलगव (कर्म)—रुद्र देवता के निमित्त स्थाली पाक को बलि देना शूलगव है। यह विधान स्मार्ताग्नि के परिग्रही के द्वारा किया जाता है। ईशानाय स्थालीपाकं श्रपयित्वा। आप० गृ० ७.१९.१३।

श्राद्ध (कर्म)—उपयुक्त स्थान और समय पर पितरों के प्रीत्यर्थ श्रद्धा से जो कार्य किया जाता है वह श्राद्ध है। अपरपक्षे श्राद्धं कुर्वीत। श्राद्ध सूत्र १.१।

श्रृतावदान (पात्र)—यह प्रादेशमात्र का एक यज्ञ पात्र है। पुरोडाश में से अवदान लेने के निमित्त इसका उपयोग होता है। इसका आकार खुरपी जैसा कहा है। प्रादेशमात्रं तीक्ष्णाङगुष्ठपर्वमात्रपृथुमुखम्। दे० प० पृ० ७।

शंयुवाक (मन्त्र)—अध्वर्यु द्वारा विहित प्रैष के अनन्तर 'तच्छंयोरावृणीमहे० हौ० प० १.९।' इस शंयुवाक संज्ञक मन्त्र का होता जो पाठ करता है वह शंयुवाक है। शंयुवन्तं भवति। का० श्रौ० ३.७.१०।

श्यामाकाग्रयणेष्टि (कर्म)—यह इष्टि वर्षा ऋतु में की जाती है। इस इष्टि में सोम देवता के निमित्त श्यामाक अन्न के चरु का निर्माण होता है। इसमें प्रथमोत्पन्न वत्स दक्षिणा रूप में देय है। सौम्यः श्यामाकश्चरुः०। का० श्रौ० ४.६.१७।

श्येनचिति (देवता)—स्वर्गप्राप्ति की कामना से श्येनचिति का चयन होता है। श्येनचितिं चिन्वीत सुवर्गकामः०। स० श्रौ० १२.८.३। एतदर्थ अग्निचयन याग देखें।

श्येनयाग (कर्म)—यदि अभिचार की कामना हो तो श्येनयाग करना चाहिए। श्येनोऽभिचरतः०। का० श्रौ० २२.३.१। विशेष विवरण प्र० ग्र० के श्येन याग में देखें।

श्रपण (क्रिया)—श्रप्यन्ते हवींषि यस्मिन्। जिस अग्नि पर हवि का पाक हो वह श्रपण है। गार्हपत्य खर को श्रपण भी कहते हैं। श्रपणस्य पश्चात्सादयति०। का० श्रौ० २.३. २७।

श्रवणाकर्म (कर्म)—श्रावण शुक्ल पंचमी को स्मार्ताग्नि के उपासक के द्वारा सायं काल के समय सर्प को जो बलि दी जाती है वह श्रवणाकर्म है। श्रावणशुक्लपञ्चम्यां भवति०। पा० गृ० ग० भा० २.१४.१।

श्रोणी (स्थान)—यज्ञशाला की वेदि के दक्षिण, पश्चिम और उत्तरपश्चिम के दो कोने श्रोणी हैं। ततः श्रोणेरारम्य०। दे० प० पृ० ३३।

षडवत्त (पात्र)—इडोपह्वान हो चुकने पर अध्वर्यु द्वारा आग्नीध्र को षडवत्त भाग दिया जाता है। वह भाग जिस पात्र पर रखा जाता है, उस पात्र को भी षडवत्त कहते हैं। उपर्युक्त पात्र पर दो बार आज्य, दो बार पुरोडाश का भाग और पुनः दो बार आज्य रखने के कारण इस पात्र का षडवत्त नाम यथार्थ है। अग्नीधे षडवत्तम्०। का० श्रौ० ३.४.१६।

षोडशीयाग (कर्म)—सोमयाग की सात संस्थाओं में चौथी संस्था को षोडशी कहते हैं। इस याग में ग्रह, स्तोत्र और शस्त्र की संख्या सोलह होती है। षडुत्तरेऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी०। का० श्रौ० १०.९.२७।

संचर (स्थान)—यज्ञशाला में याग के समय जाने और आने के निमित्त निश्चितमार्ग को संचर कहते हैं। संचरमभ्युक्ष्य०। का० श्रौ० ३.४.१।

सत्र (कर्म)—अनेक यजमान द्वारा जिसका अनुष्ठान होता है वह सत्र है। इसमें सभी आहिताग्नि यजमान लोग ऋत्विजों का काम करते हैं। इसीलिए इसमें दक्षिणा नहीं दी जाती। सभी लोग समान फल के भागी होते हैं। इसमें एक आहिताग्नि जो यजमान का काम करता है उसे गृहपति कहते हैं। सभी के अग्नि और सामग्री एकत्र की जाती हैं। इन सत्रों का अनुष्ठान दीर्घकाल तक चालू रहता है।
द्वादशरात्रादीनि रात्रिसत्राणि०। का० श्रौ० २४.१.१।

सत्राधिकारी (व्यक्ति)—सत्र करने का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है। क्योंकि 'ये ऋत्विजस्ते यजमानाः' इस प्रमाण से आहिताग्नि यजमान ही ऋत्विज हो सकते हैं और आर्त्विज्य करने का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही कहा है। सत्राणि ब्राह्मणानामृत्विक् श्रुतेः। का० श्रौ० १.६.१३।

सदोमण्डप (स्थान)—सीदन्ति अत्रेति सदः०। याग के जिस मण्डप में होतृगण बैठ कर मन्त्रपाठ करता है, वह सदोमण्डप है। इसका नाप १८ × ९ अरत्नि है। इस मण्डप में पूर्व की ओर द्वार होता है। उदीचीनवंशं सदो भवति०। श० ब्रा० ३.४.५.२३।

सनि (कर्म)—देखें वनीवाहन।

सप्तजिह्वा (देवता)—अग्नि की सात जीभ इस प्रकार वर्णित है—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुची। मु० उ० २.४।

सप्तदश सङ्ख्या का महत्त्व (कर्म)—वाजपेययाग में सत्रह सङ्ख्या का विशेष महत्त्व कहा है। इसमें रथ, दुन्दुभि, ग्रह, स्तोत्र और शस्त्र आदि सब सत्रह होते हैं। सप्तदश-दुन्दुभी आसजति। का० श्रौ० १४.३.१४। वाजपेय याग देखें।

सप्त पाकयज्ञसंस्था (कर्म)—स्मार्त्ताग्नि के परिग्रह के अनन्तर उस अग्नि पर जो अनुष्ठान होता है, उसे पाकसंस्था कहते हैं, उनके नाम ये हैं। औपासनहोम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टकाश्राद्ध, मासिश्राद्ध, श्रवणाकर्म और शूलगव। गौ० ध० १.८.१९।

सप्त सोमयागसंस्था (कर्म)—सोमयाग की सात संस्थाएँ प्रसिद्ध हैं। उनके नाम ये हैं :—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम। षडुत्तरेऽत्यग्निष्टोमः०। का० श्रौ० १०.९.२७। गौ० ध० १.८.२१।

सप्त हविर्यागसंस्था (कर्म)—हविर्याग की सात संस्थाएँ हैं। उनके नाम ये हैं :—अग्न्याधेय, अग्निहोत्रहवन, दर्शपूर्णमासयाग आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्ययाग, निरूढपशुबन्धयाग और सौत्रामणीयाग। अग्निहोत्र० इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः०। गौ० ध० १.८.२०।

सभ्य (देवता)—अग्निहोत्री की यज्ञशाला में सभ्य नामक एक अग्नि है। इसका खर वृत्ताकार होता है। अग्निहोत्रशाला में इस अग्नि की सत्ता सर्वदा अनिवार्य है। सभासनं सभ्यस्य। का० श्रौ० ४.१५.१२।

समारोप (कर्म)—गार्हपत्य प्रभृति अग्नि को प्रज्वलित करके अरणी में अग्नि का समन्त्रक आकर्षण करना समारोप है। यदि सपत्नीक यजमान को यज्ञिय सामग्री के उपार्जन के निमित्त देशान्तर जाना हो अथवा सत्र का अनुष्ठान करना हो तो उसे समारोप करना होता है। अरण्योः समारोप्य०। दे० प० पृ० २३५।

समाहनन (क्रिया)—दर्शपौर्णमास प्रभृति यागों में आग्नीध्र द्वारा हाथ में शम्या (तुकीला-पात्र लेकर दो बार सिलपर और एक बार उपल पर शम्या से प्रहार करना समाहनन है। आह्वयत्याहन्त्यन्यः०। का० श्रौ० २.४.१५।

समित् (द्रव्य)—हवन के निमित्त पलाश या अन्य विहित यज्ञ काष्ठ को समित् कहते हैं। यह अङ्गुली की मोटाई से अधिक मोटी न होनी चाहिए। सड़ी और घुनी भी न होनी चाहिए। प्रादेशमात्रीं पालाशीं समिधमाधाय०। शां० श्रौ० २.८.२२। का० स्मृ० ८.१७-१८।

समिष्टयजु (कर्म)—पौर्णमासयाग में पत्नीसंयाज के अनन्तर आहवनीय में अध्वर्यु जो आहुति करता है, वह समिष्टयजु है। समिष्टयजुर्जुहोति। का० श्रौ० ३.८.१४।

सम्भार (द्रव्य)—यागोपयोगी सामग्री को संभार कहते हैं। जैसे :—बालू, ऊषर की मिट्टी, कमलिनीपत्र, सुवर्णखण्ड प्रभृति श्रौताधान का संभार है। सम्भारान् व्याचष्टे। बौ० श्रौ० ६.१८।

सम्राट् (व्यक्ति)—यह श्रौत की उपाधि है। वाजपेययाग को करने वाला इस उपाधि से अलङ्कृत किया जाता है। वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राड् भवति०। श० ब्रा० ५.१.१.१४।

सर्पसत्र (कर्म)—इस सत्र का अनुष्ठान एक वर्ष में समाप्त होता है। इससे प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है। अपमृत्यु से रक्षा होती है। प्राचीन काल में इस सत्र से सर्पों की अपमृत्यु से रक्षा हुई है। अपमृत्युं जयन्ति य एतदुपयन्ति०। ता० ब्रा० २५.१५.४।

सर्वमेधयाग (कर्म)—यह याग समस्त कामनाओं का पूरक है। इसमें द्वादशाह का अतिदेश होता है। इसमें बारहदीक्षा, बारह उपसदा और दश सुत्याएँ होती हैं। सर्वमेधः सर्व-कामस्य०। का० श्रौ० २१.२.१।

सर्वस्तोम (कर्म)—यह विशेष प्रकार का सोमयाग है। इसका अनुष्ठान अश्वमेध याग के अन्तर्गत अङ्गरूप में होता है। सर्वस्तोमो ज्योतिर्गौरायुः०। का० श्रौ० २०.८.१३।

सवनीयासादन (क्रिया)—विहित स्थान पर सवनीय हवि को पाँच गर्त वाली पञ्चबिला पात्री में रखते हैं। इस पात्री में एक बीच में और चार चारों दिशा में गर्त होते हैं। मध्य में पुरोडाश, पूर्व में धाना, दक्षिण में करम्भ, पश्चिम में परिवाप और उत्तर में आमिक्षा रखते हैं। एकपात्र्यामासाद्य०। का० श्रौ० ९.९.४।

साकमेधपर्व (कर्म)—साकमेधन्ते देवता एभिः० । चातुर्मास्य याग के तृतीय पर्व की साकमेध संज्ञा है । इस पर्व का अनुष्ठान कार्तिकी पूर्णिमा को होता है । इसमें अनीकवती, सान्तपनीया और गृहमेधीया नाम की इष्टियाँ होती हैं । कार्तिक्यां साकमेधा द्व्यहम्० । का० श्रौ० ५.६.१ ।

साद्यस्क्रतु (कर्म)—जिस क्रतु की सुत्या एक दिन में होती है, उसे साद्यस्क्रतु कहते हैं । षट् साद्यस्क्राः । सुवर्गपशुकामभ्रातृव्यवतां प्रथमः० । का० श्रौ० २२.२.९-१० ।

साध्यायनमहा सत्र (कर्म)—इस सत्र का अनुष्ठान एक सौ वर्ष तक चालू रहता है । इसके करने से स्वर्ग-प्राप्ति होती है । साध्यानां शतसंवत्सरम् । शां० श्रौ० १३.२८.७ ।

सान्तपनीयेष्टि (कर्म)—यह इष्टि चातुर्मास्य याग के साकमेध पर्व का अङ्ग है । इसमें सान्तपन मरुत् देवता के लिए चरु होता है । इसके अनुष्ठान का समय मध्याह्न है । इसमें अन्वाहार्य दक्षिणा होती है । मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यो मध्यन्दिने चरुः० । दे० प० पृ० १६२ ।

सान्नाय्य (हवि)—दही और दूध के मिश्रण को सान्नाय्य कहते हैं । सान्नाय्येष्टि में इसी से महेन्द्र देवता का याग विहित है । दधिपयोभ्यां तन्त्रेण यागः० । दे० प० पृ० ८० ।

सान्नाय्येष्टि (कर्म)—सोमयाजी आहिताग्नि को दर्शेष्टि के स्थान पर सान्नाय्यवती दर्शेष्टि ही सर्वदा करनी चाहिए । इसमें अग्नि, अग्नीषोम और महेन्द्र के निमित्त प्रधान याग होते हैं । सोमयाजी सन्नयेत्० । का० श्रौ० ४.२.४५ ।

सामगान (मन्त्र)—यागों में अनेक स्थानों पर सामगान विहित है । उसे स्तोत्र कहते हैं । उसके पाँच भाग हैं । प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन । प्रस्तोता प्रस्ताव, उद्गाता उद्गीथ, प्रतिहर्त्ता प्रतिहार, उपगाता उपद्रव और सब कोई निधन भाग का पाठ करते हैं । प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनानि० । भक्तयस्तत्पाञ्चविध्यं स्मृतम्० । प० सू० ।

सामिधेनी (मन्त्र)—सम्यगिध्यतेऽग्निर्याभिर्ऋग्भिः । ऋग्वेद की प्रवोवाजा० ऋ० ३.२७.१ प्रभृति ऋचाओं की सामिधेनी संज्ञा है । होता इनका पाठ करता है । इनकी संख्या दर्शपौर्णमासेष्टि में पन्द्रह और आग्रयण आदि इष्टियों में सत्रह होती है । जब इन ऋचाओं को होता पढ़ता है, तब प्रत्येक मन्त्र के निश्चित स्थान पर अध्वर्यु एक-एक समित् का आहवनीय में होम करता है । इन समिधाओं की इध्मा संज्ञा है । यह एक हाथ लम्बी पलाश की समित् होती है । सामिधेनीनामुत्तमेन० । आ० श्रौ० १.३.२ ।

सारस्वतमहासत्र (कर्म)—मित्रावरुणायन इसका नामान्तर है । यह सत्र एक स्थान पर न करके चलते हुए अनेक स्थानों पर किया जाता है । ता यदा सहस्रं सम्पद्यन्ते । देखें प्र० ग्र० का सारस्वतमहासत्र । ता० ब्रा २५.१०.१९ ।

सावित्रीष्टि (कर्म)—सविता देवता के निमित्त यह इष्टि की जाती है। यह अश्वमेधयाग के अङ्ग रूप में विहित है। सावित्र्या एवेष्टेः। श० ब्रा० १३.१.३.७।

सुगन्धितेजन (द्रव्य)—चातुर्मास्य प्रभृति यागों की उत्तरवेदि की नाभि पर गुग्गुलु, सुगन्धितेजन औरवृष्णेस्तुका को रख कर ऊपर से अग्नि रखते हैं। सुगन्धितेजनं रोहिषपुष्पाणि, वृष्णेस्तुका मेषरोमाणि। दे० प० पृ० १४८।

सुत्यादेवता (देवता)—प्रत्येक याग के सौत्य देवता भिन्न-भिन्न रूप में विहित हैं। अग्निष्टोम याग में सुत्या के देवता अग्नि हैं। पृषदाज्य के वनस्पति प्रातःसवन के वसुमान् इन्द्र, माध्यन्दिनसवन के रुद्रवान् इन्द्र और तृतीय सवन के आदित्यवान्, ऋभुमान्, विभुमान्, प्रभुमान्, वाजवान्, बृहस्पतिवान् और विश्वेदेव्यावान् इन्द्र हैं।
आग्नेयोऽग्निष्टोमे सवनीयः। का० श्रौ० ९.८.२।

सुत्याप्रबोधन (क्रिया)—सुत्या के दिन से पहली रात में रात्रि के दो भाग बीत जाने पर यजमान द्वारा अध्वर्यु प्रभृति ऋत्विजों को याग के आरम्भ करने के लिए जगाना सुत्या प्रबोधन है। अपररात्र ऋत्विजः प्रबोधयन्त। का० श्रौ० ९.१.१।

सुपर्णचिति (देवता)—यह एक विशेष प्रकार की चिति है। विशेष प्रकार के ग्यारह हजार एक सौ अठानबे ईंटों को विधिपूर्वक जमाकर इसका निर्माण होता है। अग्निचयनयाग में इस चिति का चयन होता है। सुपर्णचित्यस्याग्नेः। इ० पृ० १.१।
विशेष जानकारी के लिए प्रकृत ग्रन्थ का अग्निचयन याग देखें।

सुब्रह्मण्य (व्यक्ति)—सोमयाग में उद्गातृगण का यह चतुर्थ ऋत्विज है। इसे उद्गाता की अपेक्षा चतुर्थांश दक्षिणा दी जाती है। षोडशर्त्विजः सुब्रह्मण्य०।
का० श्रौ० ७.१.७।

सुराग्रह (पात्र)—सौत्रामणियाग में जिस ग्रहपात्र से सुरा का हवन होता है, वह सुराग्रह पात्र है। सुराग्रहान् श्रीणाति०। का० श्रौ० १९.२.२५।

सुवर्णदर्पण (पात्र)—दशपेयसंज्ञक याग में सुवर्णजटितदर्पण अध्वर्यु के सिर पर और रजतजटित प्रतिप्रस्थाता के सिर पर बाँधने का विधान है।
प्राकाशावध्वर्य्वोरिति सौवर्णोऽध्वर्योर्दक्षिणतः स्याद् राजतः प्रतिप्रस्थातुः सव्यतः।
ला० श्रौ० ९.२.१३।

सूक्तवाकप्रैष (मन्त्र)—दर्शपौर्णमास प्रभृति यागों में आहवनीय खर के तीनों ओर परिधि (पालाश समित्) रखी जाती है। अध्वर्यु पश्चिम की ओर संस्थापित परिधि को छूकर आश्रावण करता है। आग्नीध्र प्रत्याश्रावण करता है। तब अध्वर्यु होता को जिन इदं द्यावापृथिवी० हौ० प० १.१३, मन्त्रों के पाठ करने का प्रैष करता है, वह सूक्तवाक प्रैष है। सूक्तवाकाय सूक्ता३ब्रू३हि०। का० श्रौ०। ३.६.२।

सूर्यस्तुद्याग (कर्म)—सर्वमेधयाग के अन्तर्गत इसका विधान है। इसमें आग्नेय और ऐन्द्राग्न, दो सवनीयपशु हैं। सूर्यस्तुदुक्थ्यस्तृतीयमहः। दे० प० पृ० ६९२।

सोम (हवि)—सोम नामक एक लता है। आजकल यह अप्राप्य है। प्राचीन काल में भी किसी स्थानविशेष पर ही इसकी प्राप्ति कही है। अग्निष्टोम प्रभृति सोमयागों में इसकी आवश्यकता होती है। आज कल इसके अप्राप्य होने से इसके अभाव में प्रतिनिधि रूप में पूतीका नामक लता से काम चलाते हैं। इसीसे याग करते हैं और शेष रस का ऋत्विज लोग पान करते हैं। श्रौतप्रक्रिया में इसका स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यज्ञशाला में इसे लाकर आसन्दी पर आस्थित करते हैं। मधुपर्क से इसकी अर्चना करते हैं। इसके आतिथ्य में आतिथ्येष्टि करते हैं। विधि विशेष में इसे छूना पड़े तो हाथ धोकर सुवर्णसहित हाथ से इसे छूते हैं। वैधानिक मन्त्रों में पूतीका को भी सोमशब्द से पुकारते हैं।

श्यामलाम्ला च निष्पन्ना क्षीरिणी त्वचि मांसला।
श्लेश्मला वमनी वल्ली सोमाख्या छागभोजनम्०॥ स० श्रौ० टी० ७.१।

सोमक्रयणसामग्री (द्रव्य)—गौ, अज, सफेद और काला ऊन, पगड़ी, दो वस्त्र, सुवर्ण, कृष्णाजिन और जल का कलश यह सोम खरीदने को सामग्री है। दक्षिणेन द्वारं सोमक्रयणी तिष्ठति०। का श्रौ० ७.६.१२।

सोमक्रयणी (व्यक्ति)—सोमः क्रीयते यया गवा सा सोमक्रयणी। जिस गौ को देकर उसके बदले में सोम खरीदा जाता है उस गौ की संज्ञा सोमक्रयणी है।
अग्निष्टोम आदि यागों में याग के उपयुक्त सोम खरीदा जाता है। उसके बदले में जो उसका मूल्य दिया जाता है, वह रुपया या अन्न नहीं होता। अपितु गौ, बकरी और सुवर्ण आदि होते हैं। गवा ते क्रीणानि। का० श्रौ० ७.८.११।

सोमक्रयणी–अनुगमन (क्रिया)—सोम खरीदने को जाते हुए सोमक्रयणी गौ को सबसे आगे रखते हैं। बाकी के लोग सोमक्रयणी का अनुगमन करते हैं।
उदीचीन्नीयमानामनुगच्छतः। का० श्रौ० ७.६.१४।

सोमक्रयणी–अनुमन्त्रण (क्रिया)—अध्वर्यु सोमक्रयण के निमित्त जाते हुए प्रकृतिशाला से पूर्व में खड़ी सोमक्रयणी का अनुमन्त्रण करता है। चिदसीत्येनामभिमन्त्रयते।
का० श्रौ० ७.६.१३।

सोमक्रयणीपद्धरणीयग्रहण (क्रिया)—सोमक्रयणी गौ जब चलती है तो उसके सातवें पादनिक्षेप के स्थान से मिट्टी उठाकर सुरक्षित रखना उपर्युक्त कृत्य है।
समुद्धृत्य पदम्। का० श्रौ० ७.६.१८।

सोमपणन (क्रिया)—सोमविक्रयी और अध्वर्यु इन दोनों में परस्पर सोमपणन होता है। सोमविक्रयी सोम का महत्त्व वर्णित करता है। अध्वर्यु गौ की विशेषता बताता है। इस प्रकार पाँच बार मोल भाव करना सोमपणन है। पञ्चकृत्वः सोमं पणते। का० श्रौ० ७.८.१।

सोमप्रवाक (व्यक्ति)—सोमयाग में सोमप्रवाक एक ऋत्विज् है। यजमान सर्वप्रथम इसी का वरण करता है। यह अन्य ऋत्विजों को निमन्त्रित करने जाता है। जिस ऋत्विज् को यह निमन्त्रित करने जाता है, वह इसे दही, अन्न (भात) और नमक खिलाता है। शाखान्तर में सोमप्रवाक का विधान है। कात्यायन के अनुसार इस ऋत्विज की आवश्यकता नहीं है। इस कार्य को यजमान ही सम्पन्न करता है। सोमप्रवाकाय लवणमन्नं दध्नाहारयेत्। ला० श्रौ० १.१.१२।

सोममान (मान)—दोनों हाथों की निश्चित अँगुलियों से सोम का मान होता है। अँगुलियों से मान करके कितनी बार सोम उठाना इसकी सङ्ख्या भी निश्चित है। तदनुसार ही सोम का मान करना चाहिए। तस्मिन्सोमं मिमीते। का० श्रौ० ७.७.१०।

सोमयाग (कर्म)—स्वर्ग की कामना हो तो सोमयाग करना विहित है। आप० श्रौ० २.१।

सोमरक्षण (क्रिया)—अग्निष्टोमयाग में सुत्या के दिन से पूर्व रात्रि में आग्नीध्रीय शाला में सोम रखा जाता है। उस रात्रि में यजमान वहीं सोता है और स्वयं सोम की रक्षा करता है। तां रात्रिं सोमं रक्षति०। का० श्रौ० ८.९.२३।

सोमाप्यायन (क्रिया)—मदन्ती के जल से हाथ धोकर सुवर्णयुक्त हाथ से नियत ऋत्विजों द्वारा सोम का स्पर्श करना सोमाप्यायन है। मदन्तीरुपस्पृश्य यजमानषष्ठाः सोममाप्यायन्ति०। का० श्रौ० ८.२.६।

सोमाभिषव (क्रिया)—हविर्धानमण्डप में उपरव के ऊपर यजमान और नियत ऋत्विज लोग बैठकर सोम को कूटकर रस निकालते हैं। यह सोमाभिषव विधान है। एवं त्रिरभिषुणोति०। का० श्रौ० ९.४.१४।

सोमारौद्रयाग (कर्म)—राजसूययाग में इसका अनुष्ठान होता है। इसमें सोमारौद्र देवता के निमित्त चरु से याग होता है। सोमारौद्रोऽतश्चरुः। का० श्रौ० १५.३.२२।

सोमासन्दी (पात्र)—यज्ञशाला में प्रकृतिशाला के आहवनीय से दक्षिण में स्थित जिस आसन्दी पर सोम को रखते हैं वह सोमासन्दी है। यह उदुम्बर काष्ठ की, चार पाये की मूँज से बीनी हुई एक खटोली सी होती है। यह नाभि बराबर ऊँची होती है। औदुम्बरीमासन्दीं नाभिदघ्नाम्०। का० श्रौ० ७.९.२४।

सोमासन्दीस्थान (स्थान)—अग्निष्टोमयाग में प्रकृतिशाला में आहवनीय के दक्षिण की ओर सोमासन्दी का स्थान है। औदुम्बरीमासन्दीम्०। का० श्रौ० ७.९.२४।

सौत्यपुरोडाश (हवि)—सुत्या के दिन जो पुरोडाश बनता है, उसे सौत्य पुरोडाश कहते हैं। आग्नीध्र नामक ऋत्विज शालाद्वार्य के अग्नि पर इसका श्रपण करता है। अग्नीदैन्द्र-मेकादशकपालं निर्वपति०। का० श्रौ० ९.१.१५।

सौत्रामणीयाग (कर्म)—सुत्राम्ण इयं सौत्रामणी। इस याग के प्रधान देवता इन्द्र हैं। यह याग नित्य और काम्य दो प्रकार का है। सौत्रामणीयाग को श० ब्रा० १२.४.५.१६ में यज्ञशरीर का आत्मा कहा है। ब्राह्मणयज्ञः सौत्रामण्यृद्धिकामस्य०। का० श्रौ १९.१.१।

सौमिक उत्कर (स्थान)—सोमयाग की महावेदि के उत्तर में उत्कर बनाया जाता है। उत्तरदेशे चात्वालादपरस्यां दिशि०। दे० प० पृ० २७६।

सौमिक चातुर्मास्ययाग (कर्म)—जब चातुर्मास्ययाग के समय सोमयाग करते हैं तो उसे सौमिक चातुर्मास्ययाग कहते हैं। सौमिक चातुर्मास्य यह चातुर्मास्य याग का एक प्रकार है। चातुर्मास्याः सोमाः०। का० श्रौ० २२.७.१।

सङ्गव (काल)—समय विशेष को सङ्गव कहते हैं। सूर्योदय से सूर्यास्तपर्यन्त दिनका यदि पाँच भाग किया जाय तो द्वितीय भाग को सङ्गव कहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं। प्रातः, सङ्गव, मध्याह्न, अपराह्न और सायाह्न। ये पाँच समय कहे हैं।

सन्धिश्चेत्सङ्गवादूर्ध्वं प्राक्पर्यावर्तनाद्रवेः।
सा पौर्णमासी विज्ञेया सद्यस्कालविधौ नरैः॥

कात्यायनः। नि० सि० पृ० ३६।

सङ्ग्रह (स्थान)—प्रकृति वेदि कृशमध्या होती है। वेदि का मध्य कृश बनाने के लिए वेदि के दक्षिण और उत्तर की ओर दो सङ्ग्रहों का निर्माण किया जाता है। यह उन्नीस अङ्गुल की परकाल से अर्धचन्द्राकार बनाया जाता है। मध्यसंगृहीताम्। का० श्रौ० २.६.१। दर्शपौर्णमासयाग की यज्ञशाला का चित्र देखें।

संज्ञपन (क्रिया)—पशु के शरीर में शस्त्र न लगाते हुए, उसका श्वासावरोध होकर वह प्राणरहित हो जाय यह संज्ञपन है। संगृह्य मुखम्०। का० श्रौ० ९.५.१७।

सन्तापजअग्नि (देवता)—अग्निहोत्री या उसकी पत्नी, जिसकी पहले मृत्यु हुई हो उसकी अन्त्येष्टि के निमित्त गार्हपत्य में से आहवनीय और दक्षिणाग्नि में अग्नि का उद्धरण करके उद्धृत अग्नि पर मिट्टी की उखा रखकर उसमें गोहरी छोड़कर उखा को खूब तपाते हैं। ताप से उखा में छोड़ी गोहरी जल उठती है। अग्निसहित उसी उखा को साथ में लेकर श्मशान पर जाते हैं और आहिताग्नि या उसकी पत्नी की अन्त्येष्टि करते हैं। यही सन्तापजाग्नि है। सन्तापजाग्नीनादाय सशरीरा दक्षिणा गच्छन्ति। का० श्रौ० २५.७.१३।

संयवन (क्रिया)—आटे में पानी छोड़कर अच्छी तरह मिलाना संयवन है। संयौति०। का० श्रौ० २.५.१४।

संवत्सरसत्र (कर्म)—एक वर्ष तक लगातार चलने वाले सत्र को संवत्सरसत्र कहते हैं। स्वर्गस्य लोकस्याक्रान्त्यै०। ता० ब्रा० २५.२.२।

संसृपाहविर्याग (कर्म)—इसमें दश याग होते हैं। इसका अनुष्ठान राजसूययाग में होता है। तत्संसृपामिष्टिभिर्यजति०। शां० श्रौ १५.१४.२।

संस्रवाहुति (कर्म)—अध्वर्यु सूक्तवाक के अनन्तर जुहू और उपभृत् दोनों स्रुचियों से आहवनीय में आज्य की जो आहुति करता है, वह संस्रवाहुति है। संस्रवां जुहोति। का० श्रौ० ३.६.१७।

स्तम्बयजुर्हरण (क्रिया)—जिस स्थान पर वेदि बनानी होती है उस जगह दर्भ रखना स्तम्बयजुर्हरण है। स्तम्बयजुर्हरिष्यन्०। का० श्रौ० २.६.७।

स्तोत्रपाठ (क्रिया)—सोमयाग में उद्गाता संज्ञक ऋत्विज सामवेद के अनुसार जो गान करता है वह (सामगान) स्तोत्रपाठ है। अग्नआयाहि०। ता० ब्रा० ११.२.३।

स्थपति (व्यक्ति)—यह श्रौत की उपाधि है। बृहस्पतिसव करने वाला आहिताग्नि उपर्युक्त उपाधि से विभूषित होता है। ततः स्थपतिरयममुकशर्मेत्येवं सर्वे ब्रूयुः०। दे० प० पृ० ४३८।

स्थूणा (पात्र)—यह शङ्कु का नामान्तर है। अग्निष्टोमयाग के हविर्द्धान मण्डप में इसी की रोकसे शकट को खड़ा किया जाता है। दक्षिणतः स्थूणामुपहन्ति०। का० श्रौ० ८.४.७।

स्नान (क्रिया)—याग के दीक्षा विधान में यजमान और पत्नी जो स्नान करते हैं, वह दीक्षाङ्ग स्नान है। मन्त्रेण स्नानं करोति०, दे० प० पृ०२३७।

स्फ्य (पात्र)—यह एक यज्ञ पात्र है, जो कि एक हाथ लम्बा खदिर काष्ठ का, दोनों ओर धार वाला और आगे से नुकीला होता है। यज्ञ के समय आग्नीध्र नामक ऋत्विज इसे अपने हाथ में लिये रहता है। और प्रत्याश्रावण करता है। वज्र इसका नामान्तर है। स्फ्यश्च०। का० श्रौ० १.३.३३।

स्मार्त्ताधान (कर्म)—श्रौताग्नि की उपासना के लिए श्रौताग्नि का परिग्रहण आवश्यक है। श्रौताग्नि के परिग्रह से पूर्व विधिवत् स्मार्त अग्नि का जो परिग्रहण किया जाता है, वह स्मार्त्ताधान है। इस अग्नि का नामान्तर आवसथ्य है। भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा० गौ० ध० १.५.६।

स्रक्ति (स्थान)—चातुर्मास्य याग में पित्र्येष्टि होती है। इस इष्टि के लिए दक्षिणामुखी वेदि बनायी जाती है। विदिशा में वेदि के कोण होने चाहिए। कोण को स्रक्ति कहते हैं। अवान्तरदिक्स्रक्तिम्०। का० श्रौ० ५.८.२१।

स्राम (अवस्था)—यह अश्व का एक रोग विशेष है। अश्वमेध याग के अश्व को यदि स्राम (खञ्जता) रोग हो जाय तो पूषा देवता के निमित्त चरुसे याग करे। पौष्णः स्रामे०। का० श्रौ० २०.३.१३।

स्रुक् (पात्र)—स्रवति आज्यं यस्याः। हवन करने के पात्र विशेष को स्रुची कहते हैं। अग्निहोत्रहवणी, जुहू, उपभृत्, ध्रुवा प्रभृति इसके नामान्तर हैं। यह यज्ञकाष्ठ की बनती हैं। बाहुमात्र लम्बी, आगे की ओर गर्त वाली और हंसमुखी होनी चाहिए। इनमें प्रथम से अग्निहोत्र हवन और द्वितीय और तृतीय से दर्शपौर्णमास आदि यागों में आहुति दी जाती है। अन्तिम में आज्य भरा रहता है और उसे वेदि में आसादित करते हैं। आवश्यकतानुसार उसमें से आज्य लिया जाता है। बाहुमात्र्यः स्रुचः०। का० श्रौ० १.३.३८।

स्रुक्पञ्चक (पात्र)—दो जुहू, दो उपभृत् और एक ध्रुवा इन पाँच स्रुचियों को स्रुक्पञ्चक कहते हैं। स्रुक्पञ्चके०। दे० प० पृ० २१०।

स्रुगासादन (क्रिया)—बायें हाथ में वेद लेकर आज्यपूर्ण स्रुची को वेदि में आसादित करना स्रुगासादन है। सव्याशून्ये जुहूं प्रतिगृह्य०। का० श्रौ० २.८.१२।

स्रुव (पात्र)—स्रुवति आज्यं यस्मात्। जिस पात्र से अग्नि पर आज्य की आहुति दी जाती है, उसे स्रुव कहते हैं। यह खैर की लकड़ी का बनता है। अरत्नि मात्र लम्बा होता है। इसमें आज्य लेने के लिए आगे की ओर गर्त होता है। यह गर्त अङ्गुष्ठपर्वमात्र होना चाहिए। खादिरः स्रुवः। का० श्रौ० १.३.३.४। चित्र परिशिष्ट में देखें।

स्वरु (पात्र)—स्वर्यन्त उपतप्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति स्वरुः। यह यज्ञकाष्ठ का बना हुआ एक पात्र है। पाशुकयाग में यह उपयोगी है। यह प्रादेशमात्र लम्बा और खड्गाकार होता है। स्वरुः० कुर्यात्प्रादेशमात्राणि। य० पा० श्लो० १७।

स्वर्गारोहण (क्रिया)—वाजपेय याग में यह एक विधान है जिसे स्वर्गारोहण कहते हैं। इस विधान में यूप के पास सत्रह डण्डे वाली एक सीढ़ी खड़ी करते हैं। सीढ़ी पर यजमान चढ़ता है। नीचे खड़ी हुई अपनी पत्नी को सम्बोधित करके कहता है, जाया आओ स्वर्ग को चलें। जाय एहि स्वोरोहाव०। दे० प० पृ० ४५७।

स्विष्टकृत् (कर्म)—सुष्ठु इष्टं करोतीति स्विष्टकृत्०। याग का उत्तम इष्ट करने वाला स्विष्टकृत्याग है। यह प्रधानयाग के बाद होता है। इसका एक भेद निर्गुणस्विष्टकृत् है। यावद्धविरुत्तरार्द्धात्स्विष्टकृतः०। का० श्रौ० ३.३.२५।

हविरासादन (क्रिया)—दर्शपौर्णमास प्रभृति यागों में गार्हपत्य के पास से हवि को लाकर वेदि में रखना हविरासादन है। हवींषि वेद्यां कृत्वा०। का० श्रौ० २.८.१९।

हविरुदगुद्वासन (क्रिया)—याग हो चुकने पर पुरोडाश पात्री सहित शेष हवि का आहवनीय के उत्तर में रखना हविरुदगुद्वासन है। उदगुद्वासयति०। का० श्रौ० ३.३.२९।

हविर्ग्रहण (क्रिया)—पुरोडाश के निमित्त शूर्प पर अग्निहोत्रहवणी रखना और चतुर्थ्यन्त देवता के नाम का उच्चारण करते हुए यव या व्रीहि प्रभृति हविर्द्रव्य का ग्रहण करना हविर्ग्रहण है। गृह्णात्याग्नेयं चतुरो मुष्टीन्०। का० श्रौ० २.३.२०।

हविर्धानप्रवर्त्तन (क्रिया)—शकट को हविर्धान कहते हैं। शकट का चलना हविर्धान प्रवर्तन है। हविर्धानाभ्यां प्रवर्तमानाभ्याम्०। का० श्रौ० ८.४.१।

हविर्धानमण्डप (स्थान)—अग्निष्टोमयाग के जिस मण्डप में हवि का आसादन किया जाता है उसे हविर्द्धानमण्डप कहते हैं। इसमें बाँस से घेर कर चटाई बाँधते हैं। ऊपर भी चटाई की छाया करते हैं। इस मण्डप का नाप १० × १० अरत्नि चतुरस्र होता है। इसमें पूर्व और पश्चिम दिशाओं में द्वार होते हैं। हविर्द्धानं साधयित्वा०। दे० प० पृ० २८१। शिरो वा एतद्यज्ञस्य यद्धविर्धानम्०। तै० सं० ६. २. ११. १।

हविष्कृत् (व्यक्ति)—याग के हवि को पकाने वाला व्यक्ति हविष्कृत् कहलाता है। याग में इस कार्य को आग्नीध्र करता है। इसीलिए आग्नीध्र हविष्कृत् है। हविष्कृदे हीति त्रिराह्वयति०। का० श्रौ० २.४.१३।

हस्त (मान)—हाथ का मान चौबीस अङ्गुल कहा है। अरत्नि इसका नामान्तर है। प्रकोष्ठे विस्तृतकरे हस्तः, इत्यमरः। चतुर्विंशाङ्गुलो हस्तः०। नि० प० ६.१।

हिरण्यलाभकामेष्टि (कर्म)—सुवर्णप्राप्ति के लिए इस इष्टि को करने का विधान है। यः कामयेत हिरण्यं विन्देय०। तै० सं० २.३.२।

हृदयशूल (पात्र)—यह अभ्रि के आकार का वारण काष्ठ का एक अरत्नि लम्बा पात्र है। अरत्निमात्रं वारणं हृदयशूलम्०। दे० प० पृ० २१०।

हेति (पात्र)—फौलाद के लोहे के शस्त्र को हेति कहते हैं।। इसकी लम्बाई अरत्नि मात्र होती है। इसका स्वरूप कटार जैसा और इसमें दोनों ओर धार होती है। रत्निमात्रस्तथा हेतिर्लोहसारसमुद्भवा०। य० पा० श्लो० १.२८।

हेयछाग (व्यक्ति)—जो छाग दुर्लक्षण से युक्त हो उसके आलभन से हानि होती है। जिस छाग के तीन पैर एक रंग के और चौथा पैर दूसरे रंग का हो उसे मुसली कहते हैं। ऐसे छाग के आलभन से कुलकी अधोगति होती है। इस लिए परीक्षण करके छाग का आलभन करना चाहिए।

एकवर्णास्त्रयः पादास्तुरीयस्त्वन्यथा भवेत्।
स छागो मुसली नाम अधस्तान्नयते कुलम्॥ छा० श्लो० १४।

होता (व्यक्ति)—यह श्रौतयाग का एक प्रमुख ऋत्विज है। इसका कृत्य ऋग्वेद के अनुसार होता है। यह देवता का आवाहन और स्तुति करता है। याज्या और पुरोनुवाक्या के मन्त्रों का पाठ भी यही करता है। वेदि के पश्चिम में उत्तरश्रोणी के निकट इसके बैठने का स्थान है। सोमयाग में यह अपने गण का प्रमुख ऋत्विज है और पूर्ण दक्षिणा का अधिकारी है। षोडशर्त्विजः०। का० श्रौ० ७.१.७।

होतृचमस (पात्र)—होता नामक ऋत्विज के लिए जो चमस होता है उसे होतृचमस कहते हैं। पहचान के लिए इसके दण्ड पर मण्डलाकार चिह्न होता है।
होतुर्मण्डल एव स्यात्०। दे० प० पृ० ३०६।

होतृधिष्ण्या (स्थान)—अग्निष्टोम याग के सदोमण्डप में होतृधिष्ण्या बनायी जाती है। उससे पश्चिम में आसन पर होता बैठता है। अग्निष्टोम याग विहार देखें।

होतृपीठ—जिस यज्ञकाष्ठनिर्मित पीठ पर बैठकर होता सामिधेनी ऋचा पढ़ता है, वह होतृपीठ है।
आसनानि चारत्निमात्रदीर्घाणि प्रादेशमात्रविपुलानि०। दे० प० पृ० ७।

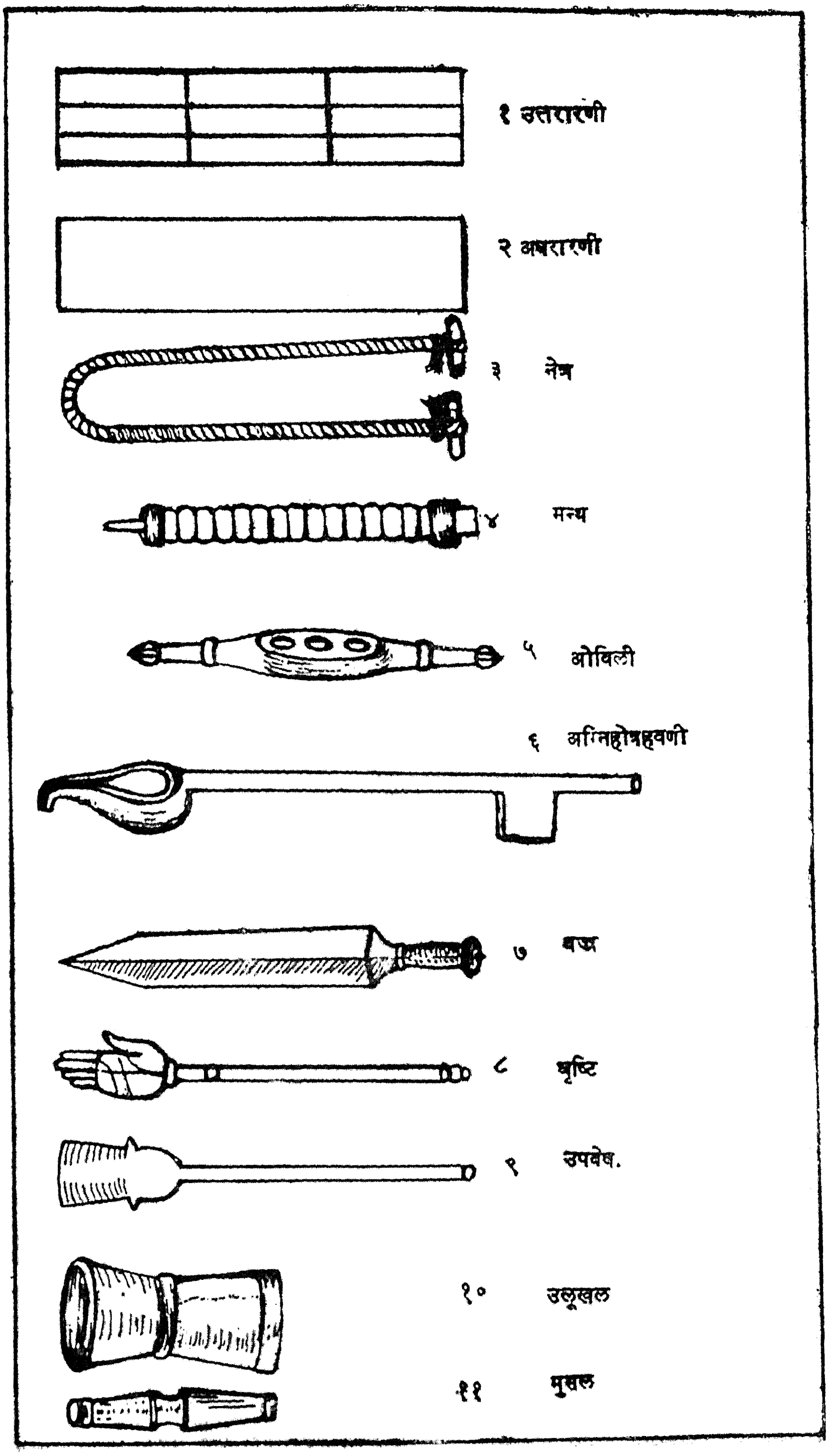
होतृवरण (क्रिया)—दर्शपौर्णमास की यज्ञशाला की वेदि के उत्तर में उत्कर के पास पूर्वाभिमुख आग्नीध्र खड़ा होता है। उसके पीछे इध्म सन्नहन लेकर अध्वर्यु खड़ा होता है। अध्वर्यु और आग्नीध्र क्रमशः आश्रावण और प्रत्याश्रावण करते हैं। तब अध्वर्यु होता के नाम और गोत्र का उच्चारण करके जो वरण करता है, वह होतृवरण है।
अथ प्रवृणीते०। का० श्रौ० ३.२.७।

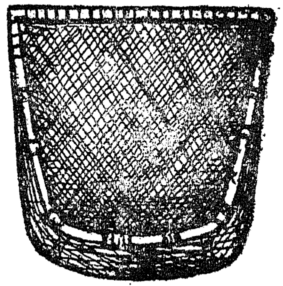
होत्रासन (स्थान)—दर्शपौर्णमासयाग में वेदि के पश्चिम में उत्तरश्रोणी के पास होता के बैठने के स्थान को होत्रासन कहते हैं। यह आसन काष्ठ निर्मित पीठ है।
दे० प० पृ० ४४।

पात्रानुक्रमणी

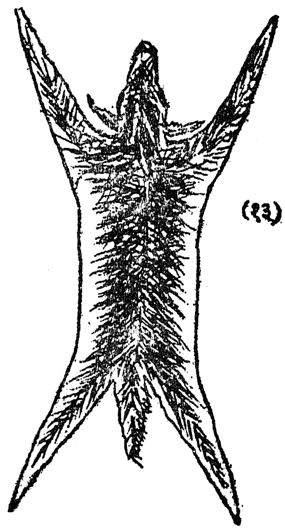
श्रौतोपयोगी जिन पात्रों के नामों के आगे अङ्क दिये हैं
उनका परिचय आगे चित्र से प्राप्त करें।

●

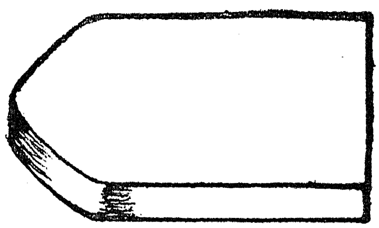

१ उत्तरारणी
२ अधरारणी
३ नेत्र
४ मन्थ
५ ओविली
६ अग्निहोत्रहवणी
७ वज्र
८ धृष्टि
९ उपवेष.
१० उलूखल
११ मुसल



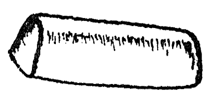
१२ शूर्प



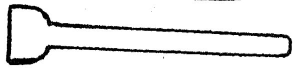
(१३) कृष्णाजिन



१४ दृषद्



१५ उपल

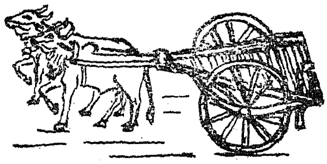


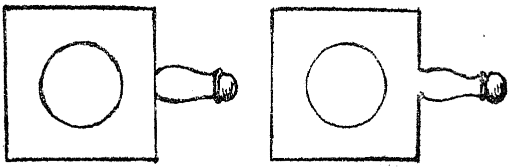
१६ स्पूतावदान



१७ शम्या

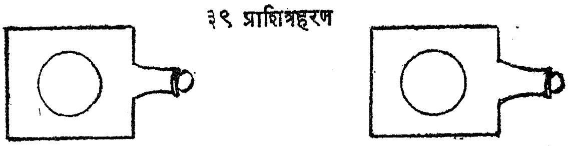
३७ शकट

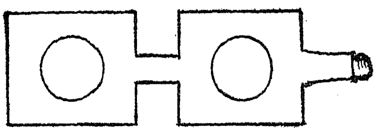




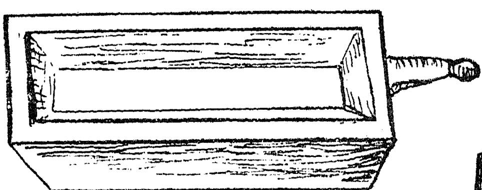
३८ पुरोडाशपात्री

३९ प्राशित्रहरण

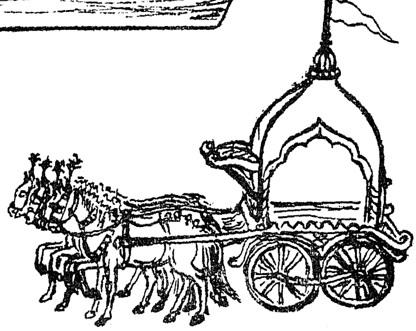




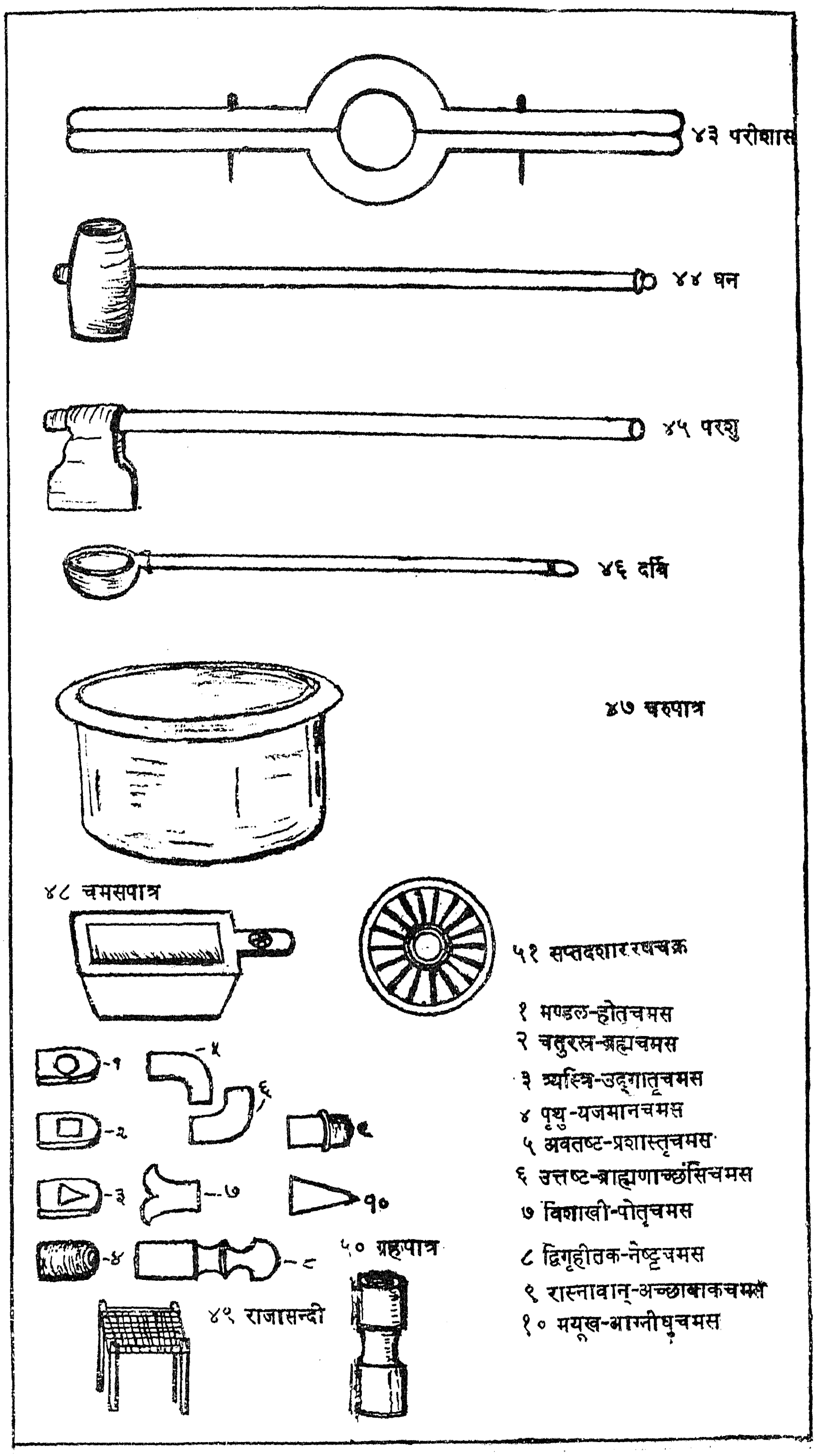
४० षडवत्त



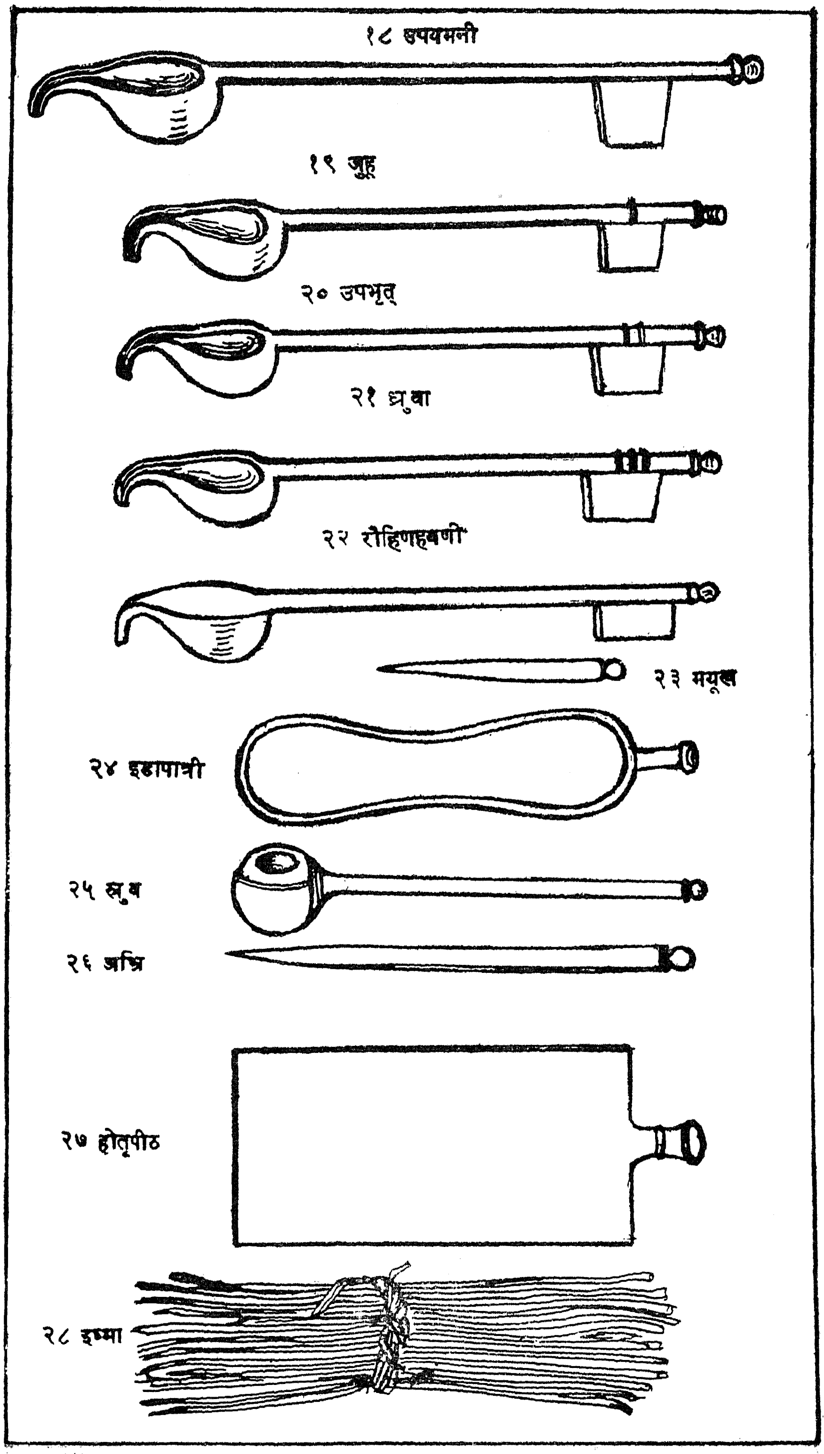
४१ द्रोणकलश

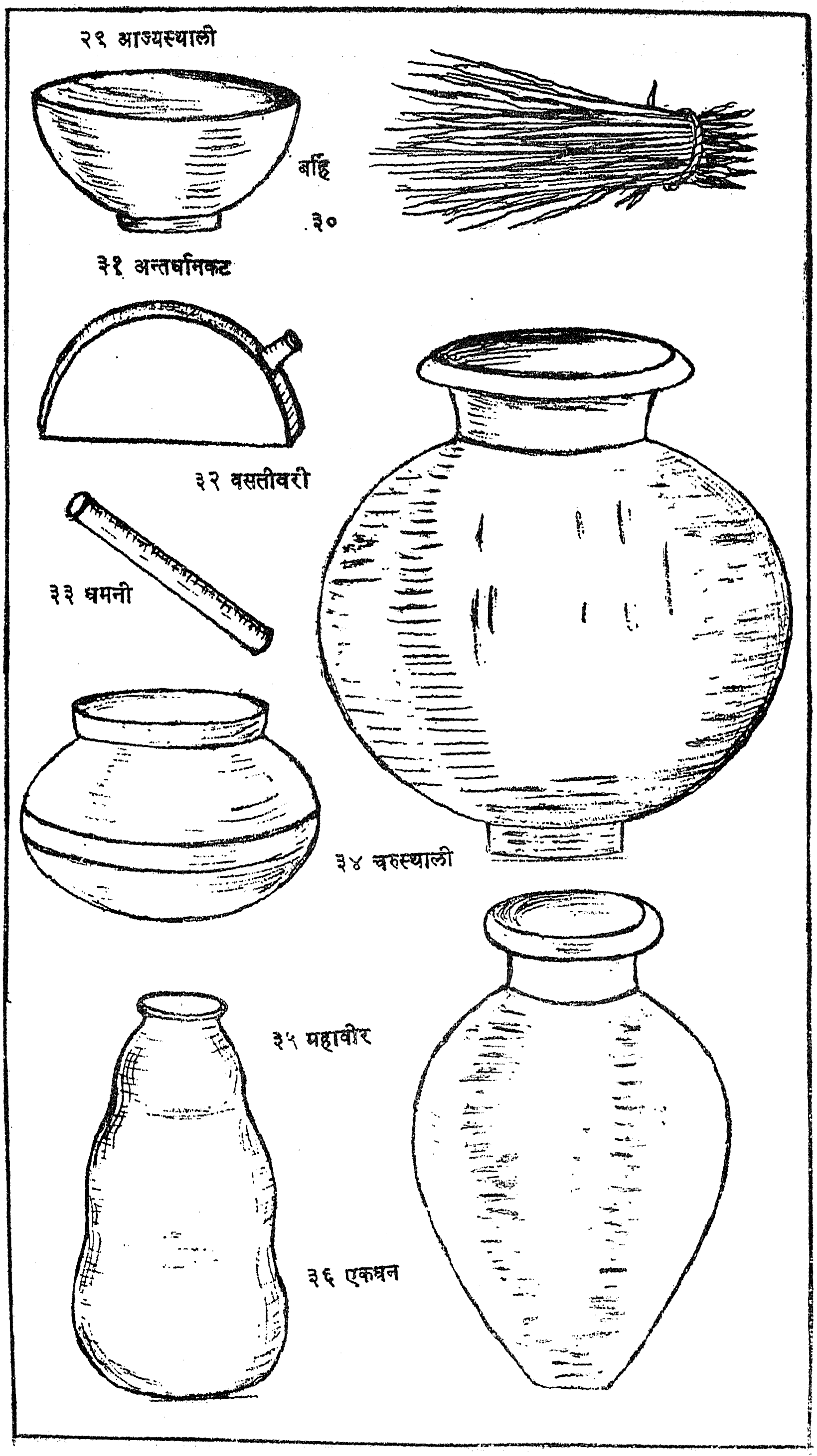


४२ रथ



४३ परीशास
४४ घन
४५ परशु
४६ दर्वि
४७ चरुपात्र
४८ चमसपात्र
५१ सप्तदशार रथचक्र
१ मण्डल-होतृचमस
२ चतुरस्र-ब्रह्मचमस
३ त्र्यस्रि-उद्गातृचमस
४ पृथु-यजमानचमस
५ अवतष्ट-प्रशास्तृचमस
६ उत्तष्ट-ब्राह्मणाच्छंसिचमस
७ विशाखी-पोतृचमस
८ द्विगृहीतक-नेष्टृचमस
९ रास्नावान्-अच्छावाकचमस
१० मयूख-आग्नीध्रचमस
५० ग्रहपात्र
४९ राजासन्दी


१८ उपयमनी
१९ जुहू
२० उपभृत्
२१ ध्रुवा
२२ रौहिणहवणी
२३ मयूख
२४ इडापात्री
२५ स्रुव
२६ अभ्रि
२७ होतृपीठ
२८ इध्मा


२९ आज्यस्थाली
बर्हि
३०
३१ अन्तर्धानकट
३२ वसतीवरी
३३ धमनी
३४ चरुस्थाली
३५ महावीर
३६ एकधन

विषयानुक्रमणी

नाम पृष्ठाङ्क

विषयोपयोगी हस्तलिखित ग्रन्थसूची

नाम	ग्रन्थकार	ग्रन्थागार	
१. अग्निकार्यम्		स० भ० वा०[1]	
२. अग्निचयनप्रयोगः		,,	,,
३. अग्निमुखम्		,,	,,
४. अग्निष्टोमकारिका	: गोपालदीक्षितः	,,	,,
५. अग्निष्टोमप्रयोगः	: अचलजी दीक्षितशिष्यः	,,	,,
६. ,,	: केशवस्वामी	,,	,,
७. ,,	: गोविन्दशेषः	,,	,,
८. ,,	: नारायणवाजपेयी	,,	,,
९. ,,	: शेषगोविन्दः	,,	,,
१०. अग्निष्टोममैत्रावरुणप्रयोगः		,,	,,
११. अग्निष्टोमशस्त्रक्लृप्तिः		,,	,,
१२. अग्निष्टोमसाम		,,	,,
१३. अग्निष्टोमहौत्रम्		,,	,,
१४. अग्निष्टोमे कण्वानां विशेषः		,,	,,
१५. अग्निष्टोमौद्गात्रप्रयोगः		,,	,,
१६. अग्निसन्धानविधिः		,,	,,
१७. अग्निहोत्रप्रकरणम्	: सायणाचार्यः	,,	,,
१८. अग्निहोत्ररक्षामणिः	: रामचन्द्रदीक्षितः	,,	,,
१९. अग्निहोत्राधानब्रह्मत्वम्		,,	,,
२०. अग्निहोत्रोपनिषद्		,,	,,
२१. अग्न्यायतनम्		,,	,,
२२. अग्न्युपघातप्रायश्चित्तम्	: अनन्तः	,,	,,
२३. अच्छावाकप्रयोगः		,,	,,
२४. अच्छावाकशस्त्रम्		,,	,,
२५. अच्छावाकसूक्तम्		,,	,,
२६. अतिपवित्रेष्टिः	: रघुनाथः	,,	,,
२७. अतिपवित्रेष्टिहौत्रम्		,,	,,

१. सरस्वती भवन ग्रन्थालय, हस्तलिखित विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

नाम	ग्रन्थकार	ग्रन्थागार
२८. अतिरात्रप्रयोगः		स० भ० वा०
२९. अत्यग्निष्टोमः	याज्ञिकदेवः	,, ,,
३०. अथर्ववेदपरिशिष्टम्		,, ,,
३१. अध्वर्युसूत्रसङ्केतः		,, ,,
३२. अनुस्तोत्रम्		शि० त्रि० वा०[1]
३३. अन्त्येष्टिप्रयोगमणिः	केशवः	स० भ० वा०
३४. अरण्यस्तोमविधानम्		शि० त्रि० सं०
३५. अश्वमेध-औद्गात्रपद्धतिः		,, ,,
३६. आधानकारिकापरिशिष्टम्		,, ,,
३७. आपस्तम्बश्रौतप्रयोगरत्नम्		स० भ० वा०
३८. आपस्तम्बसोमविहारकारिका		,, ,,
३९. आश्वलायनाग्निहोत्रहोमः		,, ,,
४०. इष्टकानिर्णयप्रस्तारः		,, ,,
४१. उद्गातृरत्नाकरः		,, ,,
४२. ऋग्यजुःपरिशिष्टम्	कात्यायनः	ग० दी० सं०[2]
४३. एकाहाहीनसत्रब्रह्मत्वपद्धति		स० भ० वा०
४४. ऐकाहिकचातुर्मास्यप्रयोगः	शुक्लदीक्षितः	,, ,,
४५. कल्पसूत्रम्		शि० त्रि० सं०
४६. कातीयसोमप्रकृतिविहारः		स० भ० वा०
४७. कात्यायनतात्पर्यम्		,, ,,
४८ कात्यायनपरिशिष्टम्		,, ,,
४९. कात्यायनश्रौतसूत्रपद्धतिः	भाणजीदीक्षितः	ग० दी० सं०
५०. कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्यम्	अनन्तः	स० भ० वा०
५१. कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्यम्	पितृभूतिः	,, ,,
५२. कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्यम्	कर्कः	,, ,,
५३. कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्यम्	देवयाज्ञिकः	,, ,,
५४. कात्यायनश्रौतसूत्रवृत्तिः		,, ,,
५५. कात्यायनश्रौतसूत्रव्याख्या	वैद्यनाथः	,, ,,
५६. कात्यायनश्रौतसूत्रानुसारिपद्धतिः		,, ,,
५७. कात्यायनसूत्रपद्धतिः	देवयाज्ञिकः	,, ,,

१. शिवराम त्रिपाठी संग्रह, सूत टोला, वाराणसी ।

२. गणेश दीक्षित संग्रह, मंगला गौरी, वाराणसी ।

नाम	ग्रन्थकार	ग्रन्थागार
५८. कात्यायनसूत्रपद्धतिः	पद्मनाभः	ग० दी० सं०
५९. कात्यायनसूत्रपद्धतिव्याख्या	वैद्यनाथः	स० भ० वा०
६०. कात्यायनसूत्रव्याख्या	त्र्यम्बकभट्टः	,, ,,
६१. कात्यायनसूत्रसंक्षिप्तभाष्यम्		,, ,,
६२. कात्यायनस्नानविधिसूत्रविवरणम्	हरिहरः	,, ,,
६३. कात्यायनहौत्रम्		,, ,,
६४. कात्यायनहौत्रपरिशिष्टम्		,, ,,
६५. कात्यायनहौत्रसूत्रव्याख्यानम्		,, ,,
६६. कात्यायनाग्निष्टोमपद्धतिः		,, ,,
६७. कात्यायनाग्निहोत्रहोमः		,, ,,
६८. कात्यायनीयपरिशिष्टम्		,, ,,
६९. कारीरोष्टिप्रयोगः		,, ,,
७०. क्रतुरत्नमाला		,, ,,
७१. क्रतुसंख्याविवरणम्		शि० त्रि० सं०
७२. गार्हपत्यचितिः		स० भ० वा०
७३. गोपालकारिका	गोपालः	,, ,,
७४. चमसपद्धतिः		,, ,,
७५. चयनकर्मदीपिकापद्धतिः		,, ,,
७६. चयनसम्बन्धिशस्त्रम्		,, ,,
७७. चरकसौत्रामणीप्रयोगः	वासुदेवाध्वरी	,, ,,
७८. चातुर्मास्यप्रयोगः	नारायणः	,, ,,
७९. ज्योतिष्टोमप्रयोगः		,, ,,
८०. त्रिकाण्डमण्डनविवरणम्		,, ,,
८१. दर्शपौर्णमासविहारकारिका		,, ,,
८२. दर्शपौर्णमाससूत्रम्		,, ,,
८३. देवयाज्ञिकसम्मतपद्धतिपरिभाषा		,, ,,
८४. द्राह्यायणप्रायश्चित्तदीपिका		,, ,,
८५. द्रोणचित्यस्येष्टकापूरणम्		,, ,,
८६. द्वादशाहप्रयोगः		,, ,,
८७. द्विपशुत्रिपशुबहुपशुपक्षाः		,, ,,
८८. नक्षत्रसत्रप्रयोगः		,, ,,
८९. नक्षत्रेष्टिप्रयोगः		,, ,,
९०. निगमपरिशिष्टम्		,, ,,

नाम	ग्रन्थकार	ग्रन्थागार
९१. निरूढपशुबन्धप्रयोगः		स० भ० वा०
९२. पशुसूत्रम्		,, ,,
९३. पार्षदपरिशिष्टम्	कात्यायनः	ग० दी० सं०
९४. पार्षदव्याख्या		स० भ० वा०
९५. पितृमेधप्रयोगः		,, ,,
९६. पुत्रकामेष्टिप्रयोगः		,, ,,
९७. पुनःसन्धानप्रयोगः		,, ,,
९८. पुरुषमेधपद्धतिः		,, ,,
९९. पौण्डरीकप्रयोगः		,, ,,
१००. प्रकृतिविकृतियागकालविवेकः		,, ,,
१०१. प्रतिहारसूत्रम्		शि० त्रि० सं०
१०२. प्रवासकृत्यकारिका		स० भ० वा०
१०३. प्रसवोत्थानपरिशिष्टम्	कात्यायनः	ग० दी० सं०
१०४. प्रस्तोतृसामानि		स० भ० वा०
१०५. प्राणाग्निहोत्रविधिः		,, ,,
१०६. प्रायश्चित्तानुक्रमणी	अनन्तदेवः	,, ,,
१०७. बहिष्पवमानस्तोत्रम्		शि० त्रि० सं०
१०८. बौधायनीयदर्शपूर्णमासः	वैद्यनाथपायगुण्डे	स० भ० वा०
१०९. मशककल्पसूत्रम्		,, ,,
११०. मित्रविन्देष्टिप्रयोगः		,, ,,
१११. यज्ञपार्श्वपरिशिष्टम्		,, ,,
११२. याज्ञिकवल्लभा		,, ,,
११३. राजसूयपद्धतिः		,, ,,
११४. विकृतिकौमुदी		,, ,,
११५. विश्वजित्प्रयोगः		,, ,,
११६. विष्टुतिसूत्रभाष्यम्		शि० त्रि० सं०
११७. श्रौतचन्द्रिका		स० भ० वा०
११८. श्रौतक्रोडपत्राणि		,, ,,
११९. श्रौतप्रायश्चित्तचन्द्रिका	विश्वनाथभट्टः	,, ,,
१२०. श्रौतसर्वस्वम्		,, ,,
१२१. श्रौतहोमपरिशिष्टम्		शि० त्रि० सं०
१२२. षोडशिशस्त्रम्		स० भ० वा०
१२३. सत्रविधिप्रयोगः		,, ,,

नाम	ग्रन्थकार	ग्रन्थागार
१२४. सत्रात्मको द्वादशाहः		स० भ० वा०
१२५. सप्तपाकयज्ञनिर्णयः		,, ,,
१२६. सप्तश्रौतसंस्काराः		,, ,,
१२७. सप्तसोमसंस्थाः		,, ,,
१२८. समारूढाग्नेर्मरणविधिः		,, ,,
१२९. सम्प्रदायपद्धतिः	सम्प्रदायशर्मा	,, ,,
१३०. सर्वमेधपद्धतिः		,, ,,
१३१. सोमप्रयोगकारिका	वासुदेवदीक्षितः	,, ,,
१३२. सोमयागप्रयोगः	भास्करमिश्रः	,, ,,
१३३. सौत्रामणीपद्धतिः		,, ,,
१३४. हौत्रालोकः		,, ,,
१३५. हौत्रिकपरिशिष्टम्	कात्यायनः	ग० दी० सं०

विषयोपयोगी मुद्रित ग्रन्थसूची

अग्निपुराण, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता १९५७

अग्निष्टोमपद्धति, चौ० सं० सीरीज, बनारस १९३४

अग्निष्टोमपद्धति सामवेदीय, प्रत्नकर्मनन्दिनी, कलकत्ता १७९६ श.

अग्निहोत्रचन्द्रिका, वा० शा० किंजवड़ेकर, आ० सं० सी०, पूना १९१९

अग्निहोत्रव्याख्या

अथर्ववेद, श्री० दा० सातवलेकर, औंध १९९५

अथर्ववेद (काश्मीरियन) भाग १–३ (पैप्पलादशाखा)
आर० एम्० ब्लूमफील्ड, गार्बे बल्टिमोर १९०१

अथर्ववेद भाग १–५, भाष्य : क्षेमकरणदास, प्रयाग १९२५

अथर्ववेद भाग १–४, भाषाभाष्य : जयदेव, अजमेर

अथर्ववेद भाग १–४, भाष्य : सायणाचार्य, नि० सा० प्रेस, बम्बई १८९५–१८९८

अथर्ववेद भाग १–३, सुबोध भाष्य : श्री० दा० सातवलेकर, औंध १९२७

अथर्ववेद संहिता, सं० राथ. आर. डब्ल्यू. डी. ह्विटनी, बरलिन १८५६

अथर्ववेद गोपथब्राह्मण, सं० एम्० ब्लूमफील्ड, स्ट्रसबर्ग १८९९

अथर्ववेद दन्त्योष्ठविधि, आर० जी० शास्त्री, डी. ए. वी. कालेज, लाहौर १९२१

अथर्ववेदीय पञ्चपटलिका, हिन्दी अनुवाद : भगवद्दत्त, डी. ए. वी. कालेज, लाहौर १९१०

अथर्वप्रातिशाख्य, आंग्ल अनुवाद : सूर्यकान्त, लाहौर १९३८

अथर्ववेद प्रातिशाख्य, सं० डब्ल्यू० डी० ह्विटनी, न्यू हैवन्स १८६२

अथर्ववेद बृहत्सर्वानुक्रमणिका, सं० रामगोपाल शास्त्री, डी. ए. वी. कालेज, लाहौर १९२२

अथर्वशिरोपनिषद्, नि० सा० प्रेस, मुम्बई १९१७

अनुवाकपरिशिष्ट, कात्यायन, कात्यायन ग्रन्थमाला, पूना

अन् पब्लिश्ड उपनिषदास्, अड्यार लायब्रेरी १९३३

अल्टिशर अहनैकल्ट, डब्ल्यू कालैण्ड, लंडन १८९३

अल्फाबेटिकल इंडेक्स आफ आल् दि वर्ड्‌स इन दि अथर्ववेद : विश्वेश्वरानन्द स्वामी,
बम्बई १९०७

अल्फाबेटिकल इंडेक्स आफ आल् दि वर्ड्‌स इन दि ऋग्वेद : विश्वेश्वरानन्द स्वामी,
बम्बई १९०८

अल्फाबेटिकल इंडेक्स आफ आल् दि वर्ड्‌स इन दि यजुर्वेद : विश्वेश्वरानन्द स्वामी,
नि० सा०, बम्बई १९०८

अल्फाबेटिकल इण्डेक्स आफ् आल् दि वर्ड्स इन् दि सामवेद : विश्वेश्वरानन्द स्वामी, नि. सा., बम्बई १९०८
आधानपद्धति, वा० शा० किंजवडेकर, आ० सं० सी०, पूना १९१८
आन् दि इंटर प्रिटेशन आफ सम डाउटफुल वर्ड्स इन दि अथर्ववेद : चौधरी, जे. बी. ओ. आर. एस. भाग १८
आपस्तम्बगृह्यसूत्र, भाष्य : मित्र, सुदर्शनाचार्य, काशी सं० सी०, बनारस १९८५
आपस्तम्बशुल्बसूत्र, टीका : कपर्दीश्वर, सुन्दरराजा, मैसूर १९३९
आपस्तम्बश्रौतसूत्र, टीका : चिन्नस्वामी शास्त्री, चौ० सं० सी०, काशी १९२८
आपस्तम्बश्रौतसूत्र १–३ भाग, टीका : रुद्रदत्त भाग १, ए. एस. बी., कलकत्ता १८८८
आपस्तम्बश्रौतसूत्र भाग १, भाष्य : धूर्तस्वामी, वृत्ति : रामाग्निचित्, युनि०, मैसूर १९४५
आपस्तम्बश्रौतसूत्र भाग २, भाष्य : धूर्तस्वामी, वृत्ति : रामाग्निचित्, युनि०, मैसूर १९५३
आर्कटिक होम इन दि वेद : बी. जी. तिलक, तिलक ब्र०, पूना १९२५
आर्याभिनय, आंग्लअनुवाद : दयानन्द स्वामी, लाहौर
आर्षेय दस सामवेद : सं० डब्ल्यू. कालेंड, लिपजिग १९०८
आर्षेय ब्राह्मण, ए. सी. बर्नेल, मंगलोर १८७६
आश्वलायन गृह्यमन्त्रव्याख्या, सं० साम्बशिव के० चित्रोदय मंजरी, त्रिवेन्द्रम् १९३८
आश्वलायनगृह्यसूत्र, वृत्ति : नारायण, आ० सं० सीरीज, पूना १९३७
आश्वलायनश्रौतप्रयोगदीपिका, मंचनाचार्य भट्ट, ब० सं० सी०, बनारस १९०७
आश्वलायनश्रौतसूत्र, सरस्वती भवन टेक्स्ट, वाराणसी १९३८
आश्वलायनश्रौतसूत्र, वृत्ति : नारायण, आ० सं० सी०, पूना १९१७
आश्वलायनश्रौतसूत्र भाग १, बी० आई० सी०, कलकत्ता १८७४
आश्वलायनश्रौतसूत्र भाग २, ,, ,, ,,
इंडेक्स आफ ऐतरेय ब्राह्मण, बी० बी० जोशी, बम्बई १९१६
इंडेक्स वर्बोरम टु दि अथर्ववेद, वी. डी ह्विटनी, जे. ए. ओ. एस., न्यू हैवन १८८१
इन्द्रशक्ति का विकास, श्री० दा० सातवलेकर, औंध, सतारा १९३४
इष्टकापूरण परिशिष्ट, कात्यायन, कात्यायन ग्रन्थमाला, पूना
इष्टकापूरण, भाष्य : देवयाज्ञिक, कात्यायन ग्रन्थमाला, पूना
इष्टकापूरण श्लोक, उपेन्द्र, कात्यायन ग्रन्थमाला, पूना
उञ्छशास्त्र परिशिष्ट, कात्यायन, कात्यायन ग्रन्थमाला, पूना
उपनिदान सूत्र, एस. बी. टी., बनारस १८३१
उपग्रन्थ सूत्र, एस. सामश्रमी, कलकत्ता १८९७
उपलेखसूत्र, लेटिन अनुवाद : पटेश जी०, बैरोलिनो १८५४
ऊबर डाइ कोनिंगिस इन् राजसूय, ए० वेबर, बरलिन १८९३
ऊबर डाई मैत्रायणी संहिता, श्रोडर, एन०

ऋक्तन्त्रम्, एस्. के. शास्त्री, लाहौर १९३३
ऋगर्थदीपिका १—३ भाग, ऋग्वेद भाष्य : माधव, मो० ब० दास, लाहौर १९३९,४०,४३
ऋगर्थसार, दिनकर भट्ट, हैदराबाद डेक्कन, सं० एकेडमी १९६९
ऋग्विधान, जे० गोण्डा, उटरेश्ट
ऋग्वेदसंहिता भाग १-४, भाष्य : सायणाचार्य, वै० सं० म०, पूना १९३३-१९४६
एकाग्निकाण्ड, टीका : हरदत्त मिश्र, ग० ओ० ला० सीरीज, मैसूर १९०२
एसेस आन दि ऋग्वेद एण्ड अदर टापिक्स, के० डी० ताम्हणकर, पूना १९३२
ऐतरेय ब्राह्मण आफ्रेक्ट, बोन १८७९
ऐतरेय ब्राह्मण, आंग्ल अनुवाद सहित : एम्. हाग, बम्बई १८६३
ऐतरेय ब्राह्मण, सायणभाष्य, बि० इ० सी०, कलकत्ता १८९५
ऐतरेय ब्राह्मण, सुखप्रद वृत्ति : सद्गुरुशिष्य, युनि० आफ० ट्रावंकौर, त्रिवेन्द्रम् सं० सी० १९५२
ऐतरेय ब्राह्मण एण्ड कौशीतकि ब्राह्मण, ए. बी. कीथ, हा० ओ० सी० १९२०
ऐतरेयारण्यक, आ० सं० सी०, पूना १९९८
ऐतरेयारण्यक, आंग्ल अनुवाद सहित, अनु० ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड १९०९
ऐतरेयारण्यक पर्यालोचन, एम्० डो० शास्त्री, बनारस १९५३
ऐतरेयारण्यक सायणभाष्य सहित, सं० आर० एल्० मित्रा, बि० इ० सी०, कलकत्ता १८७६
ऐतरेयालोचन, स० सामश्रमी, बि० इ०, कलकत्ता १९०५
ओरियन, बा० गं० तिलक, पूना १८९१
कठरुद्रोपनिषद्, नि० सा० प्रेस, मुंबई १९१७
कन्ट्रिब्यूशन्स फ्राम दि जैमिनीय ब्राह्मणाज टु दि हिस्ट्री आफ दि ब्राह्मण लिट्रेचर, एच० आर्टिल १८९८
कर्मप्रदीप, जर्मन अनुवाद, ए० फ्रेहर्न, हेल० ए० एस० १९००
कर्मप्रदीप (परिशिष्ट प्रकाश), ए० सो० बंगाल, कलकत्ता १९२३
कलेक्शन आफ फ्रागमेंट्स आफ दि लास्ट ब्राह्मणास्, बी० के० घोष, मो० पंजाब सिण्डीकेट, कलकत्ता १९३५
काठकगृह्यसूत्र, कालेंड विलियम रिसर्च डि. ए. वी. कालेज, लाहौर १९२५
काठकसंहिता, श्री० दा० सातवलेकर, स्वा० म० औंध, सतारा
काठकसंहिता, स्क्रोडर. एल. वान, लिपजिग १९००
काण्वसंहिता, सं० श्री० दा० सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल औंध, सतारा १९९७ वि०
कातीयानां नित्यकर्मपद्धति, चौ० सं० सी०, बनारस
कातीयेष्टिदीपक, नित्यानन्द पर्वतीय, काशी सं० सी०, बनारस १९२४
कात्यायन शुल्बसूत्र कर्कभाष्य सहित, चौ० सं० सी०, वाराणसी १९३६
कात्यायनश्रौतसूत्र पद्धति : देवयाज्ञिक, ,, ,, ,,

कात्यायनश्रौतसूत्र, प्रथम भाग, भाष्य : कर्काचार्य, एम्. एम्. पाठक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस १९०८

कात्यायनश्रौतसूत्र, द्वितीय भाग, भाष्य : कर्काचार्य, चौ० सं० सी०, बनारस १९०८

कात्यायनश्रौतसूत्र, भाष्य : कर्काचार्य, देवयाज्ञिक सं०, बरलिन १८५९

कात्यायनश्रौतसूत्र, सरलावृत्ति : विद्याधर गौड़, अच्युतग्रन्थमाला, बनारस १९८७ वि०

कात्यायनस्मृति, बंगवासी एडीसन, कलकत्ता १३१६ साल

कालिकापुराण, के० राज, एस० के० दास, बम्बई १९६४ वि०

कुण्डकल्पद्रुम, कुण्डविंशति, कुण्डमण्डपनिर्माणविषयक २० ग्रंथों का संग्रह, आर्य सेवक प्रेस, बम्बई १८६९

कृष्णयजुर्वेद प्रकरणकौमुदी, वी. एस. किंजवडेकर, पूना १९३८

कृष्णयजुर्वेद भूमिका

कौथुमगृह्य, सं० सूर्यकान्त, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता १९५६

कौशिकगृह्यसूत्र

कौशिकसूत्र, भाष्य : दारिल, पद्धति : केशव, सं० एम्० ब्लूमफील्ड, ज० ए० सो० सी०, न्यू हैवन १८९०

कौशीतकि एण्ड ऐतरेय ब्राह्मण, अनु. ए. बी. कीथ, हा. ओ. सीरीज १८२०

कौशीतकि गृह्यसूत्र, बनारस सं० ग्रन्थमाला, बनारस

कौशीतकि ब्राह्मण, सं. बी. लिंडनर, जेने १८८७

क्रिटिकल स्टडी आन कात्यायन शुक्ल यजु० प्रातिशाख्य, वी. वी. आर. शर्मा, युनि., मद्रास १९३५

खादिरगृह्यसूत्र, टीका : रुद्रस्कन्द शास्त्री, ग. ओ. ला. सी., मैसूर १९१३

गरुडपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई १९६३ वि०

गृह्य एण्ड धर्मसूत्र दर वैखानस, थियोडर ब्लाक, लिबजिग १८९६

गृह्यसूत्र आफ जैमिनी, सं० डब्ल्यू. कालेण्ड, पंजाब सं. सी., लाहौर १९२२

गोपथब्राह्मण, आर. एल्. मित्र, बि. इ. ए. सो., बंगाल १८७२

गोपथब्राह्मण, ड्यूक गास्ट्रा, लेडन १९१९

गोभिल गृह्यसूत्र, टीका : बक्षी एम्०, काशी सं० सीरीज, बनारस १९३६

गोभिल परिशिष्ट, टीका : चन्द्रकान्त, बि. इ. सी., कलकत्ता १९०९

ग्रामे गेय (वेय, प्रकृति) गान, वा. श्री. सातवलेकर, औंध, सतारा १९९९

घाटेस् लेक्चर्स आन दि ऋग्वेद, वी. एस. सूक्तंकर, पूना १९२६

चरणव्यूह परिशिष्ट, कात्यायन, कात्यायन ग्रन्थमाला, पूना

छागलक्षण परिशिष्ट, कात्यायन, कात्यायन ग्रन्थमाला, पूना

छान्दोग्य उपनिषद्, नि. सा. प्रेस, बम्बई १९१७

छान्दोग्य ब्राह्मण, सं. डी. एम्. भट्टाचार्य, संस्कृत कालेज, कलकत्ता १९५८

जरनल आफ वैदिक स्टडीज १-२ भाग, सं. रघुवीर, लाहौर १९३४-१९३५
जैमिनीय गृह्यसूत्र, टीका : श्रीनिवासाध्वरि, सं. डब्ल्यू कालेण्ड, पंजाब संस्कृत सीरिज, लाहौर १९२२
जैमिनीयतलवकार उपनिषद् ब्राह्मण अनुवाद, नोट्स : हेन्स ओरटल, न्यू हैवन
जैमिनीयब्राह्मण सं० रघुवीर, लाहौर १९३७
जैमिनीय संहिता, स० डब्ल्यू० कालैण्ड
टैक्स्ट आर व्हाइट यजुर्वेद, अनुवादक : आर. टी. एच. ग्रीफिथ, ई. जे. लाजरस एण्ड कं०, बनारस १९२७
ट्रांस्लेशन आफ सायणास् प्रीफेस, पी. पिटर्सन
टू इन्टरप्रिटेशन आफ वैदिक सेक्रिफाइस बेस्ड आन ऋग् एण्ड यजुर्वेद एण्ड दि रिचुअल्स एस० नरसिंहाचार्य, मद्रास १९३२
डेट आफ ऋग्वेद डी. आर्. मांकड़, गंगाजल प्रकाशन, गुजरात १९५२
डेली प्रेस आफ दि हिन्दूस, से० बु० आफ हिन्दूस्, पाणिनि आफिस, इलाहाबाद १९१८
ताण्ड्यब्राह्मण १-२ भाग, चौ. सं. सी., बनारस १९३५
ताण्ड्यमहाब्राह्मण, भाष्य : सायणाचार्य, काशी सं. सी., बनारस १९३५
ताण्ड्यमहाब्राह्मण, भाष्य : सायणाचार्य, वि. इ., कलकत्ता १८७०
तारसारोपनिषद्, नि. सा. प्रेस, बम्बई १९१७
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, जरनल आफ अमेरिकन ओ. सो., वाल्यूम ९
तैत्तिरीय ब्राह्मण, भाष्य : भट्टभास्कर, १००८-१३
तैत्तिरीय ब्राह्मण, भाष्य : सायणाचार्य, आनन्दाश्रम, सं ग., पूना १९३४-३८
तैत्तिरीय संहिता, भाष्य : भट्टभास्कर, मैसूर १८९४
तैत्तिरीय संहिता, भाष्य : महादेवाचार्य, बि इ., कलकत्ता १९६०
तैत्तिरीय संहिता, भाष्य : सायणाचार्य, आ. सं ग्र., पूना १९००
तैत्तिरीय संहिता : त्रिकाण्डभाष्यरत्नटीका
तैत्तिरीयारण्यक, भाष्य : भट्टभास्कर मिश्र, मैसूर १९००
तैत्तिरीयारण्यक, भाष्य : सायणाचार्य, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना १९२६
त्रिकण्डिकासूत्र
त्रिकाण्डमण्डन, आपस्तम्बसूत्र ध्वनितार्थकारिका, मिश्र भास्कर, ए. सो., बंगाल १९०३
देवताविचार, श्री. दा. सातवलेकर, औंध १९२१
देवलस्मृति, आनन्दाश्रम ग्रंथमाला, पूना १९०५
देवीभागवत, क्लाइव रो, कलकत्ता १९६०
दैवतब्राह्मण, टीका : जीवानन्द विद्यासागर, षड्विंशब्राह्मण के साथ, कलकत्ता १८८१
दैवतब्राह्मण, भाष्य : सायणाचार्य, कलकत्ता १८३१
दैवतब्राह्मण, षड्विंशब्राह्मण, भाष्य : सायणाचार्य, कलकत्ता १८८१

दैवतसंहिता भाग २, श्री. दा० सातवलेकर, औंध १९४१
द्राह्यायण गृह्यसूत्रवृत्ति : रुद्रस्कन्द, आ. सं. सी , पूना १९१४
द्राह्यायण श्रौतसूत्र, भाष्य : धन्विन्
धर्मसिन्धु, नि. सा. प्रेस, बम्बई १९३६
नारदपुराण, सनातन धर्म पताका, मुरादाबाद १९४०
नारायणोपनिषद्, नि. सा. प्रेस, बम्बई १९१७
नित्यकर्मप्रकाशिका, कुलनिधि शर्मा, प्राभाकरी प्रेस, बनारस १९५९
निरुक्त, टीका : स्कन्दस्वामी, पंजाब युनि०, लाहौर १९२५
निरुक्त : यास्काचार्य, दुर्गाचार्य भाष्य १-२ भाग, क्लाइव रो, कलकत्ता १९५२
निर्णयसिन्धु, नि सा. प्रेस, बम्बई १९२६
न्यू एप्रोच टू दि वेदास्, ए. के. कुमारस्वामी, लन्दन १९३३
पंचविंशब्राह्मण, डब्ल्यू कालेण्ड, ए सो. बंगाल, कलकत्ता १९३१
पद्मपुराण, क्लाइब रो, कलकत्ता १९५७
परब्रह्मोपनिषद्, नि. सा. प्रेस, बम्बई १९१७
परिशिष्ट आफ दि अथर्ववेद १-३ भाग, सं० बालिंग एण्ड नेगलिन, लिपजिग १९०९
पाणिनीय शिक्षा, हरिदास सं. सी., बनारस १९३७
पारस्कर गृह्यसूत्र, गुजराती प्रि० प्रेस, बम्बई
पारस्कर गृह्यसूत्र, भाष्य : कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर, मेडिकल हाल प्रेस, बनारस १९५२
पितृमेधसूत्र, बौधायन, हिरण्यकेशिन्, गौतम, डब्ल्यू कालेण्ड, लिपजिग १८९६
पितृसमीक्षा, ओझा, एम्० शर्मा, आद्यादत्त ठाकुर, लखनऊ १९३७
पुरुरवास एण्ड उर्वशी, ए. लुडविग, १८९७
पुष्पसूत्र (सामप्रातिशाख्य), चौ. सं. सीरीज, बनारस १९२२-१९२३
पैप्पलादमन्त्रार्थानुक्रमणी (अथर्ववेदीया), लाहौर
प्रतिज्ञापरिशिष्ट : कात्यायन, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
प्रवराध्याय परिशिष्ट, कात्यायन, कात्यायन ग्रंथमाला, पूना
प्रसवोत्थान परिशिष्ट, कात्यायन, कात्यायन ग्रंथमाला, पूना
बृहदारण्यकोपनिषद्, नि. सा. प्रेस, बम्बई १९१७
बृहज्जाबालोपनिषद्, नि सा. प्रेस, बम्बई १९१७
बृहद्देवता : शौनक, कलकत्ता १८९३
बृहद्देवता : शौनक, भाग १-२, ए. ए. मेकडोनल, हा. ओ. सी. १९०४
बृहद्देवता, आंग्ल अनुवाद, हा. ओ. सी. कैम्ब्रिज १९०४
बृहत्सर्वानुक्रमणिका, सं. रामगोपाल शास्त्री, डी. ए. वी. कालेज, लाहौर १९२२
बौधायनगृह्यसूत्र, सं. श्रीनिवासाचार्य, जी. ओ. एल्. एस् , लाहौर १९०४
बौधायनश्रौतसूत्र भाग १-२, डब्ल्यू कालेण्ड, कलकत्ता १९०४

ब्यूटीस आफ वैदिक धर्म, राजकुमार, लाहौर १९२५

ब्रह्मपुराण, क्लाइव रो, कलकत्ता १९५४

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, क्लाइव रो, कलकत्ता १९५७

ब्रह्माण्ड पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९२२ वि.

ब्राह्मणास् आफ दि वेदास, के. एन्. मैकडोनल, मद्रास १८९६

भविष्यपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९६७ वि०

भारद्वाज गृह्यसूत्र, सेलोमोन्स, एच. जे. डब्ल्यू, लेडन १९१३

भारद्वाज शिक्षा, टीका : नागेश्वर, ग. औ. सी., पूना १९३८

भारद्वाज श्रौतसूत्र

मत्स्यपुराण, क्लाइव रो, कलकत्ता १९५५

मनुस्मृति, बम्बई १९१३

मन्त्रपाठ और प्रेयरबुक आर् आपस्तम्बिन् विन्टरनित्स, आक्सफोर्ड १८९७

मन्त्रब्राह्मण, प्रपाठक १, सं० स्टोनर, एच. हेली एस्. १९०१

मन्त्रब्राह्मण, संस्कृत, बंगटीका : सत्यव्रत सामश्रमी, श्रीरामपुर १७९४ श०

मन्त्रार्थदीपिका, शत्रुघ्न मिश्र, काशी सं. सी., बनारस १९३४

मरुद्देवता, हिन्दी अनुवाद : श्री. दा. सातवलेकर, औंध १९४२

महाभारत

महाभाष्य पस्पशाह्निक, नि. सा. प्रेस, बम्बई १९१२

माण्डूकी शिक्षा, सं. भगवद्दत्त, डी. ए. वी. कालेज, लाहौर १९२१

माध्यन्दिन शाखा प्रकाश, जे. एन्. सूरि, बनारस १९४५ वि०

माध्यन्दिनसंहिता, भाष्य : महीधर, टीका : बंगाली, कलकत्ता १७९६ श०

माध्यन्दिनीय मन्त्रसंहिता, खेमराज श्री० बम्बई १९८५ वि०

मानवकल्पसूत्र, टीका : कुमारिल स्वामी, ट्रुबनर एण्ड कम्पनी, लन्दन १८६१

मानवगृह्यसूत्र, टीका : अष्टावक्र, एफ. नावर, पिट्स बर्ग १८९७

मानवश्रौतसूत्र, सं. एफ. नावर, पिट्सबर्ग १९००

मार्कण्डेय पुराण, कलकत्ता १८७९

मीमांसान्यायप्रकाश, चौ. सं. सी., बनारस १९२१

मीमांसा परिभाषा, चौ. सं. सी., बनारस १९१५

मीमांसासूत्र, इलाहाबाद १९२३

मूल्याध्याय परिशिष्ट : कात्यायन, कात्यायन ग्रंथमाला, पूना

मैनुअल पावर, वी० हेनरी, पेरिस १८९०

मैत्रायणी संहिता, स्वा. म. औंध, सतारा १९९८

मैत्रायणी संहिता, एल्. श्रोडर, लिपजिग १८८३

मैत्रायण्युपनिषद्, नि. सा. प्रेस, बम्बई १९१७

मैथोलाजिकल स्टडीज इन दि ऋग्वेद, ए. ए. मैकडोनल, जे. आर. ए. एस्. १९९३
यज्ञमधुसूदन, मधुसूदन ओझा १९३०
यज्ञसरस्वती, मधुसूदन शर्मा, अलवर २००३
याज्ञवल्क्यस्मृति, नि. सा. प्रेस, बम्बई १९३६
याज्ञवल्क्यस्मृति, मिताक्षरा, नि. सा. प्रेस, बम्बई १९३६
याज्ञवल्क्योपनिषद्, नि. सा. प्रेस, बम्बई १९१७
यूपलक्षण परिशिष्ट : कात्यायन, कात्यायन ग्रंथमाला, पूना
योगसारोपनिषद्, नि. सा प्रेस, बम्बई १९१७
रामोत्तरतापिनीयोपनिषद्, नि. सा. प्रेस, बम्बई १९१७
रिलीजन आफ दि ऋग्वेद, एच्. डी. देशमुख, आक्सफोर्ड युनि० प्रेस १९२३
रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर, पी. एस्. देशमुख, आक्सफोर्ड युनि. प्रेस, लन्दन १९३३
रिलीजन एण्ड फिलासाफी आफ् दि वेद एण्ड उपनिषदास, ए. बी. कीथ, कैम्ब्रिज १९२५
रुद्रदेवता का परिचय, श्री. दा. सातवलेकर, औंध १९७६
लघुतन्त्रसङ्ग्रह, सामपाठलक्षण, सं० सूर्यकान्त, मेहरचन्द ल. दास, लाहौर
लाइट आन द वेदास्, टी. वी. कपालि शास्त्री, अरविन्द लाइब्रेरी, मद्रास १९४७
लाइट आफ दि वेदास्, पंजाब १९३३
लाट्यायन श्रौतसूत्र, टीका : अग्निस्वामी, बि. इ. सी., कलकत्ता १८७२
लाट्यायन श्रौतसूत्र, स. मुकुन्द झा बक्षी, का. सं. सी., बनारस १९३२
लिङ्गपुराण, क्लाइव रो, कलकत्ता १९६०
लेक्चर्स आन ऋग्वेद, घाटे, पूना १९२६
लौगाक्षि गृह्यसूत्र, भाष्य : देवपाल, का. सं. सी., श्रीनगर १९२८
वराहपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९८० वि०
वर्ड इंडेक्स टु दि ऋग्वेद, मैक्समूलर
वाजसनेयी प्रातिशाख्य : कात्यायन, भाष्य : उव्वट, अनन्तभट्ट, मद्रास युनि., मद्रास १९३४
वाजसनेयी संहिता इन दि माध्यन्दिन एण्ड कण्व शाखा, सं. ए. वेबर, बरलिन १८५२
वामनपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९८६ वि.
वायुपुराण, क्लाइव रो, कलकत्ता १९५९
वाराह गृह्यसूत्र, मुजफ्फरपुर १९३४
वाराहश्रौतसूत्र, डब्ल्यू. कालैंड, लाहौर १९३३
विष्णुपुराण, टीका : श्रीधर स्वामी, जीवानन्द कलकत्ता १८८२
वेद धरातल, गिरीशचन्द्र अवस्थी, लखनऊ २०१०
वेदधर्म व्याख्यान, मधुसूदन ओझा, जयपुर २००९
वेदपरिचय, श्री. दा. सातवलेकर, सातवलेकर १९४०
वेदप्रकाश, श्रीधर शास्त्री, पूना १९४२

वेदभाष्य भूमिका संग्रह, सं. बलदेव उपाध्याय, का. सं. सी. बनारस १९३४
वेदास्, कुन्हनराजा
वेदास्, मैक्समूलर
वेदास् आर दि स्क्रिप्चर्स आफ दि हिन्दूस्, कलकत्ता १९११
वेदास् वैदिक हिस्ट्री, गोविन्दकृष्ण पिल्लई, किताबिस्तान, इलाहाबाद १९५९
वेदांचें अपौरुषेयत्व, शंकराचार्य (करवीपीठ), कोल्हापुर
वैखानस श्रौतसूत्र, डब्ल्यू. कैलेंड, बि. इ., कलकत्ता १९४१
वैखानस स्मार्त्तसूत्र, डब्ल्यू. कैलैंड, बि. इ. कलकत्ता १९२७
वैतानसूत्र, डब्ल्यू. कैलैंड, अम्स्टरडम १९१०
वैतानसूत्र, जर्मन अनुवाद : आर. गार्बे, स्ट्रासबर्ग १८७८
वैदिक अग्निविद्या, श्री. दा. सातवलेकर, औंध १९२३
वैदिक इंडेक्स, ए. ए. मैकडोनल, ए. बी. कीथ, मोती. बना. बनारस १९५८
वैदिक इंडेक्स आफ नेम एंड सब्जेक्ट्स, ए. ए. मैकडोनल, ए. बी. कीथ, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९५८
वैदिक इंडेक्स आफ नेम एण्ड सब्जेक्ट्स, ए. ए. मैकडोनल, ए. बी. कीथ, लन्दन १९१२
वैदिक एटिमोलोजी, फतेहसिंह, संस्कृत सदन, कोटा १९५२
वैदिक कोश, मधुसूदन शर्मा, जयपुर १८२८ श०
वैदिक कोश, हंसराज, लाहौर १९२६
वैदिक कंकार्डेन्स, एम्. ब्लूमफील्ड, हारवर्ड सीरीज १९०६
वैदिक क्रोनोलोजी एण्ड वेदांग ज्योतिष, बा. गं. तिलक, ति. ब्र. पूना १९२५
वैदिक गोड्स एस फीगर्स आफ बायोलाजी, बी. आर. रेले, बम्बई १९३१
वैदिक ज्योति, वैद्यनाथ शास्त्री, पोरबन्दर १९५५
वैदिक डाक्टरीन आफ सेक्रिफाइस, लाहौर १८९०
वैदिक पदानुक्रम कोश, सं. विश्वबन्धु शास्त्री, लाहौर १९४२
वैदिकपद्धति, कृष्णानन्द भिक्षु
वैदिकमन्त्र कल्पलता, लोगाक्षि मनि, काश्मीरप्रताप स्टीम प्रेस १९७०
वैदिक माइथोलाजी, ए. ए. मैकडोनल
वैदिश माइथोलोजी, ए. हिलब्राण्ट, ब्रिस्ला १८९१
वैदिक लांग्वेज, विश्वबन्धु शास्त्री, लाहौर
वैदिक वर्ड कंकार्डेंस, विश्वबन्धु शास्त्री, लाहौर १९५५
वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, गि. श. चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् १९६०
वैदिक शब्दार्थ परिचय, विश्वबन्धु शास्त्री, वैदिक आश्रम, लाहौर १९२९.
वैदिक साहित्य, रामगोविन्द त्रिवेदी, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस १९५०
वैदिश क्रिस्टोमेथी, ए. हिलब्रांड्ट, १८८५

वैदिश वेइट्ज, ए. वेबर, बरलिन १८९५
वंश ब्राह्मण, भाष्य : सायणाचार्य, ए. सी. बर्नेल, मंगलौर १८७३
व्रात्यकाण्ड, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस २०१२
शतपथ बोधामृत, श्री. दा. सातवलेकर, औंध १९२८
शतपथ ब्राह्मण, का. सं. सी., बनारस १९३७
शतपथ ब्राह्मण, ए. वेबर, बरलिन १८४९
शतपथ ब्राह्मण, अच्युत ग्रंथमाला, बनारस १९९४ वि०
शतपथ ब्राह्मण १-५ भाग, भाष्य : सायणाचार्य, खेमराज, बम्बई १९८३ वि०
शतपथ ब्राह्मण (काण्वशाखीय), सं. डब्ल्यू कालेण्ड, पंजाब सं. सीरीज, १९२६-१९३९
शतपथ ब्राह्मण, बंगानुवाद : वी. एस्. भट्टाचार्य, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता १३१६ ब०
शाण्डिल्योपनिषद्, नि. सा. प्रेस, बम्बई १११७
शाङ्खायन आरण्यक, ए. बी. कीथ, लन्दन १९०८
शाङ्खायन आरण्यक, सं. एस. एस्. पाटक, आ. सं. सी., पूना १९२२
शाङ्खायन गृह्यसूत्र, भाष्य : नारायण, सं. गुलाबराय, राजकोट १९३२
शाङ्खायन गृह्यसंग्रह, वासुदेव उपाध्याय, बनारस सं. सी., बनारस १९०८
शाङ्खायन ब्राह्मण, आ. सं. सी., पूना १९११
शाङ्खायन श्रौतसूत्र १-२ भाग, (मूल और भाष्य), भाष्य : वरदत्तसुत आनर्त्त, बि० इ० सी०, कलकत्ता १८९९
शाङ्खायन श्रौतसूत्र, आंग्ल अनुवाद डब्ल्यू कालेण्ड, इण्टरनेशनल एकेडमी आफ इंडियन कल्चर, नागपुर १९५३
शिक्षादि वेदषडङ्ग, वासुदेवशरण, कृष्णम्भट्ट गोरे, बम्बई १९१५
शिक्षासङ्ग्रह : याज्ञवल्क्य, बनारस १८९३
शिवपुराण, सनातन धर्म पताका, मुरादाबाद १९३३
शुक्लयजुर्वेद, आंग्ल अनुवाद : आर्. टी. एच्. ग्रीफिथ, लाजरस एण्ड कम्पनी, बनारस १९२७
शुक्लयजुर्वेद संहिता, भाष्य : उव्वट, महीधर, नि. सा. बम्बई १९२९
शुक्लयजुर्वेद संहिता, बंगानुवाद अपूर्ण
शुक्लयजुर्वेदीय रुद्राध्याय, बम्बई १९४३
शुक्लयजुः काण्वसंहिता, भाष्य : सायणाचार्य सं. आर्. जी. भट्ट, बनारस १९६५ वि०
शुक्लयजुः सर्वानुक्रमसूत्र
शुल्बसूत्र परिशिष्ट, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी
शुक्लयजुःसंहिता (माध्यन्दिनीय) १–४ भाग, भाष्य : उव्वट, महीधर, चौखम्भा, बनारस १९१२–१९१५
शुल्बसूत्र : कात्यायन, अच्युत ग्रन्थ. बनारस १८८५ वि०
श्राद्धकल्प परिशिष्ट, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

श्रौतकोश, आर्. एन. डांडेकर (आंग्लविभाग) वैदिक संशोधन मण्डल, पूना १९५८
श्रौतकोश, सी. जी. काशीकर (संस्कृत विभाग) वैदिक संशोधन मण्डल, पूना १९५८
श्रौतपदार्थ निर्वचन, नागेश्वर शास्त्री सोमण, वी. एस. जोशी, इ. जे. लाजरस एण्ड कम्पनी, बनारस १९१०.
श्रौतपाठ, कलकत्ता युनि., कलकत्ता १९४०
श्रौतसूत्र दस आपस्तम्ब, डब्ल्यू. कालैण्ड
श्रौतोल्लास सूरत १९८७
षड्विंशब्राह्मण, १८९४
षड्विंशब्राह्मण, भाष्य : सायणाचार्य, कलकत्ता १८८१
षड्विंशब्राह्मण, दैवत ब्राह्मण के साथ, टीका : जीवानन्द, कलकत्ता १८८१
सत्याषाढ श्रौतसूत्र, टीका, माधव, गोपीनाथ, आ. सं. सी., पूना १९०७
सर्वानुक्रमसूत्रम्, कात्यायन, चौ. सं. सी., बनारस
सर्वानुक्रमसूत्रम्, सं. श्री. दा. सातवलेकर, औंध, सतारा १९४६
सामविधान ब्राह्मण, आंग्ल अनुवाद : ए. सी. बर्नल, लन्दन १८७३
सामवेद, श्री. दा. सातवलेकर, औंध, सतारा १९४०
सामवेद, आरण्यसंहिता, बंगभाष्य : स. सामश्रमी, श्रीरामपुर १३१४ ब.
सामवेद (कर्मकाण्ड मन्त्र), भाष्य : गुणविष्णु, दरभंगा १९६३ वि.
सामवेद (छन्द आर्चिक), स. बी. बी. भट्टाचार्य, कलकत्ता १९३७
सामवेद सुबोधिनी पद्धति, चौ. सं. सी., बनारस १९४१
सामवेद संहिता, अजमेर १९८२ वि.
सामवेद संहिता, सं. कुन्दनराजा, अड्यार १९४१
सामवेद संहिता, संस्कार भाष्य : भगवदाचार्य, पेटलाद २००४ वि०
सामवेद संहिता, गुर्जर अनुवाद : एम्. आर्. घोरा, पोरबन्दर नडियाद १९४९
सामवेद संहिता, भाष्य: माधव, सं० कुन्दनराजा, अड्यार १९४१
सामसर्वानुक्रम सूत्र
सूत्रपरिग्रह निबन्ध
सोशल एण्ड रिलीजस लाइफ इन् दि गृह्यसूत्र, वी. एम. आप्टे, अहमदाबाद १९३९
स्कन्दपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९६५ वि०
हवनमन्त्राः, सं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, प्रयाग १९३९
हिम्स् आफ दि अथर्ववेद : ब्लूमफील्ड, आक्सफोर्ड १८९७
हिम्स् फ्राम दि ऋग्वेद : पी. पिटर्सन, बम्बई सं. एण्ड प्रा. सी., बम्बई १९३८
हिम्स् फ्राम दि सामवेद, आंग्ल अनुवादक : आर्. टी. एच्. ग्रीफिथ, बनारस १८९३
हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्र, वियना १८८९
हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पी. वी. काणे